वेदार्थ-विज्ञानम्

महर्षि यास्क
विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या

आचार्य अग्निव्रत

ओ३म्

वेदार्थ-विज्ञानम्

(महर्षि यास्क विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या)

भाग—१

व्याख्याकार

आचार्य अग्निव्रत

प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

(संचालक वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान)

सम्पादक

डॉ. मधुलिका आर्या एवं विशाल आर्य

उपप्राचार्या एवं प्राचार्य, वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान

द वेद साइंस पब्लिकेशन

भीनमाल (राज.)

प्रथम संस्करण
वर्ष 2024

महर्षि दयानन्द २००वाँ जन्मदिवस, फाल्गुन कृष्ण १०/२०८०
05 मार्च 2024

मूल्य : ₹6,000/- (सभी चार भागों का)

प्रकाशक : **द वेद साइंस पब्लिकेशन**
वेद विज्ञान मन्दिर, भागलभीम, भीनमाल
जिला - जालोर (राजस्थान) - 343029
वेबसाइट : www.thevedscience.com, www.vaidicphysics.org
ईमेल : thevedscience@gmail.com
सम्पर्क सूत्र : 9530363300

समर्पणम्

मैं इस ग्रन्थ को विश्वभर के भौतिक वैज्ञानिकों, वेदानुसन्धानकर्त्ताओं, प्रबुद्ध व विचारशील धर्माचार्यों, मानव-एकता के स्वप्नद्रष्टाओं, सुविचारशील समाज-शास्त्रियों, तर्कसम्मत पन्थनिरपेक्षता के समर्थकों, वैज्ञानिक बुद्धि के धनी उद्योग-पतियों, शिक्षा-शास्त्रियों, भारत के प्रतिभासम्पन्न राष्ट्रवादियों एवं सभी प्रबुद्ध युवाओं एवं युवतियों की सेवा में भारतवर्ष के प्राचीन वैज्ञानिक गौरव को पुनः प्राप्त कराने एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना से ऋषि दयानन्द के २००वें जन्मदिवस पर सप्रेम समर्पित करता हूँ।

—व्याख्याकार

सम्पादकीय

हम सब यह मानते हैं कि इस संसार में एक ऐसी चेतन सत्ता अवश्य विद्यमान है, जो अत्यन्त सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल गैलेक्सियों तक का निर्माण करती व उन्हें नियन्त्रित भी कर रही है। इस चेतन सत्ता का नाम ओम् है, जिसके ईश्वर, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, गणेश आदि अनेक नाम हैं। जो ऐसा नहीं मानते, उन्हें इस ग्रन्थ को पढ़ने से पूर्व आदरणीय डॉ. भूप सिंह जी की पुस्तक 'वैदिक संस्कृति की वैज्ञानिकता' को पढ़ना चाहिए।

मानव सृष्टि के आदि में ब्रह्माण्ड में विद्यमान वेदमन्त्र रूपी सूक्ष्म कम्पनों को ग्रहण करने की क्षमता चार मनुष्यों में थी और उन्होंने उन तरंगों को ग्रहण किया। ऐसे महान् ऋषियों को परमात्मा ने स्वयं उन वेदमन्त्रों रूपी सूक्ष्म कम्पनों का अर्थ जनाया। परमात्मा का ज्ञान अनन्त है और मनुष्य का ज्ञान सीमित है। जितना ज्ञान वे चार ऋषि ग्रहण कर सकते थे, उन्होंने ग्रहण कर लिया। उस समय धरती पर वेद के ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश था। जहाँ तक मनुष्य जाति की बात है, तो यह ज्ञान इस मानव जाति का सबसे पवित्र और उच्चस्तरीय ज्ञान था, ज्ञान की इससे उच्च स्थिति फिर कभी नहीं हुई, क्योंकि इसको प्रदान वाला वही था, जिसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की। वेदों के ज्ञान रूपी प्रकाश से सम्पूर्ण पृथ्वी पर स्वर्ग जैसा वातावरण था, परन्तु मनुष्य के अल्पज्ञ होने के कारण मानव की प्रथम पीढ़ी से वर्तमान तक ज्ञान का निरन्तर ह्रास होता चला गया। इस कारण वेदों की व्याख्या करने के लिए ऋषियों को समय-समय पर अनेक ग्रन्थों की रचना करनी पड़ी।

वेदों को समझाने के लिए कुछ ऋषियों ने नाना प्रकार से वेद मन्त्रों से छाँट-छाँट कर कुछ महत्त्वपूर्ण वैदिक पदों का संग्रह करना प्रारम्भ किया। ऐसा ही एक संग्रह वर्तमान में उपलब्ध निघण्टु है और इसका संग्रह करने वाले हैं— महर्षि यास्क। पदों के संग्रह को निघण्टु क्यों कहा गया? इसको स्वयं महर्षि यास्क स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये पद निश्चयपूर्वक अपने वाच्यरूप पदार्थ का यथार्थ बोध कराने में सक्षम होते हैं। जब इन पदों के द्वारा उन पदार्थों का निश्चयात्मक बोध हो जाता है, तब इसके द्वारा वैदिक मन्त्रों के यथार्थ एवं छन्द रश्मियों के स्वरूप का बोध होकर सृष्टि का भी बोध होने लगता है। वैदिक पदों का संग्रह करने के पश्चात् महर्षि यास्क ने इन पदों की व्याख्या के रूप में 'निरुक्त' नामक ग्रन्थ की रचना की। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी निरुक्त को वेदों को समझने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना है और उन्होंने अपना वेदभाष्य भी निरुक्त को

आधार बनाकर ही किया है। वर्तमान की बात करें, तो निरुक्त का एक भी भाष्य ऐसा नहीं है, जो स्वयं निरुक्त के वास्तविक स्वरूप को संसार के सामने रख सके, निरुक्त के द्वारा वेदों को समझना तो दूर की बात है। कितने शोक का विषय है कि निरुक्त पर किये अब तक के भाष्यों में अश्लीलता, पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, नारी-शोषण, छुआछूत एवं रंगभेद जैसे पापों का समावेश है और ऐसे भाष्यों को ही अनेक गुरुकुलों एवं विश्व-विद्यालयों में पढ़ाया जा रहा है। ऐसे भाष्यों के कारण ही हमारी संस्कृति, ऋषि-मुनियों का सम्मान, वेद का ज्ञान-विज्ञान आदि, जो हमारे गौरव थे, मिट्टी में मिल चुके हैं।

यहाँ हम निरुक्त व व्याकरण दोनों ही शास्त्रों के विषय में कुछ बताना आवश्यक समझते हैं। निरुक्त व व्याकरण दोनों ही शास्त्र पदों का अर्थ जानने में सहायक हैं, लेकिन दोनों ही शास्त्रों में मौलिक अन्तर है। जहाँ व्याकरण शास्त्र शब्द प्रधान होता है, वहीं निरुक्त शास्त्र अर्थ प्रधान होता है। व्याकरण की व्युत्पत्ति प्रक्रिया किसी पद का निर्माण किस प्रकृति व प्रत्यय से हुआ है और तदनुसार उसका अर्थ क्या है, यह बतलाती है। उधर निरुक्त की निर्वचन प्रक्रिया किसी पद के अर्थ की गहराइयों में जाकर यह दर्शाती है कि इस अर्थ वाले पद का निर्माण कैसे हुआ है? ऐसा होते हुए भी दोनों प्रक्रियाओं में परस्पर निकटता भी होती है, फिर भी व्युत्पत्ति प्रक्रिया की अपेक्षा निर्वचन प्रक्रिया अधिक व्यापक रूप से उस पद के रहस्य को खोलकर उस पद के वाच्यरूप पदार्थ के स्वरूप का उद्घाटन करती है। इस कारण वेदार्थ करने वाला केवल व्याकरण शास्त्र के बल पर शुद्ध वेदार्थ में कदापि समर्थ नहीं हो सकता, उसे निरुक्त के निर्वचन विज्ञान को जानना ही होगा।

परमपिता परमात्मा ने मेरे धर्मपिता व गुरुवर पूज्य आचार्य अग्निव्रत के रूप में हमें पुनः एक अवसर दिया है। राजस्थान के एक छोटे से न्यास में रहकर आचार्य श्री वेदों का वास्तविक स्वरूप संसार के समक्ष रखने का भरसक प्रयास कर रहे हैं। इस प्रयास में पहले आपने ऋग्वेद को समझाने वाले उसके ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण, जिसे लगभग सात हजार साल पुराना माना जाता है, का वैज्ञानिक (वस्तुतः वास्तविक) भाष्य 'वेदविज्ञान-आलोकः' के रूप में विश्व में पहली बार किया है। यह ग्रन्थ सृष्टि विज्ञान के अत्यन्त गम्भीर व अनसुलझे रहस्यों का उद्घाटन करता है, जिनके बारे में विज्ञान की वर्तमान पद्धति से सैकड़ों वर्षों में भी नहीं जाना जा सकेगा। इसके पश्चात् आचार्य श्री ने महर्षि यास्क विरचित निरुक्त का वैज्ञानिक भाष्य इस ग्रन्थ 'वेदार्थ-विज्ञानम्' के रूप में संसार के सामने

प्रस्तुत कर दिया है। इस ग्रन्थ में आचार्य श्री ने सैकड़ों मन्त्रों का भाष्य किया, किसी मन्त्र का एक, किसी का दो, तो किसी का तीन प्रकार का भी भाष्य किया है। उदाहरणार्थ 'विश्वानि देव...' मन्त्र का १६ प्रकार का भाष्य कर आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया है कि किसी भी वेद मन्त्र के अनेक प्रकार के भाष्य सम्भव हैं, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०.११ में कहा है— 'अनन्ता वै वेदाः' अर्थात् वेदों में अनन्त ज्ञान है। इस शास्त्र की महत्ता एवं वैज्ञानिकता का भी सहज अनुमान इसी बात से हो जाता है कि 'निघण्टु' पद में भी अद्भुत विज्ञान छिपा हुआ है, जिसे पाठक यथास्थान पढ़ सकते हैं। वैदिक रश्मि विज्ञान पर सन्देह करने वाले विद्वानों को इस ग्रन्थ को पढ़ने से यह विदित होगा कि वैदिक रश्मि विज्ञान न केवल 'वेदविज्ञान-आलोकः' में सुसंगत है, अपितु निरुक्त के इस भाष्य में भी उसी का सुसंगत और अधिक गम्भीर विस्तार है।

इस ग्रन्थ से यह सिद्ध होता है कि वेद ब्रह्माण्डीय ग्रन्थ है, वैदिक भाषा ब्रह्माण्ड की भाषा है और वेदमन्त्र परमात्मा द्वारा इस ब्रह्माण्ड में हो रहा वैज्ञानिक संगीत है। यह वैदिक भाषा संस्कृत की ही विशेषता है कि उसके पद ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विद्यमान हैं। सृष्टि के हर पदार्थ से उनका नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध है, यह सब आप इस ग्रन्थ को पढ़कर अच्छी प्रकार समझ जायेंगे। ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य 'वेदविज्ञान-आलोकः' में हमने जाना था कि वेदमन्त्रों से सृष्टि कैसे निर्मित व संचालित हो रही है, इस ग्रन्थ में हमें यह जानने को मिलेगा कि वेदमन्त्र के एक-एक पद में कितना विज्ञान भरा पड़ा है। जहाँ इस ग्रन्थ में सूक्ष्म रश्मियों वा तरंगों का विस्तृत विज्ञान है, वहीं सूर्य के विषय में संसार के किसी भी अन्य ग्रन्थ वा सूर्य पर किये जा विभिन्न प्रकार के अनुसंधानों से अधिक विज्ञान इस ग्रन्थ में पाठकों को पढ़ने हेतु मिलेगा।

सर्वप्रथम यह ग्रन्थ गुरुकुल के ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों एवं आचार्यों के लिए वरदान सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ की सहायता से वेदों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के गम्भीर वैज्ञानिक रहस्य उद्घाटित हो सकेंगे, जो निरुक्त के अन्य किसी भी भाष्य द्वारा सम्भव नहीं है। इससे गुरुकुलों के छात्र-छात्राएँ वर्तमान वैज्ञानिक युग की चुनौतियों का न केवल सामना करने में सक्षम होंगे, अपितु उन्हें वेदों के वैज्ञानिक गौरव का भी सुखद अनुभव हो सकेगा। इसके साथ ही आधुनिक शिक्षा में पले-बढ़े वे विद्वान्, जिन्हें वेदमन्त्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों के आख्यानों अथवा निरुक्त के निर्वचनों में हास्यास्पद वा मूर्खतापूर्ण बातें ही दृष्टिगोचर होती हैं, उन्हें अपना दृष्टिकोण बदलने के लिए विवश होना पड़ेगा तथा वे भी

वेदों एवं ऋषियों के महान् विज्ञान का आनन्द ले सकेंगे। इस ग्रन्थ को पढ़कर आधुनिक वैज्ञानिकों को सृष्टि के अनेक क्षेत्रों में अनुसंधान हेतु पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। यह ग्रन्थ हमें हमारे मूल वेद और परमपिता परमात्मा से जोड़ता है, इसलिए यह ग्रन्थ अति विशिष्ट हो जाता है, क्योंकि यह एक सिद्धान्त है कि जो अपने मूल से कट जाता है, वह नष्ट हो जाता है और वर्तमान में यह हो भी रहा है। वेद और ईश्वर से दूर जाता यह संसार निरन्तर विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है।

इस विशाल ग्रन्थ के सम्पादन व ईक्ष्यवाचन में मेरी सहधर्मिणी डॉ. मधुलिका आर्या की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने पिछले लगभग दो वर्ष से पूर्ण निष्काम भाव से स्वयं को इसी यज्ञाग्नि में तपाया है। इस ग्रन्थ के साथ अन्य कई पुस्तकों का सम्पादन व ईक्ष्यवाचन किया है। इनकी लगन, योग्यता व निष्ठा अनुपम है। इनके बिना मैं इस ग्रन्थ का सम्पादन अकेले कदापि नहीं कर सकता था।

यह हम दोनों का परम सौभाग्य है कि परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से हमें वर्तमान के महान् वैदिक वैज्ञानिक (वर्तमान भाषा में) के साथ कार्य करने का अवसर मिला और आपके सानिध्य में रहकर बहुत कुछ सीखने को मिला। आपने हमें अपनी मानस सन्तान के रूप में स्वीकार करके हमें कृतार्थ कर दिया। आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। वेदों, ऋषियों, राष्ट्र, गौ, युवा पीढ़ी, किसान एवं मजदूर से लेकर सम्पूर्ण प्राणिमात्र तक सबके प्रति आपके मन में जो पीड़ा व तड़प है, उसे मुझसे अधिक कोई नहीं जान सकता। एक दिन संसार भी अवश्य जानेगा, लेकिन सम्भवतः समय निकल जाने के बाद। मैं संसार से बस यही कहना चाहता हूँ कि इस उजड़ती मानव सभ्यता को यदि बचा कोई सकता है, तो वे महान् व्यक्तित्व हैं— आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक। आपके बताये हुए मार्ग से ही संसार वर्तमान की चुनौतियों का कुछ सामना कर सकता है, अन्यथा विनाश कभी भी हमारे द्वार पर आ सकता है।

—विशाल आर्य

* * * * *

सन्दर्भ-ग्रन्थ संकेताक्षर-सूची

क्र.सं.	ग्रन्थ नाम	संकेत
१.	अथर्ववेद संहिता	अथर्व.
२.	अष्टाध्यायी	अष्टा.
३.	आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश	आ.को.
४.	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र	आप.श्रौ.
५.	उणादि कोष	उ.को.
६.	ऋग्वेद संहिता	ऋ.
७.	ऐतरेय आरण्यक	ऐ.आ.
८.	ऐतरेय ब्राह्मण	ऐ.ब्रा.
९.	कपिष्ठल संहिता	क.सं.
१०.	काठक संकलन	काठ.संक.
११.	काठक संहिता	काठ.सं.
१२.	काण्वीय शतपथ ब्राह्मण	का.श.ब्रा.
१३.	कौषीतकि उपनिषद्	कौ.उ.
१४.	कौषीतकि ब्राह्मण	कौ.ब्रा.
१५.	गोपथ ब्राह्मण (पूर्वभाग/उत्तरभाग)	गो.पू./उ.
१६.	जैमिनीय गृह्यसूत्र	जै.गृ.
१७.	जैमिनीय ब्राह्मण	जै.ब्रा.
१८.	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	जै.उ.
१९.	ताण्ड्य महाब्राह्मण	तां.ब्रा.
२०.	तैत्तिरीय आरण्यक	तै.आ.
२१.	तैत्तिरीय उपनिषद्	तै.उ.

२२.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	तै.ब्रा.
२३.	तैत्तिरीय संहिता	तै.सं.
२४.	दैवत ब्राह्मण	दै.ब्रा.
२५.	निघण्टु	निघं.
२६.	निरुक्तम्	निरु.
२७.	न्याय दर्शन	न्या.द.
२८.	बृहदारण्यक उपनिषद्	बृ.उ.
२९.	मनुस्मृति	मनु.
३०.	महर्षि दयानन्द भाष्य	म.द.भा.
३१.	महर्षि दयानन्द ऋग्वेद भाष्य	म.द.ऋ.भा.
३२.	महर्षि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य	म.द.य.भा.
३३.	मैत्रायणी संहिता	मै.सं.
३४.	यजुर्वेद संहिता	यजु.
३५.	योगदर्शनम्	यो.द.
३६.	वैदिक कोश (आचार्य राजवीर शास्त्री)	वै.को.
३७.	शतपथ ब्राह्मण	श.ब्रा.
३८.	शांखायन आरण्यक	शां.आ.
३९.	शांखायन श्रौतसूत्र	शां.श्रौ.
४०.	सत्यार्थ प्रकाश	स.प्र.
४१.	संस्कृत धातु कोश	सं.धा.को.
४२.	सामवेद संहिता	साम.
४३.	सांख्य दर्शन	सां.द.
४४.	षड्विंश ब्राह्मण	ष.ब्रा.

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

अनुक्रमणिका

भाग—१

भाग—२

भाग—३

दैवत-काण्डम्

भाग—४

परिशिष्टम्

* ❋ ❋ ❋ *

भूमिका

भूमिका

मनुष्य इस धरती का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। इसका कारण यह है कि केवल यही प्राणी सबसे अधिक बुद्धिमान् होने के कारण सत्य और असत्य की विवेचना करता हुआ निरन्तर अपने ज्ञान का विकास कर सकता है। इस धरती के बाहर इस ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी इस प्रकार के विवेकशील प्राणी हैं, वे भी मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं, भले ही उनका शरीर कैसा भी क्यों न हो। धरती के इस सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य के विषय में यह एक सच्चाई अवश्य है कि जन्म के समय इसका अन्य प्राणियों की अपेक्षा स्वाभाविक ज्ञान न्यून होता है। इस कारण इसको बाहरी ज्ञान की आवश्यकता होती है। मानव सृष्टि के आदि में ज्ञान व भाषा का विकास कैसे होता है, इसको जानने के लिए 'वैदिक रश्मि-विज्ञानम्' नामक ग्रन्थ पठनीय है, हम यहाँ उस विषय का पिष्टपेषण करना उपयुक्त नहीं समझते। जैसा कि हम वहाँ लिख चुके हैं कि सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य एवं अङ्गिरा, चार सर्वोच्च स्तर के आत्मा ब्रह्माण्ड से परा वा पश्यन्ती तरंगों के रूप में सम्प्रज्ञात समाधि में वेद वाणी को ग्रहण करते हैं, फिर उस वाणी का यथार्थ विज्ञान समाधि अवस्था में ही ईश्वर के द्वारा प्राप्त होता है। इन चारों ऋषियों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद का ज्ञान होता है। इसके सम्पूर्ण विज्ञान को पाठक 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' नामक ग्रन्थ से अच्छी प्रकार से समझ जायेंगे।

यहाँ हमें यह अवश्य विचार करना है कि सृष्टि की आरम्भिक पीढ़ी के मनुष्यों का स्तर कैसा रहा होगा? क्या उनका स्तर वही होगा, जो आज एक पूर्ण अशिक्षित मनुष्य का होता है? सृष्टि के आदि में मनुष्य युवावस्था में उत्पन्न हुआ, यह तो तर्क से सिद्ध करने योग्य बात है, परन्तु वे युवक वा युवती क्या उसी बौद्धिक स्तर के होंगे, जितना बौद्धिक स्तर आज उस मनुष्य का हो सकता है, जिसे जन्म के तुरन्त पश्चात् ही किसी निर्जन स्थान पर रख दिया जाये और वह पशु-पक्षियों और वृक्षों के मध्य रहते हुए ही युवावस्था को प्राप्त कर ले? हमारी दृष्टि में यह बात सत्य नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता, तो प्रारम्भिक पीढ़ी के मनुष्यों को वेद का ज्ञान कभी नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि आज किसी निरक्षर एवं मानव समुदाय से सर्वथा पृथक् रहे व्यक्ति को वेद का ज्ञान देने के लिए अक्षर ज्ञान से शिक्षा प्रारम्भ करनी पड़ेगी और और जब तक वह वेदों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह किस ज्ञान के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करेगा?

इसलिए यह निश्चित है कि उस पीढ़ी में अग्नि, वायु, आदित्य एवं अङ्गिरा तो सर्वोत्कृष्ट स्तर के मनुष्य थे, परन्तु अन्य सभी मनुष्य भी साधारण नहीं थे, इसका संकेत महर्षि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य ३१.९ में निम्नानुसार किया गया है—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये॥

''**पदार्थः** — (तत्) उक्तम् (यज्ञम्) संपूजनीयम् (बर्हिषि) मानसे ज्ञानयज्ञे (प्र) प्रकर्षेण (औक्षन्) सिञ्चन्ति (पुरुषम्) पूर्णम् (जातम्) प्रादुर्भूतञ्जगत्कर्त्तारम् (अग्रतः) सृष्टेः प्राक् (तेन) तदुपदिष्टेन वेदेन (देवाः) विद्वांसः (अयजन्त) पूजयन्ति (साध्याः) साधनं योगाभ्यासादिकं कुर्वन्तो ज्ञानिनः (ऋषयः) मन्त्रार्थविदः (च) (ये)।

भावार्थः — विद्वद्भिर्मनुष्यैः सृष्टिकर्त्तेश्वरो योगाभ्यासादिना सदा हृदयान्तरिक्षे ध्यातव्यः पूजनीयश्च।

पदार्थ— हे मनुष्यो! (ये) जो (देवाः) विद्वान् (च) और (साध्याः) योगाभ्यास आदि साधन करते हुए (ऋषयः) मन्त्रार्थ जानने वाले लोग जिस (अग्रतः) सृष्टि से पूर्व (जातम्) प्रसिद्ध हुए (यज्ञम्) सम्यक् पूजने योग्य (पुरुषम्) पूर्ण परमात्मा को (बर्हिषि) मानस यज्ञ में (प्र, औक्षन्) सींचते अर्थात् धारण करते हैं वे ही (तेन) उसके उपदेश किये हुए वेद से और (अयजन्त) उसका पूजन करते हैं (तम्) उसको तुम लोग भी जानो।

भावार्थ— विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का योगाभ्यासादि से सदा हृदयरूप अवकाश में ध्यान और पूजन किया करें।''

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक पीढ़ी के सभी मनुष्य ऋषि कोटि के ही होते हैं अथवा बहुत प्रज्ञावान् होते हैं, अत्यन्त पवित्र अन्तःकरण वाले होते हैं, इसी कारण उन चारों ऋषियों द्वारा प्राप्त ज्ञान भगवत्पाद महर्षि ब्रह्मा के माध्यम से वे सभी मनुष्य सहजता से समझने में सक्षम हो जाते हैं। उन्हें महर्षि ब्रह्मा व्याकरण आदि विविध विषय नहीं पढ़ाते, बल्कि वे सीधे वेद मन्त्रों को ही उपदिष्ट करते हैं। पिछले हजारों वर्षों से इस स्तर का कोई भी व्यक्ति इस धरती पर नहीं जन्मा, जो बिना कुछ पढ़े सीधा वेद मन्त्रों के गम्भीर विज्ञान को समझने की क्षमता रखता हो। इस कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि

पिछले पाँच-दस हजार वर्ष में जो भी ऋषि जन्मे हैं, उनके बौद्धिक स्तर से सृष्टि की प्रथम पीढ़ी के सभी मनुष्यों का बौद्धिक स्तर किसी भी प्रकार न्यून नहीं हो सकता, बल्कि अधिक ही हो सकता है। इसलिए वेद के सभी अध्येताओं एवं भाष्यकारों को यह बात मन में अवश्य बिठा लेनी चाहिए कि वेद का ज्ञान, जो उस समय ईश्वर से प्राप्त होता है, उन उच्च कोटि के मनुष्यों के स्तर का ही होना चाहिए, न कि अत्यन्त निचले स्तर का, भले ही उसके वर्तमान व्याख्याकार सामान्य लोगों को समझाने की दृष्टि से अत्यन्त सरल व निम्न स्तर का अर्थ कर दें। इतने पर भी व्याख्याकारों को वेद की गरिमा गिराने वाला कोई भाष्य नहीं करना चाहिए।

ईश्वर द्वारा वेद ज्ञान की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए हम एक यह तर्क मुख्य रूप से देते हैं कि प्रथम पीढ़ी को संसार में व्यवहार करने का ज्ञान देने वाला ईश्वर के अतिरिक्त और कोई था ही नहीं। उस पीढ़ी के पश्चात् तो माता-पिता आदि से ज्ञान मिल सकता है, परन्तु प्रथम पीढ़ी को ज्ञान कौन दे? इस तर्क पर गम्भीरता से विचारें, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रथम पीढ़ी, जो ऋषि कोटि की थी, को सृष्टि का गम्भीर ज्ञान और उच्च स्तर की व्यावहारिक शिक्षा ही परमात्मा द्वारा दी जानी चाहिए, सामान्य स्तर की नहीं, बल्कि वर्तमान पीढ़ी की अपेक्षा उच्चतर स्तर का ज्ञान तो उस प्रथम पीढ़ी से क्रमशः आगे संचरित हो ही जायेगा। हाँ, इतना अवश्य है कि वह गम्भीर ज्ञान भी सृष्टि के समान अत्यन्त विस्तृत ही होगा, संक्षिप्त नहीं और उसके विस्तार की अत्यन्त सम्भावना भी होगी।

बड़े दुर्भाग्य का विषय है कि आज वेदभाष्यकारों और व्याख्याकारों ने वेदार्थ और वेद प्रचार के नाम पर ऐसा ताण्डव मचाया है कि वेद मूर्खों और धूर्तों की कहानियाँ होकर रह गया है, इसी कारण चार्वाक मत में कहा गया है—

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

(स.प्र. १२वें समुल्लास से उद्धृत)

संसार के वेदविरोधी जब वेद एवं ऋषियों के ग्रन्थों पर प्रहार करते हैं, तब निश्चित रूप से हम सभी वेदभक्तों को पीड़ा होती है और साथ ही वेद विरोधियों के प्रति आक्रोश भी, परन्तु क्या हमने कभी यह विचारने का प्रयास किया है कि उन्हें वेद का

विरोध करने की सामग्री किसने उपलब्ध करायी? वेदों के मिथ्या भाष्य करने वाले एवं आर्ष ग्रन्थों के मिथ्या टीकाकार एवं उन ग्रन्थों में मनमाने प्रक्षेप करने वाले ही इस सब के लिए मुख्यत: उत्तरदायी हैं। भाष्यकारों को भी दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है, जिनमें से प्रथम प्रकार के भाष्यकार वे हैं, जिनकी वेदादि शास्त्रों पर श्रद्धा तो थी, परन्तु वेदार्थ विज्ञान को समझने की उचित योग्यता नहीं थी। वे श्रद्धावश अथवा लोकैषणा के वशीभूत होकर भाष्य करने लग गये और जैसा उनकी बुद्धि में आया, वैसा अर्थ (प्राय: रूढ़) कर बैठे। कुछ भाष्यकार इन शास्त्रों को मात्र कर्मकाण्ड का ग्रन्थ समझकर वैसा ही भाष्य कर बैठे, उन्होंने वैदिक पदों का रूढ़ अर्थ करके वेदादि शास्त्रों में पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, अश्लीलता, छूआछूत एवं विज्ञान विरोधी बातों का विधान कर दिया। दूसरी श्रेणी के वे लोग हो सकते हैं, जो स्वभाव से ही मानवता के शत्रु थे, उन्होंने जानबूझकर शास्त्रों के मिथ्या अर्थ किये और मनुस्मृति, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि अनेक ग्रन्थों में मनमाने प्रक्षेप कर दिए। इस श्रेणी के लोगों ने भी ऋषियों के नाम से नवीन कल्पित ग्रन्थ रचना प्रारम्भ कर दिया। यह दु:खद परम्परा सदियों तक चलती रही।

वस्तुत: यह परम्परा वेद के साथ ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवता के प्रति घोर अपराध है। इन ग्रन्थों के भाष्य करने की परम्परा प्रारम्भ होने से पहले ही ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौत सूत्र आदि ग्रन्थों के नाम पर बीभत्स यज्ञ इस देश में होने लगे, जिनमें पशुओं की ही नहीं, अपितु मनुष्यों तक की भी बलि दी जाने लगी। इसे देखकर पशुबलि की परम्परा सारे संसार में प्रचलित हो गई। बाइबिल के पुराने नियम (ओल्ड टेस्टामेंट) में यज्ञवेदी और पशुबलि का वर्णन मिलता है और कुरान में कुर्बानी के नाम पर क्रूर हिंसा का ताण्डव सर्वविदित है। इसका अर्थ यह है कि संसार भर में जो भी अच्छाई फैली है, उन सबका कारण वेदादि शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान है और जो भी बुराइयाँ फैली हैं, उन सबका मूल कारण इन शास्त्रों का मिथ्या ज्ञान अथवा इन शास्त्रों से दूर रहना है। वेदादि शास्त्र प्राणिमात्र के दु:ख-दर्द दूर करने के लिए एक अमोघ औषधि है। औषधि के विषय में इतना सभी जानते हैं कि औषधि उपयुक्त विधि से लेने पर रोग दूर करती है और अनुचित विधि से लेने से प्राण भी ले सकती है। सम्भव है कि बिना औषधि के रोगी बच भी जाये और स्वस्थ भी हो जाये, परन्तु विपरीत ढंग से औषधि लेने पर वह अवश्य विपत्ति में फँस सकता है। आज संसार में वेदादि शास्त्रों को गलत ढंग से ही समझा और प्रचारित किया

जा रहा है, यही संसार के सभी दु:खों का कारण है, चाहे वे शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक दु:ख होवें, अन्य प्राणियों अथवा मनुष्यों के आपसी कलह के कारण वा राज्य एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के कारण उत्पन्न दु:ख होवें अथवा प्राकृतिक आपदाएँ होवें, सबका मूल कारण अज्ञानता अथवा मिथ्या ज्ञान है।

सहायक ग्रन्थों की आवश्यकता

अब हम पुन: पूर्व विषय पर आते हैं कि प्रारम्भ में सभी मनुष्य वेद से ही वेद का अर्थ समझ लेते थे। उनको अन्य किसी सहायक ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं थी, इसलिए संसार में वेद के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ नहीं थे, जो वेदार्थ समझने में सहायक हो सकें। धीरे-धीरे मनुष्यों में सतोगुण की न्यूनता होने से उनके लिए वेदार्थ दुरूह होने लगा, तब ऐसे ऋषियों, जो वेद से वेद को समझने में सक्षम थे, ने वेद के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन प्रारम्भ किया और ऐसे यज्ञों की कल्पना की, जो पर्यावरण शोधन के साथ-साथ सृष्टि को समझने के लिए मानचित्र का कार्य करने में समर्थ थे। जब मनुष्य में सत्त्वगुण और न्यून हुआ, तब उनके लिए ब्राह्मण ग्रन्थों को समझना भी कठिन हो गया और वे वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों को ही समझने में भ्रान्त होने लगे, इस कारण रूढ़ अर्थों का प्रचार होने लगा। उस समय कुछ महान् ऋषियों ने वैदिक पदों के निर्वचन की प्रक्रिया को संसार के समक्ष रखने के लिए भारी उद्योग किया।

वर्तमान में निर्वचन प्रक्रिया को समझने के लिए महर्षि यास्क कृत निरुक्त-शास्त्र हमें उपलब्ध होता है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के अनुसार महर्षि यास्क का समय विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व का है और महाभारत का समय विक्रम से ३०८१ वर्ष पूर्व। इस प्रकार महर्षि यास्क महाभारतकालीन सिद्ध होते हैं। पण्डित भगवद्दत्त जी ने निरुक्त भाष्य की भूमिका में आचार्य दुर्ग को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आचार्य दुर्ग से पहले भारत में न्यून से न्यून १४ निरुक्त उपलब्ध थे। अस्तु, निरुक्तकारों का उद्देश्य वेद की यौगिकता को स्थापित करना था एवं वेद में छुपे हुए ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश करना था, परन्तु यह बड़े दुर्भाग्य का विषय है कि जो निरुक्त-शास्त्र वैदिक पदों के रूढ़ अर्थ करने की प्रक्रिया से बचाने के लिए लिखा गया था, वही ग्रन्थ उनके व्याख्याकारों ने स्वयं रूढ़ प्रक्रिया की भेंट चढ़ा दिया।

मेरे पास निरुक्त के अनेक भाष्य उपलब्ध हैं, लगभग सभी भाष्यकार ग्रन्थकार की भावना को स्पर्श भी नहीं कर पाये हैं, इस कारण वे वेद के साथ बहुत बड़ा अन्याय कर बैठे हैं। इनमें से निरुक्त का कोई भी भाष्य वेद की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला तो क्या, बचाने में भी सक्षम नहीं है। हाँ, ये सभी भाष्य वेद की गरिमा को मिटाने वाले अवश्य हैं। इन्हीं भाष्यों को पढ़कर अनेक भारतीय और विदेशी विद्वान् न केवल महर्षि यास्क की निर्वचन-शैली को मूर्खतापूर्ण बताते हैं, अपितु वे वेद की भी भारी निन्दा करते हैं। जो वेद सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का मूल है और जिसके आधार पर करोड़ों वर्षों से यह मनुष्य ज्ञान और आनन्द का प्रकाश पाता रहा है, वही वेद आज निन्दा और उपहास का पात्र बना दिया गया है। इससे बढ़कर इस मानव जाति के लिए दुर्भाग्य और क्या हो सकता है?

सर्वप्रथम हम यह जानने का पुनः प्रयास करते हैं कि वेद क्या है? यद्यपि वैदिक रश्मिविज्ञानम् ग्रन्थ में हम इस विषय पर विस्तार से लिख चुके हैं, पुनरपि हम इस पर कुछ और पूरक प्रयास करते हैं। हम सब जानते हैं कि वेद मन्त्रों का समूह है और मन्त्र पदों के समूह हैं। ये पद शब्दरूप होते हैं। इन पदों के उच्चारण से जो ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं, उन तरंगों का परा और पश्यन्ती रूप सृष्टि के विभिन्न पदार्थों के उत्पन्न होते समय ही उत्पन्न होने लगता है। ध्वनि तरंगें किसी जड़ पदार्थ में उत्पन्न कम्पन का रूप होती हैं। जब यह कम्पन परा रूप में होता है, तब कम्पित पदार्थ सृष्टि का मूल उपादान कारण प्रकृति रूपी पदार्थ होता है। प्रत्येक प्रकार की वाणी का प्रारम्भिक चरण मूलतः प्रकृति पदार्थ में ही होता है, इस प्रकार परावाणी का माध्यम प्रकृति है। वाणी का अग्रिम चरण पश्यन्ती रूप कहलाता है, जो मनस्तत्त्व में उत्पन्न होता है अर्थात् पश्यन्ती वाणी का माध्यम मनस्तत्त्व है। पश्यन्ती से स्थूल वाणी का तीसरा स्तर मध्यमा कहलाता है, जो आकाश तत्त्व में उत्पन्न कम्पन का रूप होता है। वाणी का सबसे स्थूल एवं कानों से सुना जा सकने वाला चतुर्थ चरण वैखरी कहलाता है और इसके लिए ठोस, द्रव अथवा गैसीय पदार्थ माध्यम का कार्य करते हैं। इन पदार्थों के सूक्ष्म कण वाणी की इन चौथे प्रकार की तरंगों से कम्पित होते हैं।

जो महानुभाव यह प्रश्न करते हैं कि शब्द पदार्थों की टक्कर से ही उत्पन्न होता है, वे वस्तुतः वैखरी वाणी (जिसको हम कानों से सुनते हैं) के सन्दर्भ में ही ऐसा प्रश्न करते हैं। वाणी के अन्य तीन रूपों के माध्यम क्या होते हैं, यह हम स्पष्ट कर चुके हैं, इसलिए

शब्द की उत्पत्ति पर ऐसा प्रश्न उठाना स्वयं ही अनावश्यक हो जाता है। हम यह भली-भाँति समझ सकते हैं कि मूल प्रकृति पदार्थ में किसी हलचल के हुए बिना सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती और कोई भी हलचल कम्पन के रूप में ही प्रारम्भ हो सकती है। प्रकृति में वह कम्पन ही वाणी का परारूप होता है। जैसे-जैसे अग्रिम पदार्थों का निर्माण होता जाता है, वैसे-वैसे कम्पनों का स्वरूप भी बदलता जाता है। इससे वाणी के अग्रिम चरण उत्पन्न होने लगते हैं। वैदिक पदों की यह विशेषता होती है कि उनका अपने अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध होता है। यहाँ 'अर्थ' का तात्पर्य पदार्थ भी समझना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि इस सृष्टि प्रक्रिया में जो पद उत्पन्न हो रहा होता है, उसी समय उस वाचक पद के वाच्य रूप पदार्थ की उत्पत्ति प्रक्रिया का बीजारोपण भी हो जाता है। इसी बात को पण्डित भगवद्दत रिसर्च स्कॉलर ने निरुक्त १.२ के भाष्य में इस प्रकार कहा है—

"पाणिनि, तत्र तस्येव ५.१.११६ के अनुसार मनुष्यवत् का अर्थ है— मनुष्येषु इव। इसका दूसरा अर्थ नहीं बनता। यहाँ मनुष्य से व्यतिरिक्त देवता से क्या अभिप्राय है। वेद में मन्त्रमयी देवता है। इन वेदमन्त्रों में भी पदचतुष्ट्व के अनुसार कथन हैं और वहीं से तो पदचतुष्ट्व लोक में आया।

दूसरी देवता, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति आदि भौतिक दिव्य गुणयुक्त देवता हैं। जब सृष्टि बन रही थी, तब यही गतिमय देव ईश्वर नियम से प्रेरित विविध ध्वनियाँ निकाल रहे थे। स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत। तथा— देवीं वाचम् अजनयन्त देवाः। अर्थात् देवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने। ये भूः आदि ध्वनियाँ और मन्त्र उस महान् आत्मा का निःश्वास होकर उच्चरित हो रहे थे। उन देव वचनों अथवा देवाभिधानों अर्थात् मन्त्रों में भी पदचतुष्ट्व का विभाग है।

देवताभिधान— वर्तमान ईसाई-यहूदी संसार में तथा नाममात्र के वैज्ञानिक जगत् में वाणी-उत्पत्ति विषयक जितनी कल्पनाएँ हैं, वे निराधार और तर्करहित हैं। केवल वैदिक मत यथार्थ विज्ञान पर आश्रित है। तदनुसार ईश्वर-प्रेरित भौतिक देव ही आकाशस्थ व्यापक शब्द को स्वाभाविक रूप से मन्त्र रूप में अभिव्यक्त करते हैं। यह क्रम इतना स्वाभाविक है कि प्रत्येक सृष्टि में पूर्ववत् ही होता है। अतः ये ही मन्त्र सदा प्रकट होते हैं। उन्हें ही

ईश्वर-प्रेरित ऋषि हृदय की गुफा अर्थात् बुद्धि में देखते और सुनते हैं। इसी सुनने के कारण मन्त्र समुदाय को श्रुति कहा है।

यास्क मुनि ने एक ही वाक्य में इस महान् सत्य को प्रकट किया है।

राजवाड़े लिखता है— careless sanskrit (P.iiv) प्राचीन संस्कृत के वाक्यविन्यास में अनभ्यास के कारण राजवाड़े का यह प्रलापमात्र है।

दुर्ग का अर्थ— दुर्ग के अर्थ को सीताराम और राजाराम ने अपनाया है। यथा सीताराम का लेख है—

मनुष्यों के समान देवताओं के भी अभिधान में समर्थ हैं। अर्थात् वेद में देवताओं के अर्थ जो हविः दी जाती है या उनसे कुछ प्रार्थना की जाती है, तो इन्हीं शब्दों के द्वारा होती है। इति।

तथा राजाराम— शब्दों से जैसे मनुष्यों के व्यवहार कहे जाते हैं, वैसे इन्द्रादि देवताओं के काम भी कहे जाते हैं। इति।

ये दोनों अनुवादक दुर्ग के अनुसार ऐसा अर्थ करते हैं। दुर्ग ने यह भाव स्पष्ट नहीं किया कि देवताओं का अभिधान कैसा था। देवता-अभिधान, यह षष्ठीतत्पुरुष समास है। वस्तुतः वेद की नित्यता का यही आधारभूत रहस्य है। मन्त्र तो सृष्टि के आदि में स्वाभाविक रूप से उच्चरित हुए थे। वही देवताओं का अभिधान था। वाणी की उत्पत्ति का यही मूल है। महाविद्वान् भर्तृहरि इस तथ्य को समझकर वाक्यपदीय में लिखता है— शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्याम्नायविदो विदुः (१.१२१) अर्थात् देव शब्दों का ही परिणाम यह जगत् है, यह वेद के जानने वाले जानते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सिद्धान्त सुप्रतिपादित है।

राजवाड़े लिखता है— अभिधान grammatically ought to be connected with तेषां and not with देवता अर्थात् देवता के साथ अभिधान पद नहीं जोड़ना चाहिए, प्रत्युत तेषां के साथ जोड़ना चाहिए। मूल तत्त्व को न समझकर राजवाड़े जी ने ऐसा असङ्गत लेख लिखा है।''

नवीन पाठकों को यह बात विचित्र एवं काल्पनिक प्रतीत हो सकती है, परन्तु जो

पाठक इस ग्रन्थ को पढ़ने से पूर्व 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' नामक ग्रन्थ को भली प्रकार समझ लेंगे, उनके लिए यह बात समझना सहज हो जाएगा। वे विज्ञ पाठक इस बात को भी समझ पाएँगे कि वेद का अर्थ केवल ज्ञान ही नहीं है, अपितु जिन शास्त्रों से ज्ञान होता है, वे शब्द अर्थात् भिन्न-भिन्न माध्यमों में होने वाले कम्पन भी वेद रूप होते हैं। वेद का वह रूप सृष्टि का उपादान कारण बन जाता है, जिसका ग्रहण अग्नि आदि चार ऋषि ब्रह्माण्ड से करते हैं और इसको वे परमेश्वर के सहाय से ही समाधि अवस्था में कर पाते हैं। जब वे वेद को ग्रहण कर लेते हैं, तब उनके अन्दर समाधि अवस्था में ही ईश्वर उन शब्दों के अर्थ का प्रकाश कर देता है। ऋषि दयानन्द ने इसी प्रक्रिया को अपने ग्रन्थों में समझाया है, जिसे पढ़कर ही ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान को ही प्रायः लोग वेद मान लेते हैं और यह सत्य भी है, परन्तु वे इस बात पर आगे विचार नहीं करते कि मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व ही वेद मन्त्र ब्रह्माण्ड में विद्यमान थे। वैदिक भाषा की ही विशेषता है कि उसके पद ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विद्यमान हैं। सृष्टि के हर पदार्थ से उनका नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध है। इसलिए वैदिक भाषा ब्रह्माण्ड की भाषा है और वेद मन्त्र इस ब्रह्माण्ड का वैज्ञानिक संगीत है। इस प्रकार वेद ब्रह्माण्डीय ग्रन्थ है, तभी तो स्वयं वेद में कहा है कि ऋषियों ने वेद मन्त्र अपने पवित्र अन्तःकरण में इस ब्रह्माण्ड से उसी प्रकार छान-छान कर ग्रहण किये, जिस प्रकार हम सत्तू वा आटे को छानते हैं, यह बात 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' नामक ग्रन्थ में पाठक पढ़ ही चुके हैं।

जरा विचारें कि जो वेद मन्त्र पूर्व से विद्यमान नहीं थे, तो उनको छान-छानकर ग्रहण करना कैसे सम्भव है? यहाँ यह संकेत और भी मिलता है कि उन चार ऋषियों ने जिन मन्त्रों को ग्रहण किया, वे छानकर अथवा चुनकर ग्रहण किये थे, ऐसी स्थिति में ब्रह्माण्ड में अनेक मन्त्र ऐसे भी रह गये, जिनको उन्होंने ग्रहण नहीं किया था। जिन मन्त्रों को उन्होंने ग्रहण नहीं किया, वे भी तो वेद रूप ही हुए। ऐसे ही कुछ मन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थों एवं वेद की कुछ शाखाओं में उपलब्ध होते हैं, जिन्हें बाद में ग्रहण किया गया।

यहाँ विचारणीय विषय यह भी उपस्थित होता है कि परमेश्वर ने जब उन चार ऋषियों को ज्ञान दिया और उससे पहले यदि वेद मन्त्र रश्मि रूप में भी ब्रह्माण्ड में विद्यमान नहीं थे, तब ईश्वर ने अपना ज्ञान छन्द रूप में क्यों प्रदान किया? क्या इस धरती पर कभी मनुष्य की बोलचाल की भाषा इस प्रकार छन्दों के रूप में रही थी, जैसी कि वेद

में विद्यमान है? हमारा मत यह है कि मानवीय व्यवहार की भाषा कभी पद्य रूप में नहीं रही होगी। अग्नि, वायु आदि ऋषि भी वेद ज्ञान के उपरान्त जिस भाषा का प्रयोग बोलचाल में करते होंगे, वह भाषा गद्यात्मक ही होगी, तब ईश्वर ने पद्यात्मक भाषा में ज्ञान क्यों दिया?

क्या ईश्वर अपनी काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन करना चाहता था अथवा काव्य कला सिखाना चाहता था? मुझे यह लगता है कि ऐसा करना कदापि अनिवार्य नहीं था। सिखाने के लिए तो ऐसी अन्य कलाएँ बहुत होती हैं, तब उनको क्यों छोड़ दिया? वस्तुतः साहित्य एवं कला प्रेमियों को ईश्वर एक कलाकार एवं साहित्यकार ही दृष्टिगोचर होता है। हमने ऐसे-ऐसे विद्वानों को देखा है, जो वेद में सभी सम्प्रदायों की मान्यताओं का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, तो कोई वेद में वीर रस, हास्य रस, शृंगार रस आदि सभी रसों का समावेश सिद्ध करते हुए वेद की सर्वज्ञानमयता का मूर्खतापूर्ण उपहास करते हैं। वेद में सृष्टि विद्या के गम्भीर रहस्यों को सिद्ध करने का प्रयास करने वाले दुर्लभ हैं, जबकि यही कार्य हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। जो कोई ऐसा प्रयास करता भी है, वह आधुनिक विज्ञान की अधूरी वा कल्पित मान्यताओं को ही वेद में खोजने का प्रयास करके स्वयं को धन्य मानने लगता है। जब विज्ञान की वह मान्यता मिथ्या सिद्ध हो जाती है, तब ऐसे वैदिक विद्वान् वेद की स्थिति को हास्यास्पद बनाकर मौन हो जाते हैं। आज वेद विज्ञान के नाम पर जो हो रहा है, वह ऐसा ही हास्यास्पद प्रयास हो रहा है। इस प्रयास पर वैज्ञानिकों को व्यंग्य करते हुए मैंने स्वयं देखा है और अपने वैदिक विज्ञान से उन्हें अभिभूत और पराभूत भी किया है।

जब कोई हमसे यह प्रश्न करता है कि ईश्वर वेद का ज्ञान क्यों देता है? तब हम इसका उत्तर सदैव इस प्रकार देते हैं कि ईश्वर मनुष्यों को संसार में कैसे व्यवहार करना है, यह सिखाने के लिए ही वेद का ज्ञान देता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी कहते हैं कि वेद इस सृष्टि की व्याख्या करता है तथा वेद ईश्वर का सैद्धान्तिक ज्ञान है और सृष्टि उसकी प्रयोगशाला है। ऐसा कहने वाले वेद में से इस सृष्टि की व्याख्या करने का प्रयास क्यों नही करते? और जो ऐसा प्रयास करते हैं, वे यह समझने का प्रयास क्यों नहीं करते कि सृष्टि को ईश्वर से अधिक अथवा उसके बराबर भी कोई नहीं जान सकता। तब ये विद्वान् वेद को आधुनिक विज्ञान के पीछे अविवेकपूर्ण ढंग से चलाने का प्रयास क्यों करते

हैं? यदि आधुनिक विज्ञान ही सबसे बड़ा प्रमाण है और बुद्धि के नेत्र बन्द करके हमें उसी का अनुगमन करना है, तब वेद की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है? इसी दृष्टिकोण से यदि सांसारिक व्यवहार की बात करें, तो उसके लिए भी संसार में अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, तब सांसारिक व्यवहार सीखने के लिए वर्तमान में वेदादि शास्त्रों की क्या आवश्यकता है? आवश्यकता पहली पीढ़ी के मनुष्यों को होगी, अब तो क्यों होनी चाहिए? वस्तुतः इस प्रकार का अविवेक वेद के वेदत्व को नष्ट करने वाला ही सिद्ध हुआ है और हम वैदिक लोग केवल अपने धार्मिक स्थानों में अपने ही लोगों के बीच वेदादि शास्त्रों और विद्वानों की स्वयं प्रशंसा करते रहते हैं। यह सत्यासत्य के जिज्ञासु जनों के लिए कदापि उचित नहीं है और विद्वानों के लिए तो यह अशोभनीय ही है।

वेद को बचाने के लिए हमें अपने-अपने पूर्वाग्रहों को त्यागकर इस बात पर विचार करना ही चाहिए कि वेद का वास्तविक स्वरूप क्या है? सृष्टि का निर्माण किस-किस प्रकार क्रमबद्ध रीति से होता है? सृष्टि के उपादान कारण रूप पदार्थ से अग्रिम पदार्थों का निर्माण एक लयबद्ध हलचल से ही होना सम्भव है और वह हलचल भी समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकारों की होनी चाहिए।

ईश्वर तत्त्व की आवश्यकता व स्वरूप

हलचल करने के लिए मूल पदार्थ में किसी बल की विद्यमानता भी होनी चाहिए। यह बात वैज्ञानिक तर्कों से कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति जान सकता है कि आधुनिक विज्ञान द्वारा जाने गये अथवा जाने जा सकने वाले बलों में से कोई भी बल उस समय विद्यमान नहीं हो सकता। हमारे इस मन्तव्य को समझने के लिए व्यक्ति का वैज्ञानिक बुद्धि वाला होना अनिवार्य है, जो यह समझता हो अथवा समझ सकता हो कि बलों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जब कोई बल स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकता, तब पदार्थ में हलचल कैसे प्रारम्भ होती है? और वह हलचल भी सृष्टि निर्माण जैसे सर्वोत्कृष्ट कार्य को सम्पन्न करने के प्रयोजन से पूर्णतया अनुकूल रीति से होती है, इससे प्रकट होता है कि सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया के लिए आवश्यक बल एवं प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए बुद्धि एवं बल दोनों की ही आवश्यकता होती है। ये दोनों ही गुण किसी जड़ पदार्थ में कदापि नहीं हो सकते। इसके लिए ऐसे परम चेतन तत्त्व की आवश्यकता होती है, जिसकी बुद्धि और बल सर्वथा

पूर्ण एवं अनन्त होवें और इस विस्तृत सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए उसकी व्यापकता भी मूल पदार्थ की अपेक्षा अधिक अर्थात् अनन्त ही होवे, ऐसा परम चेतन तत्त्व ही ईश्वर कहलाता है, जो सर्वथा निराकार ही हो सकता है, क्योंकि कोई भी साकार वस्तु सर्वव्यापक एवं अनन्त बल-बुद्धि से युक्त नहीं हो सकती। आजकल कुछ लोग 'निराकार' शब्द का अर्थ 'आकार-रहित' होना नहीं मानते, वे व्याकरण का दुरुपयोग करके 'निराकार' शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं कि जिससे अनेक आकारवान् पदार्थ उत्पन्न होवें, उसे निराकार कहा जाता है। वे विद्वान् मूर्तिपूजा और अवतारवाद की बलात् सिद्धि के लिए ही ऐसी गलत व्युत्पत्ति करते हैं। ऐसे विद्वान् मुण्डक उपनिषद् में वर्णित 'अमूर्त', यजुर्वेद के वचन (४०.८) 'अकायम्', 'अव्रणम्', 'अस्नाविरम्' एवं श्वेताश्वतर उपनिषद् ३.१९ के वचन 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' की व्याख्या कैसे करेंगे? वस्तुतः ऐसे हठी विद्वानों ने ही शास्त्रों के गौरव को नष्ट कर डाला है।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी ऊर्जा अथवा बल सदैव निराकार एवं निरवयव पदार्थ में ही विद्यमान हो सकते हैं, साकार में कदापि नहीं। जहाँ भी साकार पदार्थों में बल और ऊर्जा का अस्तित्व दिखाई देता है, वह उन साकार पदार्थों के अन्दर विद्यमान निराकार एवं निरवयव चेतन तत्त्व के कारण ही होता है, कहीं-कहीं जीवात्मा और अन्य सर्वत्र परमात्मा के कारण होता है। ध्यान रहे कि वह निराकार ईश्वर कुरान अथवा बाइबिल के अल्लाह अथवा गॉड की भाँति कथित निराकार नहीं है, क्योंकि ये तो सातवें और चौथे आसमान पर रहने वाले हैं, ये तख्त पर भी बैठने वाले हैं, जिन तख्तों को फरिश्ते उठाये रहते हैं। वस्तुतः डॉ. जाकिर नाइक जैसे लोग 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इस वेद वचन का दुरुपयोग करके हिन्दुओं को धर्मान्तरित करने का कुचक्र चला रहे हैं। बड़ी-बड़ी कब्रों को पूजने वाले, उन पर मूल्यवान चादरें चढ़ाने वाले पत्थर को शैतान समझकर पत्थर मारने वाले मूर्ति पूजा का विरोध कैसे कर सकते हैं? अस्तु।

हाँ, तो हम पदार्थ में हलचल से सृष्टि उत्पत्ति की बात कर रहे थे, वह हलचल ध्वनि के अतिरिक्त और किसी रूप में हो ही नहीं सकती। सर्वप्रथम सबसे सूक्ष्म, परन्तु सम्पूर्ण पदार्थ में होने वाली हलचल 'ओम्' ध्वनि के परा रूप में ही होती है, इसलिए उस चेतन तत्त्व का मुख्य एवं निज नाम 'ओम्' ही है।

यह रश्मि साक्षात् परमेश्वर से उत्पन्न होती है और उसी के साथ सदैव जुड़ी हुई रहती है, इसलिए यह रश्मि विज्ञानपूर्वक अपने सभी कार्य सम्पन्न करती है। यही रश्मि अग्रिम स्पन्दनों को प्रयोजनानुसार उत्पन्न करती रहती है, अन्य स्पन्दनों के साथ ईश्वर का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि 'ओम्' रश्मि के साथ सभी रश्मियों का सतत सम्बन्ध सदैव बना रहता है। इस कारण इस सृष्टि में होने वाली सभी क्रियाओं के पीछे 'ओम्' रश्मि के माध्यम से ईश्वर की अनिवार्य भूमिका सदैव रहती है। 'ओम्' रश्मि के माध्यम से समय-समय पर जो भी लयबद्ध हलचल उत्पन्न होती रहती है, वह वेद मन्त्रों का ही रूप होती है। इन्हीं को वे चार ऋषि ग्रहण करते हैं। इसी कारण वेद गद्यात्मक न होकर छन्दों के रूप में होता है, परन्तु उनके हृदय में परमेश्वर उन छन्दों के अर्थ का जो प्रकाश करता है, वह गद्य रूप में होता है अर्थात् उस भाषा में होता है, जिसे वे ऋषि और अन्य सभी मनुष्य व्यवहार में लाने वाले होते हैं।

वेदाध्ययन की परिवर्तनीय प्रक्रिया

इस प्रकार वेदोत्पत्ति की प्रक्रिया उतनी ही नहीं है, जितनी ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' एवं 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में दर्शायी है। उन्होंने उस ज्ञान रूपी वेद की बात की है, जो उन चार ऋषियों को प्राप्त होता है। उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में वैदिक पदों को नित्य भी बताया है और उन पदों का आकाश में एकरस भरे रहना भी बताया है, परन्तु वे वैदिक पद कैसे सृष्टि के प्रारम्भ में उद्भूत होते हैं और कैसे वे पद मिलकर के मन्त्रों का रूप लेते हैं और उन शब्दों एवं मन्त्रों की सृष्टि में क्या भूमिका होती है? समयाभाव के कारण उन्होंने यह कहीं स्पष्ट नहीं किया। यह आर्य विद्वानों का कर्त्तव्य था कि वे ऋषि के इन विचारों पर आगे कार्य करते, लेकिन पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के अतिरिक्त कोई भी आर्य विद्वान् इस विषय को स्पर्श भी नहीं कर पाया। मुझे ऋषि दयानन्द के इन वचनों एवं पण्डित भगवद्दत्त के ग्रन्थों से ही वैदिक रश्मियों का संकेत मिला और इन संकेतों के आधार पर ही मैंने ब्राह्मण ग्रन्थों पर विचार किया। इसके कारण ही मैं सृष्टि की उत्पत्ति, संचालन और प्रलय की व्याख्या आधुनिक विज्ञान से कहीं-कहीं हटकर और बहुत आगे तक वैदिक रश्मि विज्ञान के माध्यम से कर पाया। वेद की उत्पत्ति और सृष्टि के विज्ञान की व्याख्या का वैदिक रश्मि विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है।

अब हम निरुक्त शास्त्र के स्वरूप पर कुछ विचार करते हैं। यह ग्रन्थ उन अध्येताओं के लिए उपयोगी ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है, जो केवल व्याकरण के आधार पर वैदिक पदों की व्युत्पत्ति करके वेद की व्याख्या करने लग जाते हैं। निरुक्तकार ने कुछ वैदिक पदों को चुनकर उनका निर्वचन इस ग्रन्थ में किया है और उन पदों के निर्वचन को वेदार्थ में उपयोगी सिद्ध करने के लिए कुछ मन्त्रों को उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया है। ग्रन्थकार ने जो निर्वचन एवं मन्त्रों की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, वे उस समय के विद्वानों के लिए सहजता से समझने योग्य थीं।

इस ग्रन्थ का काल लगभग साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व का माना जाता है। इस लम्बे काल में मनुष्य का सतोगुण अत्यन्त न्यून हो गया है, इसलिए यह ग्रन्थ भी मध्यकालीन एवं वर्तमान विद्वानों के लिए दुर्बोध्य हो गया, इसलिए जितने भी भाष्य इस समय उपलब्ध हैं, उनमें से कोई भी ग्रन्थकार के आशय को नहीं समझा पाया है। मैं अपने पास उपलब्ध आठ भाष्यों को देखकर ऐसा अनुमान लगा रहा हूँ। मैंने आचार्य दुर्ग एवं स्कन्दस्वामिमहेश्वर जैसे प्रसिद्ध मध्यकालीन व्याख्याकारों, टीकाकारों से लेकर अर्वाचीन व्याख्याकारों— पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार, पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर, पण्डित मुकुन्द झा शर्मा, आचार्य विश्वेश्वर, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, पण्डित सीताराम शास्त्री, आचार्य भगीरथ शास्त्री आदि की हिन्दी व्याख्या, जिसमें पण्डित छज्जूराम शास्त्री तथा पण्डित देवशर्मा शास्त्री की संस्कृत टीका सम्मिलित है, का कुछ-कुछ विहंगावलोकन किया है। इसमें भी पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के भाष्य को अच्छी प्रकार पढ़ा है, परन्तु खेद है कि सभी व्याख्याकारों और टीकाकारों को न केवल वेद मन्त्रों की व्याख्या, अपितु निर्वचनों का आशय समझने में भी भारी भूल हुई है।

ऐसी स्थिति में इन निरुक्त भाष्यों को पढ़कर कोई वेद को समझकर उसकी रक्षा कर पाएगा, ऐसा मानना भारी भूल ही होगी। यद्यपि ये सभी विद्वान् मेरे लिए बहुत सम्माननीय हैं और इन्होंने जीवन भर विद्या की साधना भी की है। मुझे निरुक्त भाष्य करने में इन सबसे कुछ न कुछ सहायता भी मिली है और कहीं-कहीं इनमें से कई विद्वानों को मैंने उद्धृत भी किया है, पुनरपि मैं इनके भाष्यों से कदापि सन्तुष्ट नहीं हूँ, बल्कि दु:खी भी हूँ। पाठकों को मेरा ऐसा कथन बड़ा ही विचित्र प्रतीत होगा कि जिनसे मैंने सहायता ली है, उन्हीं का खण्डन भी करने बैठ गया हूँ। क्षमा करें, मेरे लिए सत्य से बड़ा कोई धर्म

नहीं, वेद तथा ईश्वर से अधिक कोई भी सम्माननीय नहीं। कोई मेरे लिए कितना ही पूज्य क्यों न हो, उसके भाष्य, लेख अथवा प्रवचन से वेदादि शास्त्रों की गरिमा मिटती है, प्राचीन महापुरुषों की प्रतिष्ठा घटती है, तब निश्चित ही मेरा यह परम कर्त्तव्य रहेगा कि मैं अपने उस पूज्य व्यक्ति के विचारों का खण्डन करके वेदों एवं ऋषियों-देवों की प्रतिष्ठा की रक्षा करूँ। मेरा सबसे निवेदन है कि अपने हृदय से पक्षपात और व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष के काँटे को निकालकर तुरन्त बाहर फेंक दें, क्योंकि वेद की रक्षा करना हम सब मनुष्यों का सामूहिक कर्त्तव्य है। वेद विज्ञान के मिटने से ही आज समूची मानवता भयंकर संकट में है। क्या हम सब उसको बचाने के लिए अपने-अपने स्वार्थों और राग-द्वेष रूपी अधर्म की बलि देने का साहस नहीं करेंगे?

पदों के निर्वचन की मेरी शैली व अन्य व्याख्याकारों की शैली से तुलना

अब मैं अन्य व्याख्याकारों से अपनी व्याख्या की तुलना करते हुए कुछ उदाहरण प्रस्तुत करूँगा—

१. निघण्टु — इसका निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क ने लिखा है—

"निघण्टवः कस्मात्। निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। अपि वाऽऽहननादेव स्युः। समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति।"

इसकी व्याख्या करते हुए पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर लिखते हैं—

"निघण्टवः किस कारण से। निगम-मात्र ये होते हैं। छन्द अर्थात् मन्त्रों से एकत्र कर के संगृहीत किए गए हैं। वे मन्त्रार्थज्ञान कराने वाले होते हुए ही निगमन [ज्ञान कराने के कारण] से निघण्टवः कहे जाते हैं। ऐसा औपमन्यव [आचार्य कहता है]। तथा च आ-हनन से ही [निघण्टवः] हों। एक स्थान पर एकत्र कर के (हनन) पढ़े गए हैं। तो और भी समाहरण से समाहृत = एकत्र हुए हैं।"

यह वास्तव में व्याख्या नहीं, बल्कि अनुवाद मात्र है। कुछ विद्वानों ने इस निर्वचन की व्याख्या भी करने का प्रयास किया है, विशेषकर स्कन्दस्वामी महेश्वर ने, परन्तु इस व्याख्या में शब्दजाल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सबका सार वही है, जो पण्डित भगवद्दत्त

रिसर्च स्कॉलर का अनुवाद है। हमारी दृष्टि में महर्षि भगवन्त किसी ग्रन्थ का नामकरण भी ऐसा करते थे, जिससे उस पद के द्वारा ग्रन्थ के विज्ञान का कुछ परिचय हो सके। हमने इस पद की विस्तृत व्याख्या की है, उससे वैदिक रश्मि विज्ञान का एक बहुत सूक्ष्म व गम्भीर रूप दृष्टिगोचर होता है। इससे ऐसे विज्ञान का प्रकाश होता है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के साथ-साथ वर्तमान वेदज्ञों को भी आश्चर्यचकित करने वाला है। इसे पाठक प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड के आरम्भ में ही पढ़ सकते हैं।

२. निर्वचनम् — महर्षि यास्क ने वैदिक पदों के निर्वचन का जो विज्ञान प्रकाशित किया है, वह अद्भुत है। व्याकरण शास्त्र किसी पद के अनुसार उसकी व्युत्पत्ति करता है, प्रकृति और प्रत्यय के आधार पर किसी पद की व्याख्या करता है। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र शब्द को प्रधानता देता है, उधर निरुक्त शास्त्र शब्दप्रधान न होकर अर्थप्रधान है। इसमें किसी शब्द के अन्दर परोक्ष एवं अतिपरोक्ष रूप से छिपे हुए अर्थ का उद्घाटन करने के लिए निर्वचन किया जाता है। 'निवर्चन' पद का क्या अर्थ है, इस विषय में हम पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर को यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त समझते हैं। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य २.१ में आचार्य दुर्ग को उद्धृत करते हुए लिखा है—

"अपिहितस्य अर्थस्य परोक्षवृत्तौ अतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम् अर्थात् शब्द में छिपे हुए अर्थ के परोक्षवृत्ति अथवा अतिपरोक्षवृत्ति होने पर खींचकर अथवा तोड़कर जो वचन (कथन) हो, वह निर्वचन होता है। निर्वचन पद का एक सीधा अर्थ भी है अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति के समय अर्थ = पदार्थ की वह माया जिससे वचन = शब्द बना, निर्गतो वचनं यस्मात्।"

यहाँ 'अर्थ' शब्द से पदार्थ के ग्रहण के हेतु प्रमाण रूप में पण्डित भगवद्दत्त ने न्यायदर्शन के सूत्र 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्...' को उद्धृत किया है, इस विषय में हमारा मत पाठकगण द्वितीय अध्याय के प्रथम खण्ड में अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। वस्तुतः निर्वचन विद्या वेदार्थ की प्राणरूप है। यह अति गम्भीर विज्ञान है। निर्वचन की जो-जो प्रक्रिया यहाँ शास्त्र में देखी जाती है, वही-वही प्रक्रिया और पदार्थ का वही स्वरूप इस सृष्टि में विद्यमान रहता है। इस प्रकार निर्वचन विद्या एवं निर्वचन प्रक्रिया का तत्-तत्

पदरूप वाक्यों अर्थात् सृष्टि के पदार्थों के साथ नित्य सम्बन्ध रहता है। यहाँ कोई पाठक यह न विचारे कि व्याकरण शास्त्र का अपना कोई विज्ञान नहीं है। नहीं, ऐसा नहीं है। किसी पद की व्युत्पत्ति की जो प्रक्रिया शास्त्र में देखी जाती है अर्थात् उस पद की व्युत्पत्ति में व्याकरण शास्त्र के जिन सूत्रों का उपयोग होता है, उन सूत्रों में वर्णित नियमों एवं तदनुसार पदों की व्युत्पत्ति प्रक्रिया सृष्टि में पदार्थों के निर्माण के समय भी हुआ करती है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति और निर्वचन दोनों ही प्रक्रियाओं में सृष्टि का वैदिक रश्मि विज्ञान कार्य करता है।

जहाँ व्याकरण शास्त्र के कुछ विशिष्ट नियम होते हैं, वहीं उन नियमों के कुछ अपवाद भी देखे जाते हैं। ध्यान रहे कि व्याकरण वेद तथा लोक के शिष्ट पुरुषों का अनुसरण करता है, इस कारण लोक और वेद ही प्रधान है। महर्षि पाणिनि एवं उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने लोक एवं वेद दोनों में ही प्रयुक्त पदों को व्याकरण के नियमों में बाँधने का प्रयास किया था, परन्तु सभी पदों को नियमबद्ध करना सम्भव नहीं हो सकता है। इसी कारण लोक में प्रयुक्त अनेक पदों को नियमों में मर्यादित न कर सकने के उपरान्त भी शिष्टों का प्रयोग मानकर साधु मान लिया गया, उधर अनेक वैदिक पदों को साधु मानने के लिए 'व्यत्ययो बहुलम्' एवं छन्दसि बहुलम्' जैसे सूत्रों की रचना महर्षि पाणिनि को करनी ही पड़ी। निर्वचन विद्या व्युत्पत्ति विद्या से अधिक व्यापक और वेदार्थ में अधिक उपयोगी है। यहाँ हम दोनों विद्याओं की तुलना करने के लिए ही ऐसा कह रहे हैं। हमारा उद्देश्य किसी भी प्रकार से व्याकरण की महत्ता को कम करना कदापि नहीं है। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि वेदार्थ करते समय हठपूर्वक व्याकरण शास्त्र का ही आश्रय लेकर प्रवृत्त हो जाना उचित नहीं है। इस विषय में स्वयं ग्रन्थकार ने निरुक्त २.१ में लिखा है—

''न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।''

इसकी व्याख्या के लिए पाठक दूसरे अध्याय के प्रथम खण्ड को पढ़ें।

निर्वचन विद्या का अधिकारी कौन?

इस विषय में ग्रन्थकार ने यह दर्शाया है कि किसे निर्वचन विद्या नहीं पढ़ानी चाहिए और किसे पढ़ानी चाहिए?

"नावैयाकरणाय नानुपसन्नाय अनिदंविदे वा नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात् यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा।" (निरु.२.३)

ग्रन्थकार के इस कथन से अनेक विद्वान् निरुक्त शास्त्र पढ़ने के लिए महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण शास्त्र पढ़ने की अनिवार्यता को दृढ़ता से सिद्ध करते हैं और इसी आधार पर मुझे इस ग्रन्थ का भाष्य करते हुए सुनकर नाना प्रकार की व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ की गईं। ऐसे सभी विद्वानों को चाहिए कि ग्रन्थकार के इस वचन पर मेरी व्याख्या दूसरे अध्याय के तीसरे खण्ड में निष्पक्षता से अवश्य पढ़ लेवें। शास्त्रकार का आशय समझे बिना दम्भपूर्वक ऐसे वचन बोलना अविद्या का लक्षण है।

ग्रन्थकार ने यह जानते हुए भी कि वेदविद्या पर प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है, कुछ लोगों को वेदविद्या का उपदेश न करने को कहा है, किस-किस को वेदविद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, इसके लिए खण्ड २.४ पठनीय है। हमारी दृष्टि में यह निषेध पदार्थ विज्ञान के विषय में मानना चाहिए, क्योंकि दुष्ट प्रवृत्ति के लोग इस विद्या का दुरुपयोग करके संसार का अनेक प्रकार से अनिष्ट कर सकते हैं। इसी खण्ड में ग्रन्थकार ने विद्या की उपादेयता को भी रेखांकित किया है, वह भी संसार के शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों एवं नीतिनिर्धारकों को अवश्य पढ़ना चाहिए।

निर्वचन विज्ञान के कुछ उदाहरण

यहाँ हम ग्रन्थकार के निर्वचन विज्ञान के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

१. बलम् — इसका निर्वचन करते हुए खण्ड ३.९ में ग्रन्थकार ने लिखा है—

बलं कस्मात्? बलं भरं भवति बिभर्तेः।

इस निर्वचन का विज्ञान पाठक उसी खण्ड में पढ़ सकते हैं। इस निर्वचन में बल का जो स्वरूप बतलाया है, वैसा अभी तक कोई वैज्ञानिक नहीं समझ पाया। हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' में ९ प्रकार के बलों की चर्चा की है, लेकिन यहाँ ग्रन्थकार ने २८ प्रकार के बलों का संकेत किया है, जिनके पृथक्-पृथक् नाम ग्रन्थकार ने निघण्टु में वर्णित किए हैं और वे सभी नाम पृथक्-पृथक् प्रकार के बलों के स्वरूप को दर्शाते हैं। इस विषय में वही खण्ड पठनीय है।

२. कूपः — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

कूपः कस्मात्? कु पानं भवति कुप्यतेर्वा (निरु.३.१९)

इसकी व्याख्या प्रायः सभी भाष्यकारों ने इस प्रकार की है— 'कूप कुएँ को कहते हैं और कूप इस कारण कहते हैं, क्योंकि उससे पानी निकालकर पीना कठिन होता है और जब प्यासे व्यक्ति के पास कुएँ से पानी निकालने का साधन न हो, तब उसे क्रोध आता है। इस कारण कुएँ को कूप कहते हैं।'

इस व्याख्या से सभी व्याख्याकारों की वेदविद्या के प्रति नितान्त अज्ञानता ही दृष्टिगोचर होती है। हमने इसी निर्वचन से कैसे एक महान् विज्ञान का रहस्योद्घाटन किया है, इसको पाठक खण्ड ३.१९ में पढ़ सकते हैं और कूप के जो १४ नाम दर्शाये हैं, उनके विज्ञान का आनन्द भी पाठक वहीं ले सकते हैं।

३. अकूपारः एवं कच्छपः — इन पदों का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

आदित्योऽप्यकूपार उच्यते। अकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते। अकूपारो भवति महापारः। कच्छपोऽप्यकूपार उच्यते। अकूपारो न कूपमृच्छतीति। कच्छपः कच्छं पाति। कच्छेन पातीति वा। कच्छेन पिबतीति वा। कच्छः खच्छः खच्छदः। अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव। कमुदकम्। तेन छाद्यते (निरु.४.१८)

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"आदित्य भी अकूपार कहा जाता है। नहीं छोटे पार वाला = दूर पार वाला होता है। समुद्र भी अकूपार कहाता है। नहीं छोटे पार वाला = महापार वाला होता है। कच्छप = कछुआ भी अकूपार कहा जाता है। अकूप + अरः [अर्थात्] नहीं कूप को ऋच्छति = जाता है [तालाबों और नदियों में रहता है।] कच्छपः मुख सम्पुट की पालना = रक्षा करता है। कच्छ = मुख सम्पुट द्वारा (अपनी) पालना करता है। कच्छ से पीता है अथवा। कच्छः = ख+छः = ख+छदः, आकाश रूपी खोखलेपन का छादनकर्त्ता = ढांकने वाला। यह भी दूसरा नदी का कच्छ = नदी समीप की भूमि इस [कारण] से ही। कम् = उदकम् = जल, उस [जल] से ढांपी जाती है।"

यहाँ 'कच्छपः' पद का अर्थ कछुआ नामक प्राणी ग्रहण किया गया है। अन्य सभी

भाष्यकारों ने भी यही अर्थ ग्रहण किया है। यदि वेद में कछुआ अथवा किसी ऐसे प्राणी के नाम का उल्लेख हो और निरुक्तकार को उसके नाम का भी निर्वचन करना पड़े, तब तो वेद बहुत बड़ा ग्रन्थ होता और निरुक्त शास्त्र भी। इस पद के निर्वचन की हमारी व्याख्या खण्ड ४.१८ में पढ़ सकते हैं, जहाँ हमने कच्छप का अर्थ सूर्य किया है और कच्छपः के निर्वचन से गम्भीर सूर्य विज्ञान का उद्घाटन किया है।

४. बेकनाटः — इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार खण्ड ६.२६ में लिखते हैं—

बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति। द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा। द्विगुणं कामयन्त इति वा।

यहाँ सभी व्याख्याकारों ने 'बेकनाटः' पद का अर्थ 'ब्याज पर ऋण देने वाला' कहा है और इस पद के उदाहरण के रूप में जो मन्त्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें ब्याज लेने वाले वैश्य के विनाश की बात कही गयी है, जबकि ऐसा कहना उचित नहीं है। भगवान् मनु ने मर्यादित ढंग से ब्याज लेना वैश्य का एक कर्म कहा है। इस कारण हम दृढ़ता से कहना चाहेंगे कि यहाँ 'बेकनाटः' पद का अर्थ 'ब्याज लेने वाला' है ही नहीं। इसी निर्वचन के व्याख्यान में हमने इस पद का अर्थ 'मेघरूप पदार्थ' माना है। इस प्रकार बेकनाट वे मेघ हैं, जो अन्तरिक्ष में काँपते हुए यत्र-तत्र भटकते रहते हैं। इसके विस्तार के लिए हमारा व्याख्यान पढ़ें।

५. गायत्री — इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने खण्ड ७.१२ में लिखा है—

गायत्री गायते स्तुतिकर्मणः। त्रिगमना वा विपरीता। गायतो मुखादुदपतत्।

इसकी व्याख्या करते हुए प्रायः भाष्यकारों ने इतना ही कहा है कि स्तुति अर्थ वाला, तीन पदों से गमन करने वाला, त्रि+गाय का विपरीत, गाते हुए प्रजापति के मुख से उत्पन्न होने वाला छन्द गायत्री कहलाता है। इससे कुछ आशय प्रकट नहीं होता, तब किसी विज्ञान का प्रकाशन तो कैसे हो सकता है? इसके विज्ञान को समझने के लिए पाठक हमारा व्याख्यान पढ़ें। इसी प्रकार अन्य छन्दों के निर्वचन का विज्ञान भी पाठक इस ग्रन्थ में पढ़ सकते हैं।

६. अग्निः — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने खण्ड ७.१४ में लिखा है—

अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति। न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद् दग्धाद्वा। नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते। गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा। नीः परः।

इस निर्वचन की व्याख्या करते हुए प्रायः सभी भाष्यकारों ने लिखा है— अग्रणी रहने वाला, यज्ञ कर्म में सर्वप्रथम लाया जाने वाला, अन्य पदार्थों को अपने सम्पर्क में आने पर अपने जैसा बनाने वाला, गीला नहीं करने वाला, स्निग्ध न करने वाला, गमन करने वाला, प्रकट करने वाला एवं जलाने वाला पदार्थ अग्नि कहलाता है। ये सभी अर्थ भौतिक अग्नि (फायर) के सूचक हैं। इस निर्वचन के व्यापक अर्थ को ग्रहण करने के लिए पाठक हमारा भाष्य पढ़ें।

७. मण्डूकः — इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने खण्ड ९.५ में लिखा है—

मण्डूका मज्जूका मज्जनात्। मदतेर्वा मोदतिकर्मणः। मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः। मण्डय-तेरिति वैयाकरणाः। मण्ड एषामोक इति वा मण्डो मदेर्वा। मुदेर्वा।

यहाँ सभी व्याख्याकारों ने मण्डूक का अर्थ मेंढक किया है। कछुए की भाँति मेंढक अर्थवाची मण्डूक पद का इतना बड़ा निर्वचन ग्रन्थकार करें, यह हास्यास्पद है। इसलिए मण्डूक पद वाले मन्त्रों का अर्थ भी नितान्त हास्यास्पद हो गया है। इस पद के निर्वचन के गम्भीर विज्ञान को समझने के लिए पाठक खण्ड ९.२ में विद्यमान मन्त्र—

अश्वो वोळहा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

का भाष्य पढ़ें।

८. इन्द्रः — इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने खण्ड १०.८ में लिखा है—

इन्द्रः इरां दृणातीति वा। इरां ददातीति वा। इरां दधातीति वा। इरां दारयते, इति वा। इरां धारयते, इति वा। इन्दवे द्रवतीति वा। इन्दौ रमते इति वा। इन्धे भूतानीति वा। तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्। इति विज्ञायते। इदं करणादित्याग्रायणः। इदं दर्शनादित्यौ-पमन्यवः। इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः। इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा। द्रावयिता वा। आदरयिता वा।

आदरयिता च यज्वनाम्।

इस निर्वचन का विज्ञान न समझने के कारण सभी व्याख्याकार इन्द्र नामक पदार्थ के स्वरूप को समझने में असफल रहे हैं। इसके लिए पाठक हमारा भाष्य पढ़ें। विभिन्न पदों के निर्वचन के इन उदाहरणों के पश्चात् छः विकार वाले भाव विकारों अर्थात् क्रियापदों की व्याख्या भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थकार खण्ड १.२ में लिखते हैं—

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे। नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अस्तीत्यु-त्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद् विकारम्। वर्धत इति वाङ्गाभ्युच्चयम् सांयौगिकानां वार्थानाम्। वर्धते विजयेनेति वा। वर्धते शरीरेणेति वा। अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे। न पूर्वभाव-माचष्टे न प्रतिषेधति।

इन क्रियाओं की व्याख्या में ग्रन्थकार ने अद्भुत एवं सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है, जिसे पाठक हमारे व्याख्यान में समझ सकते हैं। क्रियापदों की भाँति व्याकरण शास्त्र में प्रयुक्त विभिन्न उपसर्गों का अपना गम्भीर विज्ञान होता है। यह विज्ञान सम्पूर्ण सृष्टि की क्रियाओं में कार्य करता है। व्याकरण में इतना ही पढ़ते व जानते हैं कि उपसर्ग किसी भी धातु के नाना अर्थों को प्रकाशित करने वाले होते हैं, परन्तु इन उपसर्गों की सृष्टि में क्या भूमिका होती है, इस पर कोई विचार नहीं करता। इसे जानने के लिए खण्ड १.३ पठनीय है।

मेरी वेदभाष्य-शैली की अन्य भाष्यकारों से तुलना—

ग्रन्थकार ने वेदार्थ करने की यौगिक शैली को दर्शाकर वेद के अध्येताओं को वेदभाष्य करने की एक दिशा प्रदान की थी, जिससे वेद के अध्येता किसी रूढ़िवाद में फँसकर वेदों के रूढ़ अर्थ न कर बैठें। इसके लिए ही उन्होंने निर्वचन विद्या का प्रकाशन किया था। इसी आधार पर उन्होंने विभिन्न वैदिक पदों का निर्वचन तथा कुछ मन्त्रों का भाष्य किया था। उनका भाष्य उस समय के अध्येताओं के लिए किया गया था। निरुक्त का काल लगभग पाँच हजार पाँच सौ वर्ष पूर्व का माना जाता है। उस समय मनुष्यों में सत्त्वगुण एवं शारीरिक बल दोनों ही वर्तमान की अपेक्षा बहुत अधिक था। उस समय का

सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन भी वर्तमान की अपेक्षा बहुत अधिक पवित्र और उच्च था। इसी कारण उस समय के मनुष्यों के लिए निरुक्त के निर्वचन और वेद के व्याख्यान हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते थे, परन्तु वर्तमान में उन्हीं निर्वचनों एवं वेदभाष्यों को समझना अति दुरूह हो गया है। इसलिए निरुक्त शास्त्र के वर्तमान अध्यापक और अध्येता निरुक्त शास्त्र को समझने में असफल सिद्ध हुए हैं।

जो निरुक्त शास्त्र वेद को रूढ़िवाद से हटाकर यौगिकवाद में ले जाने के लिए रचा गया था, वही निरुक्त शास्त्र रूढ़िवाद की अंधी गलियों में कहीं ओझल हो गया है। जो निर्वचन वेद की यौगिकता सिद्ध करने वाले हैं, वे ही निर्वचन स्वयं रूढ़िवाद के जंजाल में फँस गये हैं। निरुक्त के विभिन्न व्याख्याकार पदों के रूढ़ार्थ में ही फँसकर रह गये हैं। कुछ व्याख्याकारों, विशेषकर स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त-सम्मर्श' में व्याकरण का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है, परन्तु उस व्याकरण से वैदिक पदों की वैज्ञानिकता प्राय: स्पष्ट नहीं होती और 'निरुक्त-सम्मर्श' नामक ग्रन्थ अति परिश्रम से रचा जाने पर भी वेद पिपासुओं के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाया है। जब स्कन्दस्वामी महेश्वर एवं आचार्य दुर्ग जैसे मध्यकालीन व्याख्याकार निरुक्त शास्त्र को रूढ़िवाद में फँसा बैठे, तब अर्वाचीन विद्वानों की कथा ही क्या कहनी?

वेद को कैसे समझें?

प्रत्येक वेद भाष्यकर्त्ता वा अध्येता को सर्वप्रथम वेद के स्वरूप को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। इसके साथ ही वेद के उत्पत्तिकर्त्ता सृष्टि के रचयिता परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को भी भली प्रकार समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इन दोनों ही कार्यों के लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' नामक ग्रन्थ अवश्य पठनीय है। उसको पूर्णत: समझे बिना वेद का वेदत्व और परमात्मा का स्वरूप कभी समझ नहीं आ पायेगा। वेद के परिज्ञान के लिए सृष्टि को समझना भी अनिवार्य है। यदि कोई वेद का अध्येता इस पृथिवी के विषय में भी नहीं जानता, तब वह वेद का ऐसा स्थूल भाष्य करेगा, जिससे वेद केवल इस पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों को सामान्य सा ज्ञान देने वाला ग्रन्थ ही सिद्ध होगा, जबकि वेद ऐसा है नहीं। यदि कोई वेदभाष्य करते समय वेद में भारतवर्ष अथवा इस पृथिवी पर पाई जाने वाली नदियों अथवा पर्वतों, देशों अथवा जीव-जन्तुओं का उल्लेख करे, तो यह

वेद के साथ उपहास ही माना जायेगा। इसी प्रकार वेद में किसी व्यक्ति के नाम का उल्लेख सिद्ध होता हो, तब ऐसा वेदभाष्य सर्वथा मिथ्या ही कहा जायेगा। जब एक बार वेद ईश्वरीय सृष्टि-विद्या का ग्रन्थ सिद्ध हो जाता है और सृष्टि का वैदिक रश्मि विज्ञान समझ में आ जाता है, तब ऐसे मिथ्या भाष्य स्वयं ही त्याज्य सिद्ध हो जाते हैं।

हमें यह विचारना चाहिए कि अपनी एक गैलेक्सी में ही अरबों तारे और उनके अपने-अपने ग्रह व उपग्रह हैं और वैज्ञानिकों ने इस ब्रह्माण्ड में अब तक ३-४ अरब गैलेक्सियों को देखा है। तब कल्पना करें कि उस ब्रह्माण्ड में अपनी इस पृथिवी का स्थान महासागरों में से बिन्दुवत् जल के समान ही है। ऐसी स्थिति में वेद में पार्थिव नदियों, समुद्रों, पर्वतों, जीवों एवं वनस्पतियों के नाम का उल्लेख कैसे सम्भव है? जिस किसी वेदभाष्य में ऐसा दिखाई दे, तब उसकी दृष्टि में वेद ईश्वरीय ग्रन्थ सिद्ध नहीं हो पायेगा, जबकि वेद को ईश्वरीय सिद्ध करने वाले तथ्यों को हमारा वैदिक रश्मि विज्ञान सहजता से सिद्ध करता है।

वेद से सांसारिक व्यवहार सीखने की इच्छा वाला कोई विद्वान् भाष्यकार हम मानवों के लिए उपयुक्त व्यवहारों की प्रेरणा देने वाले भाष्य तो कर सकता है, परन्तु उसमें किसी व्यक्ति, देश आदि पदार्थों के नामों का उल्लेख नहीं हो सकता। इसके साथ ही वेद का मूल वा प्राथमिक भाष्य आधिदैविक ही होगा। इसका कारण यह है कि वेदमन्त्र रूपी रश्मियों से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है, तब वेद मन्त्र प्रथमतः सृष्टि की व्याख्या करे, ऐसा स्वाभाविक भी है और अनिवार्य भी, इसलिए हमने निरुक्त में उद्धृत वेद मन्त्रों का प्रायः आधिदैविक भाष्य ही किया है। जहाँ कहीं हमें अन्य भाष्यकारों का भाष्य अति आपत्तिजनक अथवा घृणित प्रतीत हुआ, वहाँ हमने आधिदैविक के साथ-साथ आधि-भौतिक एवं आध्यात्मिक भाष्य भी किया है। अनेकत्र हमने ऋषि दयानन्द के आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक भाष्यों को भी उद्धृत किया है। ऐसी स्थिति में हमने आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक भाष्य करना आवश्यक नहीं समझा है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि ऋषि दयानन्द ने अपना भाष्य संस्कृत भाषा में ही किया था और उसका हिन्दी अनुवाद उनके साथ रहने वाले पण्डितों ने किया था, इसलिए अनेकत्र पण्डितों का हिन्दी अनुवाद ऋषि दयानन्द के संस्कृत भाष्य से पूरी तरह मेल नहीं खाता, बल्कि कहीं-कहीं तो वेद को उपहास का पात्र भी बना देता है।

ऋषि दयानन्द ने जो भी भाष्य किया है, वह भी अति संक्षिप्त है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का कुछ विस्तृत भाष्य किया था, उसके पश्चात् ही धीरे-धीरे उनका भाष्य संक्षिप्त और संक्षिप्ततर होता गया। उन्होंने कहा था कि चारों वेदों का भाष्य करने के लिए उन्हें चार सौ वर्ष का समय चाहिए, परन्तु उन्हें वेदभाष्य के लिए मात्र कुछ वर्ष ही मिल पाए। ऐसी स्थिति में हम कल्पना कर सकते हैं कि उनका वेदभाष्य वेदार्थ ज्ञान को सम्पूर्ण रूप में कितना प्रतिबिम्बित कर सकता है? वास्तव में ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य केवल सांकेतिक है, जिसमें उन्होंने तत्कालीन वेदभाष्य परम्पराओं के स्थान पर यौगिक शैली का निर्देश किया था। उन्होंने अनेक पदों का यह विचार करके भाष्य नहीं किया है कि उनके लेखक पण्डित उनके विचार व शैली के अनुसार हिन्दी अनुवाद कर ही देंगे, परन्तु अनुवादकों ने जाने-अनजाने में भारी घोटाला कर दिया। इसके उदाहरण तो सैकड़ों मिल सकते हैं, परन्तु हम यहाँ केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

महर्षि ने 'पूषणं न्व...उच्यते' (ऋ.६.५५.४) के भाष्य में 'अजाश्वम्' पद का अर्थ 'अजाश्चाश्वाश्चास्मिँस्तम्' किया है। इसका हिन्दी अनुवादकों ने अर्थ किया है— 'जिसमें बकरी और घोड़े विद्यमान हैं।'

इस प्रकार इस मन्त्र के हिन्दी भाष्य में यह बताया गया है कि सूर्य में घोड़े, बकरी आदि जानवर भी रहते हैं। इस बात को लेकर कोई भी व्यक्ति वेद का उपहास कर सकता है और उसे ऐसा करने का अधिकार भी है। यदि ऋषि दयानन्द सूर्य लोक में पृथिवी लोक पर पाये जाने वाले प्राणियों के समान आकृति और शरीर वाले प्राणियों की सत्ता को स्वीकार करते, तो सत्यार्थ प्रकाश के द्वादश समुल्लास में जैन मत का खण्डन करते हुए इस भूगोल में १३२ सूर्य तपने की बात पर व्यंग्य नहीं करते। ऋषि ने वहाँ लिखा है—

"अब देखो भाई! इस भूगोल में १३२ सूर्य और १३२ चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे। भला जो तपते होंगे, तो वे कैसे जीते हैं?"

इस मन्त्र के पूर्ववर्ती मन्त्र में भी 'अजाश्व' पद आया है, जिसका अर्थ संस्कृत भाग में 'अजोऽनुत्पन्नो विद्युदश्वो यस्य तत्सम्बुद्धौ' किया है और हिन्दी अनुवादकों ने इसका 'अविनाशी बिजुलीरूप घोड़े वाले' यह अर्थ किया है। अब विचारें कि 'अजाश्व' दोनों मन्त्रों में लगभग समान है। पूर्व मन्त्र में अविनाशी बिजलीरूप घोड़े वाले अर्थ किया,

तो अगले ही मन्त्र में बकरी व घोड़े नामक धरती के प्राणी कहाँ से आ गये?

आज ऋषि दयानन्द के नाम से जो भी वेदभाष्य प्रकाशित हो रहे हैं, उनके हिन्दी अनुवाद अनेकत्र त्रुटिपूर्ण हैं और जनसाधारण हिन्दी भाष्यों को ही पढ़ता है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने तो ऋषि के नाम से हिन्दी अनुवाद ही प्रकाशित कर रखे हैं। यह ऋषि दयानन्द के साथ न्याय नहीं है। हम यहाँ एक मन्त्र और प्रस्तुत कर रहे हैं—

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक्
छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाच्छन्दोऽश्वश्छन्दः॥ (यजु.१४.१९)

"पदार्थः — (पृथिवी) भूमिः (छन्दः) स्वच्छन्दः (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (छन्दः) (द्यौः) प्रकाशः (छन्दः) (समाः) वर्षाणि (छन्दः) (नक्षत्राणि) (छन्दः) (वाक्) (छन्दः) (मनः) (छन्दः) (कृषिः) भूमिविलेखनम् (छन्दः) (हिरण्यम्) सुवर्णम् (छन्दः) (गौः) (छन्दः) (अजा) (छन्दः) (अश्वः) (छन्दः)।"

अब कोई बताए कि इस मन्त्र का भाष्य कहाँ हुआ? कितने पदों को ऋषि ने बिना भाष्य किए छोड़ दिया। इसका क्या कारण था? क्या महर्षि इन पदों का भाष्य करना नहीं जानते थे? हमारे मत में ऋषि दयानन्द भाष्य करने में पूर्ण समर्थ थे, परन्तु उन्हें ऐसा आभास हो गया था कि उनका जीवन अधिक दिनों तक नहीं चल पायेगा, इस कारण वे अति शीघ्रता में ऐसा सांकेतिक भाष्य करते चले गये। उन्होंने विचारा होगा कि संस्कृत भाषा के विद्वान् उनके अन्य मन्त्रों के किये भाष्य और उनकी भावना के अनुसार स्वयं अर्थ समझ जायेंगे और जो संस्कृत भाषा नहीं समझते, उनके पण्डित आर्यभाषा हिन्दी में किए अनुवाद के द्वारा वेदार्थ समझा ही देंगे, परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा कुछ हो नहीं पाया।

ऋषि दयानन्द के दिवंगत होने के पश्चात् विद्वानों द्वारा उनकी भावना के अनुसार वेदभाष्य करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। आर्य विद्वानों को चाहिए था कि ऋषि दयानन्द जिन मन्त्रों के भाष्य को उपर्युक्तानुसार अधूरा छोड़ते गये, उनका भाष्य उसी प्रकार का करते, जिस प्रकार का भाष्य महर्षि ने ऋग्वेद के प्रारम्भिक मन्त्रों का किया है। वेद मन्त्र कोई हिन्दी के दोहे नहीं हैं, जो दो-दो तीन-तीन पंक्तियों में ही उसका अर्थ कर दिया जाये। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, तो वेद के भाष्य से ऐसा सिद्ध भी होना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज का तीसरा नियम अति श्रद्धावश नहीं लिख दिया है,

बल्कि भगवान् मनु से लेकर जैमिनी ऋषि पर्यन्त सभी भगवन्तों की मान्यता के अनुसार ही लिखा है। वह मान्यता भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, बल्कि वास्तविकता है। जो ज्ञान ईश्वरीय है, उसमें सभी सत्य विद्याएँ क्यों नहीं होंगी? सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण विज्ञान अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ विज्ञान, सम्पूर्ण अध्यात्म विज्ञान और लोकव्यवहार की सम्पूर्ण शिक्षा वेद में क्यों नहीं होगी? क्या आज संसार में कोई भी वेदभक्त विद्वान् वा धर्माचार्य ऐसा दावा कर सकता है और क्या वह केवल वेदभाष्य पर निर्भर रहकर संसार के सभी व्यवहारों को कुशलतापूर्वक करने में समर्थ हो सकता है? जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक हम यह घोषणा करने के अधिकारी नहीं होंगे कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।

काश! आर्यसमाज इस घोषणा को साकार कर पाता और पौराणिक समाज (सनातनी कहलाने वाला) आर्य विद्वानों के साथ मिलकर वेद को ईश्वरीय तथा सर्वविज्ञानमय सिद्ध करने में अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ और संसाधनों का उपयोग करता, प्रतिमापूजन एवं अवतारवाद आदि के पोषण में ही मग्न नहीं रहता, तो सम्पूर्ण आर्यावर्त (भारतवर्ष) इस प्रकार मैकाले का दास नहीं बन चुका होता। हमारी युवा पीढ़ी पाश्चात्य कुसभ्यता और कुसंस्कारों में यों नहीं बह रही होती। दुर्भाग्य से दोनों ही वेद के महत्त्व को नहीं समझ पाये। पौराणिक समाज ने तो वेद के स्थान पर गीता, भागवत, रामचरितमानस आदि ग्रन्थों को ही नहीं, अपितु वेदविद्या विहीन अपने-२ गुरुओं को ही सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर दिया। सम्पूर्ण हिन्दू समाज, जिसमें आर्यसमाज भी सम्मिलित है, ही वेद से नितान्त दूर खड़ा है। इसी कारण अनेक बड़े-२ धार्मिक आयोजनों को करते हुए, भव्य आश्रमों और मन्दिरों का निर्माण करते हुए तथा दैनिक पूजा, उपासना, यज्ञ आदि कर्मों को विधिपूर्वक सम्पन्न करते हुए भी अन्दर से नितान्त खोखला है और उस खोखलेपन में प्रच्छन्न नास्तिकता और अंग्रेजीयत कूट-कूटकर भरी हुई है। वेद का वेदत्व, ऋषियों का ऋषित्व, देवों का देवत्व एवं आर्यों का आर्यत्व इस पृथिवी से किसी अन्य लोक पर पलायन कर गया है। कदाचित् इसी कारण महापुरुषों ने भी इस पृथिवी पर जन्म लेना बन्द कर दिया है, अस्तु।

यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या वेदेतर अन्य किसी ग्रन्थ, जिनमें आर्ष ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं, की इस धरती को कोई आवश्यकता नहीं है? इस विषय में हमारा मत है कि सृष्टि के आदि काल में तो यही वास्तविकता थी, परन्तु तमोगुण व रजोगुण

युक्त संसार में ऐसा सम्भव नहीं है। वर्तमान में तो आधुनिक विज्ञान भी पढ़ना अनिवार्य है, क्योंकि हमारा वैज्ञानिक साहित्य चुरा लिया गया है, परन्तु हमें अपने आर्ष ग्रन्थों व वेदों के वैज्ञानिक भाष्य करके धीरे-२ विज्ञान विकसित करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। वेद को केवल वाग्विलास तक सीमित नहीं रखना चाहिए।

हमने इस विषय पर गहराई से चिन्तन किया कि हमारे प्यारे आर्यावर्त एवं सम्पूर्ण भूमण्डल की ऐसी दुर्दशा क्यों हुई? हमने निष्कर्ष निकाला कि वेदादि शास्त्रों का मिथ्या भाष्य ही सब पापों और दु:खों की जड़ है, इसलिए गुरूणां गुरु देवाधिदेव परमपिता जगज्जननी मातृरूप परमेश्वर की कृपा से हमने ऐतरेय ब्राह्मण का भाष्य किया, जो आज 'वेदविज्ञान-आलोक:' नाम से प्रसिद्ध है। इसी शैली में महर्षि यास्ककृत निरुक्त शास्त्र का भी यह भाष्य 'वेदार्थविज्ञानम्' नाम से आपके सम्मुख प्रस्तुत है। इन दोनों ही आर्ष ग्रन्थों का वैज्ञानिक भाष्य विश्व में सम्भवत: प्रथम वार हमने ही किया है। इस ग्रन्थ में आए हुए सैकड़ों मन्त्रों का भाष्य भी किया है। उसकी तुलना पाठक किसी भी अन्य भाष्य से स्वयं कर सकते हैं। हम यहाँ उदाहरण के रूप में कुछ मन्त्रों के भाष्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

मन्त्र संख्या १.

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥ [ऋ.१०.७१.७]

इसका निरुक्तकार ने इस प्रकार भाष्य किया है—

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। अक्षि चष्टेः। अनक्ते : इत्याग्रायणः। तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते। कर्णः कृन्ततेः। निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेरित्याग्रायणः। ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते। मनसां प्रजवेष्वसमा बभूवुः। आस्यदघ्ना अपरे। उपकक्षदघ्ना अपरे। आस्यमस्यतेः। आस्यन्दत एनदन्नमिति वा। दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः। दस्यतेर्वा स्यात्। विदस्ततरं भवति। प्रस्नेयाः। ह्रदा इवैके ददृशिरे। प्रस्नेयाः स्नानार्हाः। ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः। ह्लादतेर्वा स्याच्छीतीभावकर्मणः (निरु.१.९)

निरुक्तकार के इस भाष्य को आधार बनाकर भिन्न-२ व्याख्याकारों ने अपनी-२ व्याख्याएँ की हैं, जिनका सार लगभग समान ही है। उनमें से हम उदाहरण के रूप में

आचार्य भगीरथ शास्त्री की हिन्दी व्याख्या, जो महामहोपाध्याय पण्डित छज्जूराम शास्त्री और पण्डित देवशर्मा शास्त्री की संस्कृत टीका पर आधारित है, को यहाँ उद्धृत करते हैं—

"अक्षिमन्तः प्रशस्त आँखों वाले कर्णवन्तः प्रशस्त कानों वाले सखायः समान ख्यान वाले-समान ज्ञान वाले या एक ही शास्त्र में समानरूप से कृतश्रम। अक्षि चष्टेः दर्शनार्थक 'चक्षिङ्' से अक्षि बनता है, क्योंकि इनसे देखते हैं। अनक्तेः इति आग्रायणः आग्रायण इस 'अक्षि' शब्द को 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' से मानते हैं, क्योंकि ये आँखें अन्य अङ्गों की अपेक्षा व्यक्ततर हैं। 'तस्मात् एते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते', यह ब्राह्मण का वचन है। इसका अर्थ है- इसीलिए ये आँखें अन्य अङ्गों की अपेक्षा अधिक व्यक्ततर-प्रकाशयुक्त हैं; ऐसा पता चलता है। कर्णः कृन्ततेः 'कृती छेदने' से कर्ण बनता है। निकृत्तद्वारो भवति क्योंकि कान का द्वार कटा हुआ होता है। ऋच्छतेरित्याग्रायणः आग्रायण का कहना है कि गत्यर्थक 'ऋच्छ' धातु से कर्ण बनता है। इसमें ब्राह्मणवचन भी प्रमाण है— ऋच्छन्तीव खे उदगन्ताम् इति ह विज्ञायते। इसका अर्थ है— 'खे' आकाश में अभिव्यक्त शब्द इन कानों को 'ऋच्छन्ति' प्राप्त होते हैं और ये कान उन शब्दों को मानो लेने के लिए उदगन्ताम् ऊपर को गये हुए हैं। इसलिए 'ऋच्छ' से कर्ण शब्द की निष्पत्ति है। मनसाम् प्रजवेषु मनोवेगों में या 'मनोगम्येषु अर्थेषु' मनोगम्य अर्थों में असमाः बभूवुः असमान रहते हैं। आस्यदघ्नाः अपरे कोई मुख तक पानी वाले ह्रद की तरह उपकक्षदघ्नाः अपरे तो कोई काँख तक पानी वाले ह्रद की तरह।

मन्त्र में 'आदघ्नासः' पद है। उसमें 'आस्यदघ्न' के 'स्य' का 'पृषोदरादित्वात्' या 'छान्दसत्वात्' लोप हो गया। आस्यमस्यतेः 'आस्य' शब्द क्षेपणार्थक 'असु' से बनता है। इस मुख में अन्न फेंका जाता है— डाला जाता है। आस्यन्दत एतदन्नम् इति वा या क्योंकि यह मुख शुष्क अन्न को भी अपनी लार से आर्द्र कर देता है, अतः आङ्पूर्वक 'स्यन्दू प्रस्रवणे' से बना सकते हैं। दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः 'दघ्न' शब्द स्रवत्यर्थक 'दघ' धातु से बनता है, क्योंकि उत्तर परिमाण की अपेक्षा वह स्रुत-न्यून सा होता है। दस्यतेर्वा स्याद् बिदस्ततरं भवति या उपक्षयार्थक 'दसु' धातु से दघ्न बनता है। प्रस्नेया ह्रदा इवैके प्रस्नेया ददृशिरे स्नानार्हाः जिनमें खूब गोते लगाकर-तैरकर स्नान कर सकते हैं, ऐसे ह्रदों की तरह एके-कोई छात्र अगाध पाण्डित्य वाले दीखते हैं। ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः शब्दार्थक 'ह्राद'

से ह्रद बनता है। ह्लादतेर्वा स्यात् शीतीभावकर्मण: या शैत्यार्थक 'ह्लाद' से ह्रद बन जायगा।''

इस व्याख्या पर विचार करने से वेद अति सामान्य स्तर का ग्रन्थ सिद्ध होता है। व्याख्याकारों एवं टीकाकारों ने महर्षि यास्क के भाष्य का रहस्य कुछ भी नहीं समझा और उन्होंने वर्तमान में प्रचलित धारणा के अनुसार अनुवाद मात्र कर दिया। उन्होंने शब्दों के कलेवर को तो देखा, परन्तु वे शब्दों के आत्मा को किञ्चिदपि नहीं समझ पाये।

पाठक निरुक्त की अन्य व्याख्याओं और वेदभाष्यों को भी पढ़ें, तब उन्हें इस मन्त्र से कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है। इस मन्त्र के भाष्य पर हमारी आधिदैविक व्याख्या पढ़ सकते हैं और उससे अन्य व्याख्याओं की तुलना कर सकते हैं। हमारी व्याख्या से पाठकों को कण-भौतिकी (पार्टिकल फिजिक्स) के गम्भीर और सूक्ष्मविज्ञान के कुछ रहस्यों का बोध हो सकेगा।

मन्त्र संख्या २.

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥ [ऋ.१०.२७.२३]

ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनाम। प्रतमो भवति। कृन्तत्रमन्तरिक्षं। विकर्तनं मेघानाम्। विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः। पर्जन्यो वायुरादित्यः। शीतोष्णवर्षैरोषधीः पाचयन्ति। अनूपा अनुवपन्ति लोकान्त्स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव। अनूप्यत उदकेन। अपि वान्वाबिति स्यात्। यथा प्रागिति। तस्यानूप इति स्यात्। यथा प्राचीनमिति। द्वा बृबूकम्। वहतः पुरीषम्। वाय्वादित्या उदकम्। बृबूकमित्युदकनाम। ब्रवीतेर्वा शब्दकर्मणः। भ्रंशतेर्वा। पुरीषं पृणातेः। पूरयतेर्वा। (निरु.२.२२)

इस भाष्य की व्याख्या भिन्न-२ विद्वानों ने अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-२ प्रकार से की है। इनमें से हम आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''देवताओं के निर्माण में [मेघ, वायु और आदित्य ये तीन] मुख्य [माने जाते] हैं। इनमें से [उपराः] मेघ [कृन्तत्रात्] अन्तरिक्ष से [दूसरे लोगों ने 'कृन्तत्रात्' का अर्थ

कर्तनात् किया है। परन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि यास्क ने 'कृन्तत्रम् अन्तरिक्षम्' लिखकर कृन्तत्र शब्द को स्पष्ट रूप से अन्तरिक्ष-वाचक बतलाया है। 'उदायन्' यह 'इण् गतौ' धातु का णिजन्त-गर्भित रूप है] जल को प्रवाहित करते हैं। [उदायन् उद्गमयन्ति जलम्। ये] तीनों [अनूपाः] अनुग्रह करने वाले पृथिवी को [अर्थात् पृथिवी पर होने वाले औषधि, अन्न आदि को तपन्ति अर्थात् पकाते हैं। और [वायु तथा आदित्य ये] दो पालन अथवा पूरण करने वाले [बृबूकम् अर्थात्] जल को [फिर मेघ बनाकर बरसाने के लिए] आकाश की ओर] ले जाते हैं।

देवताओं के निर्माण में माध्यमिक देवगण [अर्थात् मेघ, वायु तथा आदित्य] मुख्य ठहरे हैं। प्रथम यह मुख्य का वाचक है। [क्योंकि वह] प्रकृष्ट-तम होता है। 'कृन्तत्र' अन्तरिक्ष [का नाम] है। [क्योंकि वह] मेघों को काटने का स्थान है। मेघों के खण्डित होने से वर्षा होती है। 'अनुग्रह करने वाले तीन पृथिवी को तपाते हैं।' [वे तीन कौन हैं?] मेघ, वायु और आदित्य। [वे पृथिवी को कैसे तपाते हैं?] शीत, उष्ण और वर्षा के द्वारा ओषधियों [अन्नादि] को पकाते हैं। 'अनूप' [यह विशेषण इसलिए दिया है कि ये तीनों] अपने-अपने कार्य के द्वारा लोकों को अनुगृहीत करते हैं। [लोक में जल के किनारे का प्रदेश 'अनूप' कहलाता है।] यह दूसरा अनूप [जल-प्रदेश] भी इस [कारण] से [अनूप कहलाता है, क्योंकि] जल के द्वारा अनुगृहीत [सिञ्चित] किया जाता है। अथवा ['अनुगता आपा यत्र' इस अर्थ में] 'अन्वाप्' यह [शब्द पहिले] बना जैसे प्राक् यह। उस [अन्वाप्] का अनूप हुआ जैसे 'प्राक्' से प्राचीन। [वायु और आदित्य] पुरीषम् अर्थात् पालन या पूरा-पूरण करने वाले जल को ले जाते हैं। वायु और आदित्य। बृबूकं यह जल का नाम है। शब्दार्थक 'ब्रूञ्' धातु से अथवा भृंश- धातु से [ऊक-प्रत्यय करके] बना है।''

यहाँ व्याख्याकार ने वृष्टि-विज्ञान पर स्वल्प एवं स्थूल प्रकाश डाला है। इस पर हमारी व्याख्या पाठक यथास्थान पढ़ सकते हैं, जहाँ सृष्टि की एक प्रक्रिया के सूक्ष्म विज्ञान को उद्घाटित किया है। साथ ही मन्त्र का आधिभौतिक और आध्यात्मिक भाष्य भी किया है।

मन्त्र संख्या ३.

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वां ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ [ऋ.३.३१.१]

इसका ग्रन्थकार ने इस प्रकार भाष्य किया है—

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता दुर्हिता। दूरे हिता। दोग्धेर्वा। नप्तारमुपागमत्। दौहित्रं पौत्रमिति। विद्वान्प्रजननयज्ञस्य। रेतसो वा। अङ्गादङ्गात्सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य। विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति। (निरु.३.४)

इस भाष्य की व्याख्या पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस प्रकार की है—

"अर्थ- (शासत्) बताता है (वह्निः) विवाहने वाला = ले जाने वाला [वर] दुहिता का [पुत्र भाव] [क्योंकि उसी से] (नप्त्यम्) दौहित्र को पौत्र [मान कर] (गात्) पाता है। (विद्वान्) जानता हुआ (ऋतस्य) प्रजननाख्य यज्ञ के (दीधितिम्) कर्म विधान को [और] (सपर्यन्) पूजा करता हुआ = आदर करता हुआ [उस का]। पिता जहाँ पुत्री के (सेकम्) [रेतसिञ्चन में समर्थ] पति को अथवा जामाता को (ऋञ्जन्) प्राप्त करता अथवा ग्रहण करता है, [तब] (सं + शग्म्येन) अत्यन्त सुखी मन से (सं + दधन्वे) [जामाता के साथ] मेल करता है।

बताता है = कहता है, वधू को ले जाने वाला, सन्तानोत्पत्ति के कर्म के लिए, दुहिता के पुत्र भाव को। दुहिता = दुः हिता, अत्यन्त कठिन है हित जिसका। दूरे = दूर में हुई हित वाली [होती है]। दोहन करते रहने से अथवा। नप्ता को प्राप्त होता है। दौहित्र को पौत्र यह [मान कर]। जानता हुआ, प्रजनन यज्ञ का। रेतस = वीर्य को अथवा। [वह वीर्य जो] अङ्ग से अङ्ग से = प्रति अङ्ग से उत्पन्न होता है, हृदय से जन्मता है, अपनी माता [के गर्भ] में पहुँचता है। [इस सारे कर्म] विधान की पूजा करता हुआ। [अतः] विना भेद-भाव के स्त्री-पुरुष दोनों पुत्र [ही हैं] और दायाद = दायभागी हैं।

भाष्य— इस ऋक् का अर्थ कठिन है। यास्क ने भी अर्थ में सन्तानकर्मणे और पुत्रभावं का अध्याहार किया है। इस ऋक् के उत्तरार्ध का अर्थ यास्क ने आगे खण्ड ५ के अन्त में

किया है। वह्निः = वोढा। तै.ब्रा.१.१.६.१० में वह्निर्वा अनड्वान् भी माना गया है। यह वह्निः अनड्वान् का काम करता है। यजुर्वेद २२.२२ के अनुसार श्रेष्ठ अनड्वान्, वोढा गुणयुक्त होता है। अतः प्रकरणवशात् वह्निः का अर्थ वोढा हो गया है। दुःहिता, अत्यन्त कठिनता से उचित वर मिलने पर उसका हित होता है। दूर गोत्र आदि में विवाह होने पर सन्तति के नीरोग और बलिष्ठ होने से हित होता है। अथवा दुहिता पितृकुल के धन का सदा दोहन करती है। मन्त्र का अभिप्राय यह निकाला गया है कि पुत्र और दुहिता के दायाद में समय पड़ने पर कोई भेदभाव नहीं रहता। अतः गोद लेना प्रशस्त कर्म नहीं।''

पण्डित जी की यह व्याख्या आधिभौतिक दृष्टि से की गई है। अब पाठक हमारी व्याख्या देखें, जिसमें वर्तमान खगोल भौतिकी की सीमा से आगे बढ़कर सृष्टि विज्ञान के एक रहस्य की चर्चा की है।

मन्त्र संख्या ४.

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ [ऋ.१०.४०.२]

इसका व्याख्यान ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

क्व स्विद्रात्रौ भवथः। क्व दिवा। क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः। क्व वसथः। को वां शयने विधवेव देवरम्। देवरः कस्मात्। द्वितीयो वर उच्यते। विधवा विधातृका भवति। विधवनाद्वा। विधावनाद्वेति चर्मशिराः। अपि वा धव इति मनुष्यनाम। तद्वियोगाद्विधवा। देवरो दीव्यतिकर्मा। मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा। योषा यौतेः। आकुरुते सहस्थाने। (निरु.३.१५)

पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

''यदि कोई स्त्री पुरुष अपने देश से देशान्तर में जावें, तो उस देशान्तर के राजकर्मचारी प्रवेश से पूर्व उनसे निम्न प्रकार प्रश्न पूछें—

(अश्विना) हे स्त्रीपुरुषो! (कुह स्वित् दोषा) गत रात्रि को आप कहाँ थे? (कुह वस्तोः) कल दिन को कहाँ रहे? (कुह अभिपित्वं करतः) कहाँ पदार्थों की प्राप्ति की? अर्थात् भोजनादि कहाँ किया? (कुह ऊषतुः) कहाँ तुम्हारा निवास स्थान है? अर्थात् किस देश के तुम बसने वाले हो? (विधवा देवरं इव, योषा मर्यं न शयुत्रा सधस्थे वां कः आकृणुते)

और जैसे कोई विधवा स्त्री नियुक्त पति को या अक्षत-योनि स्त्री पूर्व पति के छोटे भाई देवर को अथवा विवाहिता स्त्री अपने पति को समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानों को उत्पन्न करती है, एवं तुम्हारा परमप्रिय घनिष्ठ मित्र कौन है? जिसके साथ मिल कर तुम अपने धार्मिक, सामाजिक या व्यावहारिक आदि कृत्य पूर्ण करते हो।

इसी प्रकार के प्रश्नों का विधान शुक्रनीति (१.२६९) में पाया जाता है। वहाँ लिखा है कि राजा प्रति दो ग्रामों में एक पान्थशाला बनवावे। और शालाधिप प्रत्येक पान्थ से यह सवाल करे— कहाँ से आया? क्यों आया? कहाँ जाता है? तेरी जाति और कुल क्या है? तेरा निवासस्थान कहाँ है? इत्यादि।

एवं इस मन्त्र में हीनोपमाओं के द्वारा संगी तथा परमप्रिय घनिष्ठ मित्र के बारे में प्रश्न किया गया है।

शयुत्रा = शयने, शयन-वाची 'शयु' से सप्तम्यर्थ में 'त्रा' (पाणि.५.४.५६)। देवर- द्वितीय वर-द्विवर-देवर। जो दूसरा वर हो अर्थात् जिसकी विवाहिता स्त्री मर चुकी हो, उस नियुक्त पति को देवर कहते हैं। विधवा- (क) विधातृका-विधवा, जो पति-विहीना हो। (ख) 'वि' पूर्वक 'धूञ् कम्पने' धातु से 'अप्' प्रत्यय और 'टाप्'। यह निराश्रित होने से सदा कम्पायमान रहती है। (ग) चर्मशिरा आचार्य कहता है कि 'वि' पूर्वक गत्यर्थक 'धावु' धातु से 'विधवा' सिद्ध होता है, क्योंकि विधवा प्रायः चलायमान चित्त वाली रहती है। (घ) अथवा 'धव' शब्द मनुष्यवाची है, उस स्वकीय मनुष्य के वियोग से वह विधवा कहलाती है। देवर- स्तुत्यर्थक 'दिवु' धातु से 'अर' प्रत्यय (उणा.३.१३२)। पति का छोटा भाई भावज का सदा आदर करता है, अतः उसे देवर कहा गया। इस 'देवरम्' पद का सम्बन्ध 'विधवा' और 'योषा' दोनों के साथ है, अतः यास्क ने अपने-२ स्थान पर 'देवर' के दो निर्वचन करते हुए इसके भिन्न अर्थ ज्ञापित किये हैं। विधवा के साथ 'योषा' के पाठ से यहाँ 'योषा' का अर्थ सुहागिन या अक्षत-योनि स्त्री है एवं 'मर्य' शब्द उस पुरुष के लिये विवक्षित है, जिसकी विवाहिता स्त्री जीवित हो। 'योषा' के साथ 'देवरम्' तथा 'मर्यम्' दोनों का सम्बन्ध है। मर्य = मनुष्य, यह मरण धर्म वाला है। 'मृ' धातु से 'यत्' प्रत्यय (पाणि.३.१.९७)। योषा— 'यु' धातु से 'स' प्रत्यय (उणा.३.६२)। यह पति से युक्त होती है।

इस मन्त्र से निम्नलिखित तीन बातों पर प्रकाश डलता है, पाठक उन्हें ध्यान में रक्खें—

१. अश्विनौ अर्थात् दम्पती से प्रश्न पूछने से पता लगता है कि देश-विदेश में स्त्री पुरुषों को इकट्ठे रहना चाहिए, वियुक्त कभी नहीं होना चाहिए। मनु की भी (९.१३) यही आज्ञा है।
२. विधवा के साथ विधुर या विधुर के साथ विधवा का ही नियोग होना चाहिए, कुमार या कुमारी का नहीं।
३. अक्षत-योनि स्त्री का अपने कुमार देवर के साथ पुनर्विवाह हो सकता है। इसी को मनु ने (९.६९) 'तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' से अङ्गीकृत किया है।

श्रेष्ठोपमायें तो संस्कृत-साहित्य में भी बहुत अधिक पायी जाती हैं, परन्तु जहाँ छोटे से बड़े को उपमा दी हो, ऐसी हीनोपमायें संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त नहीं होतीं। उनका प्रयोग वेद में बहुत पाया जाता है। जब मनुष्य वेद का अध्ययन प्रारम्भ करता है, तब उसे लौकिक-व्यवहार और संस्कृत-साहित्य से प्रभावित होने के कारण ऐसी हीनोपमायें बड़ी खटकती हैं। उसने संस्कृत-साहित्य में सदा पहले प्रकार की ही उपमायें पढ़ी और सुनी होती हैं, उसी प्रकार की उपमाओं में वह पला हुआ होता है। उसके मन में यह बात पूर्णतया जमी हुई होती है कि उपमायें सदा उच्च ही होनी चाहिए। इसीलिए वेदाध्ययन करते समय जब उससे विपरीत हीनोपमायें दीख पड़ती हैं, तो वह असंगत भान होती हैं। उपमा का प्रयोजन यही होता है कि किसी वस्तु के गुण को दूसरी प्रसिद्ध वस्तु के गुण द्वारा स्पष्ट करके समझा सकें। यह स्पष्टता जहाँ से हो सके, की जा सकती है चाहे वह हीनोपमा हो और चाहे श्रेष्ठोपमा। अतः इस भेद को ध्यान में रखते हुए वेद का स्वाध्याय करना चाहिए।''

इस पर हमारा आधिदैविक एवं आधिभौतिक दोनों प्रकार का भाष्य पढ़कर पाठक स्वयं तुलना कर सकते हैं।

मन्त्र संख्या ५.

त्रिः स्मः माह्नः श्नथयो वैतसेन। [ऋ.१०.९५.५]

'वैतस' पद का निर्वचन ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है— शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य। शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः। वैतसो वितस्तं भवति। (निरु.३.२१)

विद्वानों ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

आचार्य सायण (ऋग्वेदभाष्यम्)— अनेन पुरुरवसमेव संबोध्योक्तवती। हे पुरूरवः त्वं मा मामह्नोऽहनि वैतसेन दंडेन पुंव्यंजनेन चिस्त्रिवारं॥ द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्। पा.५.४.७८.॥ श्नथयः स्म। अश्नथयः। अताडयः॥ कृत्वोऽर्थप्रयोगे। पा.२.३.९४.। इति कालवाचिनो-ऽहःशब्दादधिकरणे षष्ठी॥ उतापि च। स्मेति पूरणः। अव्यत्यै। सपत्नीभिः सह पर्यायेण पतिमागच्छति सा व्यती। न तादृश्यव्यती। तस्यै मे मह्यं पृणासि। पूरयसि। एवं बुध्या हे पुरुरवः ते तव केतं गृहमन्वायं। अन्वगमं पूर्वं। हे वीर राजा त्वं च मे मम तन्वः शरीरस्य तत्तदासीः। अभवः। मुखयितेति शेषः। परमप्येवं मंतव्यं किमिति कातरो भवसीत्युवाच।

इस भाष्य का हिन्दी अनुवाद आप वही समझ सकते हैं, जो सातवलेकर जी ने किया है।

पण्डित दामोदर सातवलेकर (ऋग्वेदभाष्यम्)— हे पुरूरवः = पुरूरव! तू मां अह्नः वैतसेन त्रिः श्नथयः स्म = मुझे दिन में तीन बार पुरुष दण्ड से ताड़ित करता था। मेरा उपभोग करता था। उत अव्यत्यै मे पृणासि = और सपत्नी के साथ मेरी प्रतिद्वन्द्विता नहीं थी, तू मेरे अनुकूल होकर मुझे सन्तुष्ट करता था। ते केतं अनु आयम् = इस आशा से ही मैं तेरी शरण में आती थी। हे वीर = शूरवीर! तू मे तन्वः तत् राजा आसीः = मेरे शरीर का उस समय स्वामी होता था।

ये दोनों महानुभाव उर्वशी को कामुकी सिद्ध कर रहे हैं, जो अपनी सौतन से ईर्ष्या करती हुई अपने पति को उलाहना दे रही है।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर (निरुक्त-शास्त्रम्)— वैतसः, यह पुरुष के प्रजननेन्द्रिय का नाम है। वैतसः, (वितस्तम्) संकुचित = क्षीण होता है। [उर्वशी की ऋक् है] तीन वार (मा) मुझे (अह्नः) दिन में (श्नथयः स्म) ताड़न किया (वैतसेन) प्रजनन से।

पण्डित जी ने यह अश्लील अनुवाद कर तो दिया, परन्तु वे स्वयं इससे सहमत नहीं हैं। इस कारण उन्होंने अपने भाष्य में वैतस को आपः का रूपान्तर भी कह दिया है।

उर्वशी को भी स्त्री नहीं माना, अपितु अन्तरिक्षस्थ पदार्थ माना है, परन्तु वे कुछ भी स्पष्ट नहीं कर पाये। हाँ, उन्होंने कुछ सोचा तो सही, परन्तु इसका अनुवाद नहीं करना चाहिए था।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजको विद्यामार्तण्डः (ऋग्वेदभाष्यम्, अजमेर)—

भा. अन्वयार्थ— (उत) अपि हाँ (पुरुरवः) हे बहुत प्रशंसक पति या हे बहुशासक राजन्! (मा) मुझ तेरी पत्नी या प्रजा को वह व्यभिचारी या दस्यु (अह्नः-त्रिः) दिन में तीन वार (वैतसेन) पुरुषेन्द्रिय से-गुप्तेन्द्रिय से (श्नथयः स्म) ताड़ित करे पीड़ित करे यह सम्भावना है (अव्यत्यै मे) अविपरीता-अनुकूला हुई मुझको (पृणासि) प्रसन्न कर तृप्त कर, ध्यान रख कोई व्यभिचारी या दस्यु न आ घुसे (ते केतमनु) तेरे निर्देश के अनुसार (आयम्) मैं पत्नी या प्रजा तुझे प्राप्त हुई हूँ (तत्) इस हेतु (वीर) वीरपति या राजन् (मे तन्वः राजा-आसीः) तू मेरे आत्मा का-आत्मीय राजा है।

भावार्थ— किसी भी घर में या राष्ट्र में व्यभिचारी या दस्यु को घुसने न दिया जावे। अन्यथा पत्नी को और प्रजा को बलात् सम्भोग से वारम्बार पीड़ित करेगा, अनुकूल पत्नी तथा प्रजा को सदा प्रसन्न तृप्त रखे, पति या राजा पत्नी या प्रजा का आत्मीय साथी है।

यहाँ 'दिन में तीन बार', ऐसा अर्थ करते समय कुछ विचारा ही नहीं, बल्कि भाषानुवाद कर दिया है।

स्वामी ब्रह्ममुनिः परिव्राजको विद्यामार्तण्डः (निरुक्तसम्मर्शः)— वैतसः-वितस्तं वितस्तं क्षीणभावो विगतो यस्य स वितसः। वितस एव वैतसः स्वार्थो वितस् क्विप् भूते वितस् स्वार्थेऽण् = वैतसः मन्त्रस्याश्लीलविषयत्वात्तदर्थो न क्रियते।

यहाँ स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने मन्त्र को अश्लील बताकर भाष्य करना छोड़ दिया, परन्तु इन्होंने अपने ऋग्वेद भाष्य में इसका भाष्य कर दिया। वहाँ पुरूरवा को पत्नी-व्यभिचार का अपराधी न बताकर किसी तीसरे व्यक्ति को बता दिया है।

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री (आचार्य दुर्गकृत-ऋज्वर्थाख्यावृत्तिसमेतम्)— उर्वश्या आर्षम्। त्रिष्टुप्। सा पुरूरवसा मा गास्तिष्ठेत्युक्ता सत्यनयर्चा पुरूरवसं प्रत्यब्रवीत्। हे पुरूरवः! त्रिः स्म माह्नः त्रिरह्नो मामवधीस्त्वं वैतसेन शिश्नदण्डेन पूर्वम्।

यहाँ भी पुरूरवा की पत्नी उर्वशी अपने पति के दिन में तीन बार बलात्कार से पीड़ित दिखाई गयी है।

पण्डित छज्जूराम शास्त्री आदि— हे पुरूरवः! तूने मा मुझको त्रिः अह्नः दिन में तीन बार वैतसेन उपस्थेन्द्रिय से श्नथयः मारा है।

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री (ऋग्वेद भाष्य, सार्वदेशिक)—

पदार्थ— हे पुरूरवस्! तू (माम्) मुझे (वैतसेन) वेत के दण्ड से (अह्नः) दिन में (त्रिः) तीन वार (श्नथयः) ताड़ित करता है (उत) और (अव्यत्यै) मुझ एकमात्र पत्नी को (पृणासि स्म) हर प्रकार से पूरित करते हो, इसीलिए (ते) तेरे (केतम्) घर को मैं विद्युत् (आयम्) प्राप्त हूँ अर्थात् विद्युत् मेघ में अपना स्थान बनाए हुए हूँ (वीर) हे वीर तू (तत्) इसलिए (मे) मेरे (तन्वः) विद्युन्मय ढांचे का (राजा) राजा (आसीः) होता है।

भावार्थ— हे मेघ तू दिन में प्रातः, दोपहर और सायम् जब हो मुझे ताड़ित करता है, मुझे सब प्रकार से पूरित भी करता है। यही कारण है कि मैं विद्युत् मेघ में अपना स्थान बनाये रहती हूँ। हे वीर तू मेरे विद्युन्मय ढांचे का राजा होता है।

इन्होंने अश्लीलता को छुपाने के लिए 'वैतस' का अर्थ करते समय निरुक्त को उपेक्षित कर दिया है।

विद्यामार्तण्ड पण्डित सीताराम शास्त्री (यास्कमुनिप्रणीतं निरुक्तम्)— 'त्रिः स्म' इस मन्त्र में उर्वशी और पुरूरवा की पुराण प्रसिद्ध कथा का मूल है। पुरूरवा ने उर्वशी से कहा कि— 'तू मत जा, ठहर', उस पर उर्वशी ने कहा कि— ''हे पुरूरवः? 'अह्नः' दिन के 'त्रिः' तीन वार 'त्वम्' तूने 'मा' मुझे 'वैतसेन' शिश्नदण्ड से 'श्नथयः' ताडन किया है'' इत्यादि।

यहाँ भी उर्वशी की वही व्यथा है, जो अपने पति द्वारा ही यौन पीड़ित है।

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि— 'वैतस' पुरुष के जननेन्द्रिय का वाचक है। 'शेप' शब्द स्पर्शार्थक 'शप' धातु से [बनता है, क्योंकि उसका स्पर्श विशेष महत्त्व रखता है] और 'वैतस' वितस्त अर्थात् लम्बायमान हो जाने से [अथवा 'तसु उपक्षये' धातु से बनने से सम्भोगकाल में उपक्षय क्षीणता से रहित होने से 'वैतस' कहलाता है]। उसका

उदाहरण निम्न मन्त्र में पाया जाता है। दिन में तीन बार शिश्न [जननेन्द्रिय] से मुझको मारते थे।

पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार (ऋग्वेद भाष्य)— हे सेनानायक! तू (मां) मुझको (अह्नः) न नाश होने वाले (वैतसेन) ज्ञानमय प्रकाश से (त्रिः श्नथयः) तीनों प्रकार से बन्धन से युक्त कर। (उत) और (मे अव्यत्यै) मेरे अनुकूल आचरण के लिये मेरा (पृणासि) पालन पोषण कर। हे (पुरूरवः) बहुतों को आज्ञा देने वाले शासक! मैं (ते केतम् अनु आयम्) तेरी शरण को प्राप्त करूं। हे (वीरः) शूरवीर तू! (मे तन्वः) मेरे विस्तृत राष्ट्र का (तत् राजा आसीः) राजा हो।

केवल यही भाष्य पठनीय है। ये निरुक्त की उपेक्षा करके ही ऐसा भाष्य कर पाये हैं, अन्य सभी भाष्य जलाकर नष्ट करने योग्य हैं।

इस पर हमारा त्रिविध भाष्य यथास्थान देख सकते हैं। काश! विद्वान् इस अश्लीलता को शास्त्रों से निकाल फेंकने का विचार भी मन में लाये होते।

मन्त्र संख्या ६.

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। [ऋ.१०.५.६]

इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

सप्तैव मर्यादाः कवयश्चक्रुः। तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान् भवति। स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति। (निरु.६.२७)

सभी व्याख्याकारों ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य ही किया है, जिसमें से स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का भाष्य इस प्रकार है—

कवयो मेधाविनो विद्वांसः "कविः-मेधाविनाम" (निघं.३.१५) सप्त मर्यादाः-जीवनयात्राया अनुल्लङ्घनीया व्यवस्थाः-ततक्षुः-तक्षन्ति-तक्षन्तु "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (अष्टा.३.४.६) इति सामा-न्यकाले लिट्। पुनस्तासामेकामपि-अभिगात्-अभिक्राम्येत्-उल्लङ्घयेत् स 'अंहुरः' अंहस्वान्-पापवान् पापी भवति। 'सप्त मर्यादाः कवयस्तक्षन्तु' इति वेदाज्ञया कविभिर्विद्वद्भिस्ता मर्यादास्तक्षितास्ताः परिगणिता यास्केन 'स्तेयम्, गुरुतल्पारोहणं

गुरुपत्नीसम्भोगः, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या-गर्भपातनम्, सुरापानम्, दुष्कृतस्य कर्मणः-पाप-कर्मणः पुनः पुनराचरणम्, पातकेऽनृतोद्यम्-पापे कृतेऽनृतभाषणं न मया पापं कृतम्' इति सप्त मर्यादाः। अथ मर्यादानामनभिगमने जनः-आयोः-ज्योतिषो हि यः स्तम्भस्तस्मिन् 'आयोर्ज्योतिषः' (निरु.१०.४१) उपमस्योपमन्तुं योग्यस्य परमात्मनोऽन्तिकतमस्य नीडे-शरणे मोक्षपदे पथां विसर्गे यस्मिन् यात्रायाः पन्थानो विसृज्यन्ते त्यज्यन्ते यात्रायाः पथां वा लक्ष्ये प्राप्तव्यस्थाने धरुणेषु प्रतिष्ठासु-आनन्दैश्वर्य-प्रतिष्ठासु तस्थौ तिष्ठति ''प्रतिष्ठा वै घरुणम्'' (शत.७.४.२.५)।

पाठक यहाँ यह विचार करेंगे कि इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य हो ही नहीं सकता, ऐसे पाठक इसका आधिदैविक भाष्य इसी खण्ड के हमारे व्याख्यान में पढ़ सकते हैं।

मन्त्र संख्या ७.

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥ [ऋ.३.५३.१४]

इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

किं ते कुर्वन्ति कीकटेषु गावः। कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः। कीकटाः किंकृताः। किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा। नैव चाशिरं दुह्रे। न तपन्ति घर्मं हर्म्यम्। आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि। मगन्दः कुसीदी। माङ्गदः। मामागमिष्यतीति च ददाति। तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्त-कुसीदिकुलीनः। प्रमदको वा। योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः। पण्डको वा। पण्डकः पण्डगः। प्रार्दको वा। प्रार्दयत्याण्डौ। आण्डावाणी इव व्रीडयति तत् स्थम्। नैचाशाखम्। नीचाशाखो नीचैः शाखः। शाखाः शक्नोतेः। आणिः अरणात्। तं नो मघवन् रन्धयेति। रध्यतिर्वशगमने। (निरु.६.३२)

इस भाष्य की भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से हिन्दी व्याख्या की है। हम इनमें से एक विद्वान् आचार्य भगीरथ शास्त्री की हिन्दी व्याख्या को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

''हे इन्द्र! कीकटेषु अनार्यदेशों में गावः जो गौवें रहती हैं किं ते कृण्वन्ति-कुर्वन्ति

वे तुम्हारा क्या उपकार करती हैं अर्थात् कुछ भी नहीं। न आशिरं दुह्रे वे अनार्यलोग न तो गौओं को दुहते हैं न घर्मं तपन्ति और न अग्नि कुण्ड को प्रज्वलित करते हैं— अर्थात् अग्निहोत्र भी नहीं करते। प्रमगन्दस्य सूदखोर का वेदः धन नः हमारे लिए आभर-आहर-ले आ। मघवन्! हे इन्द्र! नः हममें से नैचाशाखं रन्धय अवनतवंश चलाने वाले को तथा उसके धन को रन्धया अपने वश में करले। न तपन्ति घर्मं हर्म्यम् सन्तप्त हर्म्य-कुण्ड को हवन कुण्ड को नहीं जलाते। आहर नः ला दे हमारे लिए प्रमगन्दस्य सूदखोर के धनानि धनों को। मगन्दः कुसीदी मगन्द सूदखोर होता है। मगन्द की व्युत्पत्ति—मामागमिष्यति इति च ददाति मुझे यह घन द्विगुण होकर मिलेगा-ऐसा सोचकर जो धन देता है—वह मगन्द है। अस्मद्-गम्-द को मगन्द आदेश हो गया तदपत्यम् उस मगन्द का लड़का प्रमगन्दः प्रमगन्द कहलाया, जो कि अत्यन्त-कुसीदिकुलीनः अत्यन्त सूदखोर के कुल को बढ़ाने वाला है। प्रमदको वा या क्योंकि वह लड़का अत्यन्त मुदित-प्रसन्न रहता है—सूद पर सूद लेता हुआ खूब धन बढ़ाता है यः और जो अयमेवास्ति लोकः बस, यही लोक है, खूब मौज करले, न परः परलोक नहीं है इति प्रेप्सुः इस प्रकार के विचार रखता है। पण्डको वा या वह नपुंसक-हिजड़ा होता है। पण्डकः पण्डगः पण्डक ही पण्डग है पण्डं गच्छति स्त्रीरूपत्वात्। प्रार्दको वा या वह प्रार्दक है क्योंकि वह प्रार्दयति-प्रकर्षेणार्दयति आण्डौ अण्डौ वा पुरुष के अण्डों को—अण्ड-कोषों को खूब हिलाता है या मसलता है। आण्डौ क्यों? आणी इव व्रीडयति तस्तम्भे आणी—रथ के पहियों की इव तरह—जिस प्रकार रथ के पहिये सारा बोझ सँभाले रहते हैं, उसी प्रकार यह हिजड़ा मैथुन कर्म में मसले गये अण्डों को मुख में रखता है। नैचाशाखं नीचाशाखः नीचैः शाखः नीचैः शाखाः सन्तानादिरूपा यस्य सः नीचैः शाखः तस्येदं स्वं नैचाशाखम्। शाखाः शक्नोतेः 'शक्लृ शक्तौ' से शाखा बनता है। जैसे पेड़ की शाखाएँ फैलती हैं, उसी प्रकार वंश फैलता है। आणिः अरणात् आणि क्यों? अरणात् गमन करने के कारण। रध्यतिर्वशगमने रध धातु वशगमन अर्थ में आती है। 'मा रधाम द्विषते' हम शत्रु के वश में न होवें इत्यादि मन्त्रों में रध का अर्थ वशगमन—किसी के अधीन होना।''

पाठक इस व्याख्या को समझकर स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसी व्याख्याएँ वेद को कैसे निन्दा और उपहास का पात्र बनाती हैं। इस पर हमारा आधिदैविक भाष्य एवं ऋषि दयानन्द का आधिभौतिक भाष्य इस ग्रन्थ में पढ़ सकते हैं।

मन्त्र संख्या ८.

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ [ऋ.१.१.१]

इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

अग्निमीळेऽग्निं याचामि। ईळिरध्येषणाकर्मा। पूजाकर्मा वा। पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च। देवो दानाद्वा। दीपनाद्वा। द्योतनाद्वा। द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्। जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्। (निरु.७.१५)

इस भाष्य की हिन्दी व्याख्या विभिन्न व्याख्याकारों ने अपने ढंग से भिन्न-भिन्न की है, परन्तु उनमें लगभग समानता ही है। इनमें से हम पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"उस 'अग्नि' की 'अग्निमीडे' आदि ऋचा है। उसका अर्थ यह है—

(यज्ञस्य पुरोहितं) अग्निहोत्रादि प्रत्येक यज्ञ में आगे रखे जाने वाले, (देवं) प्रदीपक (ऋत्विजं) समय-समय पर शिल्पादि यज्ञों में संगन्तव्य (होतारं) दिव्य पदार्थों को बुलाने वाले (रत्नधातमम्) और रमणीय धनों के उत्तम दाता (अग्निं ईडे) अग्नि की मैं याचना करता हूँ, परमेश्वर ऐसी कृपा करें कि उपर्युक्त कर्मों को सिद्ध करती हुई अग्नि मुझे प्राप्त हो।

एवं प्रार्थी प्रार्थना करता है कि मैं नित्यप्रति यज्ञ करने वाला बनूँ, आग्नेय प्रकाश से लाभ उठाऊँ, अग्नि के प्रयोग से शिल्पयज्ञों का सम्पादन करूँ तथा सुवर्ण हीरा आदि धनों को रत्नरूप में प्राप्त करूँ। अग्नि के प्रयोग से कृत्रिम हीरों का वर्णन शुक्रनीति में आता है।

यह है मन्त्र का आधिदैविक अर्थ। आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है—

(यज्ञस्य पुरोहितं) प्रत्येक शुभ कर्म में आगे रखे हुए, (देवं) सर्वप्रकाशक (ऋत्विजं) संध्या-समय में उपासनीय (होतारं) सब सुखों के प्रदाता (रत्नधातमं) और सूर्यचन्द्रादि रमणीय पदार्थों के उत्तम दाता (अग्निं ईडे) अग्रणी परमेश्वर की मैं प्रार्थना और पूजा करता हूँ।

धातुपाठ में 'ईड' धातु स्तुत्यर्थक पढ़ी हुई है, परन्तु यहाँ याचना और पूजा अर्थ में मानी गई है। पुरोहित और यज्ञ की व्याख्या क्रमशः १३२ और २२१ पृष्ठ पर हो चुकी है। ऋत्विज् भी वहीं २२१ पृष्ठ पर व्याख्यात है।

देव—यह दान, दीपन या द्योतन करने से देव कहलाता है और यह दिविस्थ होता है। एवं दाता, प्रदीपक, द्योतक या द्युस्थानीय पदार्थ को 'देव' कहा जावेगा। सूर्यादि प्रकाशक लोक द्युस्थानीय हैं, मुक्तात्मा भी द्युलोक में विचरता है (१३७ पृष्ठ) और परमेश्वर 'दिवि तिष्ठत्येकः' (१०७ पृष्ठ) के अनुसार दिविस्थ है। दा—देव, दीप—दीव—देव। द्युत्—दिउत्—दिव्—देव, यहाँ सन्धिच्छेद और 'उ' को सम्प्रसारण है। दिवि तिष्ठतीति देवः, 'दिव्' शब्द से 'तिष्ठति' अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय। देव एव देवता, स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय। अतएव मन्त्रेण द्योत्यते इति देवता, इस निर्वचन से मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को देवता कहा गया है।

होतृ—यास्काचार्य 'ह्वाता' से 'होता' की सिद्धि करता है और और्णवाभ निरुक्तकार 'हु दानादानयोः' धातु से। रत्न = रमणीय, रम् धातु से रक् (उणा.३.१४)। धाता = दाता, यास्काचार्य ने यहाँ 'धा' धातु दानार्थक मानी है।''

पण्डित जी ने अपने भाष्य की पृष्ठ संख्या के जो निर्देश दिये हैं, उन्हें विस्तारभय से हमने उद्धृत नहीं किया है। इस मन्त्र के हमने आधिदैविक और आधिभौतिक एवं ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक और आध्यात्मिक भाष्य किये हैं। पाठक इन्हें ग्रन्थ में यथास्थान पढ़ सकते हैं।

मन्त्र संख्या ९.

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ [ऋ.१.९८.१]

इस मन्त्र की व्याख्या ग्रन्थकार ने इस प्रकार की है—

इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति वैश्वानरः संयतते सूर्येण राजा यः सर्वेषां भूतानाम-भिश्रयणीयः तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति तत्को वैश्वानरः मध्यम इत्याचार्याः वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति (निरु.७.२२)

इस भाष्य की व्याख्याकारों ने अपने-अपने मतानुसार व्याख्या की है। इनमें से हम पण्डित सीताराम शास्त्री की व्याख्या को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**अर्थः** — 'वैश्वानरस्य०' इस ऋचा का कुत्स ऋषि, पृष्ठ्य और अभिस्रव अहनों में आग्निमारुत की प्रतिपत् है।

'इतः' (पृथिवीलोकात्) इस पृथिवी लोक से- औषधि वनस्पतियों से 'जातः' उत्पन्न हुआ हुआ 'इदम्' इस 'विश्वम्' (सर्वम्) सब को 'विचष्टे' (अभिविपश्यति) अच्छी तरह देखता है अथवा प्रकाशक होने से दिखाता है। (यश्च) 'वैश्वानरः' और जो वैश्वानर 'सूर्येण' सूर्य के साथ 'यतते' (संयतते) अपने प्रकाश के द्वारा मिलता है। (यश्च) और जो 'भुवनानां' लोकों का 'राजा' राजा 'अभिश्रीः' (अभिश्रयणीयः) और आश्रयणीय है, (तस्य) 'वैश्वानरस्य' उस वैश्वानर की 'सुमतौ' (कल्याण्यां मतौ) शुभ मति में 'स्याम' हम हों- हम ऐसा शुभ आचरण करें कि उस निखिल भुवनपति की हमारे ऊपर शुभमति बनी रहे (यह प्रार्थना है)।

'तत्को वैश्वानरः' वह कौन वैश्वानर है? 'मध्यम' ज्योति वैश्वानर है, यह कोई नैरुक्त आचार्य मानते हैं। क्योंकि वर्ष (वृष्टि) कर्म से ऋषि इसकी स्तुति करता है।

व्याख्या— प्रथम पाद के पीछे व्याख्या का कारण- क्योंकि लोक में भी पहले स्तुति की जाती है और पीछे मांगा जाता है, इससे यही न्याय वेद में भी लेना चाहिये, यह दिखाने के लिये पहले पाद की व्याख्या अन्य पादों की व्याख्या के पीछे की है। पहले पाद में प्रार्थना और अन्य पादों में देवता की स्तुति है।"

इस व्याख्या से हमारी व्याख्या की तुलना करके पाठक स्वयं देख सकते हैं। हमने इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य किया है और ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, वह भी हमने यथास्थान उद्धृत किया है।

मन्त्र संख्या १०.

अश्वो वोळहा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ [ऋ.९.११२.४]

ग्रन्थकार ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है— अश्वो वोढा सुखं वोढा रथं वोढा

सुखमिति कल्याणनाम कल्याणं पुण्यम् सुहितं भवति सुहितं गम्यतीति वा हसैता वा पाता वा पालयिता वा शेपमृच्छतीति वारि वारयति (निरु.९.२)

इस भाष्य पर विभिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न टीकाएँ लिखी हैं, परन्तु अपवाद को छोड़कर सभी टीकाएँ अश्लील होने से निन्दित हैं। हम उनमें से स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक की संस्कृत टीका को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

"अश्वो वोढा इति कथं वोढा? उच्यते-सुखं वोढा-सुखं वहति पृष्ठे जनम्, सुखेन वहति जनं सुखं जनस्य वहति। पुनश्च वोढा यतो रथं यानं वहति तस्मादश्वो वोढा, अत एव स देवता पृथिवीस्थानीयेषूपयुक्तः पदार्थः। सुखं कल्याणं भवति, कल्याणं पुनः पुण्यं सुहितं भवति, कल्याणं पुण्यं च सुहितं च। कल्याणं पुण्यं यथा 'चित्तनामोभयतो वाहिनी नदी वहति पापाय वहति कल्याणाय च' (योग०१.१४ व्यासः) कल्याणं सुहितं प्रसिद्धम् 'अस्ति कच्चित् कल्याणं ते'। यद्वा कल्याणं सुहितं गमयति सुहितकरं कल्याणं भवति। कम्-सुखं सुहितं यापयति कल्याणम् 'म्' इत्यस्य 'ल्' रलयोः समानधर्मत्वात्-नकारस्य णकारः। उपमन्त्रिणो निजमन्त्रिणो जनाः-हसनां हसनं हासयितारं पातारं पालयितारं वा राजानमिच्छन्ति। 'अमि पूर्वम्' इत्यत्र 'वा छन्दसि' (अष्टा.६.१.१०६) इत्यनुवर्तनात् सवर्णदीर्घत्वम्-हसनाम्। रोमण्वन्तौ रोमवन्तौ भेदौ युवत्या विचृतौ योनिपार्श्वौ यौवने तथा जायमानत्वात्-शेपः शेपमिच्छतः, 'शेपस्, शेपः' अकारान्तोऽपि भवति। अनुवादेऽकारान्तः प्रयोज्यतेऽर्थस्य स्पष्टीकरणाय, मण्डूको वाः-इत्-जलमेवेच्छति। तथा-इन्द्रः-उपासक आत्मा पवमानं सोममिच्छति तस्मात्-इन्दो पवमान सोम! इन्द्रायोपासकाय मह्यं परिस्रवानन्दप्रवाहेण प्रवह।"

इसके साथ ही पण्डित सीताराम शास्त्री की हिन्दी टीका भी उद्धृत कर रहे हैं—

"**अर्थः** — 'अश्वो वोल्हा' हे 'इन्दो' सोमः 'मन्त्रिणः' (मन्त्रप्रतिपाद्यस्य इन्द्रस्य) मन्त्र से प्रतिपादन करने योग्य इन्द्र देव का 'अश्वः' घोड़ा 'सुखम्' सुख से 'रथम्' रथ को वोल्हा (बोढा) खेंचने वाला 'हसनाम्' (हसिताम् = हसनशीलाम्) हिनसने वाली (घोड़ी) को 'उप' (श्लिष्य) आलिङ्गन करके = उसके साथ चिपटकर 'शेपः' (शेपम्—ऋच्छति) पुरुष चिह्न को प्राप्त होता है प्रचलित करता है। 'भेदौ' उस अश्व के दो भेद हैं (क्योंकि- 'हरी इन्द्रस्य' इन्द्र के 'हरि' नाम वाले या हरे दो घोड़े हैं, यह निघ, अ० १ खं० १५ में

कहा है।) या वे दो शत्रुओं के भेदन करने वाले हैं और 'रोमण्वन्तौ' सांड हैं। (क्योंकि- 'लोमशः पुरुषः स्मृतः' लोम = रोम = लिङ्ग इन्द्रिय वाला पुरुष होता है, यह पुरुष का लक्षण है।) 'मण्डूकः' मेंढक 'वारिन्' (वारि) जल को 'इच्छति' चाहता है। अर्थात्— अश्व का रथ के ले चलने का सामर्थ्य और मेंढक की प्यास का मिटना वर्षा के द्वारा तेरे अधीन है। इस कारण हे सोम (त्वम्) तू 'इन्द्राय' इन्द्र के लिये 'परिस्रव' झर। प्रयोजन यह कि— हे सोम तेरे झरने से यज्ञ होगा, यज्ञ से वृष्टि और वृष्टि से घास अन्न आदि। इस प्रकार केवल जल से जीने वाले तथा तृण आदि से जीने वाले सभी प्रकार के प्राणियों का उपकार तेरे अधीन है। अतः तू छन (यह सोम से प्रार्थना है)।

दूसरी व्याख्या— 'मन्त्रिणः' (मन्त्रवतः यजमानस्य) दीक्षा प्राप्त यजमान का 'अश्वः' घोड़ा 'हसनाम्' (हसनवतीं यजमानपत्नीम्) हंसती हुई यजमान की पत्नी को 'उप' (श्लिष्य) समीप में लग कर 'शेपम्' चिह्न को 'ऋच्छति' प्राप्त होता है या प्रचलित करता है। और सब उक्त प्रकार से है। इस अर्थ में 'अश्वमेध' यज्ञ में यजमान पत्नी और अश्व के सम्बन्ध को लेकर जो क्रिया होती है, उसका स्मरण होता है, जैसा कि- (का.२० ए.६,१६) 'अश्व शिश्नमुपस्थे कुरुते वृषावाजीति'।

'सुख' यह कल्याण का नाम है। 'कल्याण' पुण्य होता है। 'सुख' क्यों? वह सुहित = सुन्दर हित होता है। अथवा सुहित को प्राप्त कराता है। (पहले पक्ष में 'सुख' नाम सुख का ही है और दूसरे पक्ष में सुख के साधन का नाम सुख है।)

'हसना' क्या? हसिता = हँसने वाली। (अथवा पाता = पालयिता या रक्षा करने वाला।)

'वारि' क्यों? वह 'वारयति' तृषा = प्यास को बुझाता है।

'मानो व्याख्यातः' (यह अपपाठ है)।

'तस्य०' उस (अश्व) की यह (दूसरी) ऋचा है।

व्याख्या— इस खण्ड की जो व्याख्या ऊपर की गई है, वह यथासम्भव उसके अक्षरों के सहारे पर है। इसकी व्याख्या भगवद्दुर्गाचार्य की टीका में भी नहीं मिलती है, किन्तु इससे यह प्रक्षिप्त नहीं समझा जा सकता, कारण इसका प्रतीक इसी अध्याय के खण्ड सूत्र में

वर्तमान है। सर्वथा खण्ड का होना प्रमाणित होता है। भगवद्दुर्गाचार्य की व्याख्या के न होने का कारण यह भी हो सकता है कि वर्तमान के समान उनके समय में भी इस खण्ड का पाठ अस्तव्यस्त रहा हो और उन्होंने इसकी व्याख्या की उपेक्षा कर दी हो।

मं० 'हसनामुपमन्त्रिण: शेप:' मा०— 'शेपपृच्छति' पहले मन्त्र खण्ड के 'मन्त्रिण:' पद को 'रथम्' के साथ जोड़ा जा सकता है, जिससे मन्त्रिण: रथं वोढा मन्त्री = मन्त्र का आराध्य देव = इन्द्र के अथवा मन्त्रवान् यजमान के रथ को खेंचने वाला (अश्व) — ऐसी योजना हो जाती है। और 'शेप:' इस प्रथमान्त को 'शेपम्' द्वितीयान्त करके 'ऋच्छति' पद का भाष्यकार ही अध्याहार करते हैं, तदनुसार 'हसनाम्'—उप (श्लिष्य) शेप: = शेपम् - ऋच्छति- हसना = हसनशीला- हिनसने वाली (घोड़ी) को आलिङ्गन करके शेप (पुरुष चिह्न) को प्राप्त होता है। क्योंकि उसके संग से ही उसका चिह्न बढ़ता है और वही उस की प्राप्ति भी है। नीचे भाष्य में इसी 'हसना' पद का 'हसिता' पद से निर्वचन भी किया है, जो 'हसित' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में सम्भव है। मूलपाठ में 'हसैता' पद है, वह 'हसिता' से ही बिगड़ा हुआ हो सकता है। उसके आगे जो 'पाता' और 'पालयिता' ये दो पद निर्वचन मूल में हैं, वे अन्य पदों की व्याख्या टूटकर लेखक के अज्ञान से यहाँ आए हुये हो सकते हैं। क्योंकि—स्त्रीलिङ्ग का निर्वचन पुल्लिङ्ग पद से नहीं हो सकता और न उनके अर्थ की संगति ही होती है।

पूर्व खण्ड के अन्त में 'अश्वो व्याख्यातस्तस्य एषा भवति'। इस द्वितीय खण्ड के अन्त में 'मानो व्याख्यात: तस्य एषा भवति'। तीसरे खण्ड के आदि में 'मानो मित्रो०' (मन्त्र) पाठ है।

इन तीनों पाठों में पहले को यथास्थित रखकर और दूसरे के स्थान में 'तस्य एषा अपरा भवति'- ऐसा पढ़ने से तीसरा पाठ स्वयम् समन्वित होता हुआ दिखाई देता है। क्योंकि दूसरी ऋचा (मानो मित्रो०) भी अश्व की ही स्तुति में है।

प्रयोजन यह कि जब नवमाध्याय के खण्डसूत्र में 'अश्वो वोढा' इस खण्ड प्रतीक को प्रमाण मानते हैं, तब 'अश्वो वोढा' इस द्वितीय खण्ड से 'पाता वा पालयिता वा' तथा 'मानो व्याख्यात:' इन दोनों पाठों को अलग करके और 'तस्यैषा भवति' इसके स्थान में 'तस्यैषाऽपरा भवति' ऐसा सुधार करके उक्त खण्ड (निरु० ९ अ० १ पा० २ खं०) को

पढ़ना चाहिये। एवम् जब भगवद्दुर्गाचार्य की टीका का अनुरोध करते हैं, तब इस द्वितीय खण्ड को ही अलग करके प्रथम खण्ड के अनन्तर तृतीय खण्ड को ही पढ़ेंगे।

'पाता वा पालयिता वा' यह प्रथम अपपाठ लेखक की भ्रान्ति से प्रक्षिप्त हुआ प्रतीत होता है और 'मानो व्याख्यातस्तस्यैषा भवति' यह किसी दुर्बुद्धि पुरुष के द्वारा सुधारा हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि न तो उसने निघण्टु के मूल पाठ ही पर ध्यान दिया और न इस शब्द का जो उसने निगम समझा है— 'मानो मित्रो वरुणः' इत्यादि मन्त्र के अर्थ को ही समझा, किन्तु उसने अपनी अदीर्घ बुद्धि से 'अश्वो व्याख्यातस्तस्यैषा भवति'—'अश्वो वोढ़ा' इसकी तुकबन्दी को देखकर तथा 'मानो मित्रो वरुणः' इस ऋचा को अनुपयुक्त देखकर सोचा कि पूर्व निर्दिष्ट ऋचा के आद्य शब्द के लिये जैसा लिखा हुआ है, वैसा ही इस दूसरे मन्त्र के आद्य शब्द (मानः) के लिये भी क्यों न हो?

यदि वह निघण्टु की ओर दृष्टि ले जाता, तो निघण्टु में 'अश्वः' शब्द के अनन्तर 'शकुनिः' यह दूसरा शब्द है, उसकी व्याख्या— 'शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुम्' इत्यादि ग्रन्थ में आगे कर ही रखी है। यदि मन्त्रार्थ पर ध्यान देता, तो 'मान' यह कोई देवता का नाम नहीं और न प्रकृत ग्रन्थ में प्रसक्त तथा प्रसक्तानुप्रसक्त ही है, जिससे कि इसकी व्याख्या अपेक्षित होती। बल्कि 'मानः' ये दो शब्द हैं, पहला 'मा' (मत) और दूसरा 'नः' (हमको)। इस प्रकार यहाँ पर 'मानः' यह कोई एक शब्द नहीं होता। तथा यदि मन्त्र के अर्थ पर ही ध्यान देता, तो मन्त्र में अश्व की ही स्तुति है और वह अश्व का ही नियम बनता है। एवम् दूसरे खण्ड के अन्तिम वाक्य 'तस्यैषा भवति' में, प्रथम खण्ड के अन्तिम वाक्य 'तस्यैषा भवति' में 'अश्वो वोह्ळा' की भांति 'मानो मित्र' की संगति नहीं होती, क्योंकि इस मन्त्र का उसकी बुद्धि के अनुसार अर्थ ही नहीं है, यह तो अश्व स्तुति का मन्त्र है। इससे यही प्रतीत होता है कि यह उसने अपनी ही बुद्धि से परिकल्पना कर निष्फल मनघड़न्त वाक्य जोड़ दिया है।

यद्यपि 'मानो मित्रः' इस मन्त्र में 'अश्व' शब्द स्वयं नहीं है, जिससे उसके साथ इस मन्त्र के सम्बन्ध विच्छेद की आपत्ति हो सकती है, तथापि 'वाजिनः' और 'सप्तेः' - ये दो पद मन्त्र में अश्व के ही प्रत्यक्ष बोधक हैं, अतः पूर्वोक्त आपत्ति को अवसर नहीं मिल सकता।

हाँ, यह निश्चय करना यहाँ बहुत कठिन न होगा कि 'मानो व्याख्यात:' इस पाठ को प्रक्षिप्त करने वाले के सामने 'अश्वो वोढा' यह दूसरा खण्ड अवश्य था। अर्थात् इस द्वितीय खण्ड की सृष्टि के अनन्तर ही उसकी बुद्धि को यह प्रवेश मिला। अन्यथा एक 'तस्यैषा' पाठ के होते हुए वह दूसरा वैसा ही पाठ अव्यवहित देश में रख नहीं सकता था।''

पाठक देखें कि व्याख्याकार ने शब्दों की खींचतान में भारी पुरुषार्थ किया है, परन्तु अश्लीलता के दलदल से मुक्त नहीं हो पाये हैं। लज्जाजनक ढंग से यजमान पत्नी का घोड़े के साथ समागम दर्शाया है। हा! हन्त!

हमने इस मन्त्र का आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकार का भाष्य किया है, जिसे पाठक यथास्थान पढ़ सकते हैं।

मन्त्र संख्या ११.

वसिष्ठो वर्षकाम: पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त।
स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति। (निरु.९.६)

उप प्र वद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ [अथर्व.४.१५.१४]

इसका भाष्य ग्रन्थकार ने नहीं किया है, परन्तु व्याख्याकारों ने इस प्रकरण की लगभग समान व्याख्या की है। अथर्ववेद के भाष्यकारों ने भी ऐसी ही व्याख्या की है। इस व्याख्या को पढ़कर पाठकों का पर्याप्त मनोरंजन अवश्य होगा और वेद मूर्खों का प्रलाप सिद्ध हो जायेगा। उनमें से हम आचार्य भगीरथ शास्त्री की हिन्दी टीका को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''वर्षा का इच्छुक वसिष्ठ बादल की स्तुति करने लगा। मण्डूकों ने उसका अनुमोदन किया। उस वसिष्ठ ने अनुमोदन करते हुए इन मण्डूकों को देखकर मण्डूकों की स्तुति प्रारम्भ कर दी।

तदभिवादिनी उसी का अनुवाद करती हुई एषा यह ऋग्भवति ऋचा है—

मन्त्रार्थ— मण्डूकि! हे मेंडकों की माँ! या हे मेंडकों की पत्नी! मा उप मेरे समीप आकर प्रवद जोर-जोर से बोल वर्षम् आ वद वर्षा की ओर अभिमुख होकर बोल। तादुरि! हे

तरणस्वभाव वाली! ह्रदस्य मध्ये तालाब के बीच में प्लवस्व तैर। चतुर: पद: चारों पैरों को विगृह्य फैलाकर।''

इस प्रकरण के वैज्ञानिक रहस्य को जानने के लिए हमारा व्याख्यान पाठक यथास्थान पढ़ें।

मन्त्र संख्या १२. 'अधोराम: सावित्र:' पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

आग्नेय: कृष्णग्रीव: सारस्वती मेषी बभ्रु: सौम्य: पौष्ण: श्याम: शितिपृष्ठो बार्हस्पत्य: शिल्पो वैश्वदेवऽऐन्द्रोऽरुणो मारुत: कल्माषऽऐन्द्राग्न: सꣳहितोऽधोराम: सावित्रो वारुण: कृष्णऽएकशितिपात्पेत्व: ॥ (यजु.२९.५८)

यहाँ ग्रन्थकार ने 'अधोराम: सावित्र:' इन दो पदों का ही भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

इति पशु समाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति। अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मा-त्सामान्यात्। अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्ण:। कस्मात्सामान्यादिति। अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्। रामा रमणायोपेयते। [न धर्माय— कहीं-२ इतना पाठ अतिरिक्त है।] कृष्णजातीया एतस्मात्सामान्यात्। (निरु.१२.१३)

इसकी विभिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं, परन्तु उनमें बहुत अधिक भेद नहीं है। इनमें से हम यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर की व्याख्या को उद्धृत कर रहे हैं—

''(अध: राम:) नीचे से काला (सावित्र:) सविता का [पशु है।] यह [याजुष संहिताओं के] पशु समाम्नाय में विशेष ज्ञान द्वारा जाना जाता है। किस समानता से यह [कहा।] नीचे उस वेला में अन्धकार होता है, इस सामान्यता से [कहा।] नीचे राम: = काला, नीचे कृष्ण: = काला। किस समानता से यह [कहा।] रामा = काली स्त्री, रमण के लिए उपेयते = ब्याही जाती है, नहीं [यज्ञादि] कर्म के लिए [ब्राह्मण द्वारा] रामा = काली जाति वाली। इस सामान्यता से।''

ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में इस सम्पूर्ण मन्त्र पर आधिभौतिक भाष्य खण्ड १२.१३ में देखें और उस पर हमारी टिप्पणी भी पढ़ें। इसके साथ ही हमारा आधिदैविक

और आधिभौतिक भाष्य विस्तार से इसी खण्ड में पढ़ सकते हैं।

'विश्वानि देव...' मन्त्र के अनेक प्रकार के भाष्य

कुछ विद्वान् हमारे त्रिविध भाष्य करने की शैली पर व्यंग्य करते हैं और अपने समर्थन में ग्रन्थकार के इन वचनों को प्रस्तुत करते हैं—

तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य॥ (निरु.७.१)

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः। त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना। (निरु.७.२)

हमें आश्चर्य है कि त्रिविध भाष्य की प्रक्रिया का विरोध करने वाले वरिष्ठ विद्वान् भी निरुक्त के इस प्रकरण का आशय नहीं समझ पाये और वे त्रिविध प्रक्रिया को स्वीकार करने और तदनुसार भाष्य करने वालों को ही अज्ञानी सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। उन्हें अपने भ्रमभंजन के लिए इन प्रकरणों पर हमारी व्याख्या पढ़नी चाहिए।

हम यहाँ घोषणापूर्वक कहना चाहते हैं कि किसी भी वेद मन्त्र के तीन प्रकार के भाष्य अवश्य ही होते हैं और ये तीन प्रकार के भाष्य भी तीन अथवा तीन से अधिक ही हो सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रत्येक प्रकार के भाष्य केवल एक ही नहीं, बल्कि अनेक भी हो सकते हैं। यदि कोई विद्वान् ऐसी घोषणा करके तीन प्रकार का भाष्य नहीं कर पावे, तब इसका यह अर्थ नहीं निकाला जाए कि वेद मन्त्रों का तीन प्रकार का भाष्य हो ही नहीं सकता। इसी आधार पर अनेक आर्य विद्वान् आर्यजगत् के मूर्धन्य विद्वान् पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की आलोचना करते देखे जाते हैं। वस्तुतः आर्यसमाज के विद्वानों में ईर्ष्या-द्वेषजन्य आलोचना वा निन्दा करने का एक पुराना भयंकर रोग है, जो आर्यसमाज को आगे नहीं बढ़ने दे रहा है। यदि मैं भी किसी वेद मन्त्र का तीन प्रकार का भाष्य नहीं कर सकूँ, तो यह मेरी अपनी अक्षमता है। कभी देवराज इन्द्र ने महर्षि भारद्वाज से कहा था—

'अनन्ता वै वेदाः' (तै.ब्रा.३.१०.११.४)

उधर भगवान् मनु का कथन है—

'सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनुस्मृति)।

ऋषि दयानन्द का वचन है—

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।'

ये सभी कथन साधारण नहीं हैं, बल्कि बहुत असाधारण हैं, इसलिए ही वेद ईश्वरीय है। यदि वेद मन्त्रों का एक-एक प्रकार का ही अर्थ हो सके, तो वेद में सम्पूर्ण विद्याओं का होना सम्भव ही नहीं है। आइए विषय को आगे न बढ़ाते हुए हम उदाहरण के लिए एक ऐसे मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं, जो देखने में अति सरल प्रतीत होता है, वह मन्त्र प्रसिद्ध भी है और ऋषि दयानन्द का सबसे प्रिय मन्त्र भी रहा है। वह मन्त्र है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ (यजु.३०.३, ऋ.५.८२.५)

यजुर्वेद में इस मन्त्र का ऋषि नारायण बतलाया गया है, जबकि ऋग्वेद में इसका ऋषि श्यावाश्व आत्रेय कहा गया है। नारायण ऋषि उन रश्मियों को कहते हैं। जो नर अर्थात् विभिन्न सूक्ष्म कणों को वहन करने वाली प्राणादि रश्मियों के लिए अयन अर्थात् मार्ग का काम करती हैं, हमारी दृष्टि में ऐसी रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ हो सकती हैं। अन्य किसी प्रसंग में इनका अर्थ दूसरा भी हो सकता है। उधर ऋग्वेद का ऋषि यह संकेत करता है कि वर्धमान क्रम में उत्पन्न होती हुई अत्रि अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों से उत्पन्न आत्रेय रश्मियाँ ही श्यावाश्व कहलाती हैं। इन सबसे यह संकेत मिलता है कि विभिन्न क्रियाओं में सूत्रात्मा वायु रश्मियों से उनकी शाखाएँ और प्रशाखाएँ उत्पन्न होकर बढ़ती रहती हैं, उन्हें नारायण ऋषि भी कहा गया है। यजुर्वेद और ऋग्वेद दोनों में ही यह मन्त्र रूप छन्द रश्मि कुछ भिन्न परिस्थिति में उत्पन्न छन्द रश्मि की अपेक्षाकृत अधिक वर्धमान क्रम में उत्पन्न होती है। ध्यान रहे कि प्रत्येक छन्द रश्मि पर अपनी उत्पादिका ऋषि रश्मि का भी कुछ प्रभाव उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार पुत्र वा पुत्री पर उसके माता-पिता आदि का प्रभाव होता है।

इस मन्त्र का देवता सविता है और छन्द गायत्री है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सविता संज्ञक पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। अब हम यह विचार करते हैं कि सविता किन-किन पदार्थों का नाम है। इसके लिए हम कुछ आर्ष ग्रन्थों को उद्धृत करते हैं—

१. असावादित्यो देवः सविता। (श.ब्रा.६.३.१.१८)
२. असौ वै सविता योऽसौ (सूर्य्यः) तपति। (गो.उ.१.२०)
३. उष्णमेव सविता। (गो.पू.१.३३)
४. देवो वस्सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। (काठ.सं.१.५)
५. सविता (श्रियः) राष्ट्रम् (आदत्त)। (श.ब्रा.११.४.३.३)
६. सविता वै देवानां प्रसविता (जै.ब्रा.२.३७१, जै.उ.३.१८.३, श.ब्रा.१.१.२.१७)
७. सविता वै प्रसविता। (कौ.ब्रा.६.१४)
८. स्तनयित्नुरेव सविता। (जै.उ.४.२७.९)
९. अग्निरेव सविता। (गो.उ.१.३३)
१०. गायत्रो वै देवानां सविता। (मै.सं.४.७.१)
११. इयं वै सविता। (तै.ब्रा.३.९.१३.२, श.ब्रा.१३.१.४.२)
१२. वायुरेव सविता। (गो.पू.१.३३, जै.उ.४.२७.५)
१३. विद्युदेव सविता। (गो.पू.१.३३)
१४. अभ्रमेव सविता। (गो.पू.१.३३)

इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि 'सविता' पद के अनेक अर्थ हैं, जैसे- (१) सूर्य (२) ऊष्मा (३) देव (४) राष्ट्र अथवा देवों को उत्पन्न करने वाला सूर्य का केन्द्रीय भाग (५) विद्युत् (६) गायत्री छन्द प्रधान पदार्थ (७) पृथिवी लोक (८) प्राण तत्त्व (९) वायु (१०) मेघ। सर्वप्रथम हम सविता पद से सूर्य का ग्रहण करके भाष्य करते हैं—

आधिदैविक भाष्य १. (सवितः, देव) सबको प्रकाशित करने वाला, विभिन्न लोकों को अपने आकर्षण बल से नियन्त्रित करने वाला, उन्हें अपनी-अपनी कक्षाओं में परिक्रमित करने वाला और उनको ऊर्जा प्रदान करने वाला सूर्य लोक उन लोकों में नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने वाला है। (विश्वानि, दुरितानि) वह कॉस्मिक मेघ, जिससे वे लोक उत्पन्न होते हैं और उस विशाल मेघ रूप पिण्ड से पृथक् होकर असुर वायु के प्रभाव से दूर जा रहे होते हैं अथवा अपनी कक्षाओं में स्थिर वा कुटिल गतियों में उस असुर वायु के प्रभाव से डगमगा रहे होते हैं, उस असुर वायु रूप दुरित को (परा, सुव) दूर करता है अर्थात् सूर्यलोक का प्रबल आकर्षण बल उस असुर नष्ट वायु के प्रभाव को नष्ट कर देता

है। इसके साथ ही सूर्य के परितः विद्यमान विभिन्न प्रकाश व ऊष्मायुक्त छन्दादि रश्मियाँ असुर पदार्थ पर प्रहार करके उसे दूर फेंक देती हैं। उस समय देव और असुर पदार्थ में भारी संघर्ष होता है। (यत्, भद्रम्) जो जो पदार्थ पृथिवी आदि लोकों से संयुक्त होने योग्य होते हैं अथवा जो-जो पदार्थ सूर्य लोक का भाग बनने योग्य होता है, वह वह पदार्थ (तत्, नः, आ, सुव) उन उन लोकों के साथ संयुक्त होने लगता है। यहाँ 'नः' पद इस छन्द रश्मि की उत्पादिका सूत्रात्मा वायु अथवा उससे उत्पन्न सूक्ष्म रश्मियों के लिए प्रयुक्त है। तब यह प्रश्न उठता है कि यहाँ हमने इसे लोकों के लिए प्रयुक्त क्यों माना है? इसका कारण यह है कि इस प्रक्रिया में अर्थात् लोकों के निर्माण की प्रक्रिया में सूत्रात्मा वायु रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है और जो भी संयोग वा संघनन का कार्य होता है, वह इन्हीं रश्मियों के माध्यम से होता है। इसलिए हमने 'नः' पद से इन लोकों का ग्रहण किया है, जिससे पाठक इन लोकों के बहिर्भाग में व्याप्त सूत्रात्मा वायु रश्मियों का ग्रहण कर लें। इस प्रक्रिया में जिन-जिन कमनीय रश्मियों की आवश्यकता होती है, वे वे रश्मियाँ भी उन क्षेत्रों में उत्पन्न होने लगती हैं।

अब हम सविता पद का दूसरा अर्थ उष्णता ग्रहण करके अगला आधिदैविक भाष्य करते हैं—

आधिदैविक भाष्य २. (सवितः, देव) सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों में किसी भी प्रकार की गति वा क्रिया ऊष्मा की उपस्थिति में ही होती है। इस सृष्टि में सर्वत्र ऊष्मा की कुछ न कुछ मात्रा अवश्य विद्यमान होती है। हमारे द्वारा मापे गये शून्य मापांक का अर्थ ऊष्मा का नितान्त अभाव कभी नहीं मानना चाहिए। ऐसी ऊष्मा अर्थात् अग्नि सब पदार्थों को प्रकाशित करता, उनमें नाना प्रकार की क्रियाओं एवं बलों को उत्पन्न करता और इस प्रकार सभी बलों को उत्पन्न करने वाला भी होता है, इसी कारण ऊष्मारूप अग्नि को सविता एवं देव कहा गया है। ऐसा वह अग्नि (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) निम्न ऊर्जा युक्त कणों अथवा विभिन्न संयोज्य पदार्थों के मध्य पातक रश्मियों, जो संयोज्य कणों की गति को विचलित कर देती हैं, जिसके कारण वे कण संयोजन प्रक्रिया से भ्रष्ट हो जाते हैं। उन कणों को ऊर्जा प्रदान करके यह ऊष्मा रूप अग्नि उन कणों की कुटिलता वा गति में आयी शिथिलता को दूर कर देता है। स्मरण रहे कि असुरादि बाधक पदार्थों को नष्ट करने में जो

तरंगें सक्षम होती हैं, वे उष्णतायुक्त ही होती हैं। इसके साथ ही जिन कणों की ऊर्जा बहुत क्षीण हो जाती है, वे कण भी पारपरिक संयोग के लिए अपेक्षित गति प्राप्त नहीं कर पाते और उनकी गति अस्त-व्यस्त हो जाती है, ऐसी गति को ही यहाँ दुरित कहा गया है। (यत्, भद्रम्) जो भी अनुकूल रश्मियों की आवश्यकता होती है एवं जिस स्तर की गति की आवश्यकता होती है, वह सब उपयुक्त ऊष्मा के द्वारा ही (तत्, नः, आ, सुव) उन कणों वा पदार्थों को सब ओर से प्राप्त होती है। ध्यातव्य है कि ऊष्मा के भिन्न-२ स्तरों पर भिन्न-२ प्रकार की रश्मियाँ प्रकट होती हैं और वे ही सारे कार्यों को भद्रतापूर्वक करने में अपनी भूमिका निभाती हैं।

भावार्थ— सृष्टि प्रक्रिया में उपयुक्त ऊष्मा का होना अनिवार्य है। इसके बिना किसी भी रासायनिक अथवा भौतिक अथवा जैविक आदि क्रियाओं का होना सम्भव नहीं है।

अब हम 'सविता' पद का अर्थ विद्युत् ग्रहण करके तृतीय प्रकार का आधिदैविक भाष्य करते हैं—

आधिदैविक भाष्य ३. (सवितः, देव) इस सृष्टि में विद्युत् सभी पदार्थों को उत्पन्न करने वाली, उनको परस्पर नियन्त्रित रखने वाली एवं उन्हें अपेक्षित गति और प्रकाश देने वाली होती है। ऐसी दिव्यगुण युक्त विद्युत् (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) सभी प्रकार के अनिष्ट पदार्थों और उनके कर्मों को दूर करती है। विद्युत् के कारण ही सूक्ष्म कणों में आवेश उत्पन्न होता है और आवेश के कारण ही उनमें नाना प्रकार के बलों की उत्पत्ति होती है। इन बलों के कारण ही पदार्थों की कुटिल वा अनिष्ट गतियाँ शुद्ध हो जाती हैं अर्थात् उनकी कुटिलता और अनिष्टता दूर होती है। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) विद्युत् के कारण सभी कण आदि पदार्थ सूत्रात्मा वायु आदि रश्मियों के माध्यम से अपनी ऋजु एवं इष्ट गतियों को सब ओर से प्राप्त करने लगते हैं। विभिन्न कणों के संयोग के समय इनकी गति और दिशा दोनों का ही अनुकूल होना अनिवार्य होता है, जो उन्हें विद्युत् के कारण प्राप्त होता है।

अब हम सविता का अर्थ सूर्य का केन्द्रीय भाग ग्रहण करके अगला आधिदैविक भाष्य प्रारम्भ करते हैं—

आधिदैविक भाष्य ४. (सवितः, देव) सूर्य का केन्द्रीय भाग ऊर्जा के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के कणों की उत्पत्ति का भी स्रोत है और यही केन्द्रीय भाग सम्पूर्ण सूर्य लोक ही नहीं, अपितु दूर-दूर तक लोकों को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है और वह प्रकाश के साथ-साथ ऊष्मा एवं अन्य कई प्रकार के सूक्ष्म कणों की भी पृथिवी आदि लोकों पर वृष्टि करता रहता है। (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) यह केन्द्रीय भाग सन्धि भाग के बाहर विशाल पदार्थ राशि में से जो भी कण संलयन हेतु पर्याप्त ऊर्जा आदि गुणों से युक्त नहीं होते हैं, उन सबको वापस दूर भेज देता है अर्थात् ऐसे पदार्थ केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट नहीं हो सकते। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) जो भी कण भद्र अर्थात् संयोजन आदि क्रिया के लिए अनुकूल होते हैं, जिनकी बाधक गतियाँ दूर हो चुकी होती हैं, उन कणों को सब ओर से अपनी ओर आकृष्ट करने लगता है। 'भद्रम्' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने खण्ड ४.१० में लिखा है—

भजनीयं भूतानामभिद्रवणीय भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि जो कण आदि पदार्थ नाना प्रकार के पदार्थों को प्राप्त कराने वाले अर्थात् उत्पन्न होते हुए केन्द्रीय भाग की ओर क्रीडा करते हुए दौड़ रहे होते हैं, उन्हें भद्र कहते हैं।

अब हम गायत्री छन्द रश्मि प्रधान पदार्थ को सविता मानकर इस मन्त्र की आधिदैविक व्याख्या करते हैं—

आधिदैविक भाष्य ५. (सवितः, देव, विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) सभी पदार्थ नाना प्रकार की छन्द रश्मियों से निर्मित होते हैं। जिन पदार्थों में जिस समय गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है अथवा जब उनसे दैवी गायत्री छन्द रश्मियाँ अधिक मात्रा में उत्सर्जित हो रही होती हैं, तब वे पदार्थ अधिक प्रकाशयुक्त तथा कमनीय आकर्षण बल आदि गुणों से युक्त होते हैं। उस समय गायत्री रश्मियाँ ही सभी बाधक रश्मि आदि पदार्थों को दूर करने में सूक्ष्म स्तर पर भूमिका निभाती हैं। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) ये रश्मियाँ ही विभिन्न कणों के अन्दर से अनुकूल प्राण व मरुत् रश्मियों को सब ओर से आकृष्ट करके सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ संयुक्त करने में सहयोग करती हैं, तभी विभिन्न प्रकार की संयोगादि क्रियाएँ सम्पन्न हो पाती हैं।

अब सविता पद का अर्थ पृथिवी ग्रहण करके अगला आधिदैविक भाष्य करते हैं—

आधिदैविक भाष्य ६. (सवितः, देव) पृथिवी आदि अप्रकाशित लोक एवं विभिन्न मूल कणों के द्वारा नाना प्रकार के प्राणियों और वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। ये लोक इनको सभी प्रकार से जीवन देने वाले होते हैं। (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) ये लोक उन सभी अपक्रियाओं और विजातीय पदार्थों को दूर करने में उसी प्रकार सक्षम होते हैं, जिस प्रकार अपनी पृथिवी पर मिट्टी और बहता हुआ जल सभी प्रकार के अपशिष्ट व हानिकारक पदार्थों को दूर करके पृथिवी मण्डल को शुद्ध रखते हैं। अगर इस पृथिवी पर सर्वाधिक पढ़ा-लिखा मूर्ख प्राणी (मनुष्य) न होवे, तो पृथिवी मण्डल का सम्पूर्ण पर्यावरण स्वतः ही शुद्ध बना रहेगा और सभी पशु-पक्षी आदि स्वस्थ व सुखी रहेंगे, नदियों का जल कभी भी दूषित नहीं होगा, वायु और मिट्टी भी स्वतः ही स्वच्छ बनी रहेंगी। यद्यपि मनुष्य द्वारा फैलाए हुए प्रदूषण को भी यह लोक स्वतः शुद्ध करता रहता है, परन्तु जब मनुष्य की स्वेच्छाचारिता बहुत बढ़ जाती है, तभी दुरितों को दूर करने में पृथिवी असमर्थ हो जाती है और जीवों की नाना प्रजातियाँ नष्ट होने लग जाती हैं। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) जो भी पदार्थ जीवों और वनस्पतियों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक होते हैं, वे सभी पदार्थ सर्वत्र उत्पन्न होने लगते हैं और इनको उत्पन्न करने के लिए सूक्ष्मतम स्तर पर पूर्वोक्त सभी सूक्ष्म रश्मियों की आवश्यकता होती है। जब पृथिवी का अर्थ ऋक् ग्रहण किया जाये, तब यह सिद्ध होता है कि इन क्रियाओं में ऋक् रश्मियों की प्रधानता होती है।

अब हम सविता पद से वायु तत्त्व का ग्रहण करके अगला आधिदैविक भाष्य करते हैं—

आधिदैविक भाष्य ७. (सवितः, देव) वायु तत्त्व अग्नि, आपः एवं पृथिवी तीनों महाभूतों को उत्पन्न करने के कारण सविता कहलाता है। यह केवल इन्हें उत्पन्न ही नहीं करता है, अपितु इन्हें प्रेरित भी करता है। यह उन सबको बल और जीवन प्रदान करता है, इसी कारण यह देव भी कहलाता है। (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) सृष्टि की सभी क्रियाओं में बल गुण की अनिवार्यता होती है और यह बल ही विभिन्न बाधक एवं हिंसक पदार्थों

को नष्ट व निष्क्रिय करता है। बल का मूल कारण वायु तत्त्व ही है, इस प्रकार वायु तत्त्व ही सम्पूर्ण अर्थात् हानिकारक पदार्थों को सृष्टि की हर प्रक्रिया से पृथक् करता है। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) जिस क्रिया में जो भी रश्मियाँ वा कण आदि पदार्थ आवश्यक होते हैं, उन-उन को वायु तत्त्व प्रकट वा उत्पन्न करता रहता है। हम यह जानते हैं कि इस सृष्टि में अनेक प्रकार के सूक्ष्म कण अत्यन्त अल्पायु होते हैं और अनेक छन्द रश्मियाँ भी बनती और टूटती रहती हैं। जिन कणों वा रश्मियों का क्षय होता है, वे वायु तत्त्व में ही विलीन हो जाते हैं और जो कण व रश्मियाँ प्रकट होते हैं, वे भी वायु तत्त्व से प्रकट होते हैं। इस सृष्टि में जहाँ द्रव्य एवं ऊर्जा (आधुनिक विज्ञान की भाषा में) के संरक्षण का सिद्धान्त भंग होना प्रतीत होता है, उसकी पूर्ति वायु तत्त्व ही करता रहता है, जिसे आधुनिक विज्ञान नहीं जानता। वस्तुतः कथित वैक्यूम को वायु तत्त्व कह सकते हैं।

अब हम सविता पद का अर्थ अभ्र अर्थात् मेघ ग्रहण करके अगला आधिदैविक भाष्य करते हैं—

आधिदैविक भाष्य ८. (सवितः, देव) विशाल खगोलीय मेघ विभिन्न लोकों के उत्पादक होते हैं। वे इन लोकों के निर्माण के लिए आवश्यक पदार्थ प्रदान करते हैं, इस कारण इन्हें भी सविता देव कहा जाता है। ये मेघ सूक्ष्म कणों से बने होते हैं और इन मेघों के संघनन एवं विखण्डन से नाना लोकों की उत्पत्ति होती है। (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) इन विशाल मेघों पर भी असुर पदार्थ आक्रमण करके इन्हें नष्ट करने का प्रयास करता है, परन्तु इन मेघों के बाहरी भाग में विद्यमान इन्द्र तत्त्व अपने वज्र प्रहार से असुर पदार्थों को विदीर्ण करके दूर धकेलता रहता है अर्थात् उसके हानिकारक प्रभाव को नष्ट करता रहता है। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) इन मेघों के बाहरी भाग अपने से कुछ दूरस्थ पदार्थों को भी अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं, इसके साथ ही लोकों के बनने के लिए जितना असुर पदार्थ आवश्यक होता है, उतने का भी उपयोग होता रहता है। ध्यान रहे पृथिवी आदि लोकों को सूर्य से दूर करने के लिए उचित मात्रा में असुर पदार्थ की भी आवश्यकता होती है।

अब हम सविता पद से अग्नि के परमाणु का ग्रहण करके अगला आधिदैविक भाष्य करते हैं—

आधिदैविक भाष्य ९. (सवितः, देव) सभी प्रकार के सूक्ष्म कण और फोटॉन निरन्तर कुछ सूक्ष्म रश्मियों को उत्पन्न करते रहते हैं और इन्हीं से ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति भी होती है। ये सभी कण एक-दूसरे को आकर्षण आदि बल से प्रभावित भी करते हैं, इस कारण इन्हें भी सविता कहते हैं। इन सब में सूक्ष्म दीप्ति होने के कारण इन्हें देव भी कहा जाता है। ऐसे वे सविता देवरूपी कण वा विकिरण (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) जब अन्तरिक्ष में गमन करते हैं, तब वे अनेक बाधक पदार्थों से टकराते रहते हैं और यह टक्कर सूक्ष्म रश्मियों के स्तर पर होती है। ये कण वा विकिरण अपने अन्दर विद्यमान प्राणादि रश्मियों के द्वारा सभी बाधक रश्मियों को दूर हटाते जाते हैं। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) इसके साथ ही वे कण और विकिरण अन्तरिक्ष में विद्यमान उपयोगी रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट वा ग्रहण भी करते रहते हैं। ये उपयोगी रश्मियाँ ही हानिकारक रश्मियों को दूर करने में सहायक होती हैं। ये रश्मियाँ उन कणों के प्रति चारों ओर से आने लगती हैं। रश्मियों का आना-जाना निरन्तर चलता रहता है, परन्तु फिर भी इन कणों वा विकिरणों में रश्मियों की मात्रा लगभग संरक्षित रहती है।

यहाँ हमने नौ प्रकार के आधिदैविक भाष्य दर्शाये हैं। प्रयास करने पर और भी प्रकार के आधिदैविक भाष्य हो सकते हैं। इन सभी प्रकार की प्रक्रियाओं में इस छन्द रश्मि की भूमिका होती है।

अब हम इस मन्त्र की आधिभौतिक व्याख्या करते हैं। इसके लिए 'सविता' पद के अन्य अर्थ इस प्रकार हैं—

१. सत्कर्मसु प्रेरक राजन् (म.द.ऋ.भा.६.७१.३)
२. विद्यैश्वर्यकारकः (देवः = विद्वज्जनः) (म.द.ऋ.भा.५.४२.३)
३. ऐश्वर्यवान् सूर्यवत् प्रकाशमानः (विद्वज्जनः) (म.द.ऋ.भा.७.४५.३)

इन वचनों से यह प्रमाणित होता है कि विवेकी राजा, गुरु और यहाँ तक कि माता-पिता भी सविता कहे जा सकते हैं।

सर्वप्रथम हम 'सविता' का अर्थ राजा ग्रहण करके आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

आधिभौतिक भाष्य १. (सवितः, देव) राजा को सविता इस कारण कहते हैं, क्योंकि वह

सम्पूर्ण प्रजा के लिए सुखों एवं सुख साधनों की व्यवस्था करता है। 'राजा' पद का निर्वचन करते हुए भीष्म पितामह ने कहा है— 'राजा रञ्जनात्' अर्थात् राजा वह है, जो प्रजा को सर्वविध आनन्द और सुख प्रदान करने वाला हो। जो राजा प्रजा का हित नहीं कर सकता, उसे राजा बने रहने का कोई अधिकार नहीं है। न्यायप्रिय धर्मात्मा योगी राजा देव कहलाता है, क्योंकि वह अपनी प्रजा के लिए न्याय और सुख प्रदान करता है। ऐसा राजा (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) प्रजा के सभी प्रकार के दु:खों अर्थात् प्राकृतिक आपदाओं से प्राप्त दु:ख, शारीरिक और मानसिक रोग, पारस्परिक हिंसा, अपराधियों एवं हिंसक जन्तुओं वा राज्य से प्राप्त दु:ख आदि सभी को दूर करता है। प्रजा में अपराध करने की भावना और अपराधों को अपने न्याययुक्त दण्ड द्वारा दूर करता है। उत्तम नीतियों के द्वारा आहार तथा पर्यावरण आदि को शुद्ध करके प्राकृतिक आपदाओं और रोगों से दूर रहने में मुख्य कारण बनता है। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) वह ऐसा वेदज्ञ राजा प्रजा के सम्पूर्ण हित के लिए जिन-जिन नीतियों और पदार्थों की आवश्यकता होती है, उनका निर्माण करके सम्पूर्ण प्रजा का हित करता है। ऐसे राजा के राष्ट्र में प्रजा को कोई भी दु:ख नहीं होता और सम्पूर्ण राष्ट्र स्वस्थ, सुखी और समृद्ध रहता है। यहाँ 'परा सुव' एवं 'आ सुव' को लोट् लकार में यथावत् ग्रहण करके राजा से प्रजा की प्रार्थना वा अपेक्षा के रूप में भी इस मन्त्र का अर्थ ग्रहण कर सकते हैं।

अब हम 'सविता' पद का अर्थ उपदेशक गुरु ग्रहण करके अगला आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

आधिभौतिक भाष्य २. (सवितः, देव) वेदज्ञ परोपकारी विद्वान् को सविता देव इस कारण कहा जाता है, क्योंकि ऐसा विद्वान् गुरु अपने शिष्यों के अन्दर से अविद्या और पापरूप अन्धकार को निकाल कर बाहर करता है और उन्हें ज्ञान और पुण्य से प्रकाशित करता है। ऐसा वह विद्वान् आचार्य (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) अपने शिष्यों और राष्ट्र के नागरिकों को वेद विद्या का उपदेश करके उनके अज्ञान और अज्ञानजनित पाप की प्रवृत्ति को दूर करने का यत्न करे। संसार में समस्त दु:ख और पाप अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए उस अज्ञानता को दूर करना किसी भी विद्वान् का सर्वोपरि कर्त्तव्य है (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) जो भी सत्यज्ञान शास्त्रों में उपलब्ध है, उसका उपदेश

करके राष्ट्र के नागरिकों को विद्या धन से समृद्ध करे, क्योंकि विद्या ही सभी रोगों की एकमात्र औषधि है।

अब हम 'सविता' पद से माता-पिता का ग्रहण करके अगला आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

आधिभौतिक भाष्य ३. (सवितः, देव) किसी भी सन्तान के जनक और जननी सन्तान को जीवन देने के कारण सविता देव कहलाते हैं। ऐसे विद्वान् और धर्मात्मा माता-पिता (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) अपनी सन्तान को सभी प्रकार के दुर्गणों, दुर्व्यसनों एवं कुसंस्कारों से दूर रखने का प्रयत्न करें। ध्यान रहे कि किसी भी बच्चे की प्रथम गुरु माँ और द्वितीय गुरु पिता ही है। इसलिए वे दोनों (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) जो सद्गुण एवं सुसंस्कार होते हैं, उन सबसे अपनी सन्तान को सदैव सम्पन्न करने का प्रयत्न करें। ध्यातव्य है कि आचार्य से कई गुणा अधिक निर्माण पिता और पिता से कई गुणा अधिक निर्माण माता की शिक्षा से होता है।

अब हम 'सविता' पद से शिल्पविज्ञानी का ग्रहण करके अगला आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

आधिभौतिक भाष्य ४. (सवितः, देव) सकल शिल्प क्रियाओं का जनक वैज्ञानिक वर्ग शिल्प विद्या के द्वारा राष्ट्र के नागरिकों को नाना प्रकार से सुख देने के कारण सविता देव कहलाता है। ऐसा वैज्ञानिक (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) इस प्रकार के अनुसन्धान करने का प्रयास करे, जिससे सम्पूर्ण पर्यावरण अर्थात् भूमि, जल, हवा तथा आकाश सभी प्रदूषण से मुक्त हो सकें। मनुष्य ही पर्यावरण के प्रदूषण का सबसे बड़ा कारण है, इस कारण मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक प्रकार के प्रदूषण को नाना प्रकार के यज्ञानुष्ठानों एवं दैवीय तकनीकों से दूर करने का प्रयास करे। किसी भी प्रकार की ऐसी तकनीक का निर्माण कभी न करे, जो प्राणियों के शरीर, वनस्पतियों एवं पर्यावरण के लिए हानिकारक होवे। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) जो भी साधन और अग्निहोत्र आदि कर्म इस पर्यावरण को स्वस्थ और सुरक्षित बना सकें, उनका आविष्कार करना चाहिए। किसी भी राष्ट्र को सुखी बनाने का दायित्व राजा से भी अधिक वैज्ञानिक का होता है,

क्योंकि वैज्ञानिक एवं वेदज्ञ विद्वान् सम्पूर्ण मानव जाति के ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के हितैषी और मार्गदर्शक होते हैं।

अन्त में 'सविता' पद से वैद्य का ग्रहण करके अन्तिम आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

आधिभौतिक भाष्य ५. (सवितः, देव) वैद्य जन ही सविता देव कहलाते हैं, क्योंकि वे ही सबके लिए आरोग्य प्रदान करने वाले होते हैं। ऐसे वैद्य जनों का कर्त्तव्य है कि वे (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) उचित पथ्य आहार एवं आरोग्यदायक औषधि के द्वारा रोगी के शरीर से सभी प्रकार के विजातीय द्रव्यों को दूर करने का प्रयत्न करें। विजातीय द्रव्य को दूर किये बिना रोगी को औषधि देना विशेष लाभकारी नहीं होता। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) और आरोग्य के लिए जो भी उत्तम पदार्थ और चिकित्सा क्रम है, उसकी व्यवस्था करें, जिससे रोगी रोगमुक्त होकर बल, वीर्य आदि से सम्पन्न हो सके। वैद्य का कर्म केवल रोगी को रोगमुक्त करना ही नहीं, अपितु रोगी को अपने दिशानिर्देशों द्वारा बलवान् और तेजस्वी बनाना भी होना चाहिए। वह ऐसी चिकित्सा करे कि रोगी पुनः रोगी नहीं हो पावे। वर्तमान अंग्रेजी पद्धति की चिकित्सा इस दृष्टि से पूर्णतः असफल चिकित्सा पद्धति है, यहाँ तक कि रोगों को बढ़ाने वाली चिकित्सा पद्धति है। आपातकाल के अतिरिक्त इस धरती को इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि धरती के लिए घोर अभिशाप है। आपातकाल में भी इसलिए आवश्यकता है, क्योंकि प्राचीन ऋषियों का आयुर्वेद आज अपने प्राचीन वा सनातन रूप में नहीं रह पाया है।

इसी प्रकार विद्वान् इस मन्त्र के और भी प्रकार से आधिभौतिक भाष्य कर सकते हैं। अब हम इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य प्रारम्भ करते हैं—

आध्यात्मिक भाष्य १. यहाँ हम सर्वप्रथम ऋषि दयानन्दकृत ईश्वरपरक व्याख्या को यथावत् उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (विश्वानि) समग्राणि (देव) दिव्यगुणकर्मस्वभाव (सवितः) उत्तमगुणकर्म-स्वभावेषु प्रेरक परमेश्वर! (दुरितानि) दुष्टाचरणानि दुःखानि वा (परा) दूरार्थे (सुव) गमय (यत्) (भद्रम्) भन्दनीयं धर्म्याचरणं सुखं वा (तत्) (नः) अस्मभ्यम् (आ) समन्तात्

(सुव) जनय।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथोपासितो जगदीश्वरस्स्वभक्तान् दुष्टाचारान्नि-वर्त्य श्रेष्ठाचारे प्रवर्त्तयति तथा राजाऽपि प्रजा अधर्मान्निवर्त्य धर्मे प्रवर्त्तयेत् स्वयमपि तथा स्यात्।

पदार्थ— हे (देव) उत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त (सवितः) उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों में प्रेरणा देने वाले परमेश्वर! आप हमारे (विश्वानि) सब (दुरितानि) दुष्ट आचरण वा दुःखों को (परा, सुव) दूर कीजिये और (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारी धर्मयुक्त आचरण वा सुख है, (तत्) उसको (नः) हमारे लिये (आ, सुव) अच्छे प्रकार उत्पन्न कीजिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे उपासना किया हुआ जगदीश्वर अपने भक्तों को दुष्ट आचरण से निवृत्त कर श्रेष्ठ आचरण में प्रवृत्त करता है, वैसे राजा भी अधर्म से प्रजाओं को निवृत्त कर धर्म में प्रवृत्त करे और आप भी वैसा होवे।''

आध्यात्मिक भाष्य २. (सवितः, देव) यहाँ आत्मा को भी सविता कह सकते हैं, क्योंकि आत्मा ही सभी इन्द्रियों का प्रेरक व प्रकाशक होता है, इसलिए उपनिषत्कार ने कहा है— 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा...' (प्रश्नोपनिषद् ४.९)। ऐसा वह आत्मा (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) योग साधनों के द्वारा अपने मन, चित्त और इन्द्रियों के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करे। निरन्तर किये योगाभ्यास से अपने संस्कारों को दग्धबीज करने का यत्न करे। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) और जिस रीति से अन्तःकरण आत्मा को मुक्ति प्राप्त कराने में सहायक हो सके, वैसा प्रयत्न करता रहे।

हमारा शरीर और अन्तःकरण सभी कुछ मोक्ष और भोग दोनों के लिए साधन मात्र हैं, ये हेय नहीं हैं, क्योंकि इनके बिना भोग और मोक्ष दोनों ही असम्भव हैं।

अब हम आध्यात्मिक भाष्य के रूप में शरीर से सम्बन्धित भाष्य करने का प्रयत्न करते हैं—

आध्यात्मिक भाष्य ३. (सवितः, देव) महर्षि याज्ञवल्क्य का सविता के विषय में कथन है— 'यकृत् सविता' (श.ब्रा. १२.९.१.१५)। यकृत् हमारे शरीर में बहुत महत्त्वपूर्ण अंग और सबसे बड़ी ग्रन्थि है, जिससे अनेक प्रकार के रसायनों का निर्माण होता है। भोजन को

शरीर का अंग बनाने के लिए यकृत् की ही सबसे बड़ी भूमिका होती है और भोजन के अभाव में शरीर की कल्पना सम्भव नहीं (सिद्ध योगियों को छोड़कर)। इस कारण यकृत् इस शरीर को प्राणत्व प्रदान करने वाला है, क्योंकि अन्न रूपी यकृत् के बिना यह स्वयं प्राणविहीन हो जाता है, इसलिए इसे सविता देव कहा गया है। (विश्वानि, दुरितानि, परा, सुव) यह अंग शरीर से विजातीय द्रव्यों को दूर करता है। यकृत् के दुर्बल होने पर अनेक प्रकार के टॉक्सिन्स जमा होने लगते हैं, जो अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं। यह मृत लाल रक्त कणिकाओं को पृथक् करता है, इससे रक्त शुद्ध बना रहता है। (यत्, भद्रम्, तत्, नः, आ, सुव) यह केवल शरीर से दूषित पदार्थों को ही बाहर नहीं करता, अपितु पाचन तन्त्र के लिए जो भी उपयोगी रसायन होते हैं, उनका निरन्तर निर्माण करता रहता है। इस प्रकार यह उपयोगी रसायनों के निर्माण के लिए और हानिकारक रसायनों के निष्कासन के लिए सबसे बड़ी रसायनशाला है।

इस प्रकार यकृत् के क्रियाकलापों में इस छन्द रश्मि की सूक्ष्मतम स्तर पर भूमिका अवश्य होती है।

यहाँ हमने एक ही मन्त्र के कुल मिलाकर १६ प्रकार के भाष्य किये हैं और १७वें प्रकार का भाष्य ऋषि दयानन्द का उद्धृत किया है। हमने यहाँ अपनी कल्पना से भाष्य नहीं किए हैं, बल्कि 'सविता' पद के अर्थ के लिए अनेक आर्ष प्रमाणों को भी उद्धृत किया है और उन प्रमाणों की अपनी ऊहा से विवेचना की है। बिना सुतर्क और ऊहा के कोई भी व्यक्ति शास्त्रों एवं आधुनिक विज्ञान दोनों के ही मर्म को नहीं समझ सकता। ये सभी १७ प्रकार के भाष्य तीन श्रेणियों में ही विभक्त हैं और ये तीन श्रेणियाँ ग्रन्थकार ने ही निर्धारित की हैं। इसलिए किसी भी विद्वान् को यह कथन शोभनीय नहीं है कि एक मन्त्र का एक ही प्रकार का भाष्य हो सकता है। वस्तुतः यह बड़ी अविद्या की बात है।

महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान

प्रश्न— आपके द्वारा की गई इस मन्त्र की १६ प्रकार की व्याख्याओं से ऐसा प्रतीत होता है कि आपने वेदमन्त्र के साथ मनमानी की है। वेदविज्ञान-आलोकः में जो आपने मन्त्रों का भिन्न-२ प्रकार से भाष्य किया है, उसके विषय में भी ऐसा ही माना जा सकता है। आचार्य सायण, स्कन्दस्वामी, महीधर, पण्डित दामोदर सातवलेकर एवं सभी आर्य विद्वानों,

यहाँ तक कि आपके आदर्श ऋषि दयानन्द ने भी इस प्रकार की व्याख्या नहीं की, तब आपकी व्याख्या को ही कैसे प्रमाण माना जाए? क्या ऐसा नहीं लगता है कि आपकी इस व्याख्यान शैली से वेदभाष्य की अब तक चली आ रही परम्परा समाप्त हो जाएगी। वेद के नाम पर वर्तमान में जो भी अनुसंधान व प्रचार आदि कार्य हो रहे हैं, वे सभी अप्रासंगिक हो जायेंगे। क्या ऐसा करना वेद और आर्ष परम्परा के साथ अन्याय नहीं होगा?

उत्तर— इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि वेदभाष्य की जिस परम्परा की चर्चा आप कर रहे हैं, क्या उससे वेद की अपौरुषेयता एवं सर्वविज्ञानमयता आज तक सिद्ध हो सकी है? वर्तमान में उपलब्ध वेदभाष्यों को पढ़कर क्या किसी भी विज्ञ पाठक को यह अनुभव हो सकता है कि ऐसा ज्ञान कोई मनुष्य नहीं दे सकता? क्या इस ज्ञान के लिए परमात्मा की आवश्यकता पड़ेगी? आज हम वेद और ऋषियों के ग्रन्थों का गुणगान गाते हुए भी न केवल पश्चिमी शिक्षा, अपितु पश्चिमी कुसभ्यता के भी दास बन चुके हैं। वेदादि शास्त्र केवल कर्मकाण्ड अथवा वाग्विलास तक सीमित रह गये हैं, तब ऐसी वेदभाष्य परम्परा की क्या उपयोगिता? जो परम्परा वेदादि शास्त्रों को उनका उचित स्थान दिलाने में समर्थ नहीं हो, जिस परम्परा ने वेदादि शास्त्रों को शिक्षित समाज में उपहास एवं व्यंग्य का पात्र बना दिया हो, जो परम्परा हमें आजीविका तक प्रदान करने में सक्षम न हो और हमें इसके लिए विदेशी शिक्षा पर आश्रित रहना पड़ता हो। जिस परम्परा के रहते हुए भी हम निरन्तर वेदविरोधी लोगों के दास बनते जा रहे हों। जिस परम्परा के रहते हुए भी हम विधर्मियों के आक्रमण सहने को विवश हों, जिस परम्परा ने भारतीय शिक्षा को भी कोई दिशा न दी हो, उस परम्परा को अन्ततः हम कब तक ढोते रहेंगे?

जहाँ तक प्रश्न ऋषि दयानन्द की शैली का है, वह शैली ही हमारी प्रेरक है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर भी चुके हैं। उनके वेदभाष्य उत्तरोत्तर संक्षिप्त होकर सांकेतिक ही रह गये हैं। हमें उनके समय की परिस्थिति पर भी गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उनके भाष्यों को पूर्ण मानना उनके साथ अन्याय है, क्योंकि ऐसा करने से वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक एवं उसकी सर्वविज्ञानमयता कदापि सिद्ध नहीं हो सकती और ऐसा न कर पाना ऋषि दयानन्द की भावना के विरुद्ध ही होगा। इस कारण से मैंने ऋषि की भावना के अनुरूप प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के वचनों को आधार बनाकर ही इस शैली

का विकास किया है, इसलिए यह मेरी अपनी शैली नहीं है, बल्कि यह प्राचीन ऋषियों की ही शैली है, जो ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्तादि शास्त्रों में वर्णित है। दुर्भाग्य यह है कि हम उस प्राचीन शैली को समझ नहीं पाये और मध्यकालीन शैली को अपनाकर वेद के वेदत्व को स्वयं ही नष्ट कर बैठे। अधिकांश आर्य विद्वान् भी ऋषि दयानन्द के नाम की घोषणा करते हुए भी सायण आदि का अन्धानुकरण कर बैठे। हमारी व्याख्यान शैली से ही वेद एवं आर्षग्रन्थों के महान् ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश हो सकता है। इस शैली से किये गये व्याख्यानों को पढ़कर ही वेद की अपौरुषेयता सिद्ध हो सकती है। इसे सिद्ध करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

प्रश्न— आपकी शास्त्रीय योग्यता एवं आपकी भाष्यशैली पर अनेक आर्य विद्वान् प्रश्न उठाते हैं और आप उन प्रश्नों पर प्रायः मौन रहते हैं। इससे क्या आपकी प्रामाणिकता पर ही प्रश्नचिह्न खड़ा नहीं होता है?

उत्तर— आज तक कोई भी विद्वान् मेरे पास मेरी भाष्यशैली पर प्रश्न करने नहीं आया, दूर बैठकर ऐसे प्रश्न उठाये जाते रहे हैं, जिनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। किसी भी विषय पर प्रश्न खड़े करने की दो प्रकार की शैली हो सकती है। इनमें से प्रथम शैली जिज्ञासु की होती है, जिसमें जिज्ञासु विनम्र भाषा में प्रश्नों के उत्तर जानना चाहता है तथा प्रश्न करने से पहले वह उस शैली को समझने का पूर्ण प्रयास भी करता है। वह अपनी योग्यतानुसार ही ईमानदारी से प्रश्न करता है। दूसरे प्रश्नकर्त्ता वे हो सकते हैं, जो किसी के ग्रन्थ को पढ़ने का प्रयास नहीं करते और न उनकी कुछ जानने की इच्छा ही होती है, बल्कि वे ईर्ष्या और द्वेष से युक्त होकर बिना विषय की भूमिका को समझे कुछ भी पूछने लग जाते हैं। मुझसे जिज्ञासु बनकर आज तक प्रश्न करने कोई आया नहीं, न किसी ने पत्रादि के द्वारा कोई सन्देश भेजा और जो कोई विद्यार्थी जिज्ञासा भाव से आये, उन्होंने वैदिक रश्मि सिद्धान्त को समझा भी और प्रचार भी कर रहे हैं। दूसरे प्रकार के प्रश्नकर्त्ताओं को उत्तर देना हमने आवश्यक ही नहीं समझा, क्योंकि दुर्भावनावश प्रश्न पूछने वाले को उत्तर देना उचित नहीं है।

मैं ऐसे सभी प्रश्नकर्त्ताओं से यह जानना चाहता हूँ कि मुझसे पहले आर्यसमाज के बहुश्रुत विद्वान् पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने ग्रन्थों में छन्द रश्मियों एवं ऋषि

रश्मियों का संकेत किया है, तब उनका विरोध आज तक किसी विद्वान् ने क्यों नहीं किया? उन्होंने 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' ग्रन्थ में देवों की आयु हजारों वर्ष मानी है और परशुराम जी को द्वापर और त्रेता दोनों युगों में होना माना है, तब किसी ने विरोध नहीं किया, क्योंकि ऋषि दयानन्द ने तो मनुष्य की आयु ४०० वर्ष ही मानी हैं। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'वैदिक छन्दोमीमांसा' ग्रन्थ में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का समय लगभग छह हजार वर्ष विक्रम पूर्व तथा सतयुग व्यतीत हुए ११००० वर्ष माने हैं, जो ऋषि दयानन्द की मान्यता के विपरीत है। इसका भी किसी ने विरोध नहीं किया। मीमांसक जी ने ब्राह्मण ग्रन्थों में आये अनेक मन्त्रों के छन्दों को अयथार्थ बताया तथा अनेक मन्त्रों को काल्पनिक बताया, तब किसी ने इस बात पर विचार नहीं किया कि कोई विद्वान् ब्राह्मण ग्रन्थकारों को मिथ्या कैसे कह सकता है? उन्होंने प्राचीन ऋषि कात्यायन और शौनक जैसे आचार्यों का भी खण्डन किया अर्थात् उनकी समीक्षा की, फिर उन पर कोई प्रश्न क्यों नहीं उठाया गया? स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने 'भारतीय विज्ञान के कर्णधार' नामक ग्रन्थ में वेदमन्त्रों के भाष्य अंग्रेजी भाष्यकारों के ही उद्धृत किये हैं, ऋषि दयानन्द का भाष्य कहीं नहीं दिया। पश्चिमी विद्वानों के भाष्यों में नाना पापों की भरमार है, पुनरपि सम्पूर्ण आर्य जगत् उन्हें महान् वैज्ञानिक संन्यासी मानता है, क्यों? इनके पिताश्री पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय के ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुवादों में नाना पाप भरे हैं। ये सभी विख्यात विद्वान् हैं। स्वामी सत्यपति परिव्राजक ने योगदर्शन के भाष्य में विभूति पाद को ही विवादित व मिथ्या बना डाला। उन्हें पशु चराते-२ इस्लामी जीवन में ही समाधि लग गयी, ऐसा घोषित किया गया, परन्तु कोई बोलने वाला नहीं।

इसका अर्थ यह है कि शास्त्रों की गरिमा बढ़ाने वाला कोई कार्य स्वीकार नहीं, गरिमा को घटाने वाले कार्य अवश्य स्वीकार हो सकते हैं। इधर मैंने अपने ग्रन्थों में किसी भी प्राचीन ऋषि के विचारों का खण्डन नहीं किया, बल्कि सभी ऋषियों के विचारों में समन्वय स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया। सर्वत्र ऋषियों के वचनों को सम्मानपूर्वक उद्धृत किया। आधुनिक ऋषि स्वामी दयानन्द सरस्वती को पदे-२ उद्धृत किया और सबका गौरव ही बढ़ाया। ऐसी स्थिति में बिना विचारे दुर्भावनावश मुझसे प्रश्न करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है और न मुझे उनका उत्तर देना आवश्यक है। जिन आर्य विद्वानों ने वेद तथा आर्षग्रन्थों का भाष्य करके अश्लीलता, पशुबलि, नरबलि, मांसाहार,

नारी-शोषण, छुआछूत एवं रंगभेद जैसे पापों का समर्थन किया और ऐसे भाष्य गुरुकुलों में पढ़ाये भी जा रहे हैं, तब भी पक्षपातवशात् इन विद्वानों पर कोई प्रश्न नहीं करता। इधर हमने वेदादि शास्त्रों को इन सब पापों से मुक्त करके विज्ञान की नयी ऊँचाइयों तक पहुँचाने का प्रयास किया है, तब भी प्रश्न खड़े किये जा रहे हैं।

अब रही बात योग्यता की, तो उसकी पहचान किसी की उपाधि या प्रमाण पत्रों से नहीं होती और न उसकी पहचान इससे होती है कि वह किससे पढ़ा है? किसी व्यक्ति का कार्य ही उसकी योग्यता को पहचानने का सबसे बड़ा साधन है और वह कार्य वेदविज्ञान-आलोक: के रूप में सभी के लिए पिछले साढ़े ५ वर्ष से एक चुनौती बना हुआ है। इसके अतिरिक्त अब यह निरुक्त भाष्य भी आपके समक्ष इसी चुनौती के साथ प्रस्तुत है, जिसकी तुलना संसार में उपलब्ध निरुक्त के अन्य किसी भी भाष्य से करने पर योग्यता का अच्छा परिचय हो सकता है।

प्रश्न—निरुक्त के अनेक भाष्य पूर्व में उपलब्ध हैं, तब आपके भाष्य की क्या आवश्यकता है?

उत्तर— संसार में उपलब्ध भाष्य आपने तो पढ़े ही होंगे, यदि नहीं, तो आपको यह प्रश्न करना उचित ही नहीं है। यदि आपने पढ़े हैं, तब आपका आत्मा निश्चित ही जानता होगा कि इन सभी भाष्यों में कैसे-२ घृणित दोष भरे हुए हैं। क्या इन दोषों के रहते आप यह कह सकते हैं कि हमारे ऋषि बहुत महान् पुरुष थे? वे महान् योगी एवं वैज्ञानिक थे? क्या आप इन भाष्यों के आधार पर कह सकते हैं कि वेद परमात्मा की वाणी है, जिसमें सम्पूर्ण नित्य ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है? मैं समझता हूँ कि आप ऐसा कदापि नहीं कह सकते। इस कारण वेद के उज्ज्वलतम स्वरूप, उसकी अपौरुषेयता और सर्वविज्ञानमयता के अतिरिक्त अपने महान् ऋषियों की महती प्रज्ञा को और उनके ग्रन्थों के वास्तविक स्वरूप को संसार के समक्ष लाने के लिए मुझे यह भाष्य करने के लिए विवश होना पड़ा। जिनको वेदों और ऋषियों के अपमान से कोई पीड़ा न पहुँचती हो, वे भला मेरे भाष्य करने की अनिवार्यता को कैसे समझ पायेंगे?

प्रश्न— अनेक विद्वानों का मानना है कि आपने ऐतरेय ब्राह्मण का भाष्य अपनी ऊहा और

कल्पना से ही किया है, उसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है।

उत्तर— इस प्रश्न से मुझे यह तो मान ही लेना चाहिए कि आपने मेरे वेदविज्ञान-आलोक: ग्रन्थ को अच्छी प्रकार पढ़ लिया है और सभी शास्त्रों का भी मर्म समझ लिया है, अन्यथा आप ऐसा प्रश्न कर ही नहीं सकते। यदि ऐसा है, तो आपने यह भी देखा होगा कि मैंने उस ग्रन्थ में वेदों के अतिरिक्त लगभग ६५ आर्ष ग्रन्थों और अन्य ग्रन्थों को मिलाकर कुल ९५ वैदिक वा संस्कृत ग्रन्थों को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक भौतिकी के उच्चस्तरीय २९ ग्रन्थों, जिनमें कुछ शोधपत्र भी सम्मिलित हैं, को भी उद्धृत किया है। इस प्रकार कुल १२४ ग्रन्थों को उद्धृत किया गया है। इस पर भी आपका यह कहना है कि कोई शास्त्रीय आधार नहीं है? ऐसा प्रश्न कोई विद्वान् तो क्या, सामान्य शिक्षित व्यक्ति भी नहीं करेगा। मैंने इन ग्रन्थों को केवल कलेवर वृद्धि के लिए ही उद्धृत नहीं किया है, बल्कि उनके एक-एक वचन का पूरी तरह से उपयोग किया है। उपयोग कैसे किया है, यह विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। प्रमाणों का उपयोग करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करना अनिवार्य नहीं है। इतना परिश्रम तो पाठकों को भी करना चाहिए।

ऋषि दयानन्द ने भी अपने वेदभाष्य में इसे कहीं स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने तो अनेकत्र बिना प्रमाणों के भी भाष्य किया है। हम प्रतिदिन ईश्वर स्तुति प्रार्थना उपासना करते हैं, उसके चार मन्त्रों में 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' पाद समान है, परन्तु ऋषि ने इस पाद का प्रत्येक मन्त्र में पृथक्-२ अर्थ किया है और कहीं कोई प्रमाण भी नहीं दिया है, तब क्या कोई यह कहेगा कि उन्होंने ये अर्थ कल्पना से कर दिए? कल्पना की भी एक सीमा होती है और कल्पनाओं में सामंजस्य बैठाना भी असम्भव होता है। कल्पना से कहानियाँ तो लिखी जा सकती हैं, परन्तु कल्पना के बल पर गम्भीर विज्ञान का उद्घाटन करने वाले किसी विशाल ग्रन्थ की रचना करना सम्भव नहीं है और यदि कोई ऐसा कर सकता है, तो वह साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही होगा।

प्रश्न— आपके ग्रन्थों वा लेखों में आधुनिक विज्ञान के इलेक्ट्रॉन, फोटॉन, क्वार्क और नेब्यूला जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। ऋषियों के ग्रन्थों में इन शब्दों को समाविष्ट करना क्या मनमानी नहीं है?

उत्तर— सृष्टि हम सब मनुष्यों के लिए समान ही है, फिर चाहे हम वैदिक हों, कोई अन्य

मतावलम्बी हों अथवा वैज्ञानिक हों। ऋषियों ने जिन-२ निर्वचनों का प्रयोग किया है, उन-उन का अर्थ प्रसङ्गानुसार भिन्न-२ हो सकता है। उदाहरण के लिए अग्नि पद का अर्थ ईश्वर, आत्मा, राजा, सेनापति, आचार्य, ऊष्मा, फोटॉन, इलेक्ट्रॉन, क्वार्क आदि कुछ भी हो सकता है। यदि हमारे किसी ग्रन्थ में 'गाय' नामक पशु के लिए 'गौ' शब्द का प्रयोग हो, उसके स्थान पर हम किसी अंग्रेजी भाषा वाले व्यक्ति को समझाने के लिए 'काउ' शब्द का प्रयोग करें, तब उस पर कोई यह प्रश्न करे कि 'काउ' का हमारे शास्त्र में कहाँ उल्लेख है, तब क्या ऐसा प्रश्न करना बुद्धिमानी होगी? इसी प्रकार यदि हमारे शास्त्रों में किरण के लिए 'गौ' शब्द का उल्लेख होवे, उसके लिए हम 'फोटॉन' शब्द का प्रयोग आधुनिक विज्ञान पढ़ने वालों को समझाने के लिए करें, तब इसमें क्या दोष है? जो जिस भाषा और जिस शैली को समझता है, उसे उसी भाषा और शैली में समझाना चाहिए, तभी संवाद सम्भव हो पायेगा।

प्रश्न— आप जिन प्रकरणों को अश्लील बताकर भाष्यकार की निन्दा करते हैं, वे प्रकरण वस्तुतः गृहस्थधर्म विषयक हैं। आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, इस कारण आपको अश्लील प्रतीत होता है। वेद में सभी प्रकार की विद्याएँ हैं, तब गृहस्थ विषयक विज्ञान भी तो होना चाहिए।

उत्तर— मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य को सत्य और मिथ्या को सदैव मिथ्या ही कहे, भले ही वह किसी के भी द्वारा क्यों न लिखा वा कहा गया हो। वेद में यदि शरीर के अंगों के क्रियाविज्ञान का वर्णन है और वर्णन की शैली विज्ञान की मर्यादा के अनुकूल है, तब तो उचित है, अन्यथा बाह्यांगों का अभद्र भाषा में वर्णन वेद के लिए तो क्या, सामान्य व्यक्ति के लिए भी उचित नहीं है। कहीं-२ आपके द्वारा कथित गृहस्थ विज्ञान पशुता से भी आगे चला जाता है। तब उसे वेद का गृहस्थ विज्ञान बताना अत्यन्त लज्जा का विषय है। यदि आप कभी किसी शरीर क्रियाविज्ञानी से कोई शरीर क्रियाविज्ञान का ग्रन्थ पढ़ें, तब आप स्वयं अनुभव करेंगे कि गृहस्थ विज्ञान की भी एक मर्यादित भाषा व गम्भीरता होती है। वेद की उत्पत्ति के समय की परिस्थिति की चर्चा हम इस ग्रन्थ में कर ही चुके हैं, उस प्रकरण को दृष्टिगत रखकर ही वेद के स्वरूप का कुछ अनुमान हो सकता है, अन्यथा आप वेद को अत्यन्त हास्यास्पद स्थिति में खड़ा कर देंगे। दुर्भाग्यवश आज यही हो रहा

है।

प्रश्न— आप वेदमन्त्रों का न्यून से न्यून तीन प्रकार का भाष्य मानते हैं, तब क्या निरुक्त की भी तीन प्रकार से व्याख्या हो सकती है?

उत्तर— स्वयं महर्षि यास्क ने कहीं-२ दो प्रकार का और कहीं-२ तीन प्रकार का भी भाष्य किया है। जहाँ महर्षि ने केवल एक प्रकार का भाष्य किया है, वहाँ उनका भाष्य प्राय: आधिदैविक है, परन्तु कहीं-२ उनके भाष्य को तीनों प्रकार से व्याख्यात किया जा सकता है। महर्षि यास्क द्वारा विभिन्न पदों के निर्वचनों की न्यून से न्यून तीन प्रकार की व्याख्या तो हो ही सकती है। ऐसा करने से ही वेद का वेदत्व सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न— जब हम आधुनिक विज्ञान को पढ़ते हैं, तब उसका दैनिक जीवन में उपयोग भी लेते हैं। उस पर प्रयोग, परीक्षण व प्रेक्षण करके नाना तकनीकों का आविष्कार करके सुख साधन जुटाते हैं। आपके वैदिक विज्ञान की व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र वा विश्व के लिए क्या उपयोगिता है?

उत्तर— इस प्रश्न का उत्तर हम दो प्रकार से देने का प्रयास करते हैं। यदि यह प्रश्न किसी आर्ष विद्या के पोषक वा प्रचारक का है, तो मैं उनसे पूछना चाहूँगा कि गुरुकुलों में व्याकरण, दर्शन, उपनिषद् आदि के पठन-पाठन से ऐसा कौनसा लाभ हो रहा है, जो वैदिक विज्ञान से नहीं होगा। व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़कर जो वेद का गौरव बचाने का उद्देश्य था, उससे हम वैदिकों अथवा भारतीयों का आत्मस्वाभिमान जगाने का जो कार्य था, वह दूर-२ तक भी अंशमात्र भी पूर्ण नहीं हुआ, जबकि वैदिक विज्ञान से यह अभी से पूर्ण होता हुआ दिखाई देने लगा है, जबकि हमारे कार्य को सार्वजनिक हुए मात्र साढ़े पाँच वर्ष ही हुए हैं, तब निश्चित ही यह भविष्य में विश्वव्यापी रूप लेगा। परम्परागत आर्ष विद्या के पठन-पाठन को प्रारम्भ हुए लगभग १२२ वर्ष हो चुके हैं। उससे पूर्व भी प्रचारादि का कार्य होता रहा है, पुनरपि ऋषि दयानन्द की भावना के अनुसार वेद तथा आर्ष ग्रन्थों का गौरव स्थापित नहीं हो पाया है। वेदादि शास्त्रों के भाष्यों में जो गम्भीर दोष विद्यमान हैं, उनका निराकरण भी इतने लम्बे काल में नहीं हो सका है। इधर हमने दो ग्रन्थों का भाष्य

करके इन दो ग्रन्थों को तो न केवल पूर्ण निष्कलंक सिद्ध किया है, अपितु विश्वव्यापी अत्यन्त विकसित विज्ञान के समक्ष चुनौती के रूप में प्रस्तुत भी किया है, इस कारण परम्परागत आर्ष विचारधारा वाले किसी विद्वान् को हमसे यह प्रश्न करना उचित नहीं है।

यदि ये प्रश्न वर्तमान विज्ञान अथवा वर्तमान शिक्षा में पले-बढ़े किसी विद्वान् का है, तो हम उन महानुभावों से यह अपेक्षा करेंगे कि वे विद्या की किसी परम्परा के विकास की प्रक्रिया को तो जानते ही होंगे। आधुनिक विज्ञान का विकास लगभग ४०० वर्षों में हुआ है, उसमें विश्व के सभी वैज्ञानिक और सभी राष्ट्रों का सम्पूर्ण योगदान रहा है। उनके पास संसाधनों की कोई कमी कभी नहीं रही है। उनके पास स्पष्ट भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ विद्यमान हैं, प्रेक्षण, परीक्षण और प्रयोगों के सभी साधन विद्यमान हैं। इस क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए सभी सुख-सुविधाएँ विद्यमान हैं, इस कारण वे सभी मिलकर पूर्ण निश्चिन्तता से कार्य करते हैं। उनके कोई प्रयोग कभी असफल भी हो जाते हैं, परन्तु उनकी कोई निन्दा नहीं करता, भले ही उनके प्रयोगों पर करोड़ों डॉलर क्यों न खर्च हुआ हो। इधर अब वैदिक विज्ञान की परिस्थिति पर विचार करते हैं।

इस विज्ञान की परम्परा महाभारत काल तक तो यथावत् चलती रही, जहाँ प्रयोग, प्रेक्षण और तकनीक भी उच्च स्तर के रहे थे। वैदिक विज्ञान और तकनीक के उच्च कोटि के ग्रन्थ भी विद्यमान थे, इस कारण उस समय वैदिक विज्ञान उस समय की स्पष्ट भाषा में सबके लिए उपलब्ध था, परन्तु कालान्तर में धीरे-२ सब समाप्त होता चला गया। इसके इतिहास पर चर्चा करना न तो आवश्यक ही है और न यह हमारा विषय ही है। इस बात को सभी जानते हैं कि वेदविरोधियों ने यहाँ बड़े-२ पुस्तकालय जलाकर भस्म कर दिये और यूरोपियन लोग यहाँ से बचा हुआ बहुत सारा साहित्य चुराकर ले गए। इस बात का संकेत डेविड हैचर चिल्ड्रेस की पुस्तक एंटी ग्रेविटी से मिलता है, जिसमें उन्होंने त्रेता और द्वापरकालीन भारतीय विमान विद्या एवं आयुध विज्ञान की चर्चा की है। ऐसे विमानों का वर्णन भी किया है, जो वर्तमान में अभी तक कल्पनातीत ही हैं। मेरी जानकारी के अनुसार इस प्रकार का वर्णन भारत में उपलब्ध रामायण और महाभारत के संस्करणों में नहीं मिलता। इसलिए केवल इसी बात से यह संकेत मिल जाता है कि यूरोप और अमेरिका आदि देशों में हमारा वह प्राचीन साहित्य विद्यमान है, जो हमारे पास नहीं है। इससे एक अन्य संकेत यह मिलता है कि उन देशों में विज्ञान का विकास प्राचीन भारतीय साहित्य के

आधार पर ही हुआ होगा, क्योंकि उन देशों का विकास तभी होना प्रारम्भ हुआ है, जब से उनका भारत में आवागमन प्रारम्भ हुआ है।

इधर हम लोग एक ओर तो पराधीन हो गये, दूसरी ओर आलसी-प्रमादी और रूढ़िवादी हो गये। इस कारण हम विज्ञान सीखने के लिए पश्चिम की ओर देखने के लिए विवश हो गए। ऐसी स्थिति में कोई मुझसे यह अपेक्षा करे कि मैं पश्चिमी विज्ञान की शैली में और उतनी स्पष्टता से प्रयोग, प्रेक्षण और परीक्षण से समन्वित और नाना प्रकार की उच्च तकनीकों का विकास करने में समर्थ विज्ञान संसार को दे दूँ, वह भी बिना समुचित संसाधनों के, तब यह मेरे साथ नितान्त अन्याय होगा। यदि आज भी हमारे पास इतने साधन हों कि हम कुछ वैज्ञानिकों को और कुछ तकनीकी विशेषज्ञों को समुचित वेतन व सम्मान देकर रख सकें और सभी की आर्थिक सुरक्षा की पूर्ण निश्चितता हो, इसी प्रकार कुछ वैदिक विद्वान् भी हों और उन्हें भी वही सुविधाएँ दी जायें, तो १०-२० वर्षों में हम संसार को बहुत अच्छे परिणाम दे सकते हैं।

यह तो हुई विज्ञान को और विकसित व स्पष्ट रूप देने तथा उसे प्रौद्योगिकी में उपयोग करने सम्बन्धी चर्चा। अब हम इस पर दूसरी विधि से विचार करते हैं। हमारा कार्य केवल भौतिक सुख-सुविधाएँ देने तक सीमित नहीं है, जबकि वर्तमान विज्ञान की उपयोगिता केवल इसी में समझी जाती है। इसी कारण हमसे भी यही अपेक्षा की जाती है। ध्यान रहे कि वेद केवल पदार्थ विज्ञान का ही ग्रन्थ नहीं है और न इसका पदार्थ विज्ञान सृष्टि प्रक्रिया को यदृच्छया कहीं मध्य से पकड़कर प्रारम्भ होता है। वर्तमान विज्ञान अपने साधनों की सीमा के बाहर पंगु हो जाता है, परन्तु वैदिक विज्ञान मानव ऋतम्भरा के द्वारा अनेक मानसिक व बौद्धिक प्रयोग व प्रेक्षण करता है। वर्तमान में भी कुछ वैज्ञानिक इसे थॉट एक्सपेरिमेंट कहते हैं, परन्तु उनके थॉट एक्सपेरिमेंट भी केवल भौतिकवादी दृष्टिकोण तक सीमित रहते हैं। मानवीय मूल्यों एवं सामाजिक हित की दृष्टि से उनका कोई प्रयोजन नहीं होता।

इधर हम वैदिक अन्वेषकों का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है। उन्हें समाज के कल्याण और मानवीय मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए ही अपना शोधकार्य करना होता है। उन्हें इसके लिए मानवीय इतिहास से भी अवगत होना होता है कि शास्त्रों के कब-२ एवं

क्या-२ दुरुपयोग भी हुए हैं और उनसे मानव-जाति को क्या-२ दुःख नहीं उठाने पड़े हैं। इस विषय पर केवल ऋषि दयानन्द ने ही कुछ विचार किया था, परन्तु विषम परिस्थितियों से घिरे होने के कारण वे वेदों एवं आर्ष ग्रन्थों के शुद्ध स्वरूप को प्रस्तुत करके संसार को नहीं बता सके कि किस-२ ग्रन्थ के अशुद्ध भाष्य से क्या-२ अनिष्ट संसार को भोगना पड़ा है। हाँ, उन्होंने इस दिशा में चलने के लिए एक पगडण्डी अवश्य बनाई, परन्तु वह पगडण्डी भी हमारी अकर्मण्यता, तामसिकता और वेदविरोधी हवाओं के कारण लगभग मिट चुकी है। इस धुंधली पगडण्डी को पहचानकर उस पर चलने की हमारे विद्वानों एवं आर्य नेताओं में न तो इच्छा शक्ति ही है और न उनका बौद्धिक सामर्थ्य और आत्मबल ही।

इस कारण वेद तथा आर्ष ग्रन्थों के अशुद्ध एवं पापजनक भाष्यों की जो गम्भीर समस्या ऋषि दयानन्द के समय थी, वह आज भी हमारे सम्मुख और अधिक विकराल रूप में खड़ी है। इसकी ओर मैं समस्त वैदिक जगत् का ध्यान दिलाता रहा हूँ, कुछ एक समर्थकों के अतिरिक्त सब कपोतवृत्ति धारण किये बैठे हैं और वे कपोतवृत्ति वाले ही मुझ से मेरे ग्रन्थों की उपयोगिता पूछ रहे हैं। ध्यान रहे कि समस्याओं व दूषित भाष्यों से नेत्र करने से हमारे शास्त्र बच नहीं पायेंगे और न हमारी पीढ़ी ही बच पायेगी, जैसे बिल्ली को देखकर कबूतर आँख बन्द कर लेता है और मारा जाता है, वैसे ही हम भी मारे जायेंगे। इसलिए इन कपोतवृत्ति महानुभावों के सन्तोष के लिए मैं उपयोगिता भी बता रहा हूँ—

१. इससे वेद और आर्ष ग्रन्थों को पढ़ने की एक ऐसी शैली मिलेगी, जिस पर कोई विधर्मी पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, हिंसा, अश्लीलता, छुआछूत, नारी-उत्पीड़न, रंगभेद एवं अवैज्ञानिकता जैसे पापों का आरोप नहीं लगा सकेगा और सभी शास्त्र मानव ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के लिए हितकारी ही सिद्ध होंगे।
२. वेद और ऋषियों के ग्रन्थों के नाम पर विश्व में जो भी इस प्रकार के पाप प्रचलित हुए हैं, वे धीरे-२ समाप्त हो सकेंगे। यदि कोई ये पाप करेगा भी, तो उसका दोष कम से कम इन शास्त्रों पर तो नहीं डाल सकता।
३. रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों में किये गये प्रक्षेपों की पहचान करना सरल हो जाएगा। मेरे भाष्यों से यह भी स्पष्ट हो सकेगा कि हमारे महापुरुष और ऋषि-मुनि, जिनका जीवन वेदमय हुआ करता था, कैसे होते थे? उनका

जीवन पूर्ण पवित्र ही क्यों होता था? अगर कहीं उनके जीवन में अपवित्रता बताई गई है अथवा उनके ज्ञान का स्तर सामान्य बताया गया है, तो वह प्रक्षेपकर्त्ताओं की देन है, न कि वास्तविकता।

४. हमारे ग्रन्थों के माध्यम से एक ऐसी वेदविद्या का बोध होगा, जिसे पढ़कर मानवमात्र से सभी प्रकार के भेदभाव (कथित जातिभेद, साम्प्रदायिकता, भाषा भेद, क्षेत्रीयता, लिंगभेद, रंगभेद, नस्लभेद) समाप्त होकर सम्पूर्ण मानव जाति को एक सूत्र में बाँधना सम्भव हो सकेगा। ऐसे भेदभाव पैदा करके आज मानव-जाति को जो लोग खण्ड-२ कर रहे हैं, राष्ट्र एक-दूसरे के खून के प्यासे बने हुए हैं, उन सबको भी कालान्तर में रोका जा सकेगा।

५. अगर अपने राष्ट्र की ही बात करें, तो अपना आर्यावर्त (भारतवर्ष) इस पृथ्वी पर वह सौभाग्यशाली भू-भाग है, जहाँ चार ऋषियों को वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ था और ऋषि-मुनियों की संख्या इसी देश में सबसे अधिक थी। इस कारण इस देश के निवासियों में तो विशेष रूप से राष्ट्रीय स्वाभिमान का उदय होगा और वे अराष्ट्रीयता के दुष्ट भाव से मुक्त हो सकेंगे।

६. वैदिक रश्मि विज्ञान पढ़कर ईश्वर व उसके महान् कार्यों का स्पष्ट बोध होकर यथार्थ आस्तिकता का उदय होगा। व्यक्ति सच्चे योग मार्ग का पथिक बनकर नकली योगियों के जाल से मुक्त हो सकेगा और कोई कभी नास्तिकता में तो फँस ही नहीं सकता।

७. इससे कालान्तर में विज्ञान व तकनीक का स्पष्ट विकास होकर संसार में ऐसा युग आएगा, जहाँ पदार्थ विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान दोनों मिलकर साथ चलेंगे। मनुष्य भोगवादी नहीं, बल्कि त्यागवादी होगा। वह व्यष्टि से समष्टि तक का विचार करेगा। पूर्ण विज्ञान के आधार पर सर्वथा निरापद तकनीक का आविष्कार होगा। तकनीक का भी बहुत आवश्यक होने पर ही उपयोग होगा। मनुष्यों और पशुओं की पेशीय ऊर्जा का भी प्रचुर उपयोग होगा, जिससे मनुष्य एवं पशु सभी स्वस्थ एवं नीरोग होंगे। पर्यावरण शुद्ध, स्वस्थ व सुरभित होगा और प्राकृतिक आपदाए दूर होती चली जायेंगी।

इस अन्तिम और विस्तृत लाभ के लिए तो बहुत संसाधनों की आवश्यकता है,

परन्तु इसके अतिरिक्त भी अगर अन्य पाँच लाभ भी संसार को प्राप्त हो जायें, तब भी क्या ये आपको कम दिखाई देते हैं? आर्यसमाज के १५० वर्ष के इतिहास और पौराणिकों के हजारों वर्षों के इतिहास से यदि निष्पक्षता से कोई तुलना करे, तो उस पर भी हमारे केवल पाँच लाभ भी भारी पड़ेंगे।

प्रश्न— आपने व्याकरण किसी गुरु से पढ़ा नहीं, तो निरुक्त का भाष्य कैसे करने बैठ गये? आपको तो निरुक्त पढ़ने का भी अधिकार नहीं है।

उत्तर— किसी व्यक्ति ने क्या पढ़ा और क्या नहीं पढ़ा, इसकी परीक्षा उसके कार्य से होती है। जो आधुनिक शिक्षा पद्धति के विद्वान् हैं, वे गुरुकुल वालों को विद्वान् नहीं मानते, क्योंकि उनके पास कोई उपाधि नहीं होती, जबकि वास्तविकता यह है कि व्याकरणादि शास्त्रों में तो आर्ष पद्धति से ही अच्छा विद्वान् बना जा सकता है। अब आर्ष पद्धति वालों में दोष यह है कि वे उसी को विद्वान् मानते हैं, जो किसी गुरु से पढ़ा हो, चाहे गुरु स्वयं शास्त्रों को जानता हो वा नहीं जानता हो। ये दोनों ही हठ और दुराग्रह के जाल में जकड़े हुए हैं। ऐतरेय ब्राह्मण और निरुक्त जैसे ग्रन्थों का बृहद् भाष्य क्या बिना कुछ पढ़े ही कर दिया है? गुरु-शिष्य परम्परा से पढ़े हुए बड़े-२ वैयाकरणों, नैरुक्तों एवं दर्शनाचार्यों को मैंने अनेक वेद गोष्ठियों व उनके द्वारा रचे गये साहित्य के माध्यम से देखा और पढ़ा है, उनमें से एक भी विद्वान् ऐसा दिखाई नहीं दिया, जो इन ग्रन्थों को अच्छी प्रकार समझकर वेद विद्या के रहस्यों को उद्घाटित करने में सक्षम हो। जिस वेद की रक्षा करना ही व्याकरण पढ़ने का मुख्य उद्देश्य होवे, उस व्याकरण के महापण्डित बनकर भी एक वेदमन्त्र का भी रहस्य उद्घाटित न कर सकें, तब वह व्याकरण क्या काम आया?

व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है, परन्तु आज मुख गूंगा है। उसे वेद के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार बड़े-२ निरुक्ताचार्य वेद को नहीं सुन पा रहे हैं अर्थात् वेदविद्या उनकी समझ में नहीं आ रही है, जबकि निरुक्त को वेद का श्रोत्र कहा जाता है। जो निरुक्त शास्त्र वैदिक पदों को रूढ़िवाद से निकालने के लिए रचा गया था, उसको वर्तमान नैरुक्तों ने स्वयं रूढ़िवादी बना दिया। इस प्रकार श्रोत्र भी बहरा हो गया। छन्द शास्त्र को वेद के पाद कहा गया है, परन्तु छन्दशास्त्री स्वयं छन्द विज्ञान को नहीं समझ पाये, तब वे वेदविद्या को कैसे गति दे सकते थे? इसी प्रकार ज्योतिर्विद्या के विद्वान्

वेदविद्या का प्रकाश नहीं कर पा रहे, तब ज्योतिष को भी वेद का नेत्र कैसे कह दिया जाये? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि व्याकरण, छन्द, निरुक्त आदि विषयों को पढ़ने व समझने की प्रणाली वह नहीं रही, जो प्राचीन काल में हुआ करती थी और जिसके बल पर वेद का महान् ज्ञान-विज्ञान सारे संसार का कल्याण कर रहा था। इसका उत्तर गुरु परम्परा वालों को खोजने का प्रयास करना ही चाहिए कि आखिर यह परम्परा दिग्भ्रमित कैसे हुई?

व्याकरण, निरुक्त और छन्द जैसे विषयों के ग्रन्थ त्रेता व द्वापर युग में भी होंगे। ग्रन्थों में कुछ भेद भले ही हो, परन्तु सामान्यतः विषय की समानता तो होगी। तब इन्हीं विषयों को पढ़कर और पढ़ाकर शिष्य और आचार्य वेदविज्ञान के महान् रहस्यों को समझकर नाना प्रकार की तकनीक का भी आविष्कार करते थे, विभिन्न लोक-लोकान्तरों की यात्राएँ भी करते थे, तब आज यह गुरु-शिष्य परम्परा कैसे मात्र कर्मकाण्डोपजीवी अथवा वाग्विलास तक सीमित हो गई? और कैसे इस परम्परा में पल रहे व बढ़ रहे लोग पाश्चात्य कुसभ्यता व कुशिक्षा के दास बनने को तत्पर हो गये हैं? इस विषय में हमारा मत यह है कि वेद तो पहले भी यही थे, जो आज हैं। व्याकरण, निरुक्त आदि के नियम भी वही थे, जो आज हैं। परन्तु हमारा सतोगुण लगभग नष्ट हो चुका है। हमारे जीवन में सत्य का समावेश नहीं है। ऐषणाओं और विषयों से भी हम मुक्त नहीं रह गये हैं। इस कारण हमारे अन्दर प्रज्ञा और ऊहा का अत्यन्त ह्रास हो गया है। ईश्वरोपासना का आडम्बर मात्र रह गया है। इसलिए अर्थ और काम की आसक्ति के रहते और निष्कामता के अभाव के चलते हमें व्याकरण, निरुक्त, दर्शन आदि के भी रहस्यों का बोध नहीं हो पा रहा है और इसलिए वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों और अन्य प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के विज्ञान को समझना हमारे लिए असम्भव हो गया है।

हम व्याकरण में सूत्रों का पदच्छेद करके अधिकार और अनुवृत्ति का ज्ञान करके विभिन्न पदों की सिद्धि भी प्रकृति-प्रत्यय से कर लेते हैं, परन्तु प्रकृति और प्रत्यय के विज्ञान की गहराई में जाकर शब्दों (वाचकों) के वाच्यरूपी पदार्थों के स्वरूप का बोध नहीं कर पाते। हम 'सूर्यः' पद की व्युत्पत्ति अपने व्याकरण के ज्ञान के आधार पर कर लेते हैं और सूर्य के अन्य पर्यायवाची पदों की भी व्याकरण से सिद्धि कर लेते हैं, परन्तु इसके वाच्य सूर्य नामक विशाल पिण्ड के बारे में हम आधुनिक विज्ञान की दसवीं कक्षा के

विज्ञान के बराबर भी जानकारी प्राप्त नहीं कर पाते, तब इस व्याकरण का क्या उपयोग हुआ? जब शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, तब हम शब्द की व्युत्पत्ति वा निर्वचन से उसके अर्थ अर्थात् पदार्थ का विज्ञान उद्घाटित क्यों नहीं कर पा रहे? संस्कृत भाषा में ही तो यह विशेषता होती है कि यह शब्दशास्त्रज्ञ के सम्मुख उस भाषा में वर्णित आर्षविद्या के रहस्य को खोलकर रख देती है। संस्कृत की इस महिमा पर हम व्याख्यान बहुत अच्छे दे सकते हैं, परन्तु विद्या का उद्घाटन करने में असमर्थ रहते हैं, तब निश्चित ही हमारी बुद्धि व संस्कारों का ही दोष है।

मैंने यहाँ गुरु-शिष्य परम्परा की आलोचना नहीं की है, बल्कि मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि पिछले कुछ हजार वर्षों से यह परम्परा दिग्भ्रमित हो गयी है अथवा वेदों के महान् विज्ञान को समझने का कोई सूत्र हमारी बुद्धि से ओझल हो गया है। इस परम्परा को जीवित करने के लिए आधुनिक समय के महान् गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती आये और उन्होंने अपने शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती को पूर्ण मनोयोग से पढ़ाया, परन्तु उन्हें फिर आगे कोई शिष्य नहीं मिल पाया। इस कारण स्वयं ऋषि दयानन्द के सांकेतिक वेदभाष्यों को आधार बनाकर शेष वेदभाष्य करना तो दूर, स्वयं उनके वेदभाष्य भी उनके अनुयायी जनों के लिए दुरूह हो गये। इसी कारण आर्यसमाजी वेदविद्या को संसार में प्रतिष्ठित करना तो दूर स्वयं अपने अन्दर और अपने परिवारों के अन्दर भी प्रतिष्ठित नहीं कर पाये। इस पर सबको विचार करना ही चाहिए कि क्यों वेद में सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का दावा करने वाले हम मैकाले द्वारा निर्दिष्ट और अंग्रेजों द्वारा पोषित शिक्षा के समक्ष नतमस्तक हो गये।

आश्चर्य तो यह है कि इसे हम अपनी विवशता भी नहीं मानते, बल्कि इसे अपनाने में गौरव ही मानते हैं। हमारे पास इस परम्परा के द्वारा पश्चिमी जगत् को देने के लिए कुछ भी नहीं है। इस कारण प्रत्येक वेदभक्त को यह तो सोचना ही पड़ेगा कि आज आवश्यकता किसी परम्परा की कूपमण्डूकता से बाहर निकलने की है। परम्परा अपने स्थान पर आदरणीय है और इसे चलते ही रहना चाहिए, परन्तु यदि कोई परम्परा से हटकर स्वतन्त्र रूप से हमारे शास्त्रों को वर्तमान ज्ञान-विज्ञान के सम्मुख न केवल खड़ा करने में समर्थ बना सके, अपितु उसे एक नयी क्रान्तिकारी दिशा दे सके, तो उसका स्वागत अवश्य होना चाहिए। फिर यह भी तो सोचें कि जिस परम्परा की आप बात कर रहे हैं, वह

मध्यकालीन है, प्राचीन नहीं। प्राचीन काल में तो आचार्य ऋषि महान् वैज्ञानिक हुआ करते थे, परन्तु आज ऐसा कहाँ है ?

आर्यसमाज में भी ऐसे अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं, जो स्वतन्त्र रूप से पढ़कर समाज को एक नयी दिशा दे गये। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी यद्यपि आधुनिक विज्ञान में स्नातकोत्तर थे, परन्तु वैदिक साहित्य का ऐसा पाण्डित्य उन्होंने स्वयं प्राप्त किया कि पश्चिमी वैदिक स्कॉलर्स दंग रह गये। स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती ने किसी से वैदिक वाङ्मय नहीं पढ़ा था। वे मात्र कानून के जानकार थे, परन्तु पौराणिक महाविद्वान् पण्डित गिरिधर शर्मा को शास्त्रार्थ में धराशायी कर दिया था। पण्डित लेखराम, स्वामी दर्शनानन्द एवं पण्डित रामचन्द्र देहलवी बिना किसी गुरु से पढ़े अपने समय के मूर्धन्य शास्त्रार्थ-महारथी हुए। आर्यसमाज के एक ऐसे बहुश्रुत विद्वान्, जिनसे अधिक शास्त्रों को पढ़ने वाला सम्भवतः ऋषि दयानन्द के पश्चात् कोई नहीं हुआ, वे पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भी स्वयंपाठी विद्वान् थे, भले ही उनके पास पश्चिमी पद्धति की स्नातक की उपाधि थी।

अब हम उन महानुभावों, जो पश्चिमी बौद्धिक दासता से ग्रस्त हैं, की सन्तुष्टि के लिए आधुनिक वैज्ञानिकों एवं शिक्षाविदों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे, जो स्वयं अपने बल पर महान् वैज्ञानिक बने—

- **Melanie Klein**, the founding mother of children's psychology.
- **Francis Edgeworth**, a self-taught economist.
- **Blaise Pascal**, a mathematician, philosopher, physicist and inventor who was home-schooled.
- **Nathaniel Bowditch**, a Colonial-period American mathematician who wrote the American Practical Navigator.
- **Paul-Émile Lecoq de Boisbaudran**, chemist, discoverer of several elements, pioneer in the field of spectroscopy.
- **Galileo Galilei**, astronomer, engineer, mathematician and physicist. Dropped out of college.
- **Michael Faraday**, a chemist and physicist. Although Faraday received little formal education and knew little of higher

mathematics, such as calculus, he was one of the most influential scientists in history. Some historians of science refer to him as the best experimentalist in the history of science.

- **George Boole** was a largely self-taught mathematician, philosopher and logician, most of whose short career was spent as the first professor of mathematics at Queen's College, Cork, Ireland. He worked in the fields of differential equations and algebraic logic, and is best known as the author of The Laws of Thought (1854) which contains Boolean algebra. Boolean logic is credited with laying the foundations for the information age.
- **André-Marie Ampère** was a physicist and mathematician who was one of the founders of the science of classical electromagnetism, which he referred to as 'electrodynamics'. He is also the inventor of numerous applications, such as the solenoid (a term coined by him) and the electrical telegraph.
- **G.V. Desani**, British-Indian author, lecturer and tenured Philosophy professor at the University of Texas at Austin (1968-79). His formal education ended in Sind, India (now Pakistan) when he was about thirteen years old.
- **Benjamin Franklin**, American Founding Father, polymath, politician, inventor, scientist, printer, publisher, diplomat, statesman, and writer.
- **Jane Jacobs** wrote books about city planning, economics, and sociology with only a high school degree and training in journalism and stenography, plus courses at Columbia University's extension school.
- **Antonie van Leeuwenhoek**, a cloth merchant, built the most powerful microscopes of his time and used them to make biological discoveries. He was largely self-taught in science and is considered to be 'The Father of Microbiology'.
- **Lewis Mumford**, American historian, sociologist, philosopher of technology, and literary critic, studied at the City College of New York and The New School for Social Research, but became ill with tuberculosis and never finished his degree.

- **Stanford R. Ovshinsky**, scientist and inventor, had no college education.
- **Walter Pitts**, a cognitive scientist, was an autodidact. He taught himself mathematical logic, psychology, and neuroscience. He was one of the scientists who laid the foundations of cognitive sciences, artificial intelligence, and cybernetics.
- **Srinivasa Ramanujan**, a mathematician, was largely self-taught in mathematics. Ramanujan is notable as an autodidact for having developed thousands of new mathematical theorems despite having no formal education in mathematics, contributing substantially to the analytical theory of numbers, elliptic functions, continued fractions, and infinite series.
- **Vincent J. Schaefer**, who discovered the principle of cloud seeding, was schooled to 10th grade when asked by parents to help with family income. He continued his informal education by reading, participation in free lectures by scientists and exploring nature through year-round outdoor activity.
- **Vasily Vladimirovich Petrov**, Russian scientist.
- **Clyde Tombaugh**, American astronomer who discovered the Kuiper belt.
- **Benjamin West**, American astronomer, mathematician, professor at Rhode Island College, and publisher of several series of North American almanacs.
- **Amos Tversky** was a mathematical psychologist with no formal schooling in mathematics.
- **George Smith**, Assyriologist who discovered and deciphered the Gilgamesh epic in 1872, without any university or other higher education.
- **Agnes Pockels**, German chemist whose research was fundamental to establishing modern surface science.
- **Niccolò Fontana Tartaglia**, a self-taught mathematician.

- **Richard Feynman**, a physicist who, at the age of 15, taught himself trigonom-etry, advanced algebra, infinite series, analytic geometry, and both differential and integral calculus.
- **Albert Einstein** was a physicist, who taught himself algebra, Euclidean geometry, and calculus when he was 12. He also independently discovered his own original proof of the Pythagorean theorem, and he had worked through a geometry textbook he was given by his family tutor, Max Talmud. When Einstein was 14 years old, he says he had 'mastered integral and differential calculus'.
- **Hua Luogeng** was a self-taught Chinese mathematician.

क्या इतने पर भी कोई यह पूछना चाहेगा कि मैंने क्या पढ़ाई की? मैंने दो आर्ष ग्रन्थों का भाष्य किया है। उन दोनों ही ग्रन्थों के अन्य कई भाष्य भी संसार में उपलब्ध हैं और वे सभी भाष्य प्राय: उन विद्वानों द्वारा किये गये हैं, जो गुरु-शिष्य परम्परा से अनेक शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन कर चुके थे। उन भाष्यों से मेरे इन दोनों ही ग्रन्थों की तुलना करके विज्ञजन स्वयं ही समझ सकते हैं कि कौनसे भाष्य वेद की ज्येष्ठता व श्रेष्ठता को संसार में स्थापित कर सकते हैं? बुद्धिमानों के लिए इतना ही लिखना पर्याप्त है।

प्रश्न— वेदविज्ञान-आलोक: में कण्डिकाओं का भाष्य करने के लिए बहुत सारे प्रमाण एक साथ लिख देते हैं और फिर मनमाने ढंग से उस कण्डिका का अर्थ कर देते हैं। कोई कैसे समझेगा कि किस प्रमाण का क्या अर्थ निकला और उसका कैसे उपयोग किया? इसी प्रकार की स्थिति आपके मन्त्रों के भाष्य की भी है।

उत्तर— आपका यह प्रश्न करना दो बातों को दर्शाता है। उनमें से प्रथम यह है कि किसी पूर्वाग्रह वा ईर्ष्यावश केवल छिद्रान्वेषण करना आपकी प्रवृत्ति है, क्योंकि अन्य जो भी भाष्य हैं, उनकी वास्तविक स्थिति क्या है, उन्हें यदि आप स्वयं पढ़े होंगे, तो आपको विदित होगा। किसी ब्राह्मण ग्रन्थ अथवा निरुक्त के भाष्य वा टीकाएँ क्या कहना चाहते हैं, इसे मुझे कोई समझा दे, तब मैं उसके प्रश्न को उत्तर देने योग्य समझूँगा। फिर भी मैं ऐतरेय ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका के भाष्य को ही उद्धृत करता हूँ—

''अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः॥

[देवः = दिव्यो वायुः (तु.म.द.य.भा.२२.१५), मनो देवः (गो.पू.२.११), प्राणा देवाः (श.ब्रा.६.३.२.१५)। अग्निः = व्यापको विद्युत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२.६)। विष्णुः = स्वदीप्त्या व्यापकः सूर्यः (म.द.ऋ.भा.१.१५६.४), स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः (श.ब्रा.१४.१.१.६)]

व्याख्यानम्— समस्त अवकाशरूप आकाश में सर्गोत्पत्ति के समय सर्वप्रथम दिव्य वायु उत्पन्न होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती यजुर्वेद भाष्य (१७.३२) में विभिन्न प्राणों के जन्म का क्रम बताते हैं कि प्रथम सूत्रात्मा वायु, पुनः धनञ्जय, पुनः प्राणापानव्यानादि प्राण, परन्तु इन सबसे पूर्व दिव्य वायु की उत्पत्ति होती है। हमारे मत में दिव्य वायु का तात्पर्य सब प्राणों का मूल कारण अहंकार तत्त्व है, जिसका ही अन्य रूप मन अथवा महत् अर्थात् बुद्धि तत्त्व है। जब उस अहंकार वा महत् तत्त्व से समस्त अवकाश पूर्णतः व्याप्त हो जाता है। तब उसके अन्दर प्राथमिक प्राण, सूत्रात्मा, धनञ्जय, पञ्च प्राणादि भी उत्पन्न हो जाते हैं। उन प्राणों को भी देव कहा जाता है। यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ उन समस्त पदार्थों से भी है, जिनमें आकर्षणादि बल एवं प्रकाशादि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इन ऐसे सभी देव पदार्थों में अग्नि अर्थात् विद्युत् वह पदार्थ है, जो उस अहंकाररूप दिव्य वायु से सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होते ही सर्ग प्रक्रिया तीव्रतर होने लगती है। इस प्रक्रिया में विष्णु अर्थात् तारे का निर्माण सबसे अन्त में होता है। यहाँ तारे के निर्माण का अर्थ है कि किसी भी आग्नेय पिण्ड वा मेघ में सतत ऊर्जा उत्पत्ति हेतु वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाए। उस संलयन क्रिया से ही अनेक प्रकाशमान वा प्रकाशित होने योग्य पदार्थों के साथ-२ अन्य अनेक तत्त्वों का निर्माण होता है। इस ग्रन्थ का विषय सूर्यादि तारे के निर्माण तक की सृष्टि प्रक्रिया को समझाना है। विद्युत् वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें किंवा ऊर्जा की उत्पत्ति तथा सूर्य आदि तारों की उत्पत्ति के मध्य ब्रह्माण्डस्थ सभी सूक्ष्म व स्थूल पिण्डों अर्थात् पृथिव्यादि लोकों का निर्माण होता रहता है। इसी कारण अग्नि व विष्णु देवों को क्रमशः प्रथम व अन्तिम बतलाकर अन्य सभी देव पदार्थों को इन दोनों के मध्य में उत्पन्न होने वाला कहा है। ध्यातव्य है कि इससे पूर्व प्राणादि में अतीव शक्ति विद्यमान होती है, परन्तु उन्हें वर्तमान विज्ञान की भाषा में ऊर्जा कहना उपयुक्त नहीं है।

यहाँ 'अवम' तथा 'परम' शब्दों का अर्थ क्रमशः सबसे छोटा व सबसे बड़ा भी ग्राह्य है।

तब ऋषि कहना चाहते हैं कि जब आद्य विद्युत् उत्पन्न होती है अथवा सर्ग की उपर्युक्त अवस्था में जब ऊर्जा वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति होती है, उस समय उनकी दीप्ति, शक्ति सब कुछ सबसे न्यून स्तर की होती है। इससे प्रारम्भ होकर जब तारे का निर्माण होता है, तब उसके केन्द्रीय भाग की ऊर्जा, शक्ति, दीप्ति सब कुछ सर्वाधिक उच्च स्तर की होती है। इस कारण भी अग्नि को अवम एवं विष्णु को परम देवता कहा है। अन्य जितनी भी दीप्ति, शक्ति, ऊर्जा आदि जो भी पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होते हैं, वे इन दोनों स्तरों के मध्य ही होते हैं। इसी विषय में महर्षि तित्तिर का भी कथन है— अग्निरवमो देवतानां विष्णुः परमः (तै.सं.५.५.१.४)। उधर एक अन्य ऋषि का कथन है— अग्निर्वै सर्वमाद्यम् (तां.ब्रा.२५.९.३)। महर्षि यास्क ने 'अग्निः' पद का निर्वचन करते हुए इसी मत को व्यक्त किया है—

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते (निरु.७.१४)।

वैज्ञानिक भाष्यसार— सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया में जब सर्वप्रथम ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, तब सबसे प्रथम विद्युत् रूप में तथा सूक्ष्मतम स्तर की अर्थात् न्यूनतम आवृत्ति की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं। इस प्रक्रिया में सर्वाधिक शक्तिशाली ऊर्जा तारों के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न होती है, जो सबसे अन्त में उत्पन्न होती है। पृथिव्यादि लोकों के निर्माण के पश्चात् ही तारों का सम्पूर्ण निर्माण अर्थात् नाभिकीय संलयन प्रक्रिया से युक्त लोकों का निर्माण होता है।

यहाँ 'विष्णु' शब्द से ऐसे तारे का ग्रहण है, जो नाभिकीय संलयन के साथ-२ अपनी प्रबल आकर्षण शक्ति से अनेक लोकों को बाँधने वाला हो। अपना सूर्य अथवा ब्रह्माण्ड का कोई भी तारा, आकाशगंगाओं के केन्द्र आदि सभी 'विष्णु' शब्द से ही ग्रहण किए जाते हैं। इनकी उत्पत्ति पृथिव्यादि के समान ग्रह आदि लोकों की उत्पत्ति के पश्चात् होती है अथवा इनका विष्णुरूप इन पृथिव्यादि लोकों के उत्पन्न होने के पश्चात् प्रकट हो पाता है। यह सिद्धान्त वर्तमान विज्ञान की प्रचलित मान्यता के विपरीत है।

उससे पूर्व ऊर्जा अपेक्षाकृत निम्न स्तर अर्थात् कम आवृत्ति की उत्पन्न होती है। यहाँ वैदिक विज्ञान की दृष्टि वर्तमान में बहु प्रचारित महाविस्फोट के सिद्धान्त, जिसमें उच्चतम ऊर्जा से निम्नतर ऊर्जा का उत्पन्न होना स्वीकार किया जाता है, के सर्वथा विपरीत सिद्ध होती है।''

अब इसका **आचार्य सायणकृत भाष्य** और डॉ. **सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी अनुवाद** भी यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

''योऽयमग्निरस्ति, सोऽयं देवतामध्ये अवमः प्रथमो द्रष्टव्यः। यस्तु 'विष्णुः' सोऽयं 'परमः' उत्तमः। वैशब्द उक्तार्थे मन्त्रप्रसिद्धिद्योतनार्थः। 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानां संगतानामुत्तमो विष्णुरासीत्' इति हि मन्त्र आम्नायते। यद्वा वैशब्द उपपत्तिप्रसिद्ध्यर्थः। उपपत्तिश्चैवं योजनीया। यद्यपि देवशब्दः साधारणत्वात् सर्वदेवतावाची तथाऽप्यत्र प्रकरण-बलादग्निष्टोमाङ्गेषु शस्त्रेषु प्रतीयमानाः प्रधानदेवता विवक्ष्यन्ते। शस्त्राणि च द्वादश। तेष्वाज्यशस्त्रं प्रथमम् तस्मिंश्च 'भूरग्निर्ज्योतिः' इत्यग्निराम्नातः। आग्निमारुतं शस्त्रमन्तिमम्, तस्मिन् 'विष्णोर्नु कम्' इति विष्णुराम्नातः। एवमग्निष्टोमसंस्थायां शस्त्रपाठापेक्षमग्नेः प्राथम्यं विष्णोरुत्तमत्वं च। यद्वा, सर्वासु संस्थासूक्तन्यायेनाग्नेः प्राथम्यं विष्णोरुत्तमत्वम्, अन्तिमसंस्थायामाप्तोर्यामाख्यायां त्रयस्त्रिंशत् स्तोत्रशस्त्रोपेतायामन्तिमं स्तोत्रं शस्त्रं च वैष्णवमिति तदपेक्षया द्रष्टव्यम्। यद्वा, प्रथमायां दीक्षणीयेष्टावग्निरिज्यते। अन्तिमायामुदव-सानीयेष्टौ वैष्णवी पूर्णाहुतिर्वाजसनेयिभिराम्नाता। सर्वथाऽपि स्तोतव्यान् यष्टव्यांश्च देवान-पेक्ष्याग्नेः प्राथम्यं विष्णोरुत्तमत्वं च युक्तम्। तदन्तरेण तयोः प्रथमोत्तमयोरग्नाविष्ण्वोर्मध्ये तत्तच्छस्त्रप्रतिपाद्याः 'अन्याः' इन्द्रवाय्वादयः 'सर्वाः' प्रधानदेवताः वर्तन्ते। तस्मात् सर्वदेवतानामुभयतो रक्षकवदवस्थितावग्नाविष्णू प्रशस्तावित्यर्थः। [सोमयागनिरूपण]

देवताओं के मध्य अग्नि का सबसे आदि का और विष्णु का सबसे अन्त का स्थान है। उन दोनों [अग्नि और विष्णु] के मध्य अन्य [इन्द्र, वायु आदि] सभी प्रधान देवताओं का स्थान है।''

अब बड़ी निष्पक्षता और ईमानदारी से इन तीनों का आप अध्ययन करें और अपने आत्मा से स्वयं ही पूछें कि इसमें कौनसा भाष्य बुद्धिसम्मत एवं स्पष्टता से समझने योग्य है। यदि कोई कहे कि मैंने प्रमाणों का कैसे उपयोग किया, तो मैं समझता हूँ कि जो

व्यक्ति स्वयं को ऐतरेय ब्राह्मण जैसे महान् ग्रन्थ का अध्येता समझ रहा है, उससे इतनी अपेक्षा तो की ही जा सकती है कि जो आर्ष वचन मैंने उद्धृत किये हैं, उनको कैसे उपयोग किया है, यह समझ ले। यदि उसकी समझ में यह नहीं आता है, तो उसे स्वयं को सरल साहित्य पढ़ने तक ही सीमित रखना चाहिए। कोई भी भाष्यकार जितने प्रमाणों को उद्धृत करता है, वह उन सबके उपयोग की विवेचना प्रायः नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि इतना तो पाठक समझ ही लेगा। ऋषि दयानन्द जी ने अपने वेदभाष्य में प्रमाण बहुत अधिक नहीं दिये हैं और कहीं-कहीं तो बिल्कुल भी नहीं दिये हैं। जो दिये हैं, उनके उपयोग को भी विस्तार से नहीं समझाया है। फिर सारे प्रश्न मेरे लिए ही क्यों हैं? वास्तविकता यह है कि यदि मैं सभी प्रमाणों का विधिवत् व्याख्यान करके उपयोग करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करता, तो वेदविज्ञान-आलोकः ग्रन्थ २८०० पृष्ठ के स्थान पर ७-८ हजार पृष्ठ का अति विशाल ग्रन्थ होता। यदि उसमें उद्धृत वेद मन्त्रों का भी भाष्य करता, तो यह ग्रन्थ कम से कम दस हजार पृष्ठ का होता। उधर मेरे समक्ष संकल्प पूर्ण करने की एक समय-सीमा भी थी।

वेदभाष्य का एक और उदाहरण—

अब हम वेदभाष्य का भी एक उदाहरण लेते हैं, वह उदाहरण इस प्रकार है—

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ [यजु.३६.३]

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

"**पदार्थः** — (भूः) कर्मविद्याम् (भुवः) उपासनाविद्याम् (स्वः) ज्ञानविद्याम् (तत्) इन्द्रियैरग्राह्यं परोक्षम् (सवितुः) सकलैश्वर्यप्रदस्येश्वरस्य (वरेण्यम्) स्वीकर्त्तव्यम् (भर्गः) सर्वदुःखप्रणाशकं तेजःस्वरूपम् (देवस्य) कमनीयस्य (धीमहि) ध्यायेम (धियः) प्रज्ञाः (यः) (नः) अस्माकम् (प्रचोदयात्) प्रेरयेत्।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये मनुष्याः कर्मोपासनाज्ञानविद्याः संगृह्याखि-लैश्वर्ययुक्तेन परमात्मना सह स्वात्मनो युञ्जतेऽधर्माऽनैश्वर्यदुःखानि विधूय धर्मैश्वर्यसुखानि प्राप्नुवन्ति तानन्तर्यामिजगदीश्वरः स्वयं धर्मानुष्ठानमधर्मत्यागं च कारयितुं सदैवेच्छति।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जैसे हम लोग (भूः) कर्मकाण्ड की विद्या (भुवः) उपासना काण्ड की विद्या और (स्वः) ज्ञानकाण्ड की विद्या को संग्रहपूर्वक पढ़के (यः) जो (नः) हमारी (धियः) धारणावती बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे उस (देवस्य) कामना के योग्य (सवितुः) समस्त ऐश्वर्य के देने वाले परमेश्वर के (तत्) उस इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य (भर्गः) सब दुःखों के नाशक तेजःस्वरूप का (धीमहि) ध्यान करें, वैसे तुम भी इसका ध्यान करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो मनुष्य कर्म, उपासना और ज्ञान सम्बन्धिनी विद्याओं का सम्यक् ग्रहण कर सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं तथा अधर्म, अनैश्वर्य और दुःख रूप मलों को छुड़ा के धर्म, ऐश्वर्य और सुखों को प्राप्त होते हैं उनको अन्तर्यामी जगदीश्वर आप ही धर्म के अनुष्ठान और अधर्म का त्याग कराने को सदैव चाहता (ते) है।''

इसका भाष्य Ralph T.H. Griffith ने इस प्रकार किया है—

"May we attain that excellent glory of Savitar the God. So may he stimulate our prayers."

यह भाष्य आध्यात्मिक है, परन्तु विज्ञ पाठक स्वयं इसकी तुलना महर्षि दयानन्द के भाष्य से करके ग्रिफिथ के वैदुष्य का स्तर जान सकते हैं।

यह मन्त्र (व्याहृति रहित रूप में) यजुर्वेद ३.३५; २२.९; ३०.२; ऋग्वेद ३.६२.१०; सामवेद १४.६२ में भी विद्यमान है। यह ऐतरेय ब्राह्मण में भी अनेकत्र आया है। इनमें से यजुर्वेद ३०.२ में इस मन्त्र का ऋषि नारायण तथा अन्यत्र विश्वामित्र है। देवता सविता, छन्द निचृद् बृहती एवं स्वर षड्ज है। व्याहृतियों का छन्द दैवी बृहती तथा स्वर व्याहृतियों सहित सम्पूर्ण मन्त्र का स्वर मध्यम षड्ज है। महर्षि दयानन्द ने सर्वत्र ही इसका भाष्य आध्यात्मिक किया है। केवल यजुर्वेद ३०.२ के भावार्थ में आधिभौतिक का स्वल्प संकेत भी है, शेष भाष्य आध्यात्मिक ही है। एक विद्वान् ने कभी हमें कहा था कि गायत्री मन्त्र जैसे कुछ मन्त्रों का आध्यात्मिक के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भाष्य हो ही नहीं सकता। हम संसार के सभी वेदज्ञों को घोषणापूर्वक कहना चाहते हैं कि वेद का प्रत्येक मन्त्र इस सम्पूर्ण सृष्टि में अनेकत्र कम्पनों (वाइब्रेशन्स) के रूप में विद्यमान है। इन मन्त्रों की इस रूप में

उत्पत्ति पृथिव्यादि लोकों की उत्पत्ति से भी पूर्व में हो गयी थी। इस कारण प्रत्येक मन्त्र का आधिदैविक भाष्य अनिवार्यत: होता है। त्रिविध अर्थ प्रक्रिया में सर्वाधिक व सर्वप्रथम सम्भावना इसी प्रकार के अर्थ की होती है। इस कारण इस मन्त्र का आधिदैविक अर्थ नहीं हो सकता, ऐसा विचार करना वेद के यथार्थ स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञता का परिचायक है।

इस ऋचा का देवता सविता है। सविता के विषय में ऋषियों का कथन है—

१. सविता सर्वस्य प्रसविता (निरु.१०.३१)
२. सविता वै देवानां प्रसविता (श.ब्रा. १.१.२.१७)
३. सविता वै प्रसवानामीशे (ऐ.ब्रा.१.३०)
४. प्रजापतिर्वै सविता (तां.ब्रा. १६.५.१७)
५. मनो वै सविता (श.ब्रा.६.३.१.१३)
६. पशवो वै सविता (श.ब्रा.३.२.३.११)
७. विद्युदेव सविता (गो.पू.१.३३)
८. प्राणो वै सविता (ऐ.ब्रा.१.१९)
९. वेदा एव सविता (गो.पू.१.३३)
१०. सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः (तै.ब्रा.२.५.७.४)

इससे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. सविता नामक पदार्थ सबकी उत्पत्ति व प्रेरणा का स्रोत वा साधन है।
२. यह सभी प्रकाशित व कामना अर्थात् आकर्षणादि बलों से युक्त कणों का उत्पादक व प्रेरक है।
३. यह सभी उत्पन्न पदार्थों का नियन्त्रक है।
४. 'ओम्' रश्मि रूप छन्द रश्मि एवं मनस्तत्त्व ही सविता है।
५. विभिन्न मरुद् रश्मियाँ एवं दृश्य कण 'सविता' कहलाते हैं।
६. विद्युत् को भी 'सविता' कहते हैं।
७. विभिन्न प्राण रश्मियाँ 'सविता' कहलाती हैं।
८. सभी छन्द रश्मियाँ भी 'सविता' हैं।

९. तारों के केन्द्रीय भाग रूप राष्ट्र को प्रकाशित व उनका पालन करने वाला सम्पूर्ण तारा भी 'सविता' कहाता है।

यह हम पूर्व में लिख चुके हैं कि देवता किसी भी मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय होता है। इस कारण इस मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य 'ओम्' छन्द रश्मि, मनस्तत्त्व, प्राण तत्त्व एवं सभी छन्द रश्मियाँ हैं। इस ऋचा की उत्पत्ति विश्वामित्र ऋषि [वाग् वै विश्वामित्रः (कौ.ब्रा.१०.५), विश्वामित्रः सर्वमित्रः (निरु.२.२४)] अर्थात् सबको आकृष्ट करने में समर्थ 'ओम्' छन्द रश्मियों से होती है।

आधिदैविक भाष्य— (भूः) 'भूः' नामक छन्द रश्मि किंवा अप्रकाशित कण वा लोक, (भुवः) 'भुवः' नामक रश्मि किंवा आकाश तत्त्व, (स्वः) 'सुवः' नामक रश्मि किंवा प्रकाशित कण, फोटोन वा सूर्यादि तारे आदि में व्याप्त, (तत्, सवितुः) उस अगोचर वा दूरस्थ सविता अर्थात् मन, 'ओम्' रश्मि, सभी छन्द रश्मियाँ, विद्युत् व सूर्यादि पदार्थों को (वरेण्यम्, भर्गः, देवस्य) सर्वतः आच्छादित करने वाला व्यापक [भर्गः = अग्निर्वै भर्गः (श.ब्रा.१२.३.४.८), आदित्यो वै भर्गः (जै.उ.४.१२.२.२), वीर्यं वै भर्गऽएष विष्णु-र्यज्ञः (श.ब्रा.५.४.५.१), अयं वै (पृथिवी) लोको भर्गः (श.ब्रा.१२.३.४.७)] आग्नेय तेज, जो सम्पूर्ण पदार्थ को व्याप्त करके अनेक संयोजक व सम्पीडक बलों से युक्त हुआ प्रकाशित व अप्रकाशित लोकों के निर्माण हेतु प्रेरित करने में समर्थ होता है, (धीमहि) प्राप्त होता है अर्थात् वह सम्पूर्ण पदार्थ उस आग्नेय तेज, बल आदि को व्यापक रूप से धारण करता है। (धियः, यः, नः, प्रचोदयात्) जब वह उपर्युक्त आग्नेय तेज उस पदार्थ को व्याप्त कर लेता है, तब विश्वामित्र ऋषि संज्ञक मन व 'ओम्' रश्मि रूप पदार्थ [धीः = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.९), वाग् वै धीः (ऐ.आ.१.१.४)] नाना प्रकार की वाग् रश्मियों को विविध दीप्तियों व क्रियाओं से युक्त करता हुआ अच्छी प्रकार प्रेरित व नियन्त्रित करने लगता है।

भावार्थ— मन एवं 'ओम्' रश्मियाँ व्याहृति रश्मियों से युक्त होकर क्रमशः सभी मरुद्, छन्द आदि रश्मियों को अनुकूलता से सक्रिय करते हुए सभी कण, क्वाण्टा एवं आकाश तत्त्व को उचित बल व नियन्त्रण से युक्त करती हैं। इससे सभी लोकों तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान पदार्थ नियन्त्रित ऊर्जा से युक्त होकर अपनी-२ क्रियाएँ समुचितरूपेण सम्पादित

करने में समर्थ होते हैं। इससे विद्युत् बल भी सम्यक् नियन्त्रित रहते हैं।

सृष्टि में इस ऋचा का प्रभाव— इस ऋचा की उत्पत्ति के पूर्व विश्वामित्र ऋषि अर्थात् 'ओम्' छन्द रश्मियाँ विशेष सक्रिय होती हैं। इसका छन्द दैवी बृहती+निचृद् गायत्री होने से इसके छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित कण वा रश्मि आदि पदार्थ तीक्ष्ण तेज व बल प्राप्त करके सम्पीडित होने लगते हैं। इसके दैवत प्रभाव से मनस्तत्त्व एवं 'ओम्' छन्द रश्मि रूप सूक्ष्मतम पदार्थों से लेकर विभिन्न प्राण, मरुत्, छन्द रश्मियाँ, विद्युत् के साथ-२ सभी दृश्य कण वा क्वाण्टा प्रभावित अर्थात् सक्रिय होते हैं। इस प्रक्रिया में 'भूः', 'भुवः' एवं 'सुवः' नामक सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ 'ओम्' छन्द रश्मि के द्वारा विशेष संगत व प्रेरित होती हुई कण, क्वाण्टा, आकाश तत्त्व तक को प्रभावित करती हैं। इससे इन सभी में बल एवं ऊर्जा की वृद्धि होकर सभी पदार्थ विशेष सक्रियता को प्राप्त होते हैं।

इस समय होने वाली सभी क्रियाओं में जो-२ छन्द रश्मियाँ अपनी भूमिका निभाती हैं, वे सभी विशेष उत्तेजित होकर नाना कर्मों को समृद्ध करती हैं। विभिन्न लोक, चाहे वे तारे आदि प्रकाशित लोक हों अथवा पृथिव्यादि ग्रह वा उपग्रहादि अप्रकाशित लोक हों, सभी की रचना के समय यह छन्द रश्मि अपनी भूमिका निभाती है। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण पदार्थ में विद्युत् एवं ऊष्मा की वृद्धि होती है, परन्तु इस स्थिति में भी यह छन्द रश्मि विभिन्न कणों वा क्वाण्टा को सक्रियता प्रदान करते हुए भी अनुकूलता से नियन्त्रित रखने में सहायक होती है। हाँ, वहाँ व्याहृतियों की अविद्यमानता अवश्य है। इसके षड्ज स्वर के प्रभाव से ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को आश्रय देने, नियन्त्रित करने, दबाने एवं वहन करने में सहायक होती है। व्याहृतियों का मध्यम स्वर इन्हें विभिन्न पदार्थों के मध्य प्रविष्ट होकर अपनी भूमिका निभाने का संकेत देता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (भूः) प्राणों से भी प्रिय और सबके प्राणों का आधार, भूलोक अर्थात् सभी अप्रकाशित लोकों के स्वामी एवं सत् स्वरूप परमात्मन्! (भुवः) अपानस्वरूप अर्थात् सब दुर्गुण और दुःखों को दूर करने वाले चेतनस्वरूप परमेश्वर! (स्वः) व्यानस्वरूप अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को विविध प्रकार से चेष्टा कराने वाले सभी प्रकाशित लोकों के स्वामी, आनन्दस्वरूप और सबको आनन्द प्राप्त कराने वाले जगदीश्वर! (सवितुः) सकल जगत् को उत्पन्न करने वाले, सबको शुभ कर्मों की प्रेरणा देने वाले, सब

लोकों के धाता परमात्मा के (देवस्य) सभी दिव्य गुणों से युक्त, सभी प्रकाशित लोकों को भी प्रकाशित करने वाले, सभी मनुष्यों को वेद ज्ञान प्रदान करने वाले, सकल सृष्टि के नियन्ता, सबके कामना करने योग्य, प्रलयकाल में सबको सुलाने वाले देवस्वरूप परमात्मा के (तत्, वरेण्यम्) उस वरण करने योग्य सर्वश्रेष्ठ (भर्गः) पापनाशक तेज को (धीमहि) हम अपने अन्तःकरण वा आत्मा में धारण करें।

(यः, नः, धियः) जो अर्थात् वह तेज [धीः = प्रज्ञानाम (निघं.३.९), कर्मनाम (निघं.२.१)] हमारी बुद्धि एवं कर्मों को (प्रचोदयात्) अच्छी प्रकार से प्रेरित करे अर्थात् वह ईश्वर हमें सन्मार्ग में चलने के लिए प्रेरित करे और हम उस प्रेरणा का अनुसरण करते हुए सन्मार्ग पर चलने का सामर्थ्य भी प्राप्त करें और उस मार्ग पर सदैव चलते भी रहें।

इस मन्त्र को उपासना के लिए सबसे अधिक महत्त्व इस कारण दिया गया है, क्योंकि इसमें परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना तीनों का ही समावेश है। 'भूः, भुवः, स्वः, सवितुः, देवस्य, वरेण्यम्, भर्गः' पद परमेश्वर के गुणों का प्रतिपादन करते हैं, इस कारण ये पद स्तुतिपरक हैं। इन गुणों के कीर्तन से साधक में ईश्वर के प्रति विशेष श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है। सभी व्याहृतियों के चिन्तन से वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर का ही अनुभव करने लगता है। वह उसे दुःखविनाशक और सुखप्रदाता मानकर सांसारिक दुःखों को भूलकर आनन्द की अनुभूति करने लगता है। वह ईश्वर को सकल सृष्टि का उत्पादक व नियन्त्रक मानकर स्वत्व के अहंकार से मुक्त होने लगता है। वह उस ईश्वर को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उसी के साक्षात्कार की कामना करने लगता है। उसके पापनाशक स्वरूप को स्मरण करके अपने अन्तःकरण की मलिनता को दूर होता हुआ अनुभव करता है। यहाँ 'धीमहि' पद उसकी उपासना की ओर संकेत करता है। इस पद पर विचार करते समय वह साधक ऐसे परमात्मा के तेज को अपने हृदय में अनुभव करते हुए 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इस प्रार्थनापरक पाद के जप से वह साधक पवित्र बुद्धि प्रदान करने और तदनुकूल कर्म करने का सामर्थ्य प्राप्त करने की याचना करता और इस याचना से वह ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित होकर सर्वथा अहंकारशून्य होने का प्रयत्न करने लगता है।

आधिभौतिक भाष्य—

अब हम इस मन्त्र के आधिभौतिक अर्थ पर विचार करते हैं—

[भूः = कर्मविद्याम्। भुवः = उपासनाविद्याम्। स्वः = ज्ञानविद्याम् (म.द.य.भा.३६.३)। सविता = योगपदार्थज्ञानस्य प्रसविता (म.द.य.भा.११.३), सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः (तै.ब्रा.२.५.७.४)] कर्मविद्या, उपासनाविद्या एवं ज्ञानविद्या इन तीनों विद्याओं से सम्पन्न (सवितुः) (देवस्य) दिव्य गुणों से युक्त राजा, माता-पिता किंवा उपदेशक, आचार्य अथवा योगी पुरुष के (वरेण्यम्) स्वीकरणीय श्रेष्ठ, (भर्गः) पापादि दोषों को नष्ट करने वाले, समाज, राष्ट्र व विश्व में यज्ञ अर्थात् संगठन, त्याग, बलिदान के भावों को समृद्ध करने वाले उपदेश वा विधान को (धीमहि) हम सब मनुष्य धारण करें। (यः) ऐसे जो राजा, योगी, आचार्य वा माता-पिता और उनके विधान वा उपदेश (नः) हमारे (धियः) कर्म एवं बुद्धियों को (प्रचोदयात्) व्यक्तिगत, आध्यात्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय वा वैश्विक उन्नति के पथ पर अच्छी प्रकार प्रेरित करते हैं।

भावार्थ— उत्तम योगी व विज्ञानी माता-पिता, आचार्य एवं राजा अपनी सन्तान, शिष्य वा प्रजा को अपने श्रेष्ठ उपदेश एवं सर्वहितकारी विधान के द्वारा सभी प्रकार के दुःखों, पापों से मुक्त करके उत्तम मार्ग पर चलाते हैं। ऐसे माता-पिता, आचार्य एवं राजा के प्रति सन्तान, शिष्य व प्रजा अति श्रद्धाभाव रखे, जिससे सम्पूर्ण परिवार, राष्ट्र वा विश्व सर्वविध सुखी रह सके।

ध्यातव्य— गायत्री मन्त्र की साधना करने व संध्या करने वाले साधक को योग्य है कि वह स्वयं अपनी बुद्धि व कर्मों को पवित्र करने के पुरुषार्थ के साथ-साथ परिवार, समाज व राष्ट्र से तमोगुणी प्रवृत्तियों को दूर करने का निरन्तर प्रयास करता रहे। एतदर्थ सदैव बुद्धिवर्धक सात्त्विक भोजन ही करे।

इसमें केवल मन्त्र के देवता की व्याख्या में हमने नौ प्रमाण दिये हैं और सभी प्रमाणों का हिन्दी में पृथक्-२ अर्थ भी दिया है। ऋषि तत्त्व को समझाने के लिए भी दो प्रमाण दिये हैं, उनका अर्थ भी स्पष्ट किया है। भाष्य करने में भी अनेक प्रमाण दिये हैं, उन सबका अर्थ भी स्पष्ट किया गया है, जबकि महर्षि दयानन्द जी ने इस मन्त्र के भाष्य में कोई प्रमाण नहीं दिया। तब भी मुझसे यह पूछेंगे कि प्रमाण बहुत दिये, परन्तु अर्थ स्पष्ट नहीं किये? हाँ, इतना अवश्य है कि धीरे-२ प्रमाणों को स्पष्ट करने की प्रक्रिया मैंने न्यून से न्यून करते हुए बन्द कर दी। उसका कारण यह था कि ग्रन्थ को पढ़ते-२ पाठक

उत्तरोत्तर योग्य होता चला जाता है और उसे नये पाठक की भाँति समझाने की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ समय-सीमा भी सम्मुख खड़ी थी। अब मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि यदि मेरे स्थान पर आप होते, तो क्या करते? आशा है आपको अपने प्रश्न का मिल गया होगा।

प्रश्न— आपके इस निरुक्त-भाष्य से क्या वर्तमान में चल रही गुरुकुल-परम्परा ध्वस्त नहीं हो जायेगी? यदि ऐसा हुआ, तो उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आपका ही होगा।
उत्तर— आपकी यह आशंका सर्वथा आधारहीन है। गुरुकुलों को वेदों और आर्ष ग्रन्थों की रक्षा के लिए ही सदैव उद्यत रहना चाहिए। मेरे इस निरुक्त अथवा ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य से वास्तव में व्याकरण वेद का मुख सिद्ध होगा, छन्दशास्त्र पाद और निरुक्त श्रोत्र सिद्ध होगा। जब गुरुकुलों के आचार्य ऐसा होता हुआ अनुभव करेंगे, तब उनकी इन ग्रन्थों पर वर्तमान की अपेक्षा बहुत अधिक श्रद्धा होगी। उनका आत्मबल बढ़ेगा। विचार कीजिए कि मैंने निरुक्त-भाष्य में क्या किया है। मैंने वेदमन्त्रों एवं महर्षि यास्क के वचनों से तो कोई छेड़छाड़ नहीं की है। एक शब्द का भी कहीं कोई भेद नहीं है। मैंने केवल उन शब्दों की अपने ढंग से व्याख्या की है। मैंने अन्य सभी भाष्यकारों के भाष्यों को भी देखा है, उनमें नाना प्रकार के पापों की विद्यमानता भी अनुभव की है। इनके कारण शास्त्रों की सब ओर से होती हुई निन्दा को भी अनुभव किया है।

इस कारण मैंने मध्यकालीन और वर्तमान भाष्यकारों की अनार्ष परम्परा को ही दोषी जानकर उसे ध्वस्त करने का बीड़ा अवश्य उठाया है। मैं शास्त्रों के अपमान को देखकर आपकी भाँति मौन नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसा करना अपराध होगा। तब मेरे पास दो ही विकल्प थे, प्रथम यह कि मैं आपकी ही भाँति मध्यकालीन और अर्वाचीन भाष्यकारों के पाण्डित्य के सम्मुख नतमस्तक होकर सारे पापों का दोष ऋषियों के ग्रन्थों और वेदों के ऊपर मँढ़ दूँ। इसके पश्चात् या तो आपकी भाँति मौन रहूँ अथवा ऐसा करने के पश्चात् मैं स्वयं उनके साथ चला जाऊँ, जो रात-दिन वेदादि शास्त्रों पर ऐसे घृणित आरोप लगाते रहते हैं और देश एवं धर्म के लिए गम्भीर चुनौती बन चुके हैं। बाल्यकाल से ही केवल सत्य पर दृढ़ रहने के स्वभाव वाला मैं इन शास्त्रों को अनेक पापों का पोषक मानकर उनका सबसे बड़ा विरोधी बन जाता और आप सबके लिए मैं सबसे बड़ा सिरदर्द

बन गया होता। जब आप ईसाई, मुसलमान, यहूदी, बौद्ध एवं वामपंथियों के आरोपों का ही उत्तर नहीं दे पा रहे, तो आप मेरा सामना कैसे करते ?

सौभाग्य से मैंने ऋषि दयानन्द को अच्छी तरह से समझा था। वेद एवं ऋषियों के विषय में उनकी गहराइयों को भी समझा था, इस कारण मुझे इन शास्त्रों पर कोई भी दोषारोपण स्वीकार नहीं था, इसलिए मैंने इन शास्त्रों के भाष्यकारों, भले ही वे मेरे लिए कितने भी पूज्य क्यों न हों, की उपेक्षा करके प्रभुप्रदत्त जन्मजात ऊहा के आधार एवं सत्यपालन के बल पर अपना मार्ग स्वयं बनाने का निश्चय किया और उसी का परिणाम यह है कि मैं इन दो ग्रन्थों को मानव हित के लिए प्रस्तुत कर पाया हूँ, यही मेरा दूसरा विकल्प है। आपको तो मेरे इस विकल्प के चुनने पर प्रसन्न होना चाहिए कि मैं आपको विरोधियों की भाँति चुनौती देने वाला नहीं बना। यदि आपको वेद व आर्ष ग्रन्थों को निष्कलंक एवं महान् विज्ञानमय सिद्ध करने पर भी आपत्ति है, तो यह आपकी समस्या है। कोई वेदविरोधी इस कार्य का विरोध करे, तो समझ आता है, परन्तु कोई वेदभक्त व ऋषिभक्त कहाने वाला ऐसा करे, तो यह दुःखद आश्चर्य की ही बात है।

दुर्भाग्य से आज हम लोगों के लिए अपने-२ गुट के विद्वानों के मान-सम्मान की ही एकमात्र चिन्ता शेष रह गई है। अपने पद, प्रतिष्ठा और धन की ही चिन्ता रह गई है। ऋषियों अथवा वेदों के मान-सम्मान का यदि कुछ भी महत्त्व आपकी दृष्टि में होता, तो आप वेदादि शास्त्रों पर लग रहे घृणित आरोपों को देखकर आप गाँधी के बन्दर नहीं बने होते। मैं तो आप सबसे कहना चाहूँगा कि मेरे ग्रन्थों में इस प्रकार के किसी भी आरोप की पुष्टि होती प्रतीत हो रही हो, तो उसका न केवल समाधान प्रस्तुत करना, अपितु मेरा खण्डन भी करना, मैं इसके लिए आपका धन्यवाद ही करूँगा, परन्तु व्यर्थ निन्दा के प्रति मैं उपेक्षाभाव ही रखूँगा। आप सबसे भी यह करबद्ध निवेदन करूँगा कि हम अपने साथियों वा गुरुओं के मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता छोड़कर केवल ऋषियों और वेदों के सम्मान व प्रतिष्ठा की चिन्ता करें, क्योंकि उनकी प्रतिष्ठा ही सत्य की प्रतिष्ठा है, मानवता की प्रतिष्ठा है और न हि सत्यात् परो धर्मः।

अब हम गुरुकुलों के भविष्य पर विचार करते हैं। जब गुरुकुल इस शैली के भाष्य पढ़ायेंगे और गुरुकुलों में प्रतिभाशाली छात्र आयेंगे, तब हमारे गुरुकुलों का एक-२

ब्रह्मचारी वेदविरोधी व्यक्तियों का उत्तर देने में न केवल समर्थ होगा, अपितु उन्हें वेदों और ऋषियों का गौरव भी समझा सकेगा। उस समय गुरुकुल वैज्ञानिकों के लिए भी तीर्थ बनेंगे, जैसे कि कभी प्राचीन काल में हुआ करते थे। गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों, फिर चाहे वे केवल वेदपाठी हों अथवा शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करने वाले हों, सभी के अन्दर एक वैज्ञानिक प्रतिभा जागेगी और उनमें प्रबल आत्मविश्वास उत्पन्न होगा। वे बड़े-२ वैज्ञानिक संस्थानों वा प्रबन्धन संस्थानों की भाँति सबके लिए आदरणीय होंगे। इस कारण मेरे कार्य से गुरुकुल की परम्परा ध्वस्त नहीं होगी, बल्कि वह परम्परा विश्व में सम्मानित व प्रतिष्ठित होगी।

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

कृतज्ञता ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं देवाधिदेव परमगुरु परमपिता परमात्मा के प्रति नतमस्तक हूँ, जिसकी कृपा से मैं वेदादि शास्त्रों के गम्भीर विज्ञान को समझने में समर्थ हुआ हूँ। उसी जगज्जननी की कृपा से शास्त्रों में वर्णित सृष्टि के गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन मेरे मस्तिष्क में होता रहा है। शास्त्रों में आये कठिनतम पदों और वेद की ऋचाओं के गूढ़ार्थों का प्राकट्य हस्तामलकवत् होता रहा है। यह सब प्रभुकृपा के बिना कदापि सम्भव नहीं है। केवल बुद्धिबल तथा शास्त्रों के पारायण से विद्या का प्रकाश हो पाना मेरी दृष्टि में असम्भव कार्य है। प्रभुकृपा प्राप्त व सदैव सत्य के पथ पर चलने वाला व्यक्ति कभी अर्थ और काम में आसक्त नहीं हो सकता और इन दोनों में अनासक्त व्यक्ति ही शास्त्रों के गम्भीर रहस्यों को समझ सकता है। मैं प्रभुकृपा से इस आसक्ति से बचा रहा और उसी की कृपा तथा साधना से प्राप्त बुद्धि ही शास्त्रों को समझने में सक्षम हो पाती है। यदि साधना से शास्त्रों को समझने की प्रज्ञा प्राप्त न हो पाये, तो हमें अपनी साधना की ही परीक्षा करनी चाहिए। इस कारण प्रभु का कोटिशः आभार व्यक्त करना मेरा प्राथमिक कर्त्तव्य है।

परब्रह्म परमेश्वर के पश्चात् मैं परमर्षि भगवत्पाद ब्रह्मा से लेकर महर्षि यास्क तथा उनके कुछ उत्तरवर्ती महर्षियों को प्रणाम करता हूँ, जिनके वचनों को आधार मानकर मैं वेदविद्या अर्थात् सृष्टि विद्या, जिसमें आध्यात्मिक विज्ञान भी सम्मिलित है, को कुछ जान पाया हूँ। इनमें से महर्षि यास्क के इस ग्रन्थ के एक-२ पद के विज्ञान का आनन्द लिया है। ऐसे महामानवों की यह मानव जाति सदैव ऋणी रहेगी।

तदुपरान्त आर्ष परम्परा के अन्तिम आचार्य ऋषि दयानन्द के नेत्रों से ही मैंने सभी शास्त्रों को देखने का प्रयत्न किया है, उस महान् आचार्य एवं उनके महान् गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द को भी मैं नमन करता हूँ। इस ग्रन्थ के जिन भाष्यकारों के भाष्य मेरे पास उपलब्ध हैं, भले ही वे भाष्य वेद की मूल भावना के सर्वथा विरुद्ध हैं और जिनसे वेद की गरिमा को बहुत क्षति भी पहुँची है, पुनरपि उनसे मैंने कहीं-२ प्रत्यक्ष वा परोक्ष लाभ प्राप्त किया है, कहीं-२ कुछ भाष्यकारों के भाष्य को ही यथावत् उद्धृत भी किया है, इसलिए उन भाष्यकारों का भी मैं भूरिशः आभार व्यक्त करता हूँ। ये विद्वान् हैं— पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर, आचार्य विश्वेश्वर, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, पण्डित छज्जूराम

शास्त्री व पण्डित देवशर्मा के संस्कृत भाष्य एवं उनके निरुक्त भाष्य के हिन्दी टीकाकार आचार्य भगीरथ शास्त्री, पण्डित मुकुन्द झा शर्मा, पण्डित सीताराम शास्त्री, स्कन्दस्वामी महेश्वर, आचार्य दुर्ग एवं पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार।

इन सबके अतिरिक्त मैं अपने न्यास से जुड़े सभी महानुभावों, जो मेरे सदैव सम्बल बने रहते हैं, का भूरिशः धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। इनमें बागपत के पूर्व सांसद माननीय डॉ. सत्यपाल सिंह (प्रधान संरक्षक), स्मृति शेष पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, स्मृति शेष पूज्य स्वामी वेदानन्द सरस्वती एवं पूज्य सन्त श्री विदेह योगी (संरक्षक), आदरणीय श्रीमान् सुरेशचन्द्र आर्य (प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा), आदरणीय श्री दीनदयाल गुप्ता एवं आदरणीय जस्टिस श्री सज्जन सिंह कोठारी (न्यास उपप्रमुख), आदरणीय डॉ. थावर चन्द डामोर (मन्त्री न्यास), आदरणीय डॉ. भूपसिंह (भिवानी) के साथ सभी न्यासियों, संरक्षक मण्डल के सभी आदरणीय सदस्यों का हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

दानदाताओं में आदरणीय श्री आर.एन. त्रिपाठी (कानपुर), जिन्होंने आर्यावर्त वैदिक विज्ञान संस्थान, पालड़ी एम, जिला सिरोही में भूमि के लिए सम्पूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान किया, साथ ही भवन निर्माण एवं निरुक्त प्रकाशनार्थ भी कुछ सहयोग प्रदान किया। ये बहुत ही निस्पृह भामाशाह हैं। इतनी श्रद्धा व निष्कामता वर्तमान समय में मैंने तो अन्यत्र कहीं नहीं देखी है। मेरे पास इनका आभार व्यक्त करने के लिए समुचित शब्द नहीं हैं। निरुक्त प्रचार हेतु आदरणीय श्री मनोहर लाल आनन्द (फरीदाबाद), आदरणीय प्रोफेसर वसन्त कुमार मदनसुरे, प्रिय डॉ. सन्दीप कुमार सिंह (हाथरस) एवं प्रिय श्री राकेश उपाध्याय (इन्दौर) के आर्थिक सहयोग हेतु मैं इन सबको भूरिशः धन्यवाद देता हूँ।

नीदरलैण्ड से श्रीमती राधाबिहारी आर्या एवं बठिण्डा (पंजाब) से प्रिय श्री ऋषिराज आर्य, प्रिय श्री डॉ. राजेन्द्र पेंसिया, आई.ए.एस. सदैव सहयोग हेतु तत्पर रहते हैं। इसके अतिरिक्त देश भर के अनेक आर्थिक व नैतिक सहयोगी महानुभावों का धन्यवाद करता हूँ, जिनके सहयोग के कारण ही मैं यह कार्य निश्चिन्तता के साथ कर पा रहा हूँ।

यहाँ कार्यालय के सभी कार्मिकों को भी मैं साशीष धन्यवाद देता हूँ, जो मेरे साथ कार्य में लगे हुए हैं।

अन्त में मैं अपने बहुत ही प्रिय मानस पुत्र श्री विशाल आर्य (प्राचार्य) एवं पुत्र-वधु डॉ. मधुलिका आर्या (उप-प्राचार्या) को भूरिशः हार्दिक सस्नेह आशीर्वाद देता हूँ। ये दोनों मेरे हाथों के समान हैं, जिनके बिना मैं कुछ नहीं कर सकता। इस ग्रन्थ के सम्पादन, ईक्ष्यवाचन व सम्पूर्ण साज-सज्जा का गुरुतर कार्य इन्होंने बड़े ही मनोयोग से योग्यतापूर्वक किया है। प्रिय विशाल आर्य बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं अति पुरुषार्थी युवक हैं और इनकी सहधर्मिणी डॉ. मधुलिका आर्या भी इन्हीं के समान अत्यन्त पुरुषार्थी एवं सुयोग्य विदुषी हैं। ये दोनों मेरा अपने पिता की भाँति पूर्ण ध्यान रखते हैं। हाँ, मैं कभी-२ यह अनुभव अवश्य करता हूँ कि ये दोनों कुछ अधिक ही परिश्रम कर रहे हैं और अपने स्वास्थ्य का भी समुचित ध्यान नहीं रखते। इन दोनों ने न केवल ईक्ष्यवाचन किया है, अपितु सम्पादक धर्म के अनुकूल अनेक सुझाव देकर, नाना शंकाओं को प्रस्तुत करके मुझसे हठपूर्वक उनके उत्तर लिखवाने का कार्य भी कराया है।

ग्रन्थ का चौदहवाँ अध्याय तो अन्य अनेक विद्वानों की भाँति मैंने भी बिना गम्भीरता से पढ़े अस्पष्ट व असंगत समझकर छोड़ दिया था, परन्तु प्रिय विशाल आर्य एवं डॉ. मधुलिका आर्या के आग्रह पर मैंने उस अध्याय को गम्भीरता से पढ़ा। इससे मुझे वह अध्याय विज्ञान के बहुमूल्य रत्नों से भरा हुआ प्रतीत हुआ। इस अध्याय के भाष्य से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। यदि मेरे ये पुत्र व पुत्रवधु इसके लिए आग्रह नहीं करते, तो पाठक इस अध्याय में भरे विज्ञान के रत्नों से वंचित रह जाते और इस महान् ग्रन्थ के साथ भी पूर्ण न्याय नहीं हो पाता। इनके वयोवृद्ध माता-पिता ने भी इन्हें पूर्ण रूप से वैदिक विज्ञान के लिए समर्पित कर दिया है, एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। इसके साथ ही आदरणीया बहन पद्मश्री आचार्या डॉ. सुकामा आर्या, विश्ववारा कन्या गुरुकुल, रुड़की (रोहतक) का भी बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे कार्य का मूल्यांकन करके अपनी शिष्या मधुलिका आर्या को प्रिय विशाल आर्य के साथ विवाह करने तथा वैदिक विज्ञान हेतु जीवन समर्पित करने की प्रेरणा दी तथा डॉ. मधुलिका के परिजनों ने भी इसे स्वीकार किया, इस कारण उन सभी को भी मैं धन्यवाद देता हूँ।

यद्यपि इस ग्रन्थ की भाषा के संशोधन में प्रिय विशाल आर्य एवं डॉ. मधुलिका आर्या ने अत्यन्त परिश्रम किया है। यदि ये यह कार्य नहीं करते, तो ग्रन्थ अनेक त्रुटियों से भरा रह जाता। मैंने भी इनके सुझावों पर भाषा को सुधारने का कार्य किया है, पुनरपि इतने

विशाल व जटिल ग्रन्थ में त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। आर्ष ग्रन्थों के वैज्ञानिक भाष्य की मेरी अपनी शैली है, जिसके लिए आर्ष ग्रन्थों के निर्वचनों के अतिरिक्त कोई मार्गदर्शक वा सहायक नहीं मिला है। इस कारण भी ग्रन्थ में कुछ त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। कुछ त्रुटियों की ओर प्रिय विशाल आर्य ने ध्यान भी दिलाया है और उन त्रुटियों को मैंने दूर भी किया है। मैं सुधी पाठकों से निवेदन करता हूँ कि वे इस ग्रन्थ को निष्पक्ष दृष्टि से बहुत गम्भीरतापूर्वक पढ़ें। यदि कोई त्रुटि प्रतीत हो, तो अवगत कराने का कष्ट करें। आगामी संस्करण में हम उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करेंगे। व्यर्थ दोषारोपण करने वालों को कोई महत्त्व नहीं दिया जायेगा।

अन्त में मैं उन सभी को भी धन्यवाद देता हूँ, जो प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से मेरा सहयोग कर रहे हैं।

* * * * *

अथ प्रथमोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः।
तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते। निघण्टवः कस्मात्।
निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः।
ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः।
अपि वाऽऽहननादेव स्युः। समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति।

(समाम्नायः) जिन वैदिक पदों का आर्ष परम्परा से सम्यक् मर्यादापूर्वक विचार एवं संग्रह किया जाता रहा है, उन पदों का इस ग्रन्थ में संग्रह किया गया है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने यहाँ 'समाम्नाय' से प्रजापति कश्यप के मूल 'निघण्टवः' शास्त्र संग्रह का ग्रहण किया है। वेद को समझने के लिए ऋषियों ने समय-२ पर नाना प्रकार से वैदिक पदों का संग्रह किया था। महर्षि यास्क का यह समाम्नाय अर्थात् पद-संग्रह वेद को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस समाम्नाय अर्थात् पदों के संग्रह की व्याख्या इस ग्रन्थ (निरुक्त) में स्वयं महर्षि यास्क ने की है। इन पदों की व्याख्या के बिना केवल संग्रह मात्र से वेदार्थ की प्रसिद्धि नहीं हो सकती, इस कारण ही ग्रन्थकार इस समाम्नाय के व्याख्यान को आवश्यक बता रहे हैं। उस समाम्नाय अर्थात् पदों के समूह को 'निघण्टवः' कहा है। यहाँ निघण्टु का बहुवचन में प्रयोग किया गया है। इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का मत यह है कि अति प्राचीन काल में निघण्टु पद बहुवचनान्त ही प्रयोग होता था। इस विषय में हमारा मत यह भी है कि पण्डित जी का कथन सत्य होने पर भी, यह भी नितान्त सम्भव है कि सभी निघण्टुकारों ने पूर्व में विद्यमान विभिन्न निघण्टुकारों के समाम्नाय से भी नाना पदों का संग्रह किया हो। इसी कारण जो पद यास्कीय निघण्टु में उपलब्ध हैं, वे पूर्व में विद्यमान सभी निघण्टुओं में उपलब्ध हों, यह आवश्यक नहीं है, सभी में अनेकत्र भिन्नताएँ देखी जाती हैं।

वैदिक पदों के संग्रह को निघण्टु क्यों कहते हैं? इसको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि ये पद निगमरूप होते हैं। इसका आशय यह है कि ये पद निश्चयपूर्वक अपने वाच्यरूप पदार्थ का यथार्थ बोध कराने में सक्षम होते हैं। जब इन पदों के द्वारा उन पदार्थों का निश्चयात्मक बोध हो जाता है, तब इसके द्वारा वैदिक मन्त्रों के यथार्थ एवं छन्द रश्मियों

के स्वरूप का बोध होकर सृष्टि का भी बोध होने लगता है। इस कारण वैदिक पद-समुदाय निघण्टु कहलाता है। ये वैदिक पद ग्रन्थकार ने कहाँ से लिए हैं? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि ये विभिन्न वेद मन्त्रों से छाँट-छाँट कर एकत्र करते हुए संगृहीत किये गये हैं। यहाँ महर्षि उपमन्यु के पुत्र औपमन्यव का मत दर्शाते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं कि ये वैदिक पद निगमरूप होकर मन्त्रों के अर्थों एवं उनके सृष्टि प्रक्रिया पर पड़ने वाले प्रभावों का बोध कराते हैं, इस कारण ये निगन्तु रूप होते हैं। यहाँ 'निगन्तु' शब्द का अर्थ मन्त्रों एवं उनके विभिन्न पदार्थों पर पड़ने वाले प्रभावों का निश्चयात्मक ज्ञान कराने वाला है। यह 'निगन्तु' शब्द ही 'निघण्टु' कहा गया है। मद्रचित 'वेदविज्ञान-आलोकः' नामक ग्रन्थ, जो ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या है, पर आशीर्वचन लिखते हुए आर्यजगत् के एक वरिष्ठ वैदिक विद्वान् आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश ने महर्षि यास्क के निर्वचनों व महर्षि पाणिनि के कुछ प्रयोगों पर प्रश्न उठाए हैं, उनसे मैं नितान्त असहमत हूँ, उन्होंने ही 'निघण्टु' के निर्वचन पर प्रश्न उठाते हुए लिखा है-

"भाषार्थक सकर्मक 'घटिँ' (चुरा.२२३) से औणादिक 'उ' प्रत्यय करने से तथा 'घण शब्दे' (काश.ब्रा.धा.भ्वा.२०६) से औणादिक 'तु' प्रत्यय करने से निघण्टु शब्द सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में महर्षि औपमन्यव के द्वारा 'निगन्तु' को 'निघण्टु' बनाने की क्या आवश्यकता पड़ी? और इस अनावश्यक निर्वचन को महर्षि यास्क ने क्यों प्रमाणभूत मान लिया?"

यहाँ ये विद्वान् इन दोनों ऋषियों की निर्वचन प्रक्रिया को दोषपूर्ण बताते हुए चुनौती देते हैं। इस विषय में हमारा मत यह है कि यद्यपि उपर्युक्त 'घटिँ' और 'घण' दोनों ही धातुओं से निघण्टु पद सिद्ध हो सकता है तथा इस निघण्टु पद से यह भी सिद्ध हो सकता है कि निघण्टु में संगृहीत विभिन्न वैदिक पद वेद मन्त्रों के स्वरूप, प्रभाव तथा अर्थ को स्पष्ट करने वाले होने के साथ-२ सृष्टि के पदार्थों को प्रकाशित करने वाले भी होते हैं। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में 'घटिँ' धातु का अर्थ बोलने के साथ 'चमकना' और 'प्रकाशित करना' भी किया है। इस कारण वैदिक पदों के प्रभाव से सृष्टि में दीप्ति भी उत्पन्न होती है। क्या महर्षि यास्क अथवा महर्षि औपमन्यव को वैदिक पदों का इतना अर्थ और प्रभाव पर्याप्त प्रतीत नहीं कि वे इन धातुओं से निष्पन्न निघण्टु पद

से सन्तुष्ट नहीं हुए? उन्हें निगन्तु पद क्यों अधिक उपयोगी जान पड़ा? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि पूर्वोक्त निगम पद की निगन्तु पद के साथ समानता है। दोनों में एक ही धातु एवं उपसर्ग का प्रयोग हुआ है। निगन्तु पद में 'गम्' धातु का प्रयोग है, जो ज्ञान, गमन व प्राप्ति अर्थ में प्रयुक्त होती है। इससे निगन्तु पद का अर्थ निश्चयपूर्वक वेद मन्त्रों तथा सृष्टि प्रक्रिया पर उसके प्रभावों का ज्ञान कराने वाला, सतत गति अर्थात् कम्पन करने वाला एवं सृष्टि के पदार्थों में व्याप्त होने वाला सिद्ध होता है। आप्टे कोषकार ने 'गम्' धातु का अर्थ 'सहवास करना' भी लिखा है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि वैदिक पद परस्पर मिथुन बनाने की प्रवृत्ति से भी युक्त होते हैं।

इस प्रकार निगन्तु पद इस बात का बोधक है कि वैदिक पद, जो वैदिक छन्द रश्मियों के अवयव रूप होते हैं, इस सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान कराने वाले, उनमें व्याप्त होने वाले, सतत कम्पन करते हुए नाना सूक्ष्म कणों व तरंगों को कम्पित करने वाले तथा सृष्टि में संयोग-वियोग प्रक्रिया को उत्पन्न व संचालित करने वाले होते हैं। इस कारण इन दोनों ऋषियों ने निगन्तु पद से निघण्टु होना स्वीकार किया है। यहाँ उन्हीं वरिष्ठ विद्वान् ने इस पर आपत्ति करते हुए यह प्रश्न भी किया है कि जब निगन्तु पद इतना सारगर्भित है, तब महर्षि यास्क अथवा औपमन्यव ऋषि ने निगन्तु पद ही क्यों नहीं रहने दिया? उसको निघण्टु बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि निघण्टु में संगृहीत पद निगन्तु पद से दर्शाये गए प्रभावों के साथ-२ दीप्ति उत्पन्न करने वाले भी होते हैं। इस कारण 'घटिँ' धातु से निष्पन्न निघण्टु पद का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है, जो निगन्तु से प्रकाशित नहीं होता। यद्यपि वहाँ ज्ञान कराने वाला प्रभाव सिद्ध होता है, परन्तु दीप्ति का प्रभाव स्पष्ट नहीं होता। इस कारण उन्होंने निगन्तु पद से निघण्टु पद की कल्पना की।

यहाँ कोई दुराग्रहवश यह प्रश्न भी करे कि जैसे निगन्तु से निघण्टु की कल्पना की, वैसे ही क्यों न निघण्टु से निगन्तु पद की कल्पना की जाए? इसके उत्तर में हमारा मत है कि निगन्तु से कहे गए प्रभाव सृष्टि प्रक्रिया में सूक्ष्म एवं कारणरूप होते हैं, जबकि निघण्टु से कहा गया प्रभाव अर्थात् दीप्ति का उत्पन्न होना उनका कार्यरूप होता है। इस कारण कारणरूप प्रभाव से कार्यरूप प्रभाव की सिद्धि दर्शाने के लिए ही निगन्तु से निघण्टु की कल्पना की गई है। निघण्टु से निगन्तु की कल्पना सर्वथा असंगत है। महर्षियों की दृष्टि

का यह उत्कृष्ट चमत्कार है कि उन्होंने पद-संग्रह के नाम में भी अद्भुत विज्ञान को समाविष्ट कर दिया है।

यहाँ ग्रन्थकार आङ्पूर्वक 'हन्' धातु से भी 'निघण्टु' शब्द के निर्वचन की बात करते हैं। 'हन्' धातु हिंसा और गति अर्थ में प्रयुक्त होती है। पूर्व में हम 'निगन्तु' पद पर विचार कर चुके हैं, उसमें 'नि' पूर्वक 'गम्' धातु का जो अर्थ और प्रभाव होता है, वही अर्थ और प्रभाव 'सम्' पूर्वक गत्यर्थक 'हन्' धातु का मानना चाहिए। 'आङ्' उपसर्ग से यह प्रभाव मर्यादापूर्वक परन्तु प्रचुर मात्रा में मानना योग्य है। इस प्रकार गत्यर्थक 'हन्' धातु से निष्पन्न 'निघण्टु' पद से सभी प्रभाव और कार्य यथावत् सिद्ध होते हैं, जो 'निगन्तु' से निष्पन्न 'निघण्टु' पद से सम्पन्न होते हैं। यहाँ 'हन्' धातु का हिंसा अर्थ अतिरिक्त प्रभाव दर्शाने वाला होता है। हिंसार्थक आङ्पूर्वक 'हन्' धातु से निष्पन्न 'निघण्टु' पद का यह प्रभाव भी होता है कि वे पद विभिन्न मन्त्रों अर्थात् छन्द रश्मियों का अवयव रहते हुए भी अन्य रश्मियों एवं उत्पन्न विभिन्न कणों व तरंगों के मध्य अन्योन्य क्रियाएँ उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार 'हन्' धातु से आङ्पूर्वक निष्पन्न 'निघण्टु' पद बहुत व्यापक प्रभावों को दर्शाने में समर्थ होता है। यहाँ आङ्पूर्वक 'हन्' धातु से 'आहन्तु' पद निष्पन्न हुआ, हकार के स्थान पर घकार तथा त् को ट् होकर एवं न् को ण् होकर निघण्टु पद निष्पन्न हुआ। यहाँ ग्रन्थकार ने 'समाहता भवन्ति' कहकर यह दर्शाया है कि ये पद 'सम्' उपसर्ग का प्रभाव भी दर्शाने वाले होते हैं, जिसके कारण उपर्युक्त सभी प्रभाव सम्यक् रूप से सम्पन्न होते हैं। इस कारण भी इन पदों को 'निघण्टु' कहा जाता है।

अब अन्तिम विकल्प दर्शाते हुए कहते हैं कि 'सम्' एवं आङ्पूर्वक 'हृ' धातु से भी निघण्टु पद सिद्ध हो सकता है। यहाँ पहले 'समाहर्तु' पद निष्पन्न होकर दोनों उपसर्गों को अविद्यमान करके हकार के स्थान पर घकार, रेफ को 'ण्' एवं 'त्' को 'ट्' करके 'निघण्टु' पद निष्पन्न होता है। यहाँ 'सम्' और 'आङ्' दोनों के स्थान पर 'नि' उपसर्ग हो गया है। इन दोनों का अर्थ और प्रभाव 'समा' के समान हम पूर्व में दर्शा ही चुके हैं। यहाँ 'हृ' धातु से 'निघण्टु' पद निष्पन्न होने से विभिन्न वैदिक पद 'हृ' धातु के अनेक अर्थों जैसे ढोना, अपहरण करना, नष्ट करना, आकृष्ट करना, अधीन अर्थात् नियन्त्रित करना, ग्रहण करना, प्राप्त करना आदि का प्रभाव दर्शाते हैं। इस प्रकार निष्पन्न 'निघण्टु' पद पूर्वोक्त अनेक प्रकार के निर्वचनों के सभी प्रभावों को अपने अन्दर समाहित किए हुए है। इस

ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की क्रियाओं के पीछे विभिन्न वैदिक पदों के इन प्रभावों का ही योगदान रहता है। विभिन्न वैदिक पद मिलकर वैदिक मन्त्ररूपी छन्द रश्मियों को उत्पन्न करते हैं और प्रत्येक पद स्वयं में भी एक छन्द ही होता है तथा विभिन्न छन्द रश्मियों से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ है। पाठकों को वैदिक छन्द रश्मि विज्ञान की अधिक जानकारी के लिए मद्रचित 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' अथवा प्रिय विशाल आर्य द्वारा रचित 'परिचय वैदिक भौतिकी' नामक पुस्तक को पढ़ना चाहिए।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने निघण्टु पद का तीन प्रकार से निर्वचन करके अपनी निर्वचन शैली की अतीव वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। वैदिक पदों का किस-२ प्रकार से पृथक्-२ निर्वचन हो सकता है, इसको यहाँ सुन्दरता से देखा और समझा जा सकता है। वैदिक पदरूपी सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त होकर कैसा-२ प्रभाव दर्शाती हैं? और इन प्रभावों के चलते कैसे मूल पदार्थ प्रकृति में शनैः-२ स्पन्दन रूपी पद एवं ऋचाएँ उत्पन्न होकर कैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और संचालन होता है? इसका दिग्दर्शन वैज्ञानिक प्रतिभासम्पन्न पाठकों को 'निघण्टु' पद के निर्वचनों से सहज ही हो सकता है। इसके साथ ही इस शास्त्र की महत्ता एवं वैज्ञानिकता का भी सहज अनुमान हो सकता है।

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति। तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति। भावप्रधानमाख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि।

वे पूर्वोक्त निघण्टु संज्ञक पद किस-२ प्रकार के होते हैं? यह दर्शाते हुए महर्षि लिखते हैं कि वे पद नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात, ये चार प्रकार के होते हैं।
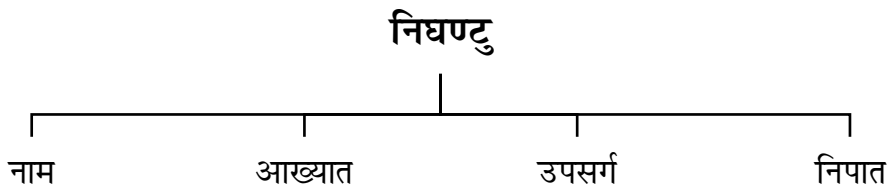
उनमें से 'नाम' और 'आख्यात' इन दो प्रकार के पदों का लक्षण यहाँ दर्शाया गया है। जो पद भावप्रधान होते हैं, वे 'आख्यात' कहलाते हैं अर्थात् जो पद किसी घटना को दर्शाते हैं अर्थात् क्रियासूचक होते हैं, वे 'आख्यात' कहलाते हैं। ये पद जिस किसी मन्त्र रूप छन्द रश्मि का अंग होते हैं, ये उस-उस क्रिया को उन छन्द रश्मियों द्वारा सम्पन्न करने में मुख्य हेतु होते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रचोदयात्' यह आख्यात संज्ञक पद विभिन्न कणों व तरंगों को अच्छी प्रकार अपने-२ कार्यों को सम्पन्न करने में प्रेरणा प्रदान करता है। वस्तुतः प्रेरणा प्रदान करने वाला कोई पदार्थ विशेष होता है, जबकि यह आख्यात पद इस बात का सूचक है कि वह पदार्थ क्या कार्य कर रहा है। बिना उस पदार्थ के आख्यात पद कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते अर्थात् कोई भी घटना नहीं घट सकती। यह आख्यात पद यह भी सूचित करता है कि कोई भी घटना कब घटी अथवा भविष्य में घटने वाली है अथवा इस समय घट रही है। इसके साथ ही ये पद यह भी बतलाते हैं कि इस क्रिया को करने वाला कर्त्तारूप पदार्थ एक है अथवा अनेक संख्या में हैं? क्रिया को करने वाले पदार्थों को 'नाम' कहा जाता है। नाम का लक्षण बताते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि जिसमें सत्त्व की प्रधानता होती है, उसे 'नाम' कहते हैं।

नाम पद के विषय में निरुक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी का कथन है— सत्वं द्रव्यं लिङ्गसंख्यायुक्तं वस्तु। इसका तात्पर्य है कि लिङ्ग और वचन की सत्ता जिस पर निर्भर है अर्थात् लिङ्ग और वचन जिसका अनुगमन करते हैं, वह सत्त्व वा द्रव्य कहलाता है। कोई भी द्रव्य नामरूप ही होता है अथवा नाम का वाच्यरूप होता है और इस द्रव्य में ही क्रिया आश्रित होती है। 'सत्त्व' शब्द से निष्पन्न 'सत्वानः' पद का अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य १६.१८ में 'सत्त्वगुणबलोपेताः' तथा ऋग्वेद १.६४.२ में 'बलपराक्रम-प्राणिभूतगणाः' किया है। उधर 'सत्वा' का अर्थ ऋग्वेद ४.१३.२ में 'गन्ता' एवं ऋग्वेद ६.१८.२ में 'बलवान्' किया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'नाम' उन पदों की संज्ञा है, जो क्रिया, बल, पराक्रम, प्रकाश एवं गति आदि के आश्रय होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न छन्द रश्मियों में विद्यमान नाम संज्ञक पद ही वास्तव में उन छन्द रश्मियों के बल, गति, प्रकाश आदि गुणों एवं प्रभावों का मूल कारण होते हैं। महर्षि ऐतरेय महीदास ने भी ऐतरेय आरण्यक में लिखा है— 'नामानि दामानि' (ऐ.आ.२.१.६)। 'दाम' शब्द का अर्थ ऋषि दयानन्द ने 'दमनसाधनम्' (ऋ.१.१६२.८) किया है। इससे भी यही संकेत मिलता

है कि नाम संज्ञक पद ही छन्द रश्मियों में विद्यमान अन्य सभी पदों को नियन्त्रित करते हुए सम्पूर्ण रश्मि को प्रभावी बनाकर सृष्टि प्रक्रिया को सम्पादित करने का मुख्य हेतु होते हैं। यहाँ पाठक द्रव्य का अर्थ सम्पूर्ण रूप से वैशेषिक दर्शन का द्रव्य न समझें, क्योंकि वैशेषिक दर्शन में प्रयुक्त गुणवाची शब्द भी नाम संज्ञक पदों का ही रूप होते हैं।

तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे।
व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।
मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति।

जहाँ नाम और आख्यात दोनों ही विद्यमान हों, वहाँ किसकी प्रधानता होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि उस समय भाव अर्थात् क्रिया की प्रधानता होती है। उदाहरणतः 'इन्द्रो विश्वस्य राजति...' (यजुर्वेद ३६.८) इस वाक्य में 'इन्द्रः' एवं 'विश्वस्य' दोनों नाम संज्ञक पद हैं तथा 'राजति' आख्यात संज्ञक पद है। यहाँ इन्द्रतत्त्व के द्वारा सबके प्रकाशित होने की चर्चा की गई है। इस वाक्य का मुख्य तात्पर्य प्रकाश करना है, जिसे यहाँ इन्द्रतत्त्व कर रहा है। इस मन्त्रांश रूपी छन्द रश्मि के प्रभाव से सृष्टि में विद्युत् के द्वारा विभिन्न पदार्थ प्रकाशित होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि इस छन्द रश्मि का परिणाम किंवा कार्य 'प्रकाश होना' है। इस कारण इस वाक्य में क्रिया अर्थात् प्रकाश कर्म की प्रधानता है और इन्द्र उस प्रकाश का कारणरूप होकर गौण हो जाता है। अब यहाँ आख्यात पद को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि आरम्भ से अन्त तक होने वाली घटना को आख्यात के द्वारा कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि घटना के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक क्या घटना घट रही है, यह दर्शाने वाला पद आख्यात कहलाता है। यहाँ उदाहरण देकर दर्शाया गया है कि 'व्रजति' एवं 'पचति' ये दो आख्यात संज्ञक पद जाने और पकाने की घटना अथवा क्रिया का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक होना दर्शा रहे हैं। उपक्रम का अर्थ करते हुए आचार्य भगीरथ शास्त्री ने अपनी हिन्दी टीका में लिखा है—

आरम्भस्तस्मादारभ्यापवर्गपर्यन्तं यावदन्त्या क्रियेत्यर्थः।

इससे स्पष्ट है कि क्रिया के प्रारम्भ होने से लेकर अन्तिम परिणाम तक पहुँचने तक जो भी नाना अन्य क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं और वे सब क्रियाएँ मिलकर उस मुख्य

क्रिया का कारण बनती हैं, तब आख्यात के रूप में उन सभी लघु क्रियाओं का ग्रहण न करके उस मुख्य क्रिया को ही आख्यात के रूप में ग्रहण किया जाता है। उदाहरणतः गमन क्रिया के लिए अन्य छोटी-२ क्रियाएँ यथा- जूते पहनना, अश्वादि वाहन लेना किंवा पैदल चलने के लिए पैरों का ऊपर-नीचे उठाना, मार्ग में भोजनादि ग्रहण करना और यदि किसी मोटरवाहन के द्वारा जाना हो, तो उस वाहन को लेना, उसको चलाने के लिए नाना प्रकार की क्रियाएँ करना, उसमें ईंधन भरवाना आदि सभी लघु क्रियाएँ 'व्रजति' इस मुख्य क्रिया के ही अंग हैं, जो उसके अन्तर्गत ही समाहित हैं। इसी प्रकार 'पचति' क्रिया की अंगभूत अन्य लघु क्रियाओं को भी उसी में समाहित समझना चाहिए।

जब कोई भाव अर्थात् क्रिया मूर्त रूप लेकर सत्त्व अर्थात् द्रव्य की भाँति व्यवहार करने वाली हो जाती है, तब वह सत्त्व अर्थात् द्रव्य नामवाची हो जाती है। उदाहरणतः 'व्रज्या' एवं 'पक्तिः' इन शब्दों का अर्थ क्रमशः 'गमन' और 'पाचन' है। इन शब्दों के साथ लिङ्ग और वचन का भी उसी प्रकार व्यवहार होता है, जिस प्रकार 'नाम' रूप पदों के साथ व्यवहार होता है। इस प्रकार के पद जब किसी मन्त्ररूप छन्द रश्मि के अवयव होते हैं, उस समय ये पद उस-२ कर्म को समृद्ध करने में सहायक होते हैं अथवा इनका प्रभाव आख्यात पदों के प्रभाव के समान ही होता है, जिसे हम पूर्व में दर्शा चुके हैं।

अदः इति सत्त्वानामुपदेशः। गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। भवतीति भावस्य। आस्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति। इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः॥ १॥

विभिन्न सत्त्वों अर्थात् द्रव्यों का कथन 'अदः' इस सर्वनाम के द्वारा भी होता है। हमारे मत में यहाँ अदः से सभी सर्वनामवाची पदों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उन सभी पदों का अनुसरण लिङ्ग और वचन करते हैं। ये पद सभी प्रकार के पदार्थों के वाचक होते हैं, जबकि नामवाची शब्द किन्हीं पदार्थ विशेष के वाचक होते हैं। जैसे गौः, अश्वः, पुरुषः एवं हस्ती ये चारों नामवाची पद क्रमशः गाय, घोड़ा, पुरुष और हाथी एवं इन पदों के यौगिक अर्थ द्वारा ग्रहण किये गये अन्य कुछ पदार्थों के वाचक होते हैं। इनमें से कोई भी पद अथवा ये चारों पद मिलकर भी पदार्थ-मात्र के वाचक नहीं हो सकते। उधर किसी भी सर्वनाम पद से गौः, अश्वः, हस्ती, पुरुषः, अग्निः, वायुः, पृथ्वी आदि किसी का भी ग्रहण हो सकता है। इसी प्रकार 'भवति' पद भाव अर्थात् क्रिया का सामान्य रूप से कथन

है। इसका आशय यह है कि 'भवति' अर्थात् होता है/होती है, से किसी भी क्रिया का उपदेश हो सकता है। परन्तु आस्ते, शेते, व्रजति एवं तिष्ठति से क्रमशः बैठता है, लेटता है अथवा सोता है, जाता है एवं ठहरता है। इन चार विशिष्ट क्रियाओं का उपदेश है। सृष्टि प्रक्रिया के प्रसंग में इस प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि सर्वनामवाची पदों से सम्बन्धित जो भी संज्ञा शब्द हैं, उन-उनके वाच्यरूप पदार्थ समृद्ध होते हैं। उधर कोई संज्ञावाची पद केवल उसके वाच्य पदार्थ को ही समृद्ध करता है, जैसे किसी भी ऋचा में 'इन्द्र' पद केवल इन्द्र अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् को ही समृद्ध करता है, तो 'अग्नि' पद केवल अग्नि अर्थात् ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत् आदि को ही समृद्ध करेगा, इसी प्रकार क्रियावाची पदों की वैज्ञानिकता पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

यहाँ महर्षि उदुम्बर के पौत्र अथवा अनुयायी औदुम्बरायण का मत प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि वचन अर्थात् शब्द अर्थात् नाम, आख्यात, निपात एवं उपसर्ग सभी पद इन्द्रिय-नित्य होते हैं अर्थात् इन्द्रिय में ठहरे हुए किंवा उसमें निरन्तर उद्भूत होते रहते हैं। यहाँ इन्द्रिय-नित्य पद के विषय में कोई व्याख्यान नहीं है। इस विषय को लेकर अगले खण्ड में चर्चा की जाएगी। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के मत के अनुसार 'इन्द्रियनित्यं वचनम्' यह महर्षि औदुम्बरायण का कथन नहीं है, बल्कि उनके किसी कथन का भाव है। यदि अक्षरशः उनका कथन होता, तब 'इन्द्रियनित्यं वचनमित्यौ-दुम्बरायणः' ऐसा पाठ होता। हमें यह कथन उचित ही प्रतीत होता है, फिर भी यह मत तो औदुम्बरायण ऋषि का सिद्ध होता ही है।

* * * * *

= द्वितीयः खण्डः =

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यतेऽयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च।

पूर्व में जो महर्षि औदुम्बरायण का मत दर्शाया गया है, उसका प्रायः यह अर्थ ग्रहण किया गया है कि शब्द (वचन) इन्द्रिय में उच्चारण या श्रवण क्रिया मात्र तक ठहरा

हुआ अर्थात् विद्यमान होता है, उसके पश्चात् शब्द नष्ट हो जाता है। इस कारण वे पदों के विभाग की प्रक्रिया पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए कहते हैं कि जब शब्द अनित्य हैं, तब उनका चार प्रकार का विभाग नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात नहीं हो सकता किंवा यह विभाग निरर्थक है। कैसे निरर्थक है? यह बतलाते हुए कहते हैं कि शब्द साथ-२ उत्पन्न ही नहीं होते, तब उनका परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जब हम एक शब्द का उच्चारण करते हैं, तब दूसरे शब्द का अस्तित्व ही नहीं होता और जब दूसरा शब्द उच्चारण करते हैं, तब पूर्व उच्चरित शब्द का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उन दोनों शब्दों का परस्पर सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है? इस कारण पदों के प्रधान अथवा गौण होने की बात निरर्थक ही है।

इसी प्रकार व्याकरण शास्त्र में विभिन्न पदों का जो योग दर्शाया जाता है, वह भी असंगत वा निरर्थक प्रतीत होता है। उदाहरणतः उपसर्ग का धातु के साथ और धातु का प्रत्यय के साथ मेल निरर्थक है, क्योंकि जब उपसर्ग का उच्चारण किया जाता है, तब धातु एवं प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो पाते और जब धातु का उच्चारण किया जाता है, तब तक उपसर्ग नष्ट हो जाता है तथा प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो पाता। इसी प्रकार प्रत्यय के उच्चारण के समय धातु एवं उपसर्ग नष्ट हो चुके होते हैं। ऐसी स्थिति में यह शब्दशास्त्र निरर्थक सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार हम सृष्टि विज्ञान को दृष्टिगत रखकर भी विचार कर सकते हैं। इन सभी आशंकाओं के रहते अर्थात् शब्द व वर्ण के अनित्य होने पर छन्द रश्मियों का स्वरूप ही नहीं बन सकता, क्योंकि एक वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ और एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ सम्बन्ध ही नहीं बन पाएगा। वैसी स्थिति में सभी पदों का परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? ऐसी स्थिति में वैदिक ऋचाओं अर्थात् छन्द रश्मियों का अस्तित्व ही असिद्ध हो जायेगा।

व्याप्तिमत्त्वात् तु शब्दस्य।

इन सभी आशंकाओं को निर्मूल करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं कि शब्द व्याप्तिमान् अर्थात् नित्य होता है, इस कारण शब्द को अनित्य मानकर जितनी भी आशंकाएँ प्रस्तुत की गई हैं, वे सभी निर्मूल हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शब्द किसमें व्याप्त रहता है? इस विषय में हमारा मत यह है कि 'इन्द्रियनित्यं वचनम्' इस वचन में

'इन्द्रिय' पद से न केवल वाक् वा श्रोत्र इन्द्रिय का ही ग्रहण होता है, अपितु इससे अन्य पदार्थों का भी ग्रहण होता है। इसकी पुष्टि में हम कुछ प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

इन्द्रियमिन्द्रः (मै.सं.४.७.३), इन्द्रियꣳ वा इन्द्रः (मै.सं.४.२.१०, ४.३.८), इन्द्रियं वा इन्द्रः (काठ.सं.२९.१), मन ऽएवेन्द्रः (श.ब्रा.१२.९.१.१३), स यस्स आकाश इन्द्र एव सः (जै.उ.१.२८.२), इन्द्रियस्वामिन् जीव (म.द.यजु.भा.२१.५७)।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि इन्द्रिय पद का अर्थ यहाँ इन्द्र भी है और इन्द्र का अर्थ आकाश, मन एवं आत्मा भी है। शब्द के नित्यत्व के विषय में ऋषि दयानन्द सरस्वती ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में लिखते हैं—

"शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उच्चारण क्रिया नहीं होती, तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते। जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं, तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं।"

इसके साथ ही ऋषि दयानन्द अनेक ऋषियों को उद्धृत करते हुए शब्द की नित्यता को सिद्ध करते हैं, देखें— वेदनित्यत्व विषय, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका। वस्तुतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वैदिक छन्द रश्मियों से ही निर्मित है। आकाश तत्त्व याजुषी छन्द रश्मियों एवं सूत्रात्मा वायु आदि रश्मियों से निर्मित होता है और उसमें बड़ी-२ छन्द रश्मियाँ व्याप्त रहती हैं। इसी बात को आकाश में शब्दों का एकरस होना कहा है। इस विज्ञान को जानने के लिए मद्रचित 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पढ़ें। इस कारण सभी वैदिक पदों की नित्य आकाश में व्याप्ति मानी गई है। आकाश में इन शब्दों की व्याप्ति परमपिता परमात्मा द्वारा की जाती है, इस विषय को भी 'वेदविज्ञान-आलोकः' द्वारा समझा जा सकता है। जब हम किसी पद का उच्चारण करते हैं, तब उस उच्चारण के क्रियाविज्ञान को समझाते हुए ऋषि दयानन्द पाणिनि मुनि कृत वर्णोच्चारण शिक्षा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्॥

अर्थात् जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता, विद्युत् रूप जठराग्नि को ताड़ता, वह वायु को प्रेरणा करता और वायु उरःस्थान में विचरता

हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है।

यहाँ आत्मा का बुद्धि के साथ अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा करना और फिर मन को उससे युक्त करना इस बात का सूचक है कि पदों की परा अवस्था जीवात्मा के संकल्प से स्वयं प्रकट होती है। वस्तुतः उच्चारण क्रिया का कर्त्ता जीवात्मा ही होता है, इन्द्रियाँ तो साधनमात्र हैं। जीवात्मा मन को जिन पदों को बोलने के लिए युक्त करता है, वे पद परा वाणी के रूप में जीवात्मा के संकल्प के साथ ही प्रकटमात्र होते हैं। शब्दों की व्याप्ति परा अवस्था में प्रकृति में, पश्यन्ती रूप में मनस्तत्त्व में एवं मध्यमा रूप में आकाश में होती है। आत्मा जिन पदों को परावस्था के रूप में प्रकृति से ग्रहण करता है, हमारा मन उन्हीं पदों को पश्यन्ती में परिवर्तित कर देता है। इन्द्रियाँ उन्हीं पदों को मध्यमा रूप में परिवर्तित कर देती हैं। यहाँ शब्द के उच्चारण और श्रवण की प्रक्रिया अनित्य है, किन्तु शब्द अनित्य नहीं है। इस कारण शब्दों का परस्पर सम्बन्ध और उनके चारों प्रकार के पूर्वोक्त विभागों की बात करना असंगत नहीं है, बल्कि पूर्ण सुसंगत है। इस प्रकार शब्द को अनित्य मानकर जो आशंकाएँ प्रस्तुत की गई थीं, वे सभी निर्मूल सिद्ध होती हैं। शब्दों के विभाग और सम्बन्ध यदि न रहें, तब विभिन्न छन्द रश्मियों की उत्पत्ति और उनके स्वरूप की सिद्धि नहीं हो पायेगी और इसके बिना सृष्टि की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती।

अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

शब्द के विषय में पुनः महर्षि यास्क कहते हैं कि शब्द बहुत सूक्ष्म होता है, इस कारण वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होता है। वैदिक छन्द रश्मियों के विभिन्न पद, जो सूक्ष्म कम्पन का रूप होते हैं, उनका आकार वर्तमान में ज्ञात किसी भी सूक्ष्मतम नाप से कम होता है। वर्तमान भौतिक विज्ञान जिस प्लांक लम्बाई की बात करता है और जिस स्तर पर भौतिकी के सभी नियमों के निष्प्रभावी होने की बात स्वीकार करता है, शब्द उससे भी सूक्ष्म होता है, ऐसा हमारा मत है। यह बात हम वैदिक छन्द रश्मियों के सन्दर्भ में कह रहे हैं। शब्द इस सृष्टि में दो प्रकार के कार्य करता है—

१. संज्ञाकरण— अर्थात् विभिन्न पदों के पारस्परिक व्यवहार के लिए उन्हें नाम प्रदान करना। शब्दों के द्वारा विभिन्न पदार्थों को सम्बोधित करने के बिना लोकव्यवहार चलाना

दुष्कर कार्य है। शब्दों के द्वारा संज्ञाकरण नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात इन चारों रूपों में होता है, इस कारण पदों के ये चार रूप स्वीकार किए गए हैं। इन चारों रूपों से निष्पन्न विभिन्न शब्द स्वयं ही अपने स्वरूप का सम्यक् रूप से बोध कराते हैं। वैदिक एवं संस्कृत भाषा के पदों की यह महती विशेषता है कि वे अपने वाच्यरूप पदार्थ के स्वरूप का स्वयं ही सम्पूर्ण बोध करा देते हैं। लोक में भी विभिन्न शब्दों द्वारा नाना प्रकार के व्यवहारों का करना सहज होता है। लोक की अन्य भाषाओं में शब्दों का व्यवहार मूलतः वैदिक शब्दों से ही आया है।

२. दैविक व्यवहार— (लोकाः = छन्दांसि वै सर्वे लोकाः) ब्रह्माण्ड में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों का जो परस्पर व्यवहार हुआ करता है, वह उन छन्द रश्मियों के अन्दर विद्यमान विभिन्न शब्दरूपी रश्मि-अवयवों के कारण ही होता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के प्रत्येक सूक्ष्म से लेकर स्थूलतम पदार्थ तक सभी अपने सम्पूर्ण व्यवहार को शब्द रश्मियों द्वारा ही सम्पन्न करते हैं। इन शब्दों के चार प्रकार के रूप भी अपना-२ व्यवहार सर्वत्र ही दर्शाते हैं।

तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्।

उपर्युक्त प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए महर्षि लिखते हैं कि जिस प्रकार से मनुष्यों में शब्द का व्यवहार होता है, उसी प्रकार से इस सृष्टि में सभी जड़ देव पदार्थों में शब्द का व्यवहार होता है। वस्तुतः शब्द की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा सृष्टि आरम्भ करते समय मूल पदार्थ प्रकृति में ही 'ओम्' की परा अवस्था में होती है, अन्य अवस्थाओं में 'ओम्' तथा अन्य वैदिक पदों की उत्पत्ति मनस्तत्त्व से प्रारम्भ होकर लोक-लोकान्तरों तक में हुई व होती रहती है। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इन शब्दरूप तरंगों के द्वारा विभिन्न छन्द रश्मियाँ और उन छन्द रश्मियों के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस सृष्टि में जो-जो पदार्थ जब-जब उत्पन्न होता है, तब-तब उस पदार्थ में उसके वाचक शब्दों की उत्पत्ति हो रही होती है। इसी बात को तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने इस प्रकार कहा है—

स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत (तै.ब्रा.२.२.४.२)
प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत् स इमाम् असृजत (जै.ब्रा.१.१०१)

इसका आशय यह है कि जब पृथ्वी तत्त्व के अणु एवं विभिन्न ग्रहों एवं उपग्रहों आदि लोकों की उत्पत्ति हो रही थी, उस समय 'भूः' पद इस ब्रह्माण्ड में पश्यन्ती व मध्यमा अवस्था में प्रधानता से प्रकट हो रहा था। इसके साथ ही जिन छन्द रश्मियों की प्रधानता में इन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उनमें भी 'भूः' पद प्रचुर मात्रा में विद्यमान होता है। अन्यत्र भी कहा है—

स्वरिति सामभ्योऽक्षरत् स स्वर्गो लोकोऽभवत् (ष.१.५)

इसका आशय है कि सामरूप छन्द आदि रश्मियों से जो सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति होती है, उनमें 'स्वः' रश्मियाँ प्रधानता से उत्सर्जित होती रहती हैं किंवा विद्यमान रहती हैं।

इसी प्रकार सभी पदार्थों की उत्पत्ति को समझना चाहिए। ऐसा कभी भी सम्भव नहीं हो सकता कि सृष्टि की उत्पत्ति-प्रक्रिया में किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति की कारणरूप छन्द रश्मियों में उस पदार्थ के वाचक पदों की विद्यमानता न हो। यह भी उल्लेखनीय है कि जिस-२ शब्द का जो-२ अर्थ होता है, वही-२ अर्थ उसके वाच्य रूप पदार्थ के प्रभाव के रूप में प्रकट होता है। इस बात की पुष्टि स्वयं वेद के द्वारा भी होती है—

देवीं वाचमजनयन्त देवाः (ऋ.८.१००.११)

अर्थात् सृष्टि में देव पदार्थ विभिन्न शब्दों को उत्पन्न करते हैं। ध्यातव्य है कि जिस प्रकार मनुष्यों में बोली जाने वाली वाणी के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार रूप होते हैं, उसी प्रकार वैदिकी वाक् में भी वे रूप विद्यमान होते हैं। वस्तुतः वैदिकी वाक् से ही वाणी के ये रूप मनुष्यों की वाणी में आये हैं।

पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

पुरुष-विद्या अर्थात् जो ज्ञान किसी भी पुरुष (मनुष्य) द्वारा प्राप्त किया जा सके, वह ज्ञान अनित्य होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य की बुद्धि से अर्जित ज्ञान सदैव अपूर्ण और सीमित होता है। उस ज्ञान में एकरसता भी नहीं हो सकती, बल्कि मनुष्य का ज्ञान वृद्धि, ह्रास आदि लक्षणों से युक्त होता है। इसका कारण यह है कि जीव सदैव अल्पज्ञ ही होता है, इस कारण समय-२ पर उपलब्ध हो सकने वाले नाना निमित्त कारणों

से उसके ज्ञान में परिवर्तन आता रहता है। यही कारण है कि न केवल विविध योनियों, अपितु मनुष्य योनि में भी सभी मनुष्यों के ज्ञान का स्तर समान नहीं होता। इतना ही नहीं, बल्कि एक ही मनुष्य का ज्ञान सम्पूर्ण जीवनभर समान नहीं रहता। इस कारण पुरुष के कर्म भी अनित्य और सीमित होते हैं और वे कर्म भी स्वयं के ज्ञान द्वारा निरापद रूप से सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसलिए मनुष्य जाति के लिए आवश्यक सभी प्रकार के ज्ञान और कर्म की सम्पन्नता अर्थात् सम्पूर्णता वेद में ही है, क्योंकि वेद ईश्वर-प्रसूत ज्ञान है। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने से उसका ज्ञान और कर्म भी सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होने के साथ-२ पूर्ण भी होते हैं। इस पूर्ण और नित्य ज्ञान से ही मनुष्यों को कर्म और ज्ञान की प्रेरणा होती है। इसी कारण भगवान् मनु ने कहा है—

वेदश्चक्षुः सनातनम् (मनु.१२.९४)
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति। (मनु.१२.९७)

अर्थात् वेद सम्पूर्ण मानव जाति के लिए ज्ञान-प्रकाश का सनातन कारण है। इसके बिना मनुष्य में ज्ञान व भाषा दोनों की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। चारों वर्णों और चारों आश्रमों के कर्त्तव्य कर्म एवं ब्रह्माण्ड में विद्यमान तीनों प्रकार के लोकों की प्रसिद्धि वेद से ही होती है। इसका तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के धर्म और कर्त्तव्यों के ज्ञान का स्रोत वेद ही है और वेद मन्त्रों से ही ब्रह्माण्ड में सभी लोक उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक सभी पदार्थ वेद मन्त्रों से ही उत्पन्न होते, संचालित होते एवं नाना प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। बिना वेद रूपी कम्पनों के ब्रह्माण्ड का कोई भी कर्म प्रसिद्ध नहीं हो सकता।

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः।
जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।

यहाँ ग्रन्थकार वार्ष्यायणि महर्षि के मत को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि क्रियावाची पद छः विकार वाले होते हैं अर्थात् छः प्रकार के क्रियापदों में सभी क्रियापद समाहित हो जाते हैं। ये छः विकार हैं—

१. 'जायते' अर्थात् उत्पन्न होता है।
२. 'अस्ति' अर्थात् है।
३. 'विपरिणमते' अर्थात् परिवर्तन को प्राप्त होता है।
४. 'वर्द्धते' अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता है।
५. 'अपक्षीयते' अर्थात् ह्रास को प्राप्त होता है।
६. 'विनश्यति' अर्थात् नष्ट होता है।

इन सभी छः क्रियाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्माण्ड की सभी प्रकार की क्रियाएँ इन छः क्रियाओं में समाहित हो जाती हैं। ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है और वर्तमान में भी विद्यमान है। इसके प्रत्येक भाग में निरन्तर परिवर्तन आ रहा है। ब्रह्माण्ड के मूल पदार्थ में न सही, परन्तु कार्यरूप पदार्थों में घटना-बढ़ना सदैव होता रहता है। कोई एक पदार्थ घटता है, तो दूसरा बढ़ता है। यह प्रक्रिया अनवरत सर्वत्र होती रहती है और अन्त में सभी कार्यरूप पदार्थ नष्ट अर्थात् अपने कारण रूप पदार्थ में विलीन हो जाते हैं। हम इस ब्रह्माण्ड पर सूक्ष्म दृष्टि डालें, तो विदित होता है कि ईश्वर व जीव इन दो पदार्थों के चेतन होने के कारण इनमें ये छः भावविकार वर्तमान नहीं होते। चेतन पदार्थ में इनमें से केवल 'अस्ति' क्रिया ही वर्तमान होती है, इसके अतिरिक्त अन्य पाँच क्रियाओं का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है और न हो सकता है।

उधर इस सृष्टि के किसी भी कार्यरूप पदार्थ में ये सभी छः क्रियाएँ अवश्य ही देखी जाती हैं। हाँ, जड़ प्रकृति पदार्थ में 'अस्ति' व 'विपरिणमते' इन दो क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य चारों क्रियाओं का होना प्रायः सम्भव नहीं। 'वर्धते' एवं 'अपक्षीयते' पर यह दृष्टिकोण हो सकता है कि प्रकृति का कुछ भाग सृष्टि बनाने में काम आने से पुनः प्रलय में सृष्टि के पदार्थों का प्रकृति के रूप में परिवर्तित हो जाने से प्रकृतिरूपी मूल पदार्थ में घटना-बढ़ना जैसे व्यवहारों को स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु इसकी उत्पत्ति व विनाश का होना सम्भव नहीं है। वास्तव में यह भी प्रकृति का घटना-बढ़ना नहीं है, बल्कि यह केवल परिवर्तन मात्र है।

जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे। नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्।

विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद् विकारम्। वर्धत इति वाङ्गाभ्युच्चयम्, सांयौगिकानां वार्थानाम्। वर्धते विजयेनेति वा। वर्धते शरीरेणेति वा। अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे। न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति॥ २॥

'जायते' यह क्रिया पूर्व-भाव अर्थात् प्रारम्भिक क्रिया के प्रारम्भ होने को कहती है। यह अग्रिम क्रिया के बारे में न तो कहती है और न उसका निषेध करती है। जैसे 'अग्निर्जायते' का अर्थ है— अग्नि उत्पन्न होता है। यहाँ 'जायते' क्रिया अग्नि के उत्पन्न होने से पूर्व विद्यमान नहीं थी और न इस क्रिया के उत्पन्न होने से पूर्व अग्नि विद्यमान था। इस कारण यह क्रिया अग्नि की सबसे प्रथम क्रिया है। इस क्रिया के प्रारम्भ होते ही अग्नि का भी प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि यह 'जायते' क्रिया अगली किसी भी क्रिया के बारे में सर्वथा मौन है, यह न तो आगामी किसी भी क्रिया के उत्पन्न होने और न ही उसके अस्तित्व में होने अथवा उसके निषेध की बात करती है। इस उदाहरण में अग्नि उत्पन्न होकर क्या करता है अथवा क्या नहीं करता है अथवा नष्ट हो जाता है अथवा अस्तित्व में बना ही रहता है, इन सभी विषयों में 'जायते' क्रिया सर्वथा मौन रहती है।

अब 'अस्ति' क्रिया पर महर्षि लिखते हैं कि यह क्रिया उत्पन्न हुए किसी पदार्थ की स्थिति को कहती है अर्थात् उत्पन्न हुआ पदार्थ 'अस्ति' क्रिया के उत्पन्न होते समय वर्तमान है अर्थात् उसका अस्तित्व है, ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान कराती है। इस क्रिया से उस पदार्थ, जिससे कि इस क्रिया का सम्बन्ध है, के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं रहता। यह क्रिया भी इस पदार्थ की अगली किन्हीं क्रियाओं के विषय में कुछ नहीं कहती, परन्तु यह 'जायते' क्रिया, जिसका सम्बन्ध किसी भी अनित्य पदार्थ से है, के विषय में इतना अवश्य बतलाती है कि 'जायते' क्रिया सम्पन्न हो चुकी है। उदाहरणतः 'इयं पृथिवी अस्ति', यहाँ 'अस्ति' क्रिया पृथिवी के अस्तित्व का निश्चयात्मक बोध कराती है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली पृथिवी है। इसमें किसी भी दर्शक को कोई सन्देह नहीं हो सकता। यहाँ 'अस्ति' क्रिया यह अवश्य बता रही है कि पृथिवी इस क्रिया से पूर्व अवश्य उत्पन्न हुई थी अर्थात् 'अस्ति' क्रिया से पूर्व 'जायते' क्रिया अवश्य सम्पन्न हो चुकी थी, परन्तु यह पृथिवी

भविष्य में क्या क्रिया करेगी, सदैव वर्तमान रहेगी अथवा नष्ट हो जाएगी अथवा नाना परिवर्तनों से गुजरेगी, इन सबके विषय में 'अस्ति' क्रिया कोई प्रकाश नहीं डालती।

'विपरिणमते' क्रिया की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह क्रिया किसी तत्त्व के तत्त्वपन को बनाए रखते हुए उसमें किसी परिवर्तन को दर्शाती है। उदाहरण के लिए वायु तत्त्व विकार को प्राप्त होकर जब अग्नि में परिवर्तित होता है अर्थात् वायु विपरिणाम को प्राप्त होकर अग्नि पुनः जल, पुनः पृथिवी आदि में परिवर्तित होता है, उस समय वायु तत्त्व का तत्त्वपन किंवा द्रव्यपन नष्ट नहीं होता। जो भी परिवर्तन होते हैं, वे द्रव्यपन अथवा तत्त्वपन की परिधि में ही होते हैं। यह 'विपरिणमते' क्रिया केवल परिवर्तन की बात करती है, परिवर्तित होकर पदार्थ क्या करता है, बढ़ता है अथवा घटता है अथवा नष्ट होता है, ऐसी किसी भी क्रिया के विषय में 'विपरिणमते' क्रिया मौन रहती है। हाँ, यह क्रिया इससे पूर्व सम्पन्न वा वर्तमान हुई दो क्रियाओं 'जायते' एवं 'अस्ति' के अस्तित्व को अवश्य दर्शाती है, क्योंकि इन दोनों क्रियाओं के पूर्व में न होने से 'विपरिणमते' क्रिया का अस्तित्व ही नहीं होगा।

अब 'वर्धते' क्रिया की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह क्रिया किसी पदार्थ के अपने अंगों में वृद्धि की बात करती है अथवा उस पदार्थ के साथ संयुक्त वा सम्पर्क में विद्यमान पदार्थों की वृद्धि को दर्शाती है। ग्रन्थकार इसका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि कोई व्यक्ति अपनी विजय के द्वारा प्राप्त धन, धान्य, सम्पत्ति व यश आदि के द्वारा लोक में वृद्धि को प्राप्त होता है अथवा आयु वा पौष्टिक आहार एवं पुरुषार्थ के द्वारा शरीर के अंगों की वृद्धि को प्राप्त होता है। यहाँ शरीर की वृद्धि, उसके अंगों की वृद्धि का रूप है एवं किसी राजा के द्वारा अपनी विजय से प्राप्त धन, यश वा सम्पत्ति उसके संयोग से वर्तमान अर्थात् उसके निकटवर्ती प्राप्त संसाधनों की वृद्धि के द्वारा उस राजा की वृद्धि का रूप है। यहाँ 'वर्धते' क्रिया पूर्व में दर्शाई क्रियाओं यथा- 'जायते', 'अस्ति', 'विपरिणमते' आदि का परोक्ष कथन करती है, क्योंकि यदि कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होगा, उसका निश्चयात्मक अस्तित्व नहीं होगा अथवा उसमें परिवर्तन नहीं होगा, तो वृद्धि कैसे हो सकती है? परन्तु यह 'वर्धते' क्रिया आगामी दो क्रियाओं जैसे- क्षीण होना वा नष्ट होना आदि क्रियाओं के बारे में मौन है।

यहाँ 'अपक्षीयते' क्रिया की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह इस उपर्युक्त 'वर्धते' क्रिया से विपरीत व्याख्यात हो जाती है। जैसे 'वर्धते' क्रिया में पदार्थ के अंगों तथा उसके निकट वर्तमान अर्थात् संयोगी पदार्थों की वृद्धि के साथ-२ उस पदार्थ की भी वृद्धि मानी जाती है, उसी प्रकार 'अपक्षीयते' क्रिया में पदार्थ के अंगों और उसके संयोगी वा निकटवर्ती पदार्थों के क्षय से उस पदार्थ का भी क्षय कहा जाता है। यहाँ भी पूर्ववत् इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि 'अपक्षीयते' क्रिया में पूर्ववर्ती 'जायते', 'अस्ति', 'विपरिणमते' का तो परोक्ष कथन है, परन्तु अग्रिम 'विनश्यति' क्रिया के विषय में यह क्रिया मौन है। कोई पदार्थ क्षय को प्राप्त होकर पूर्ण विनष्ट होगा अथवा नहीं होगा, इस विषय में 'अपक्षीयते' क्रिया कुछ भी संकेत नहीं कर सकती। जबकि क्षीण होने वाला पदार्थ उत्पन्न भी होता है, वर्तमान भी रहता है और परिवर्तन को भी प्राप्त होता है।

अन्त में 'विनश्यति' क्रिया के विषय में लिखते हैं कि यह क्रिया अन्तिम क्रिया के प्रारम्भ को दर्शाती है। यह क्रिया पूर्व क्रियाओं के विषय में मौन रहती है अर्थात् पूर्व में पदार्थ में कौन-२ सी क्रियाएँ हुईं, इसका न तो वर्णन करती है और न निषेध ही करती है। हमारे मत में यह क्रिया 'जायते' एवं 'अस्ति' का परोक्ष संकेत तो करती है, क्योंकि जिस पदार्थ की सत्ता ही न हो, उसके विनाश की बात कैसे कही जा सकती है और जो वस्तु उत्पन्न ही नहीं हुई हो, उसके वर्तमान रहने और नष्ट होने की चर्चा भी निरर्थक ही है। हाँ, अन्य क्रियाओं जैसे— 'विपरिणमते', 'वर्धते' एवं 'अपक्षीयते' का 'विनश्यति' क्रिया से ऐसा साक्षात् सम्बन्ध अनिवार्य नहीं माना जा सकता है। इसी कारण ग्रन्थकार ने 'विनश्यति' क्रिया को इन क्रियाओं के विषय में मौन कहा है, ऐसा मानना चाहिए।

विशेष ज्ञातव्य— क्रिया के इन विकारों में महर्षि ने सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। इन क्रियाओं का क्रम पूर्ण व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है। इस सृष्टि पर विचार करने से यह बात सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती है। सृष्टि का प्रत्येक अनित्य पदार्थ सर्वप्रथम उत्पन्न होता है और उसकी उत्पत्ति से ही उसका अस्तित्व प्रकट होता है। वह पदार्थ जिस रूप में उत्पन्न हुआ या होता है, सदैव उसी रूप में वर्तमान नहीं रहता, बल्कि अदृश्य चेतन शक्ति के द्वारा उसमें एक बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था के अनुकूल परिवर्तन होने लगता है। स्मरण रहे कि यह परिवर्तन किसी जड़ वस्तु में स्वतः नहीं हो सकता, बल्कि किसी चेतन शक्ति के द्वारा ही सम्भव हो पाता है। परिवर्तन की इस क्रिया के अनेक रूप हो सकते हैं। इसी

कारण पदार्थ की विभिन्न अवस्थाएँ हो सकती हैं। इन अवस्थाओं में दो प्रकार की क्रियाएँ विशेष रूप से प्रकट होती हैं, वे हैं— वृद्धि होना एवं ह्रास होना।

इस सृष्टि में जब किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है, तब सर्वप्रथम गति अथवा कोई क्रिया मन्द रूप में ही प्रारम्भ होती है, न कि तीव्र एवं विस्फोटक रूप में। वर्तमान विज्ञान एक कल्पित बिग-बैंग से समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति मानता है, वह उचित नहीं है। वैदिक एवं आर्ष दृष्टि के अनुसार यह सृष्टि बहुत हल्की हलचल से उत्पन्न होकर प्रारम्भ होती है। हमारे ग्रन्थ 'वेदविज्ञान-आलोकः' के अनुसार प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति की प्रारम्भ की कुछ क्रियाएँ तीव्र गति से होती बताई गई हैं, लेकिन उसका भाव यह नहीं है कि वे क्रियाएँ किसी तीव्र विक्षोभ को उत्पन्न करती हैं। वहाँ इसका अभिप्राय केवल यह है कि वे क्रियाएँ एक साथ व्यापक स्तर पर हल्की हलचल को शीघ्रतापूर्वक प्रकट करती हैं। उनका बल भले ही लगभग अनन्त क्षेत्र में अकस्मात् क्रियाशील हो उठता है, परन्तु वह बल मन्द ही होता है। इसके पश्चात् वह बल निरन्तर बढ़ते हुए नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करता है। इस प्रत्यक्ष जगत् में भी हम सर्वत्र इसी प्रकार की स्थिति देखते हैं। कोई भी वनस्पति अथवा प्राणी अपने सूक्ष्म बीजरूप से बढ़ते-२ विशाल आकार वा शरीर को प्राप्त कर लेता है। मनुष्य के बनाए हुए यन्त्रों एवं ईश्वर निर्मित प्राणियों और वनस्पतियों में यही भेद है कि मनुष्यकृत कोई यन्त्र जब बनकर तैयार हो जाता है, तब वह प्रायः पूर्ण विकसित और सक्रिय अवस्था में होता है। इसके पश्चात् वह धीरे-२ जीर्ण होता जाता है। परन्तु ईश्वरीय रचना सर्वप्रथम वृद्धि को प्राप्त होते रहकर पूर्ण विकास को प्राप्त करती है, फिर धीरे-२ क्षीण होने लगती है। इसी कारण यहाँ महर्षि ने 'विपरिणमते' क्रिया के पश्चात् 'वर्धते' क्रिया का ग्रहण किया है।

यदि कोई पाठक यह शंका करे कि सूक्ष्म मूलकणों और तरंगाणुओं (क्वाण्टा) अथवा तारे आदि लोकों के स्तर पर यह धारणा उचित नहीं है। ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि सभी कणों अथवा लोकों की उत्पत्ति का प्रारम्भ एक सूक्ष्म रूप बिन्दु से ही होता है, जो बढ़ते-२ नाना प्रकार के चरणों के सम्पन्न होने के पश्चात् ही कण, तरंगाणु अथवा किसी लोक का रूप धारण कर पाता है। ग्रन्थकार ने पदार्थ की वृद्धि भी पूर्वोक्त दो प्रकार से बताई है, इसे हम इस ब्रह्माण्ड में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। कोई भी कण अथवा लोक जैसे-२ विकसित होता है, वैसे-२ न केवल वह अपने आकार को समृद्ध करता है,

अपितु उसके साथ अन्योन्य क्रिया करने वाले कणों अथवा लोकों की संख्या में भी वृद्धि होती है, यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है। इस सृष्टि में कोई भी पदार्थ सहसा ही पूर्ण विकसित रूप में प्रकट नहीं हो सकता। इसके साथ ही यह भी अनिवार्य है कि सभी पदार्थ अपने विकसित रूप को सदैव बनाए नहीं रह सकते, वे पूर्ण विकसित होने के पश्चात् धीरे-२ क्षीण होने लगते हैं। इसी कारण 'वर्धते' क्रिया के पश्चात् 'अपक्षीयते' क्रिया का उल्लेख किया गया है, जो सर्वथा यथार्थ और वैज्ञानिक है। यह क्रिया भी 'वर्धते' की भाँति दो स्तरों पर होती है, जो इस ब्रह्माण्ड में भी देखी जा सकती है। इसके पश्चात् अन्त में 'विनश्यति' क्रिया का क्रम आता है। 'अपक्षीयते' क्रिया का अन्त सर्वत्र ही 'विनश्यति' क्रिया के रूप में ही होता है और 'विनश्यति' क्रिया किसी भी पदार्थ की अन्तिम क्रिया है। इस प्रकार भाव अर्थात् क्रिया के इन छः विकारों का क्रम पूर्णतः वैज्ञानिक और व्यवस्थित है।

* * * * *

तृतीयः खण्डः

अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह।
ते यथावचनमभ्यूहितव्याः।
न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुः —इति शाकटायनः।
नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।
उच्चावचाः पदार्था भवन्ति —इति गार्ग्यः।
तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।
आ इत्यर्वागर्थे। प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अभीत्याभिमुख्यम्।
प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति सु इत्यभिपूजितार्थे।
निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ।
उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकीभावम्। व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्।
अन्विति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उपेत्युपजनम्।

परीति सर्वतोभावम्। अधीत्युपरिभावम्। ऐश्वर्यं वा।
एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः। त उपेक्षितव्याः॥ ३॥

पूर्वोक्त छः भाव विकारों अर्थात् क्रियाओं को दर्शाने के पश्चात् महर्षि कहते हैं कि इन छः क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य जितनी क्रियाएँ अर्थात् भाव विकार विद्यमान हैं, वे सब पूर्वोक्त छः क्रियाओं के ही विकार हैं। यह कथन भी महर्षि वार्ष्यायणि का है। यहाँ 'वार्ष्यायणिः' पद की अनुवृत्ति माननी चाहिए। पूर्वोक्त छः विकार भी वार्ष्यायणि ऋषि ने ही दर्शाए हैं, जिन्हें महर्षि यास्क ने यहाँ उद्धृत किया है। जिस-२ मन्त्र में जैसे-२ भाव विकारों का प्रयोग हुआ हो, वैसे-२ उनको अपनी ऊहा के द्वारा जानने का प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरणतः 'स्वस्ति पन्थामनुचरेम...' ऋग्वेद ५.५१.१५ में 'अनुचरेम' क्रिया में 'अनु' पूर्वक 'चर्' धातु का प्रयोग है। यह 'चर्' धातु पूर्वोक्त छः भाव विकारों में कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं है। किन्तु विचार करने पर हम यह जान सकते हैं कि 'अनुचरेम' पद 'विपरिणमते' भाव विकार (क्रिया) के अन्दर समाहित है, क्योंकि किसी पदार्थ में कोई परिवर्तन तभी होता है, जब उसमें गति क्रिया उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त 'परिवर्तते' क्रियापद 'विपरिणमते' का ही पर्याय होने से उसी में समाहित है। इसी प्रकार 'सम्पद्यते' क्रिया 'जायते' भाव विकार में समाहित समझनी चाहिए। इसी प्रकार ऊहापूर्वक अन्य क्रियाओं के विषय में भी समझ सकते हैं।

उपसर्ग संज्ञक पद जब तक नाम और आख्यात संज्ञक पदों के साथ नहीं जुड़े होते, तब तक वे कोई भी अर्थ प्रकट नहीं कर सकते हैं, ऐसा मत महर्षि शाकटायन का है। उदाहरणतः 'अवगच्छति' पद का अर्थ है— 'समझता है'। यदि 'अव' उपसर्ग को 'गच्छति' पद से पृथक् कर दिया जाए, तो 'अव' उपसर्ग का कोई अर्थ नहीं रहेगा। इसी प्रकार 'प्रमोदः' पद का अर्थ 'प्रकृष्ट आनन्द व प्रसन्नता में रहने वाला' है, परन्तु 'मोदः' से 'प्र' उपसर्ग पृथक् करने पर 'प्र' उपसर्ग का कोई अर्थ नहीं रहेगा। शाकटायन ऋषि के इस मत को ग्रन्थकार ने यहाँ उद्धृत किया है।

इनके अनुसार ये उपसर्ग नाम और आख्यात के कर्म के साथ मिलकर ही नाम और आख्यात के विशेष अर्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं। टीकाकार दुर्ग ने यहाँ कर्म शब्द का अर्थ 'अर्थ' किया है, जो उचित ही है। इसका आशय

यह है कि जिन-जिन नाम और आख्यात का जो-२ कर्म होता है अर्थात् वे जिस-२ अर्थ को प्रकाशित करते हैं, वे नाम और आख्यात उपसर्ग के साथ जुड़कर उन-२ के अर्थों को विशेष अर्थात् पृथक् अर्थ में प्रकट करते हैं। किन्तु उपसर्गों का अपना पृथक् स्वयं कोई अर्थ नहीं होता, वे केवल नाम और आख्यात के अर्थों को परिवर्तित ही कर सकते हैं, ऐसा महर्षि शाकटायन का मत है। यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ 'अर्थ' ग्रहण करना एक गम्भीर विज्ञान का प्रतिपादक है, पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का ऐसा मानना उचित ही है। वे अपने भाष्य में लिखते हैं—

"कर्म शब्द अर्थ का द्योतक क्यों हुआ, इसमें गम्भीर सिद्धान्त है। सृष्टि उत्पत्ति के समय जो देव-कर्म हो रहे थे, उन्हीं से जो पदार्थ उत्पन्न हुए, वे उस कर्म का परिणाम-मात्र थे। यथा सूर्य के अश्व, द्युलोक में व्याप्ति के कर्म में उत्पन्न हुए थे। अतः वे अश्व व्याप्ति के बोधक हैं और क्योंकि लोक में होने वाला अश्व, जो पशुरूप है, मार्ग को व्याप्त करता है, अतः वह भी अश्व है।"

इन सबका आशय यह है कि विभिन्न प्रकार के प्राण और छन्द आदि रश्मियाँ इस सृष्टि में जो-२ भी क्रियाएँ करती हैं और उन-२ क्रियाओं से जो-२ पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उन-२ पदार्थों के वाचक पद उन पदार्थों को उत्पन्न करने वाली क्रियाओं के वाचक पदों के समान होते हैं। उदाहरणतः प्राण एवं छन्द आदि रश्मियाँ जब गति करती हैं और गति करते हुए उष्णता को उत्पन्न करती हैं, तब अग्नि तत्त्व को उत्पन्न हुआ कहा जाता है। आर्य विद्वान् आचार्य विश्वश्रवा व्यास ने 'ऋग्वेद महाभाष्यम्' में पृष्ठ २२३ पर अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति चार धातुओं से मानी है, जो इस प्रकार हैं—

१. अगि गत्यर्थः।
२. अञ्चु गतिपूजनयोः।
३. अग्र+णीञ् प्रापणे।
४. अग्र+इण् गतौ।

इन चारों धातुओं से अग्नि शब्द की सिद्धि उन्होंने निम्नानुसार दर्शायी है—

१. अगि+नि, अन्ग+नि, अग्+नि = अग्नि।
२. अञ्च+नि, अच्+नि, अग्+नि = अग्नि।

३. अञ्च+इ, अ न् च+इ, अ च् न्+इ, अग्+नि = अग्नि।
४. अग्र+णीञ्+क्विप्, अग्+नी, अग्+नि = अग्नि।
५. अग्र+इण्+क्विप्, अग्+र+इ, अग्+न्+इ = अग्नि।
६. अग्र+णीञ्+डि, अग्+नी, अग्+नि = अग्नि।

इन उपर्युक्त चारों धातुओं से निष्पन्न अग्नि शब्द का वाच्य अग्नि नामक पदार्थ चारों धातुओं के प्रभावों से निम्नानुसार संयुक्त रहता है—

१. अगि गत्यर्थः — इसके प्रभाव से विभिन्न प्राण व छन्द आदि रश्मियों रूपी देव मन्द गति से गमन करते हुए परस्पर एक-दूसरे के समीप आते हैं।

२. अञ्चु गतिपूजनयोः — (अञ्चु गतौ याचने अव्यक्ते शब्दे च -इति मे मतम्) इसके प्रभाव से विभिन्न प्राण व छन्द आदि रश्मियाँ हल्के आकर्षण बल से युक्त होकर एक-दूसरे से सम्बद्ध होने लगती हैं।

३. णीञ् प्रापणे — इसके प्रभाव से वे रश्मियाँ अन्य कुछ सूक्ष्म रश्मियों को अपने साथ ले जाती हुई धीरे-२ परस्पर संयुक्त होने लगती हैं।

४. इण् गतौ — इसके प्रभाव से ये रश्मियाँ परस्पर एक-दूसरे में व्याप्त वा मिश्रित होती हुई तीव्रता से गमन करती हैं।

इस प्रकार प्राण एवं छन्द आदि रश्मिरूप देवों के इन उपर्युक्त चार प्रकार के कर्मों के फलस्वरूप अग्नि नामक पदार्थ (वर्तमान भौतिकी के मूलकण वा क्वाण्टा) उत्पन्न होता है। यह शब्द-विज्ञान संसार की अन्य भाषा में कदापि नहीं हो सकता। अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया जानने हेतु मद्रचित 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है। इसको सरलता व संक्षेप से जानने हेतु प्रिय विशाल आर्य कृत 'परिचय वैदिक भौतिकी' पुस्तक पठनीय है।

महर्षि शाकटायन के मत के विपरीत महर्षि गार्ग्य के मत को उद्धृत करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं कि उपसर्ग संज्ञक पदों के स्वयं भी अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं। यहाँ ऋषि ने उच्च एवं अवच पदों का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ उच्च और निम्न होता है। इसका आशय यह है कि कुछ उपसर्ग संज्ञक पद उत्कृष्ट, तो कुछ निकृष्ट प्रभाव

उत्पन्न करने वाले होते हैं। इनकी उत्कृष्टता एवं निकृष्टता के भी अनेक स्तर होते हैं। इस प्रकार उपसर्ग संज्ञक पद अनेक प्रकार के अर्थों वाले होते हैं। इस कारण उपसर्ग नामक पद अपना स्वतन्त्र अर्थ भी रखते हैं, ऐसा महर्षि गार्ग्य का कथन है। इनका अपना स्वतन्त्र अर्थ होने के कारण ही जब ये नाम अथवा आख्यात के साथ संयुक्त होते हैं, तब उनके अर्थ को विकृत करके उन्हें नया अर्थ प्रदान करते हैं। यदि इनका स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता, तो ये नाम और आख्यात के अर्थों को प्रभावित नहीं कर सकते थे। उधर सृष्टि उत्पत्ति कर्म में उपसर्ग संज्ञक सूक्ष्म रश्मियाँ पहले स्वतन्त्र रूप से ही उत्पन्न होती हैं, उसके पश्चात् वे विभिन्न नाम व आख्यात पद रश्मियों के साथ संयुक्त होकर उनके स्वरूप को परिवर्तित कर देती हैं। उस परिवर्तन से नाम और आख्यात पद रूप रश्मियों का प्रभाव उत्कृष्ट भी हो सकता है और निकृष्ट भी हो सकता है। इस प्रकार ये प्रभाव अनेक स्तर के हो सकते हैं।

यहाँ पाठकों को यह शंका हो सकती है कि क्या महर्षि शाकटायन का कथन मिथ्या है? यदि हाँ, तो क्या ऋषियों का कथन मिथ्या भी हो सकता है? इसके उत्तर में हमारा मत है कि दोनों ऋषियों का कथन सत्य है तथा एक-दूसरे का पूरक है। महर्षि शाकटायन के कथन का आशय यही हो सकता है कि उपसर्ग संज्ञक पद रश्मियाँ यद्यपि स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं, पुनरपि वे नाम, आख्यात संज्ञक अन्य रश्मियों से संयुक्त हुए बिना अन्य पदार्थों को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इस कारण दोनों ऋषियों के कथन को एक-दूसरे के पूरक समझकर ही निर्वचन विद्या के यथार्थ विज्ञान को समझने का प्रयास करना चाहिए। अब आगे ऋषि विभिन्न उपसर्गों का पृथक्-२ अर्थ दर्शाते हुए लिखते हैं—

१. 'आ' यह उपसर्ग अर्वाक् अर्थ में प्रयुक्त होता है। अर्वाक् का तात्पर्य 'इधर' है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने स्कन्दस्वामी को उद्धृत करते हुए अर्वाक् शब्द का अर्थ सन्निकट भी दिया है। ऋषि दयानन्द ने इस उपसर्ग का प्रयोग 'समन्तात्' अर्थ में भी किया है। इस प्रकार 'आ' उपसर्ग रश्मियाँ किसी पदार्थ, जो उनसे संयुक्त होता है, के प्रभाव को सब ओर निकटता से दर्शाने में सहायक होती हैं।

२. + ३. 'प्र' एवं 'परा' ये दोनों उपसर्ग 'आ' उपसर्ग के विपरीत अर्थ को दर्शाते हैं। इस कारण इनका आधिदैविक प्रभाव पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

४. 'अभि' सम्मुख अर्थ को प्रकट करता है। इस कारण 'अभि' उपसर्ग रश्मियाँ किसी नाम और आख्यात संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होकर किसी पदार्थ के अभिमुख होकर उसे प्रभावित करती हैं।

५. 'प्रति' उपसर्ग 'अभि' उपसर्ग का विपरीत अर्थ दर्शाता है।

६. + ७. 'अति' एवं 'सु' ये दोनों उपसर्ग अभिपूजित अर्थात् उत्तम अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ये दोनों उपसर्ग रश्मियाँ किसी भी नाम और आख्यात संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होकर उनके प्रभाव को उत्तम बना देती हैं।

८. + ९. 'निर्' एवं 'दुर्' ये दोनों उपसर्ग क्रमशः 'अति' एवं 'सु' उपसर्गों के विपरीत अर्थ वाले होते हैं। इस कारण इन उपसर्ग रश्मियों का प्रभाव पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

१०. + ११. 'नि' एवं 'अव' दोनों उपसर्ग विनिग्रह अर्थात् नियन्त्रण करने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस कारण ये दोनों उपसर्ग जब किसी नाम अथवा आख्यात रश्मियों के साथ संयुक्त होते हैं, तब वे रश्मियाँ अन्य रश्मि वा सूक्ष्म कण आदि पदार्थों को अपने नियन्त्रण में लेने की क्षमता से सम्पन्न होने लगती हैं और जो धातु अथवा नाम रूपी रश्मियाँ स्वयं नियन्त्रण सामर्थ्य से युक्त होती हैं, उनका सामर्थ्य और बढ़ जाता है।

१२. 'उत्' उपसर्ग 'नि' एवं 'अव' के विपरीत अर्थ वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि 'उत्' उपसर्ग रूपी रश्मियाँ किसी बल के विपरीत कार्य करने में सक्षम होती हैं अथवा इनकी प्रवृत्ति किसी बल के द्वारा नियन्त्रित न होने की होती है। जब ये रश्मियाँ किसी नाम एवं आख्यात पदरूप रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब उन रश्मियों को भी अनियम्य सामर्थ्य से युक्त कर देती हैं।

१३. 'सम्' यह उपसर्ग एकत्र करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस कारण ये उपसर्ग रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों को मिलाने में सहयोग करती हैं। जब ये उपसर्ग रश्मियाँ किसी आख्यात वा नाम आदि पदरूप रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब वे उन रश्मियों में भी एकीभाव की प्रवृत्ति को उत्पन्न वा समृद्ध करती हैं।

१४. + १५. 'वि', 'अप्' उपसर्ग 'सम्' उपसर्ग के विपरीत अर्थ वाले होते हैं। इस कारण ये दोनों उपसर्ग रश्मियाँ विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को पृथक्-२ करने में सहयोग करती

हैं। जब ये रश्मियाँ नाम एवं आख्यात रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तो उनमें भी पृथक्करण गुण को उत्पन्न कर देती हैं।

१६. 'अनु' यह उपसर्ग समानता एवं अपर, जो स्कन्दस्वामी के मत में (अपरभाव: पश्चाद्भाव:) अनुगमन अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका तात्पर्य है कि इस सृष्टि में ये उपसर्ग रश्मियाँ अन्य रश्मि आदि पदार्थों में समानता एवं अनुगमन की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। जब ये रश्मियाँ नाम और आख्यात संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब उन रश्मियों में भी ऐसी ही प्रवृत्ति को उत्पन्न करती हैं।

१७. 'अपि' उपसर्ग संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध अर्थ को व्यक्त करता है। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को अपने साथ जोड़ने में विशेष भूमिका निभाती हैं। जब ये रश्मियाँ नाम एवं आख्यात संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब वे उनके अन्दर भी संसर्ग गुण को उत्पन्न वा समृद्ध करती हैं।

१८. 'उप' यह उपसर्ग 'उपजन' अर्थ को कहता है। आचार्य दुर्ग के अनुसार 'उपजन' शब्द का अर्थ अधिकता है, जबकि पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने आचार्य स्कन्द को उद्धृत करते हुए 'उपजन' शब्द के तीन अर्थ- उपचय अर्थात् एकत्रीकरण, उत्थान, समृद्धि एवं अधिकता, उपधान अर्थात् श्रेष्ठता एवं ऊपर रखना तथा उपकार किए हैं।

इस कारण 'उप' उपसर्ग रश्मियाँ अन्य रश्मि आदि पदार्थों के गुणों व उत्पादन क्रिया को समृद्ध करती हैं और उन्हें एकत्र करने व श्रेष्ठ बनाने में सहयोग करती हैं। जब ये रश्मियाँ नाम और आख्यात संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब उनमें भी इन गुणों को उत्पन्न कर देती हैं।

१९. 'परि' यह उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थात् सब ओर होने के अर्थ को व्यक्त करता है। इसके प्रभाव से विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के प्रभाव और व्याप्त होने लगते हैं। जब ये रश्मियाँ नाम और आख्यात संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब सृष्टि में उनका भी ऐसा ही प्रभाव देखा जाता है।

२०. 'अधि' यह उपसर्ग उपरिभाव तथा ऐश्वर्य को व्यक्त करता है। सृष्टि में ये रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों के ऊपर स्थित होकर अथवा उनके ऊपर अधिकार करके नाना प्रकार के

नियन्त्रण गुणों से युक्त होती हैं। जब ये रश्मियाँ इस सृष्टि में विद्यमान नाम और आख्यात संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब उनमें भी यही प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने कुल २० प्रकार के उपसर्गों के अर्थों की विवेचना महर्षि गार्ग्य के मत को उद्धृत करते हुए की है। इस विवेचना से ग्रन्थकार महर्षि यास्क स्वयं भी सहमत हैं। वे इसी क्रम में आगे लिखते हैं कि इन उपसर्गों के उच्च और अवच अर्थात् उत्कृष्ट और निकृष्ट सभी प्रकार के अनेक अर्थ स्वतन्त्र रूप से भी होते हैं। इस कारण इन सभी अर्थों की अच्छी प्रकार से विवेचना करनी चाहिए। यहाँ उपेक्षितव्य शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ उपेक्षा करने योग्य नहीं, बल्कि 'उप' अर्थात् अधिकता से किंवा अच्छी प्रकार से ईक्षणीय अर्थात् देखने योग्य अर्थात् विचारने योग्य मानना चाहिए।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे। अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि पदपूरणाः।

नाम, आख्यात एवं उपसर्ग की विवेचना के पश्चात् अब निपात संज्ञक पदों पर विचार करते हैं। ये पद भी उच्च एवं अवच अर्थात् अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। इन्हें निपात इसलिए कहा जाता है, क्योंकि ये अनेक प्रकार के अर्थों में निश्चयपूर्वक गिरते हैं अर्थात् प्रयुक्त होते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि ग्रन्थकार ने इन पदों के लिए निपात पद का प्रयोग क्यों किया है? पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भरत नाट्यशास्त्र को उद्धृत करते हुए अपने निरुक्त भाष्य की पाद टिप्पणी में लिखते हैं—

यस्मान्निपतन्ति पदे तस्मात् प्रोक्ता निपातास्तु (भ.ना.शा.१४.३१)

इधर पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में 'नि' पूर्वक 'पत्' धातु का अर्थ घटित होना, मिलना एवं प्राप्त होना किया है। इस सम्पूर्ण प्रकरण पर विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि छन्द रश्मियों के निर्माण के समय निपात संज्ञक पदरूप

सूक्ष्म रश्मियाँ मनस्तत्त्व अथवा आकाश तत्त्व में यत्र-तत्र बिखरी हुई उत्पन्न होती रहती हैं। जब किसी छन्द रश्मि विशेष की उत्पत्ति होती है, उस समय ये निपात संज्ञक सूक्ष्म रश्मियाँ इधर-उधर से गिरकर, परन्तु नियन्त्रित अवस्था के साथ उन छन्द रश्मियों में उचित स्थान पर समायोजित हो जाती हैं। हम पूर्व में इस बात से अवगत हो चुके हैं कि 'नि' उपसर्ग का प्रयोग नियन्त्रण अर्थ में होता है। इसी कारण महर्षि यास्क ने इन पदों के लिए 'निपात' शब्द का प्रयोग किया है। इन निपात संज्ञक पदों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। उपमार्थ में भी इनका प्रयोग किया जाता है, तो कुछ निपातों का प्रयोग कर्म अर्थात् विभिन्न अर्थों को जोड़ने में होता है। अनेकत्र कुछ निपात केवल पादपूर्ति हेतु भी प्रयुक्त होते हैं।

जब कोई उपमार्थक निपात संज्ञक पद किसी छन्द रश्मि का भाग बनता है, तब वह पद संज्ञक सूक्ष्म रश्मि अपने निकटस्थ पदों में सूक्ष्मता से व्याप्त होकर उन्हें परस्पर जोड़ने में सहायक होती है, यही उनका कर्म संग्रह कर्म भी कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि निपात संज्ञक रश्मि अपने दोनों ओर विद्यमान पदरूप रश्मियों को परस्पर जोड़ने में सहायक होती है। कुछ निपात रश्मियाँ कभी-२ विभिन्न छन्द रश्मियों में प्रकट वा प्राप्त होकर कोई विशेष प्रभाव नहीं दर्शाकर केवल उन छन्द रश्मियों का एक भाग बनकर उनका छान्दस प्रभाव दर्शाने में सहायक होती हैं।

तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां चान्वध्यायं च।
अग्निरिव। [ऋ.१०.८४.२] इन्द्र इव। [ऋ.१०.१७३.२] इति।
नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्।
नेन्द्रं देवममंसत। [ऋग्वेद १०.८६.१] इति प्रतिषेधार्थीयः।
पुरस्तादुपाचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति।
दुर्मदासो न सुरायाम्। [ऋ.८.२.१२] इत्युपमार्थीयः।
उपरिष्टादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते। चिदित्येषोऽनेककर्मा।
आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्। आचार्यः कस्मात्।
आचार्य आचारं ग्राहयति। आचिनोत्यर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा।

दधिचिदित्युपमार्थे। कुल्माषांश्चिदाहर। इत्यवकुत्सिते।
कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति। नु इत्येषोऽनेककर्मा।
इदं [इति] नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे। कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे।
नन्वेतदकार्षीदिति च। अथाप्युपमार्थे भवति।
वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः। [ऋ.६.२४.३]
वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः। वयाः शाखाः। वेतेः। वातायना भवन्ति।
शाखाः खशयाः। शक्नोतेर्वा।

उन निपात संज्ञक पदों में से अग्रलिखित चार पद उपमा अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ये चार पद हैं—

१. इव
२. न
३. चित्
४. नु

उपमार्थक पद उपमेय और उपमान संज्ञक पदरूप रश्मियों को ऐसे प्रभावित करते हैं कि उनका प्रभाव कुछ अर्थों में समान हो जाता है।

१. यहाँ सबसे पहले 'इव' इस निपात संज्ञक पद की चर्चा करते हुए कहा है कि यह पद लोकभाषा के साथ-२ वेद में भी उपमा अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'अन्वध्याय' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ आचार्य दुर्ग ने छन्द अर्थात् वेद किया है। यहाँ ऋग्वेद के उदाहरण 'अग्निरिव' (ऋ.१०.८४.२) एवं 'इन्द्र इव' (ऋ.१०.१७३.२) दिये हैं। इनमें से प्रथम उदाहरण में कहा गया है—

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।

यहाँ सेनानी की उपमा अग्नि से की गई है। इस कारण सृष्टि में इस छन्द रश्मि में विद्यमान 'इव' निपात 'अग्नि' और 'सेनानी' पदरूप रश्मियों के मध्य व्याप्त होकर 'सेनानी' पदरूप रश्मियों को 'अग्नि' पदरूप रश्मियों के समान प्रभाव वाली बनाने में

सहयोग करता है। 'सेना' पद की व्युत्पत्ति करते हुए उणादि कोष ३.१० में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'सिनोति बध्नाति शत्रूनिति सेना'। इधर महर्षि यास्क ने सेना पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'सेना सेश्वरा समानगतिर्वा'। इसका आशय है कि इस सृष्टि में वे रश्मियाँ जो किसी अन्य रश्मि की प्रेरणा व नियन्त्रण में समान गति से गमन करते हुए अन्य रश्मि आदि पदार्थों को बाँधती हैं, उन्हें सेना कहते हैं और उनकी नियन्त्रक रश्मियों को सेनानी कहते हैं। वे सेनानी संज्ञक रश्मियाँ 'इव' इस निपात संज्ञक पद के प्रभाव से अग्नि के समान प्रभाव वाली होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे सेनानी संज्ञक रश्मियाँ अपने प्रभाव से विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों में रूप, दाह, प्रकाश, वेग एवं आकर्षण-प्रतिकर्षण आदि बलों को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं।

द्वितीय उदाहरण में कहा गया है— 'इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय'। इस ऋचा में राजा की स्तुति की गई है तथा राजा का अर्थ सूर्य भी है। इस प्रकार यहाँ विद्यमान निपात संज्ञक 'इव' पद सूर्य को इन्द्र के समान तीव्र विद्युत् बलों से सम्पन्न करने में सहायक होता है।

२. अब दूसरे उपमार्थक निपात 'न' की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इस निपात का लोकभाषा में निषेध में प्रयोग होता है, जबकि वेद में यह निपात निषेध एवं उपमा इन दोनों ही अर्थों में प्रयोग होता है। पहले निषेध अर्थ का उदाहरण देते हुए ऋग्वेद को उद्धृत करते हुए कहा है— 'नेन्द्रं देवममंसत'। यहाँ ऋचा का पूर्वार्ध इस प्रकार है— वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत (ऋ.१०.८६.१)। इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने १३.४ में कहा है—

व्यसृक्षत हि प्रसवाय न चेन्द्रं देवममंसत।

अर्थात् जब विभिन्न रश्मियाँ इन्द्ररूपी आदित्य लोक के निर्माण के लिए उत्पन्न होती हैं किंवा कॉस्मिक मेघ रूपी पदार्थ पर छोड़ी जाती हैं अथवा उसके अन्दर ही उत्पन्न होती हैं, तब अनायास ही इन्द्ररूपी आदित्य लोक प्रकाशित नहीं हो उठता। यहाँ यह संकेत मिलता है कि आदित्य लोक के निर्माण के लिए एक लम्बी प्रक्रिया का होना अनिवार्य है, तभी आदित्य लोक का निर्माण सम्भव हो पाता है। यहाँ महर्षि यास्क कहते हैं कि उपचार अर्थात् निषेध अर्थ में प्रयुक्त 'न' निपात का प्रयोग निषेध्य वस्तु के आगे अर्थात् उसके पूर्व

किया जाता है। यह निषेधार्थक 'न' निपात की पहचान है। जैसा कि उपर्युक्त वेदमन्त्र में 'इन्द्रम्' पद से पूर्व 'न' निपात का प्रयोग किया गया है।

निषेधार्थक 'न' निपात की चर्चा करने के उपरान्त उपमार्थक 'न' निपात की चर्चा करते हुए कहते हैं—

दुर्मदासो न सुरायाम् इत्युपमार्थीयः उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते।

यहाँ उपचार अर्थात् उपमार्थक 'न' निपात, जिससे उपमा दी जाती है, उसके बाद प्रयोग किया जाता है, जैसा कि इस मन्त्र में निपात 'न', 'दुर्मदासः' के बाद में प्रयोग हुआ है। यह उपमार्थक 'न' निपात की पहचान है। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ (ऋ.८.२.१२)

इसका देवता इन्द्र, ऋषि मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः तथा छन्द आर्षी गायत्री है। इस कारण इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विशेष संयोजक गुण वाले प्राण विशेष से होती है। इसके दैवत प्रभाव से इन्द्र तत्त्व समृद्ध होता है, जो छान्दस प्रभाव से विशेष वैद्युत तेज और बल से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (हृत्सु) [हृत्सु हृदयानि (निरु.९.३३), असौ वा आदित्यो हृदयम् (श.ब्रा.९.१.२.४०)] इन्द्र अर्थात् सूर्य आदि तारे के केन्द्रीय भाग, जो विशेष आकर्षण बलों से युक्त होता है, के अन्दर (पीतासः, युध्यन्ते) विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियों को अवशोषित किए हुए विभिन्न सूक्ष्म कण परस्पर ऐसा संघर्षण वा संगमन करते हैं, (दुर्मदासः, न, सुरायाम्) जैसे कि सुरा [विट् सुरा (श.ब्रा. १२.७.३.८), अन्नंᳬ वै सुरा (मै.सं.२.३.९, काठ.सं.१२.११)] अर्थात् ऋग्वेद ३.१३ सूक्तरूप सात अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का तीव्र विक्षुब्ध ब्रह्म वा क्षत्र संज्ञक सूक्ष्म रश्मियों से संघर्षण वा संगमन हुआ करता है। इस संघर्षण में नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों व तरंगों की उत्पत्ति होती है तथा तारों के अन्दर होने वाली संघर्षण व संगमन की क्रियाओं से सूक्ष्म कणों का संलयन होकर अपेक्षाकृत स्थूल कणों की उत्पत्ति होती है। तारों के अन्दर यह क्रिया नाभिकीय संलयन कहलाती है। इस प्रक्रिया में छोटे नाभिक संलयित होकर बड़े नाभिकों तथा ऊर्जा का

निर्माण करते हैं। उधर विट् संज्ञक सुरा रूप रश्मियों के संघर्षण वा संलयन से मूलकणों और फोटोन्स की उत्पत्ति होती है। इन दोनों ही प्रक्रियाओं की समानता यहाँ दर्शायी गई है। यद्यपि आधिदैविक भाष्य में उपमालंकार का विशेष अर्थ नहीं, इस कारण यहाँ 'न' को अनर्थक वा पदपूरक मानकर यह अर्थ प्रकाशित होता है कि सूर्य्य के केन्द्रीय भाग में ये विट् रश्मियाँ संलयन क्रिया के सम्पादन में अपनी भूमिका निभाती हैं।

(ऊधः, नग्नाः) [ऊधन् = ऊधः रात्रिनाम (निघं.१.७)। नग्नाः = नञ्+ग्नाः, ग्नाः वाङ्नाम (निघं.१.११)] इन दोनों प्रक्रियाओं के विपरीत वाग् रहित अर्थात् छन्द वा मरुत् रश्मियों से विहीन प्राण रश्मियाँ, जो रात्रिरूप सूक्ष्म असुर पदार्थ का रूप धारण कर लेती हैं, वे (न, जरन्ते) [जरते अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), यजमानो जरिता (ऐ.ब्रा.३.३८)] अर्थात् न तो दीप्तिमान होती हैं और न परस्पर संयोजी धर्म वाली होती हैं। इन्हें असुर ऊर्जा का बीजरूप कहा जा सकता है। इनके विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ का अध्याय 'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान' तथा विट् संज्ञक सुरा रश्मियों के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण के मद्रचित भाष्य 'वेदविज्ञान-आलोकः' के अध्याय १० तथा अध्याय ३९ के खण्ड ६ को पढ़ना चाहिए। उल्लेखनीय है कि इस मन्त्र के तृतीय पाद में 'न' निपात का प्रयोग निषेधार्थ में हुआ है, उपमार्थ में नहीं।

भावार्थ— सूक्ष्म रश्मियों के संगमन से वर्तमान विज्ञान में माने जाने वाले मूल कणों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार तारों के केन्द्र में कणों के संलयन से अपेक्षाकृत स्थूल कणों व ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। छन्द वा मरुत् रश्मियों से विहीन रश्मियाँ असुर रश्मियों को जन्म देती हैं, इसे वर्तमान डार्क एनर्जी व डार्क मैटर का बीज कहा जा सकता है।

अब तीसरे निपात 'चित्' की चर्चा करते हुए कहते हैं— 'चिदित्येषोऽनेककर्मा'। अर्थात् 'चित्' निपात अनेक प्रकार के कर्मों को करने वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि यह निपात अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसका उदाहरण देते हुए ऋषि लिखते हैं—

"आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात् इति पूजायाम् आचार्यः कस्मात् आचार्य आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा।"

यहाँ 'चित्' पूजा अर्थ में प्रयुक्त है। आचार्य ही इस बात को बताए अर्थात् बता सकता है। यहाँ आचार्य के सामर्थ्य को बताते हुए कहा जा रहा है कि इस बात को

आचार्य ही बता सकता है, अन्य कोई नहीं। अब आचार्य किसे कहते हैं, इस विषय में कहा है कि जो व्यक्ति अपने शिष्य को आचरण करना सिखाता है, विभिन्न शास्त्रों से नाना प्रकार के अर्थों को ग्रहण करता है किंवा संचय करता है एवं अपने शिष्य के मस्तिष्क में नाना अर्थों को ग्रहण करा देता है। इसके साथ ही वह बुद्धि का संचय करता है अर्थात् उसे बढ़ाता है। अपने शिष्य को निरन्तर बुद्धिमान् बनाता है। लगभग इसी प्रकार की चर्चा अन्य आर्ष ग्रन्थों में भी की गई है—

आचार्यो ब्रह्मचारिणः प्रजापतिः (काठ.संक.५१.६, १३८.२३)

अर्थात् आचार्य अपने प्रजारूप ब्रह्मचारियों का पालक और संरक्षक होता है। इसी कारण अन्यत्र कहा गया है—

आचार्यदेवो भव। (तै.आ.७.११.२; तै.उ.१.११.२)

अर्थात् आचार्य अपने शिष्यों के मस्तिष्क में शास्त्रों के नाना अर्थों को प्रकाशित करने वाला होता है।

चित् का प्रयोग उपमार्थ में भी किया जाता है, इस विषय में ग्रन्थकार का कहना है— 'दधिचिदित्युपमार्थे'। यहाँ 'चित्' निपात उपमार्थक है, दधिचित् = दधि की भाँति। अब अत्यन्त गर्हा अर्थ में चित् का प्रयोग होता है, इसका उदाहरण देते हुए लिखते हैं— 'कुल्माषांश्चिदाहर इत्यवकुत्सिते कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति'। यहाँ 'कुल्माष' शब्द का अर्थ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने कुलथ की दाल ग्रहण किया है। इस उपर्युक्त उदाहरण में किसी व्यक्ति से कहा जा रहा है— 'अरे! तू कुलथ की दाल ही ले आ'। यह अत्यन्त निन्दा रूप में कहा गया है। इसका आशय यह है कि वह व्यक्ति और तो कुछ ला नहीं सकता, तो कुलथ की दाल ही सही। कुलथी एक निम्न कोटि का अन्न होता है। अतः यहाँ 'चित्' निपात का प्रयोग अत्यन्त निन्दा अर्थ में किया गया माना गया है। अब 'कुल्माष' पद का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि कुलथ के बीज कुलों अर्थात् समूहों में अवस्थित होते हैं। कुछ भाष्यकारों ने 'कुल्माष' शब्द का अर्थ अधपके गेहूँ लिया है।

अब 'नु' निपात की चर्चा करते हुए कहते हैं— 'नु इत्येषोऽनेककर्मा इदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे नन्वेतदकार्षीदिति च'। अर्थात् 'नु' निपात

अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उदाहरणतः 'इदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे।' यहाँ हेतु अर्थात् कारण को बतलाने के लिए 'नु' निपात का प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त उदाहरण का अर्थ है— इस कारण वह करेगा।

द्वितीय अर्थ का उदाहरण देते हुए ऋषि लिखते हैं— 'कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे नन्वेतदकार्षीदिति च' अर्थात् यह कैसे करेगा, यहाँ यह अनुप्रश्न किया गया है। इसका आशय यह है कि किसी व्यक्ति के कार्य करने की क्षमता पर यहाँ प्रश्न खड़ा किया गया है, जैसे किसी ने किसी से कार्य करने को कहा, तब उसकी क्षमता को न्यून देखकर कोई व्यक्ति कह रहा है कि यह कह तो रहा है कि अमुक कार्य मैं कर दूँगा, परन्तु यह करेगा कैसे ? यही अनुप्रश्न है और इसी अर्थ में यहाँ 'नु' निपात का प्रयोग किया गया है।

पुनः कहा है— 'न नु एतत् अकार्षीत् इति च'। क्या उसने यह काम भी नहीं किया है ? यह भी अनुप्रश्न है, जिसके लिए 'नु' निपात का प्रयोग किया गया है। आचार्य भगीरथ शास्त्री ने अपने निरुक्त भाष्य में यहाँ 'न', 'नु' के स्थान पर 'ननु' का प्रयोग किया है और तद्वत् उसका भाषार्थ भी किया है। उधर भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने 'ननु' पाठ का ग्रहण करते हुए भी अर्थ करते समय 'न', 'नु' का उपयोग किया है। पण्डित श्री मुकुन्द झा शर्मा एवं आचार्य विश्वेश्वर ने 'ननु' के ग्रहण का प्रत्याख्यान करके 'न', 'नु' का ही ग्रहण किया है और इसके लिए पाणिनीय अष्टाध्यायी के दो सूत्रों को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। हमारी दृष्टि में इनका मत उचित है, क्योंकि 'ननु' के ग्रहण करने से 'ननौ पृष्टप्रतिवचने' (अष्टा.३.२.१२०) के द्वारा लट् लकार का प्रयोग होकर 'अकार्षीत्' के स्थान पर 'करोमि' का प्रयोग होना चाहिए था, जो यहाँ नहीं है। यहाँ 'नन्वोर्विभाषा' (अष्टा.३.२.१२१) से लुङ् लकार का ही प्रयोग किया हुआ है। इस सूत्र में 'न', 'नु' का प्रयोग है, 'ननु' का नहीं।

इसके आगे पुनः 'नु' के विषय में लिखते हैं— 'अथाप्युपमार्थे भवति' अर्थात् 'नु' निपात का प्रयोग उपमा अर्थ में भी किया जाता है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः। (ऋ.६.२४.३)

इस पर ग्रन्थकार का कथन है— 'वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः वयाः शाखाः वेतेः

वातायना भवन्ति शाखाः खशयाः शक्नोतेर्वा'। यह सम्पूर्ण ऋचा इस प्रकार है—

अक्षो न चक्र्योः शूर बृहन्प्र ते मह्ना रिरिचे रोदस्योः।
वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यू३तयो रुरुहुरिन्द्र पूर्वीः॥ (ऋ.६.२४.३)

इस ऋचा का ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज, देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसका तात्पर्य यह है कि इसकी उत्पत्ति बृहस्पति अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न नाना बलों से सम्पन्न प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होती हैं।

[शूरः = शवतेर्गतिकर्मणः (निरु.४.१३)। रोदसी = द्यावापृथिवी वै रोदसी (ऐ.ब्रा.२.४१), द्यावापृथिव्यौ (निरु.५.२१)। चक्रम् = वज्रो वै चक्रम् (तै.ब्रा.१.४.४.१०)]

आधिदैविक भाष्य— (शूर) तीव्र गतिशील एवं तीक्ष्ण बलयुक्त (पुरुहूत) अनेक सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थों के द्वारा आकर्षित होने योग्य (इन्द्र) तीक्ष्ण विद्युत् अथवा सूर्य (ते) आपकी (मह्ना) व्याप्ति एवं महिमा से (रोदस्योः) द्युलोक एवं पृथिवी लोक अर्थात् विभिन्न कणों एवं तरंगाणुओं (क्वाण्टा) के मध्य अथवा पृथ्वी और अन्तरिक्ष लोक के मध्य (पूर्वीः) सनातन एवं निरन्तर चलने वाली (वि, ऊतयः) विविध रक्षण, गति, आकर्षण आदि क्रियाएँ (चक्र्योः) पहियों की अथवा वज्ररूप रश्मियों की (अक्षः) धुरी अथवा आधार रूप रश्मियों के (न) समान (प्र, रुरुहुः) अच्छी प्रकार से प्रकट होती हैं। (नु) जैसे (बृहन्) महान् अर्थात् व्यापक (वृक्षस्य) वृक्ष की अथवा किसी गैलेक्सी की (वयाः) शाखाएँ, जिनकी विवेचना आगे की गई है, (रिरिचे) त्वरित प्रकट होती हैं, वैसे ही इन्द्र की शाखाएँ प्रकट होती हैं। इससे यहाँ यह अर्थ भी प्रकट होता है कि जैसे ही निर्माणाधीन विभिन्न लोकों और उनमें विद्यमान कणों के मध्य विविध क्रियाएँ तीव्र होने लगती हैं, वैसे ही इन्द्र तत्त्व की शाखाएँ प्रकट होकर गैलेक्सियों की शाखाएँ शीघ्रता से प्रकट होती हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में विद्युत् की व्याप्ति व महिमा से प्रकाशित व अप्रकाशित कणों तथा सूर्यादि तारों के प्रबल आकर्षण से सभी ग्रहादि लोकों व आकाश महाभूत (स्पेस) के मध्य नाना प्रकार की रक्षण, आकर्षण व गत्यादि क्रियाएँ समुचित रीति से सम्पन्न होती रहती हैं। ये क्रियाएँ ऐसे ही प्रकट व संचालित होती हैं, जैसे किसी वृक्ष की विभिन्न

शाखाएँ उत्पन्न होकर वृक्ष से संलग्न रहती हैं अथवा किसी गैलेक्सी के हस्तवत् विभिन्न भाग प्रकट व क्रियाशील होते हैं।

सृष्टि पर प्रभाव— इस ऋचा के प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें नाना प्रकार से विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों को आकर्षित करती हुई विभिन्न कणों वा तरंगाणुओं के मध्य नाना प्रकार की क्रियाओं को समृद्ध करती हैं तथा सूर्यादि लोकों के द्वारा ग्रहादि लोकों के मध्य आकर्षण व धारण आदि क्रियाएँ भी व्यवस्थित होती हैं। विभिन्न गैलेक्सियों को आकार प्रदान करने में भी तीक्ष्ण इन्द्र तत्त्व समुचित सामर्थ्य को प्राप्त करने में इस रश्मि के द्वारा सहयोग प्राप्त करता है।

यहाँ निरुक्तकार 'वयाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

वयाः शाखाः वेतेः वातायना भवन्ति शाखाः खशयाः शक्नोतेर्वा।

इसका तात्पर्य यह है कि 'वयाः' पद 'वी' धातु से निष्पन्न होता है। इस 'वी' धातु के अर्थ हैं— गति, व्याप्ति, प्रजन, कान्ति, असन एवं खादन आदि। इससे संकेत मिलता है कि तीक्ष्ण विद्युत् गतिशील एवं अन्य पदार्थों को गति प्रदान करने वाला, स्वयं विभिन्न पदार्थों में व्याप्त एवं अन्य पदार्थों को व्याप्त करने व फैलाने वाला, नाना पदार्थों को उत्पन्न करने वाला, आकर्षण एवं प्रक्षेपण बलयुक्त एवं विभिन्न पदार्थों को अवशोषित व नष्ट कर देने वाला होता है। यहाँ महर्षि यास्क ने 'वयाः' का अर्थ शाखा किया है। इन शाखाओं को वातायन कहा है, इसका अर्थ यह है कि शाखाएँ वायु के द्वारा निर्धारित गति और मार्ग को प्राप्त करने वाली होती हैं। ऐसा हम वृक्षों की शाखाओं में देखते हैं। इन्द्र तत्त्व की शाखाएँ अर्थात् तीक्ष्ण रश्मियाँ भी वात अर्थात् प्राणापानादि दिव्य वायु के द्वारा मार्ग और गति प्राप्त करती हैं। उधर गैलेक्सी की विभिन्न भुजा रूप आकृतियाँ वात अर्थात् विभिन्न प्रकार की प्राण और छन्द रश्मियों रूपी वायु तत्त्व के प्रभाव के कारण ही आकार और गति प्राप्त करती हैं।

अब निरुक्तकार शाखा को 'ख' अर्थात् आकाश में सोने वाला बताते हैं, इसका आशय यह है कि जिस प्रकार किसी वृक्ष की शाखाएँ आकाश में सब ओर फैली रहती हैं, उसी प्रकार इन्द्र की तीक्ष्ण रश्मियाँ एवं गैलेक्सी की भुजा रूप आकृतियाँ आकाश में दूर-२ तक फैली हुई होती हैं। इसी प्रकार सूर्य रूपी इन्द्र की ज्वालाएँ शाखा रूप होकर

अन्तरिक्ष में सब ओर उठती फैलती रहती हैं। यहाँ शाखा को 'शक्लृ शक्तौ' धातु से निष्पन्न माना है, इससे यह संकेत मिलता है कि इन सभी पदार्थों अर्थात् इन्द्र, सूर्य एवं गैलेक्सी की शाखाओं को शक्तिशाली बनाने किंवा उन्हें अपने-२ कार्यों को सम्पन्न करने का सामर्थ्य प्रदान करती हैं।

अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहः।

अब कुछ अन्य निपात संज्ञक पदों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जिस निपात के आगम अर्थात् प्रयोग से अर्थ का पृथक्पन अह अर्थात् निश्चय से जाना जाता है, वह निपात कर्म का उपसंग्राहक कहलाता है। वह निपात औद्देशिक अर्थात् मूल पदार्थ के समान नहीं होता, बल्कि वह निपात समास के विग्रह से ही जाना जाता है, जैसे 'रामलक्ष्मणौ यजतः' इस वाक्य में 'च' निपात राम और लक्ष्मण के पृथक्पन को दर्शाता है— रामश्च लक्ष्मणश्च यजतः। यहाँ निपात के प्रयोग के बिना समस्त पद से पृथक्पन की प्रतीति नहीं होगी, बल्कि विग्रह करने से ही यह प्रतीति होती है। यह निपात विभिन्न कर्मों अर्थात् अर्थों का उपसंग्रह अर्थात् मेल भी कराता है। 'यजतः' क्रिया में भी यह 'च' निपात ही उपसंग्रह का कार्य करता है। इस कारण इस निपात को कर्मोपसंग्रह कहते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि कर्मोपसंग्रह निपात संज्ञक पद उद्दिष्ट वस्तु के समान नहीं होता अर्थात् वह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, क्योंकि पदों का पृथक्पन विग्रह से ही होता है।

इस सृष्टि में जहाँ कहीं दो पदरूप रश्मियों के मध्य कर्मोपसंग्रह संज्ञक निपात रूप सूक्ष्म रश्मि प्रकट हो जाती है, वहाँ वे दोनों पद रूप रश्मियाँ परस्पर संयुक्त होकर एक नई रश्मि के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। उस नवसृजित रश्मि में पूर्व दोनों रश्मियों का अस्तित्व कुछ भेद से बना रहता है, जबकि निपात संज्ञक पदरूप सूक्ष्म रश्मि उन दोनों को जोड़कर स्वयं विलुप्त हो जाती है। यहाँ निपात पदरूप सूक्ष्म रश्मि वही कार्य करती है, जो कार्य गारे की ईंट से बने भवन की दीवार में पानी करता है। निपात संज्ञक रश्मियाँ न केवल पृथक्-२ पदरूप रश्मियों को परस्पर जोड़ने का कार्य करती हैं, अपितु संयुक्त रश्मियों के मध्य प्रकट होकर उन्हें पृथक्-२ भी कर सकती हैं। यह खेल ब्रह्माण्ड में सर्वत्र सदैव चलता रहता है, जिसमें विभिन्न रश्मियों के मेल और पृथक्करण से नई-२

रश्मियाँ बनती रहती हैं, जिस प्रकार भाषा में निपात संज्ञक पदों के प्रयोग से नाना पद बनते रहते हैं।

चेति समुच्चयार्थः। उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते।
अहं च त्वं च वृत्रहन् [ऋ.८.६२.११] इति। एतस्मिन्नेवार्थे।
देवेभ्यश्च पितृभ्य आ। इत्याकारः।

हमने उपर्युक्त उदाहरण में जिस 'च' रूपी निपात का ग्रहण किया है, उसी 'च' को यहाँ कर्मोपसंग्रह निपात के रूप में उद्धृत करते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं कि 'च' निपात समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग कहाँ होता है, इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इसका प्रयोग दोनों अथवा दो से अधिक पदों के साथ होता है। यहाँ इसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

अहं च त्वं च वृत्रहन्।

यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

अहं च त्वं च वृत्रहन्त्सं युज्याव सनिभ्य आ।
अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ (ऋ.८.६२.११)

यह ऋचा प्रगथः काण्व ऋषि अर्थात् विशेष सक्रिय सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न होती है। इसका देवता इन्द्र होने से इसके दैवत प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् समृद्ध होती है। इसका छन्द निचृत् पंक्ति होने से यह छन्द रश्मि संयोग आदि प्रक्रियाओं को तीक्ष्णतापूर्वक सम्पन्न करने में सहयोग करती है।

आधिदैविक भाष्य— (वृत्रहन्) नाना प्रकार के असुरादि पदार्थों के विशाल आच्छादन को नष्ट करने वाला (अद्रिवः) [अद्रिवः = अद्रिवन् अद्रिरादृणात्येनेन अपि वात्तेः स्यात् (निरु.४.४)] संयोगादि क्रियाओं में बाधक बने पदार्थों के विशाल मेघों को विदीर्ण करने वाला (शूर) तीक्ष्ण इन्द्र तत्त्व (आ, सनिभ्यः) बाधक पदार्थों के छिन्न-भिन्न होने तथा संयोज्य पदार्थों के संयुक्त होने तक (अहम्, च, त्वम्, च) मैं अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं तुम अर्थात् इन्द्र तत्त्व दोनों ही (संयुज्याव) परस्पर संगत रहकर संयोज्य कणों को संयुक्त

करने के कार्य में संलग्न रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक संयोग क्रिया निष्पन्न नहीं हो जाती, तब तक विद्युत् एवं सूत्रात्मा वायु अर्थात् प्राण, मरुद् और सूत्रात्मा का परस्पर अति निकट और सक्रिय सम्बन्ध बना रहता है। यदि ऐसा न हो, तो संयोग प्रक्रिया बीच में ही बन्द हो सकती है। (नौ) हम दोनों को अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं इन्द्रतत्त्व के मिश्ररूप को (अरातिऽवा, चित्) आकर्षण बल से रहित पदार्थ भी (अनु, मंसते) अनुकूलतापूर्वक सक्रिय व प्रकाशित होने लगते हैं अर्थात् वे भी आकर्षणादि बलों से युक्त हो जाते हैं। (इन्द्रस्य, रातयः) इन्द्र तत्त्व के बल आदि दान कर्म (भद्रा) [भद्रम् = अन्नं वै भद्रम् (तै.ब्रा.१.३.३.६), भद्रं भगेन व्याख्यातम् भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयम् भवद्रमय-तीति वा भाजनवद्वा (निरु.४.१०)] विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को नाना प्रकार की गतियों से युक्त करते हैं तथा उन्हें संयोगार्थ प्रेरित करते हैं।

भावार्थ— जब विद्युत् आवेशित दो कणों में परस्पर संयोग होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय उन दोनों कणों के चारों ओर असुर तत्त्व भी सर्वत्र भरा हुआ होता है। वह उन कणों के मध्य संयोग प्रक्रिया में बाधा डालता है। उस समय उन कणों से उत्सर्जित प्राण व मरुद् रश्मियाँ तथा सूत्रात्मा वायु परस्पर संगत होकर उस असुर ऊर्जा पर प्रहार करते हैं तथा उसे छिन्न-भिन्न करके दूर फेंककर आकाश तत्त्व में मिला देते हैं। जब तक यह प्रक्रिया सम्पन्न नहीं होती है, तब तक सूत्रात्मा वायु तथा प्राण-मरुद् का मिश्ररूप पूर्ण सक्रिय रहता है।

ऋचा का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव— इस ऋचा के प्रभाव से विद्युत् चुम्बकीय बलों में वृद्धि होकर विविध संयोग-वियोग आदि की प्रक्रियाएँ तीव्र होती हैं, जिससे पदार्थ संघनित होता हुआ नाना प्रकार के स्थूल कणों और पिण्डों का निर्माण करने लगता है।

यहाँ महर्षि यास्क 'च' निपात का प्रयोग अहम् और त्वम् के बीच में समुच्चय अर्थ में मानते हैं। अब 'च' निपात के अतिरिक्त एक अन्य निपात 'आ' की चर्चा करते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

देवेभ्यश्च पितृभ्य आ।

यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

यो अग्निः क्रव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥ [ऋ.१०.१६.११]

इस ऋचा का ऋषि दमनो यामायनः होने से इस ऋचा की उत्पत्ति धनञ्जय एवं सूत्रात्मा वायु के मेल से उत्पन्न दमन ऋषि प्राण अर्थात् नियन्त्रण करने की शक्ति से युक्त एक सूक्ष्म प्राण विशेष से होती है। इसका देवता अग्नि होने से इसके दैवत प्रभाव से अग्नितत्त्व अर्थात् ऊष्मा, प्रकाश आदि में वृद्धि होती है। इसका छन्द अनुष्टुप् होने से यह छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों को अनुकूलता से थामे रखती है, जिससे वे सभी छन्द रश्मियाँ अपना-२ कार्य और भी अच्छी तरह से सम्पन्न करने में समर्थ होती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (यः, अग्निः) जो अग्नि नामक पदार्थ अर्थात् सूक्ष्म कण अथवा फोटोन (क्रव्यवाहनः) [क्रव्यवाहनः = क्रव्यानां वाहनः, क्रव्यः = क्लव भये+यत्, यहाँ लत्व को रेफ आदेश हुआ है।] अस्थिरतापूर्वक कम्पन करते हुए विभिन्न पदार्थों को वहन करने वाले तथा (ऋतावृधः) [ऋतावृधा = यज्ञवृधः (निरु.१२.३३)] संयोगादि क्रियाओं को बढ़ाने वाले होकर (पितॄन्) [पितरः = अनपहतपाप्मानः पितरः (श.ब्रा.२.१.३.४)] अर्थात् जो कण बाधक असुरादि पदार्थ द्वारा किये गए प्रहार से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाने से बार-२ अपने संयोगादि कर्मों से पतित होते रहते हैं, को (यक्षत्) संयोगादि क्रियाओं में प्रवृत्त करता है। (प्रेदु) [प्र+इत्+उ, इत् = ईयते प्राप्यते सोऽयमिद्देशः अत्र कर्मणि क्विप् ततः सुपां सुलुक् (अष्टा.७.१.३९) इति ङसेर्लुक् (म.द.ऋ.भा.१.४.५)] उनके स्थानों से अच्छी प्रकार से (हव्यानि) विभिन्न संयोजनीय पदार्थों को (देवेभ्यः, च) [देवः = अपहतपाप्मानो देवाः (श.ब्रा.२.१.३.४)] उन पदार्थों, जो बाधक असुरादि पदार्थों से मुक्त हो चुके हैं एवं (पितृभ्यः, आ) [पितरः = ऊष्मभागा हि पितरः (तै.ब्रा.१.३.१०.६)] विभिन्न ऊष्मायुक्त पदार्थों अथवा ऊष्मा प्रदान करने वाली सामिधेनी आदि छन्द रश्मियों के साथ (वोचति) गति प्रदान करते हैं, जिससे उनके मध्य संयोगादि क्रियाएँ विधिवत् होने लगती हैं।

यहाँ 'च' निपात समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ ही है, इसके साथ-२ एक अन्य पद 'आ' भी समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस 'आ' निपात को दर्शाने के लिए ही ग्रन्थकार ने इस मन्त्र के चतुर्थ पाद को उद्धृत किया है।

भावार्थ— इस सृष्टि में विभिन्न विद्युत् आवेशित कण तीव्र ऊर्जा से युक्त होकर तथा फोटोन उन कणों, जो असुर ऊर्जा के प्रहार से कम्पायमान होकर परस्पर संगत नहीं हो पाते हैं, को संगत करने में सहयोग करते हैं। इस प्रक्रिया में वे कण, जो असुर ऊर्जा के आक्रमण से मुक्त हो चुके हैं तथा जो ऊष्मायुक्त हैं एवं वे छन्दादि रश्मियाँ, जो ऊष्मा उत्पन्न करने में सहायक होती हैं, भी परस्पर संगत होने लगते हैं।

इस छन्द रश्मि का सृष्टि पर प्रभाव— असुर ऊर्जा से अवरुद्ध कणों के मध्य यह छन्द रश्मि प्रकट होकर असुर ऊर्जा को नियन्त्रित करके अन्य संयोज्य कणों के साथ संयुक्त करने में सहायक होती है। यहाँ 'आ' निपात का भी वही आधिदैविक प्रभाव होता है, जो 'च' निपात का होता है।

वेति विचारणार्थे।

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। [ऋ.१०.११९.९] इति।

'वा' निपात विचार अर्थात् संकल्प-विकल्प अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका उदाहरण देते हुए निम्नलिखित ऋचा को उद्धृत किया है—

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा।
कुवित्सोमस्यापामिति॥ (ऋ.१०.११९.९)

इस मन्त्र का ऋषि ऐन्द्रो लवः है। इसका आशय यह है कि इन्द्र तत्त्व की अंशभूत त्रिष्टुप् अथवा शक्वरी छन्द रश्मियों, जो तीक्ष्ण भेदक व छेदक बलों से युक्त होती हैं, से इस ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसका देवता आत्मस्तुतिः है। इसके दैवत प्रभाव से आत्म अर्थात् ऋषि रूपी त्रिष्टुप् वा शक्वरी छन्द रश्मियाँ अधिक सक्रिय होती हैं। इसका छन्द गायत्री होने से इसके छान्दस प्रभाव से तेज और बल की वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (हन्त, अहम्) अकस्मात् परन्तु सूक्ष्म हलचल करती हुई इस ऋचा की उत्पादिका त्रिष्टुप् वा शक्वरी छन्द रश्मियाँ कहती हैं कि अरे! मैं (इमाम्, पृथिवीम्) इन पृथिव्यादि लोकों को (इह, निदधानि, वा) यहाँ अर्थात् उनके अंशरूप तारे वा कॉस्मिक मेघ में स्थापित करूँ अथवा (इह, वा) उधर अर्थात् द्यु वा सुदूर अन्तरिक्ष में स्थापित करूँ? (कुवित्) [कुवित् = बहुनाम (निघं.३.१)] इसके लिए मैं अर्थात् त्रिष्टुप्

वा शक्वरी छन्द रश्मियाँ (सोमस्य, अपाम्, इति) विभिन्न सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों का पान करती हैं अर्थात् ये त्रिष्टुप् व शक्वरी छन्द रश्मियाँ अनेक मरुद् रश्मियों को अवशोषित करके तीव्र बलों को उत्पन्न करती हैं।

भावार्थ एवं सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव— जब घूर्णन करते हुए किसी निर्माणाधीन तारे में विस्फोट होता है, उस समय उसका बाहरी भाग धीरे-२ बिखरता है। इस समय बड़े-२ पिण्ड आकाश में छिटकने लगते हैं। वे पिण्ड तारे के गुरुत्व बल के प्रभाव से तारे की ओर आकृष्ट होने लगते हैं, उसी समय असुर ऊर्जा (वैदिक डार्क एनर्जी) वहाँ बाधक बनकर उन पिण्डों को दूर करने लगती है। इस समय वे पिण्ड ऊपर-नीचे दोलन करने लगते हैं। उस समय वहाँ उत्पन्न तीक्ष्ण त्रिष्टुप् व शक्वरी छन्द रश्मियाँ अपने साथ विभिन्न मरुद् रश्मियों को अवशोषित करते हुए और भी शक्तिशाली रूप धारण करती हैं। वे शक्तिशाली छन्द रश्मियाँ इस गायत्री छन्द रश्मि के साथ मिलकर निर्माणाधीन तारे एवं छिटके हुए लोकों के बीच की दूरी स्थिर करने अर्थात् उन ग्रहादि लोकों की कक्षाएँ स्थिर होने में सहयोग करती हैं। इस विषय में 'वेदविज्ञान-आलोक' का खण्ड ६.३४ तथा ४.१८ का चित्र १८.१३ द्रष्टव्य है। यह छन्द रश्मि एवं इसकी उत्पादिका त्रिष्टुप् वा शक्वरी छन्द रश्मियाँ उन पिण्डों के दोलन में भी अपनी भूमिका निभाते हुए असुर ऊर्जा के प्रभाव को सन्तुलित रखते हुए पिण्डों को उचित स्थान व मार्ग प्रदान करती हैं।

उस समय उन लोकों (पिण्डों) के सम्मुख दो विकल्प होते हैं— एक विकल्प यह कि वे पिण्ड गुरुत्व बल के प्रभाव से निर्माणाधीन तारे में गिर जायें तथा दूसरा यह कि वे असुर ऊर्जा के प्रक्षेपक बल के प्रभाव से सदा के लिए उस तारे से दूर भाग जायें। यहाँ इस छन्द रश्मि की भूमिका उन लोकों को इन दोनों ही स्थितियों के मध्य एक सन्तुलित तृतीय स्थिति अर्थात् उचित कक्षा प्रदान करने में सहायक होती है। यहाँ 'वा' निपात का वैज्ञानिक प्रभाव ही आकाशीय पिण्डों को उपर्युक्त दोलन क्रिया कराने में विशेष भूमिका निभाता है।

अथापि समुच्चयार्थे भवति॥ ४॥

यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि 'वा' निपात समुच्चय अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अगले खण्ड में इसके उदाहरण के रूप में ऋचा प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= पञ्चमः खण्डः =

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा। [तै.सं.१.७.७.२] इति।

यह सम्पूर्ण ऋचा इस प्रकार है—

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गन्धर्वाः सप्तविꣳशतिः।
ते अग्रे अश्वमायुञ्जन् ते अस्मिञ्जवमादधुः॥ (तै.सं.१.७.७.२)

यजुर्वेद मा.सं. में यह ऋचा स्वल्प पाठभेद से इस प्रकार विद्यमान है—

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंꣳशतिः।
तेऽअग्रेऽश्वमयुञ्जँस्तेऽअस्मिन् जवमादधुः॥ (यजु.९.७)

इसका ऋषि बृहस्पति होने से इसकी उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से होती है। इसका देवता सेनापति है। इसके प्रभाव से सेनापति अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों का नायक सूत्रात्मा वायु विशेष सक्रिय होता है। इसका छन्द भुरिगुष्णिक् है। इस प्रकार इसके छान्दस प्रभाव से ऊष्मा की वृद्धि तथा विभिन्न छन्द रश्मियों का प्रभाव तीव्र होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (वातः) नाना प्रकार की प्राण रश्मियाँ (वा) एवं (मनः) मनस्तत्त्व (वा) एवं (सप्तविंशतिः) २७ प्रकार की विभिन्न रश्मियाँ अर्थात् सूत्रात्मा वायु, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय ये ग्यारह प्राथमिक प्राण रश्मियाँ, 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'स्वः', 'महः', 'जनः', 'तपः' एवं 'सत्यम्' ये आठ सूक्ष्म रश्मियाँ, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती ये सात छन्द रश्मियाँ तथा मन (गन्धर्वाः) ये सभी नाना प्रकार की तरंगों एवं लोकों को धारण करने वाली होती हैं। (ते) वे सब (अग्रे) सबसे पहले (अश्वम्) [अश्वः = कालः (कालो अश्वो वहति —अथर्व.१९.५३.१)] काल तत्त्व अर्थात् परा 'ओम्' रश्मियों के साथ (अयुञ्जन्) संयुक्त होते हैं। (ते) वे सभी पूर्वोक्त २७ पदार्थ (अस्मिन्, जवम्) [जवः = वीर्यं वै जवः (श.ब्रा.१३.४.२.२), जवति गतिकर्मा (निघं.२.१४)] उस काल के द्वारा

प्रेरित होने पर अति तीव्र वेग एवं उत्पादक बलों अर्थात् परस्पर संयोग-वियोग की प्रक्रिया को (आदधुः) सब ओर से धारण करने लगते हैं।

भावार्थ— सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत मन, परा 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'स्वः', 'महः', 'जनः, 'तपः', 'सत्यम्' आदि सूक्ष्म रश्मियाँ, सूत्रात्मा सहित कुल ग्यारह प्राथमिक प्राण रश्मियाँ एवं गायत्र्यादि सात छन्द रश्मियाँ परा 'ओम्' रश्मि अर्थात् काल तत्त्व की प्रेरणा से प्रकृति रूप मूल पदार्थ से उत्पन्न होते हैं। उसके पश्चात् उसी काल तत्त्व से संयुक्त वा प्रेरित होकर तीव्र वेग व संयोगादि बलों को प्राप्त करके नाना कर्म करने में सक्षम होते हैं।

ऋचा का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव— ब्रह्माण्ड में सभी सूक्ष्म रश्मियाँ नानाविध सक्रिय होकर विभिन्न प्रकार के बलों को समृद्ध करती हैं, जिससे सृष्टि में विभिन्न पदार्थों का निर्माण तेजी से होने लगता है। इनके द्वारा विभिन्न कण, तरंगें आदि तीव्रता से सक्रिय होकर विभिन्न प्रकार के लोकों की निर्माण व धारण प्रक्रियाओं में तेजी आती है। यहाँ 'वा' निपात का प्रयोग समुच्चय अर्थ में हुआ है। इसका वैज्ञानिक प्रभाव 'च' निपात की भाँति ही समझें।

अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण संप्रयुज्येते। अयमहेदं करोत्वयमिदम्। इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति।

अर्थात् 'अह' एवं 'ह' ये दोनों निपात विनिग्रह अर्थात् नियमन एवं पृथक् करने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने कोई वैदिक एवं आर्ष उदाहरण नहीं दिया है, बल्कि लौकिक उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। वे लौकिक उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. 'अयमहेदं करोत्वयमिदम्' अर्थात् (अयम्) यह व्यक्ति (अह) ही अर्थात् निश्चित रूप से (इदम्) इस कार्य को (करोतु) करे, (अयम्) यह व्यक्ति अर्थात् अन्य व्यक्ति (इदम्) इस कार्य को करे।

२. 'इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति' अर्थात् (इदम्) इस कार्य को (ह) ही अर्थात् निश्चित रूप से (करिष्यति) करेगा, (इदम्) इस कार्य को (न) नहीं (करिष्यतीति) करेगा।

इन उदाहरणों में 'अह' तथा 'ह' निपात यह नियम दर्शाने के लिए हैं कि कौन

किस कार्य को करेगा और कौन-२ सा कार्य ही करेगा? इससे नियमन तथा पृथक्करण दोनों ही प्रकट हो रहे हैं।

यदि ये निपात किसी वैदिक ऋचा में विद्यमान हों, तो इनका वैज्ञानिक प्रभाव इनके अर्थों के अनुसार ही प्रकट होगा अर्थात् ये उस छन्द रश्मि के द्वारा विभिन्न क्रियाओं को नियन्त्रित एवं पृथक्कृत करने में सहयोग करेंगे। यहाँ दोनों निपातों के वैज्ञानिक प्रभाव में समानता होते हुए भी भेद यह है कि 'अह' निपात 'अयम्' पद रूप सूक्ष्म रश्मि में पूर्ण व्याप्त होकर एक अभाव अर्थात् अवकाश उत्पन्न करके नियमन और पृथक्करण का कार्य करता है, जबकि 'ह' निपात 'इदम्' पद रूप सूक्ष्म रश्मि के अन्त में संयुक्त होकर वैसा ही अभाव उत्पन्न करते हुए अपना नियमन और पृथक्करण प्रभाव दर्शाता है।

अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण। मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्तीति। अथापि पदपूरणः। इदमु। तदु।

इसके अनन्तर चर्चा करते हुए कहते हैं कि 'उ' निपात भी पूर्वोक्त अर्थात् विनिग्रह अर्थ में प्रयुक्त होता है अर्थात् निगमन और पृथक्करण अर्थ में इसका प्रयोग होता है। इसके साथ ही यह निपात उत्तरपद के साथ संयुक्त होता है। इसका लौकिक उदाहरण देते हुए कहा है—

'मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्तीति'

अर्थात् ये व्यक्ति मिथ्याभाषण करते हैं और वे व्यक्ति सत्य ही बोलते हैं। यहाँ दो व्यक्ति-समूहों को 'उ' निपात पृथक् भी करता है और नियमन वा निश्चयात्मक जानकारी भी देता है कि कौन सत्य बोलता है। यहाँ 'उ' निपात को उत्तरपद अर्थात् 'सत्यम्' पद के साथ संयुक्त किया गया है।

'उ' निपात यदि किसी वैदिक ऋचा में प्रयुक्त होता है, तब वह उत्तरपद जो कि इस लौकिक उदाहरण में 'सत्यम्' है, के अन्त में तथा आगामी पद रूप रश्मि के मध्य कुछ ऊपर स्थित होकर उपर्युक्त नियमन और पृथक्करण की क्रियाओं को सम्पन्न कराने में अपनी भूमिका निभाता है। यह इसका 'अह' एवं 'ह' निपातों के साथ भेद है।

इसके पश्चात् कहते हैं कि 'उ' निपात उपर्युक्त विनिग्रह अर्थ के अतिरिक्त पादपूर्ति

के लिए भी प्रयुक्त होता है, जिसका वहाँ कोई अर्थ नहीं होता है। इतने पर भी इस 'उ' निपात का यह वैज्ञानिक प्रभाव तो होता ही है कि इसके प्रयोग से किसी भी छन्द में एक अक्षर बढ़ जाने से उसका छान्दस प्रभाव प्रभावित होता है।

यहाँ 'उ' निपात 'सत्यम्' पदरूप रश्मि के पश्चात् एवं अगली पदरूप रश्मि के पूर्व कुछ दूर स्थित रहकर मात्र उस ऋचा के अक्षरों में एक संख्या की वृद्धि करके उसके छान्दस प्रभाव को ही निर्धारित करने में सहयोग करता है।

हीत्येषोऽनेककर्मा। इदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे। कथं हि करिष्यतीत्यनुपृष्टे। कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्।

यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि 'हि' निपात अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरण निम्नानुसार हैं—

१. 'इदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे।' यहाँ 'हि' निपात का प्रयोग हेतु अर्थात् कारण के अपदेश अर्थात् कथन में किया जाता है। यहाँ कहा गया है कि इस कार्य को इस कारण करेगा। यहाँ कोई भी कारण हो सकता है, जिसे वक्ता कह रहा है। जैसे कोई दण्ड के भय अथवा पुरस्कार प्राप्त करने के उद्देश्य से करेगा।

२. 'कथं हि करिष्यतीत्यनुपृष्टे।' यहाँ अनुप्रश्न अर्थ में 'हि' निपात का प्रयोग किया गया है। यहाँ प्रश्न यह किया गया है कि वह इस कार्य को क्यों करेगा?

३. 'कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्।' यहाँ 'हि' निपात असूया अर्थात् निन्दा अथवा गुण में दोषदर्शन अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ कहा गया है कि वह इस तथ्य को कैसे बताएगा? यहाँ 'कैसे' इस प्रश्नवाचक शब्द का प्रयोग किसी के कहने की शैली को जानने के लिए नहीं किया गया, बल्कि यह निन्दा अर्थ में किया गया है। जहाँ किसी की योग्यता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए निन्दा की गई है कि वह व्यक्ति कुछ योग्यता तो नहीं रखता, फिर वह उस तथ्य को कैसे बताएगा?

यहाँ भी ग्रन्थकार ने कोई वैदिक अथवा आर्ष उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि लौकिक उदाहरण ही दर्शाए हैं। यदि वेदमन्त्रों में इस निपात का प्रयोग कहीं किया गया होगा, तो उनमें इस निपात का वैज्ञानिक प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार होगा—

१. [अपदेश: = अप+दिश् = प्रस्तुत करना, दिखलाना (आप्टे कोष)] 'हि' संज्ञक निपात रश्मि कर्त्ता अथवा कर्म संज्ञक पद के अन्तिम भाग के निकट स्पन्दित होते हुए हेतु (हेतु: = हि+तुन्, हि - हिनोति = उकसाना) अर्थात् उस पदरूप रश्मि को निरन्तर उत्तेजित करने में सहायक होती है।

२. यहाँ 'हि' संज्ञक निपात रश्मि कर्त्ता संज्ञक पदरूप रश्मि के अति निकट स्पन्दित होती हुई दूरस्थ कर्मरूप पदार्थों से भी अन्योन्य क्रिया करती है।

३. 'हि' संज्ञक निपात रश्मि कर्त्ता संज्ञक पदरूप रश्मि के निकट संकुचित गति करती हुई कर्म संज्ञक पदार्थों के प्रति प्रतिकर्षक प्रभाव दर्शाने में सहयोग करती है। ध्यान रहे कि यह प्रभाव वैदिक ऋचाओं में ही दृष्टिगोचर होता है।

किलेति विद्याप्रकर्षे। एवं किलेति।
अथापि न ननु इत्येताभ्यां सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। न किलैवम्। ननु किलैवम्।

अर्थात् 'किल' निपात विद्या के प्रकर्ष अर्थात् उत्कर्ष के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका उदाहरण देते हुए 'एवं किल' को उद्धृत किया है। यहाँ इस बात को दृढ़ता से कहा गया है कि यह ऐसा ही है। यहाँ कोई व्यक्ति अपनी विद्या की उत्कृष्टता पर विश्वास करके दृढ़तापूर्वक किसी तथ्य की यथार्थता को बतला रहा है। यदि किसी वैदिक ऋचा अर्थात् छन्दरूप रश्मि में 'किल' यह पद रश्मि विद्यमान हो, तब यह 'किल' रश्मि छन्द रश्मि के सम्बन्धित प्रभाव को उत्कृष्टता प्रदान करने में सहायक होती है। ग्रन्थकार ने यहाँ कोई वैदिक अथवा आर्ष वचनों को उद्धृत नहीं किया है, बल्कि लौकिक उदाहरण ही दर्शाया है।

अब इसके 'न' तथा 'ननु' के साथ प्रयोग की चर्चा करते हुए कहते हैं कि तब 'किल' निपात अनुप्रश्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका उदाहरण देते हुए लिखते हैं—

'न किलैवम्' अर्थात् क्या ऐसा नहीं है? एवं 'ननु किलैवम्' अर्थात् क्या वास्तव में ऐसा है? ये दोनों प्रयोग भी लौकिक हैं।

यदि 'किल' निपात 'न' व 'ननु' के साथ वैदिक छन्द रश्मियों में प्रयुक्त होवे, तो वहाँ 'किल' का प्रभाव पूर्वोक्त 'हि' निपात के अनुप्रश्न विषय के समान समझें।

मेति प्रतिषेधे। मा कार्षीः। मा हार्षीरिति च।

अर्थात् 'मा' निपात प्रतिषेध अर्थ में प्रयुक्त होता है। ग्रन्थकार ने इसके भी लौकिक उदाहरण निम्नानुसार दिए हैं—

'मा कार्षीः' मत करो। 'मा हार्षीः' मत ले जाओ।

यदि 'मा' निपात किसी वैदिक ऋचा अर्थात् छन्द रश्मि में विद्यमान हो, तब उसका अर्थ तो यही होगा, परन्तु सृष्टि प्रक्रिया पर भी उसका प्रभाव अवश्य होगा। इस प्रभाव से कर्त्ता संज्ञक पदरूप रश्मि सम्बन्धित क्रिया को करने में बाधा का अनुभव करने से वह कर्त्ता संज्ञक पदरूप रश्मि सम्बन्धित क्रिया का प्रभाव नहीं दर्शा पायेगी। यह निपात संज्ञक सूक्ष्म रश्मि सम्बन्धित कर्त्ता संज्ञक पदरूप रश्मि की शक्तियों को सीमित करके किंवा उसे बाँधकर निषिद्ध कर्म करने से रोक देती है।

खल्विति च। खलु कृत्वा। खलु कृतम्। अथापि पदपूरणः।
एवं खलु तद् बभूवेति।

'खलु' निपात भी 'मा' निपात की भाँति ही निषेध अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरण निम्न प्रकार दर्शाए हैं—

'खलु कृत्वा' अर्थात् न करके एवं 'खलु कृतम्' अर्थात् नहीं किया।

ये दोनों उदाहरण लौकिक हैं। यदि यह 'खलु' निपात निषेध अर्थ में वैदिक छन्द रश्मियों में विद्यमान हो, तब इसके वैज्ञानिक प्रभाव से कोई भी कर्त्ता संज्ञक पदार्थ सम्बन्धित अर्थात् निषिद्ध क्रिया को नहीं कर पाएगा, यही खलु निपात का प्रयोजन और प्रभाव है।

यहाँ 'खलु' संज्ञक निपात रश्मि कर्त्ता संज्ञक पदरूप रश्मि के निकट कुछ ऊपर रमण करती हुई कुछ अवकाश उत्पन्न करने में सहायक होती है, इससे वह रश्मि निषिद्ध कर्म नहीं कर पाती। यहाँ पाठक निषेधार्थक दोनों निपातों 'मा' व 'खलु' की क्रिया-प्रणाली में भेद समझ सकते हैं। इसके पश्चात् ग्रन्थकार इसको पदपूरण अर्थ में भी प्रयुक्त मानते हैं, इसका उदाहरण देते हुए लिखा है—

'एवं खलु तद् बभूब' अर्थात् वह कार्य इस प्रकार हुआ। यहाँ 'खलु' निपात का कोई अर्थ नहीं है, बल्कि यह केवल पदपूर्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। पाठक पदपूर्ति का आशय पूर्ववत् समझ सकते हैं। यदि यह निपात पदपूरणार्थ प्रयुक्त हुआ हो, तो उसका वैज्ञानिक प्रभाव भी 'उ' निपात की भाँति पूर्ववत् समझ सकते हैं।

शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। शश्वदेवमित्यनुपृष्टे। एवं शश्वदित्यस्वयं पृष्टे।

अर्थात् भाषा में 'शश्वत्' निपात का प्रयोग संशय अर्थ में होता है। यहाँ 'भाषायाम्' पद का प्रयोग यह दर्शाता है कि वेद में इस निपात का प्रयोग संशय अर्थ में नहीं हो सकता। 'भाषायाम्' पद के प्रयोग से अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध होता है कि इस निपात का प्रयोग अन्य अर्थों में वेद में भी हो सकता है। इसी कारण टीकाकार आचार्य दुर्ग ने लिखा है— 'छन्दसि पुनरन्येष्वप्यर्थेषु भवति विचिकित्सार्थीयः संशयार्थः'। इसका आशय यह है कि अनुप्रश्न अर्थ में तथा अस्वयं प्रश्न अर्थ में इस निपात का प्रयोग वेद में भी होता है। यहाँ भाषा में इसके प्रयोग का उदाहरण देते हुए लिखा है— 'शश्वत् इति'। इसका अर्थ है— 'क्या ऐसा ही है'? वेद में अनुप्रश्न अर्थ में इसका प्रयोग पूर्ववत् समझें और उसका वैज्ञानिक प्रभाव भी पूर्ववत् समझें। यहाँ अनुप्रश्न अर्थ में उदाहरण है— 'शश्वत् एवं' अर्थात् 'क्या सदा ऐसा ही है'? अस्वयं प्रश्न अर्थात् दूसरे द्वारा पूछे जाने का उदाहरण देते हुए लिखा है— 'शश्वत् इति' अर्थात् 'इस प्रकार ही'।

यदि वेद में अस्वयं प्रश्न अर्थ में 'शश्वत्' का प्रयोग होवे, तब इस निपातरूप सूक्ष्म रश्मि के कारण अन्य रश्मि आदि पदार्थ इस रश्मि अथवा इससे युक्त किसी छन्द रश्मि को खोज-२ कर आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं। वैदिक छन्द रश्मियों में विद्यमान 'शश्वत्' निपात रूप रश्मि यदि 'एवं' पद से पूर्व हो, तब वह अपने पूर्ववर्ती अन्य पद तथा 'एवं' पद के बीच कुछ नीचे के भाग में स्पन्दित और दीप्तिमती होती हुई व्याप्त होकर अन्य संयोज्य रश्मि आदि पदार्थों को खोजती व आकर्षित करती रहती है। जब 'शश्वत्' निपात के पश्चात् 'इति' पद विद्यमान हो, तब यह 'शश्वत्' रश्मि दो पदों के मध्य पूर्ववत् स्पन्दित और प्रकाशित होती हुई अन्य संयोजक छन्दादि रश्मियों द्वारा दूर-२ से आकृष्ट होती रहती है। इस प्रकार की क्रिया निरन्तर होती हुई विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर संयुक्त करने

में सहायक होती है।

नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्।
उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च।

अब कहते हैं कि 'नूनम्' निपात लोकव्यवहार में विचिकित्सा अर्थात् संशय अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके साथ ही अन्वध्याय अर्थात् वेद में उभयम् अर्थात् संशय तथा पदपूरण इन दोनों अर्थों में 'नूनम्' निपात का प्रयोग होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि लोक में तो विचिकित्सा का अर्थ संशय उचित है, परन्तु वेद में विचिकित्सा का अर्थ क्या ग्रहण किया जाये?

इस विषय में आचार्य विश्वेश्वर अपने निरुक्त-भाष्य में स्कन्दस्वामी को उद्धृत करते हुए लिखते हैं— ''विचिकित्सेति यद्यपि लोके सन्देह उच्यते, 'धर्मे न विचिकित्सा कार्या', 'वेदवचने का विचिकित्सा' इति तथापीहोदाहरणेष्वसम्भवात् न सन्देहो विचिकित्सा उच्यते। किन्तर्हि-निश्चयः।''

उधर टीकाकार आचार्य दुर्ग ने विचिकित्सा का अर्थ करते हुए कहा है—

'विचिकित्सानामाविवेकपूर्वकोऽवधारणाभिप्रायः।'

इस प्रकार इन दोनों ही आचार्यों की दृष्टि में विचिकित्सा का अर्थ संशय के स्थान पर निश्चय ही सिद्ध होता है। हमारे मत में स्कन्दस्वामी एवं आचार्य दुर्ग का मत उचित ही है कि वेद में 'विचिकित्सा' का अर्थ निश्चय एवं पदपूरण ग्रहण करना चाहिए। ध्यातव्य है कि ऋषि दयानन्द ने भी इस मन्त्र के भाष्य में निश्चय अर्थ ही ग्रहण किया है। सृष्टि में इसके कारण सम्बन्धित घटनाओं के घटने की सम्भावना बहुत अधिक बढ़ जाती है।

अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार।
स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे॥ ५॥

[हविः = मनो हविः (तै.आ.३.६.१), उदकनाम (निघं.१.१२)] अगस्त्य ऋषि अर्थात् प्राथमिक प्राण रश्मियाँ, जिन पर किसी अगस् अर्थात् बाधक दोष का प्रभाव नहीं होता, मन की विभिन्न रश्मियों को इन्द्रतत्त्व को लक्ष्य बनाकर प्रक्षिप्त करती हैं किंवा उस इन्द्र

तत्त्व पर सेचन करती हैं। इस सेचन वा प्रक्षेपण से इन्द्रतत्त्व के साथ क्रीडा करती हुई मरुद् रश्मियाँ मन की रश्मियों को ग्रहण वा अवशोषित करने लगती हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन्द्रतत्त्व के साथ मरुद् रश्मियों की विद्यमानता सर्वविदित है। इसे दर्शाते हुए तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने कहा है—

मरुत्वान् वा इन्द्रः (जै.ब्रा.१.११६)
मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रꣳ हनिष्यन्तमिन्द्रमागतम् (श.ब्रा.२.५.३.२०)

इस प्रकार जब कभी किन्हीं सूक्ष्म रश्मियों का प्रक्षेपण, सेचन वा प्रहार इन्द्र तत्त्व पर होता है, तब उन रश्मियों को इन्द्रतत्त्व के चारों ओर स्पन्दित होती मरुद् रश्मियाँ ही ग्रहण वा अवशोषित करती हैं, यही बात यहाँ कही गयी है।

इस प्रक्रिया से इन्द्रतत्त्व पर क्या प्रभाव होता है, यह दर्शाते हुए भगवद् यास्क कहते हैं कि इससे इन्द्रतत्त्व वहाँ व्याप्त होकर सब ओर से कान्तिमान् और बलवान् होकर असुरादि बाधक रश्मि, वैदिक डार्क ऊर्जा अदि पदार्थों को नियन्त्रित करने लगता है। इस विज्ञान को दर्शाते हुए ग्रन्थकार अगले खण्ड में एक ऋचा प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं वि नश्यति॥ [ऋ.१.१७०.१]
न नूनमस्त्यद्यतनम्। नो एव श्वस्तनम्। अद्यास्मिन्द्यवि। द्युरित्यह्नो नामधेयम्। द्योतत इति सतः। श्व उपाशंसनीयः कालः। ह्यो हीनः कालः।
कस्तद्वेद यदद्भुतम्। कस्तद्वेद यदभूतम्। इदमपीतरदद्भुतमभूतम् इव।
अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्यम्। अभिसञ्चारि। अन्यो नानेयः। चित्तं चेततेः। उताधीतं विनश्यतीति। अप्याध्यातं विनश्यति। आध्यातम्। अभिप्रेतम्।

इस ऋचा का ऋषि अगस्त्य, देवता इन्द्र, छन्द स्वराडनुष्टुप् एवं स्वर गान्धार है।

इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त अगस्त्य अर्थात् प्राणादि प्राथमिक प्राण रश्मियों से होती है। इससे इन्द्रतत्त्व समृद्ध होता है। इसके छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व प्रकाशमान् होकर नाना प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों को धारण करता है।

आधिदैविक भाष्य—

अब इसके आधार पर ऋचा के आधिदैविक भाष्य को समझने का प्रयास करते हैं—

(यत्) जो (अन्यस्य) 'अन्यो नानेय:' किसी भी प्रकार से ग्रहण न करने योग्य (चित्तम्) 'चित्तं चेतते:' मनस्तत्त्व की अति सूक्ष्म रश्मियाँ (अभि, सञ्चरेण्यम्) 'अभिसञ्चारि' सब ओर अच्छी प्रकार से गमन करने वाली होती हैं। इनका गमन ऐसा होता है कि किसी भी तकनीक से उसका बोध नहीं हो सकता अथवा मानो वे सर्वत्र व्याप्तवती होकर गमन करती हैं। वे मन की रश्मियाँ (उत, आधीतम्) 'अप्याध्यातम् आध्यातम् अभिप्रेतम्' प्राण वा मरुद् रश्मियों द्वारा धारण की जाती हुई भी (विनश्यति) विनष्ट हुई सी अर्थात् अदृष्ट-अग्राह्य ही रहती हैं। इसी कारण इन्हें अन्य अर्थात् न लाने वा ग्रहण करने योग्य कहा है। यहाँ 'न' निपात को दो बार भी ग्रहण किया जा सकता है। (न, विनश्यति) वह मनस्तत्त्व सब ओर व्याप्त रहने के कारण अदृष्ट व अग्राह्य होते हुए भी कभी नष्ट नहीं होता है।

(न, नूनम्, अस्ति) 'न नूनमस्त्यद्यतनम् अद्यास्मिन्द्यवि द्युरित्यह्नो नामधेयं द्योतत इति सत:' निश्चित ही इसकी रश्मियाँ वर्तमान में वर्तमान प्रतीत होती हैं (नो, श्व:) 'नो एव श्वस्तनं श्व उपाशंसनीय: काल: ह्यो हीन: काल:' और न ही भावी किसी काल में प्रतीत हो सकती हैं। यहाँ 'द्यु द्योतते' यह महर्षि यास्क का वचन यह भी संकेत करता है कि जब मनस्तत्त्व प्राणादि रश्मियों को प्रकाशित वा सक्रिय कर रहा हो, उस समय भी मन की रश्मियों की अनुभूति नहीं हो सकती अर्थात् वे अविद्यमानवती ही रहती हैं। इसके साथ ही मन की रश्मियाँ काल के उपाशंसनीय स्वरूप में विद्यमान हों अर्थात् काल तत्त्व सृष्टिरूपी संघात को विखण्डित करने का कार्य कर रहा हो, ['उप' का उपजन अर्थ में ग्रहण करने पर उपाशंसनीय काल का यही अर्थ निकलता है।] तब भी वे अविद्यमानवती ही रहती हैं। वस्तुत: उनकी वास्तविक सत्ता का अभाव नहीं होता। हाँ, जब काल तत्त्व मनस्तत्त्व को विखण्डित कर रहा हो, तभी मन की रश्मियों का वास्तविक विनाश होता है अर्थात् वे

अपने कारण पदार्थ महत् व पुनः प्रकृति में लीन हो जाती हैं।

(कः, तद्, अद्भुतम्, वेद) 'कस्तद्वेद यदद्भुतं कस्तद्वेद यदभूतम् इदमपीतरदद्भुतमभूतम् इव' [प्राणो वाव कः (जै.उ.४.११.१.४)] प्राण रश्मियाँ उस अपने सापेक्ष अनुत्पन्न मनस्तत्त्व पदार्थ एवं उसकी अति सूक्ष्म रश्मियों को अपने अन्दर व्याप्त रखती हैं एवं उनको जानती अर्थात् अनुभव भी करती हैं। ध्यातव्य है कि जड़ प्राण रश्मियों को कोई ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु मन की रश्मियों से ही निर्मित व उस तत्त्व में उत्पन्न वाक् रश्मियों से प्रेरित होने से मानो वे सदैव मनस्तत्त्व को अनुभव करती हैं, ऐसा यहाँ दर्शाया है। इस भाष्य में 'नूनम्' का अर्थ 'निश्चित है', ऐसा दर्शाने के लिए ही इस ऋचा को ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'ह्यः' का अर्थ 'हीनः कालः' अर्थात् व्यतीत हुआ काल किया है।

भावार्थ— इस सृष्टि में समष्टि मनस्तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सदैव अविद्यमानवत् ही रहता है। इसका कारण यह है कि किसी भी वैज्ञानिक तकनीक से उसे नहीं जाना जा सकता। सभी प्राण व वाक् रश्मियाँ मनस्तत्त्व में ही उत्पन्न वा स्पन्दित होती हैं।

अथापि पदपूरणः ॥ ६ ॥

और 'नूनम्' निपात पदपूरण अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरण के रूप में अगली ऋचा को उद्धृत करते हैं।

* * * * *

सप्तमः खण्डः

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥

[ऋ.२.११.२१]

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा।

मघोनी मघवती। मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः।
दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः। व्यृद्धं समर्धयतीति।
अपि वा प्रदक्षिणागमनाद् दिशमभिप्रेत्य। दिग्धस्तप्रकृतिः।
दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः। दाशतेर्वा स्याद् दानकर्मणः।
हस्तो हन्तेः। प्राशुर्हनने। देहि स्तोतृभ्यः कामान्। मास्मानतिदंहीः।
मास्मानतिहाय दाः। भगो नोऽस्तु। बृहद्वदेम स्वे वेदने। भगो भजतेः।
बृहदिति महतो नामधेयम्। परिबृळहं भवति। वीरवन्तः। कल्याणवीरा वा।
वीरो वीरयत्यमित्रान्। वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। वीरयतेर्वा।

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है। [गृत्समदः = स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद् गृत्समदः (ऐ.आ.२.२.१)] इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण और अपान के युग्म से होती है। इसका देवता इन्द्र होने से इसके दैवत प्रभाव से इन्द्र तत्त्व समृद्ध होता है। इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण तेज और बल उत्पन्न होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (इन्द्र, ते) उस सूर्यलोक में (दक्षिणा, मघोनी) 'दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः मघोनी मघवती मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः' [दक्षिणा = अन्नं दक्षिणाः (ऐ.ब्रा.६.३), दक्षिणा वै स्तावाः (श.ब्रा.९.४.१.११), दक्षिणाः सावित्री (गो.पू. १.३३)। मघम् = धननाम (निघं.२.१०), धनं धिनोतीति सतः (निरु.३.९), धिनोति = सन्तुष्ट होना या करना, समीप आना या जाना (सं.धातु.को.)] विभिन्न प्रकार के आवेशित कणों की प्रकाशमती धाराएँ नाना प्रकार की क्रियाओं को समृद्ध करती हैं। वे धाराएँ परस्पर निकट आती हुई एक-दूसरे को तृप्त करती हैं। वे धाराएँ नाना प्रकार के बलों को बढ़ाती हुई (जरित्रे) 'जरिता गरिता' [जरिता = यजमानो जरिता (ऐ.ब्रा.३.३८), स्तोतृनाम (निघं.३.१६)] नाना प्रकार के कणों और उनकी विशाल धाराओं को तेजस्वी और संयोजनीय बनाने के लिए (वरम्) 'वरो वरयितव्यो भवति' [वरम् = वर इव वै स्वर्गो लोकः (जै.ब्रा.२.९९)] उस सूर्यलोक के सर्वश्रेष्ठ भाग अर्थात् केन्द्रीय भाग को (नूनम्) [पदपूर्ति के लिए प्रयुक्त] (प्रति, दुहीयत्) 'प्रतिदुग्धाम्' परिपूर्ण करती हुई (स्तोतृभ्यः) 'स्तोतृभ्यः कामान्' [स्तोता = वायुर्वै स्तोता (श.ब्रा.१३.२.६.२)] उस सूर्यलोक को

संतप्त वायु रश्मियाँ अर्थात् विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियाँ (शिक्ष) 'देहि' [शिक्षा = शिक्ष, छान्दस प्रयोग] प्रदान करती हैं अर्थात् उत्पन्न करती हैं।

(मा, अति, धक्) 'मास्माततिदंही: मास्मानतिहाय दा:' वे धाराएँ एवं विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ, जो समुचितरूपेण संतप्त हो चुकी होती हैं, उस सूर्यलोक को अत्यन्त गर्म नहीं करती हैं। इसका आशय यह है कि सूर्यलोक का ताप उस सीमा तक ही बढ़ता है, जिससे सूर्य के अस्तित्व को कोई संकट प्राप्त न हो सके। (सा) वे सभी धाराएँ व रश्मियाँ (न:) हमारे लिये अर्थात् इस छन्द रश्मि के उत्पादक प्राण और अपान के युग्म के लिए (बृहत्, भग:) 'भगो भजते: बृहदिति महतो नामधेयं परिबृळहं भवति' [भग: = यज्ञो भग: (श.ब्रा.६.३.१.१९), भगो वा असौ (द्यौ:) (जै.ब्रा.१.३३०)] पूर्ण विस्तृत सूर्यलोक को उपभोग के योग्य बनाती हैं अर्थात् प्राणापान का यह युग्म सम्पूर्ण सूर्यलोक में नाना प्रकार की हो रही क्रियाओं में सतत भाग लेता रहता है। यद्यपि प्राण और अपान रश्मियाँ संयुक्त रूप में ही कार्य करती हुई सर्वत्र ही अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं, पुनरपि यहाँ इसे दर्शाने का तात्पर्य यह है कि सूर्यलोक में प्राण और अपान का एक विशेष संयुक्त रूप, जो गृत्समद ऋषि के रूप में कार्य करता है, सम्पूर्ण सूर्यलोक में होने वाली उपर्युक्त क्रियाओं में अनिवार्यत: भाग लेता है। इसके कारण (सुवीरा:) 'वीरवन्त: कल्याणवीरा वा वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मण: वीरयतेर्वा' [वीर: = अत्ता हि वीर: (श.ब्रा. ४.२.१.९), प्राण वै दश वीरा: (श.ब्रा.१२.८.१.२२)] प्राण, अपान आदि दसों प्राथमिक प्राण रश्मियाँ सुन्दर रूप से सक्रिय होकर नाना बाधक सूक्ष्म रश्मियों को कँपाती हुई दूर फेंकने में समर्थ होती हैं। (विदथे) 'स्वे वेदने' [विदथ: = यज्ञनाम (निघं.३.१७)] इससे उस सूर्यलोक में होने वाली नाना प्रकार की संयोग आदि क्रियाएँ, विशेषकर उसके केन्द्रीय भाग में होने वाली संलयन आदि क्रियाएँ (वदेम) [वदति = गतिकर्मा (निघं.२.१४), यद्वै वदति शंसतीति वै तदाहु: (श.ब्रा.१.८.२.१२)] तीव्र गतिशील होती हुई तीक्ष्ण रश्मियों को उत्पन्न करती हैं।

यहाँ हम ग्रन्थकार की व्याख्या में उल्लिखित कुछ बिन्दुओं पर अतिरिक्त विचार करते हैं। 'दक्षिणा' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

व्यृद्धं समर्धयतीति अपि वा प्रदक्षिणागमनाद् दिशमभिप्रेत्य दिग्धस्तप्रकृति: दक्षिणो

हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः दाशतेर्वा स्याद् दानकर्मणः हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने।

इस कथन से यह अर्थ निकलता है कि उपर्युक्त दक्षिणा संज्ञक विभिन्न धाराएँ सूर्यलोक के अन्दर होने वाली विभिन्न क्रियाओं में जो-२ भी निर्बलता वा न्यूनता होती है, उसे समृद्ध करने का कार्य करती हैं। इसके अतिरिक्त 'दक्षिणा' शब्द का अर्थ है— सूर्यलोक के दक्षिणी भाग का तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होना। इस विषय में एक तत्त्ववेत्ता ऋषि का भी कथन है— घोरा वा एषा दिग्दक्षिणा शान्ता इतराः (गो.पू.२.१९)। इसका आशय भी यही है कि किसी तारे का दक्षिणी भाग अन्य भागों की अपेक्षा अधिक सक्रिय और अशान्त होता है, इस कारण अन्य भाग की अपेक्षा उसका ताप भी अधिक होगा। इसके लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' १.७ पठनीय है। दक्षिण दिशा सूर्याभिमुख खड़े व्यक्ति के दायें हाथ की ओर होती है। दाहिने हाथ को दक्षिण हस्त इस कारण कहते हैं, क्योंकि प्रायः यह हाथ बायें हाथ की अपेक्षा अधिक बलवती क्रिया से युक्त होता है अथवा लेन-देन व प्रक्षेपण का कार्य इसी हाथ से किया जाता है। हाथ को हस्त इस कारण कहते हैं, क्योंकि शरीर के अंगों में यही अंग अधिक स्फूर्तिपूर्वक किसी वस्तु को ग्रहण करने अथवा चोट पहुँचाने में काम आता है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में लिखे आशीर्वचन में आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश ने इस निर्वचन पर महर्षि यास्क का ही उपहास कर डाला है, यह विडम्बना है। क्या शरीर में हाथ के समान अन्य कोई ऐसा अंग है, जो इन सभी क्रियाओं को शीघ्रतापूर्वक कर सके? इसी कारण तो ऋषियों ने प्राणों को हस्त संज्ञा दी है।

'माति' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'मास्मानतिदंहीः मास्मानतिहाय दाः'। इसका आशय यह है कि दक्षिणा संज्ञक विभिन्न धाराएँ दक्षिणी भाग का अतिक्रमण करके किसी अन्य भाग में नहीं जा सकतीं अर्थात् वे धाराएँ दक्षिणी भाग की ओर ही प्रवाहित होती हुई अन्य भागों की ओर गमन करती हैं, किन्तु वे दक्षिणी भाग को ही अधिक सक्रिय व गर्म करती हैं। यहाँ ग्रन्थकार के इस कथन 'भगो नोऽस्तु बृहद्वदेम स्वे वेदने' का आशय यह है कि गृत्समद नामक ऋषि रश्मियाँ भगयुक्त होती हैं अर्थात् संयोग आदि क्रियाओं में विशेष प्रवृत्त होती हैं, जिससे वे अपनी व्याप्ति के होने पर व्यापक रूप से गमन आदि क्रियाओं को सम्पादित करने में सक्षम होती हैं। इसका आशय यही है कि सूर्यलोक की विभिन्न क्रियाओं को विशेष गतिशील बनाने में इन

ऋषिरूप प्राण रश्मियों की विशेष भूमिका होती है। ग्रन्थकार के 'वीरवन्तः कल्याणवीरा वा' इस कथन से केवल यही संकेत मिल रहा है कि 'सुवीर' का तात्पर्य [कल्याणम् = कल्याणं कमनीयं भवति (निरु.२.३)] विशेष रूप से आकर्षण आदि बलों से युक्त प्राण रश्मियाँ है।

भावार्थ— सूर्यलोक में आवेशित कणों की विशाल धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं। इससे नाना प्रकार की प्राण व छन्द रश्मियाँ और अधिक सक्रिय होती रहती हैं। इनकी क्रियाएँ सूर्य के ताप को सन्तुलित रखती हैं। प्राणादि रश्मियाँ सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त रहकर नाना असुर रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करती रहती हैं। सूर्य के केन्द्रीय भाग में अति तीक्ष्ण विकिरण उत्पन्न होते हैं, जो उसके बाहरी तल तक आते-२ प्रकाश किरणों में परिवर्तित हो जाते हैं। सूर्यलोक का दक्षिणी भाग सर्वाधिक अशान्त व उष्ण होता है।

सीमिति परिग्रहार्थीयो वा। पदपूरणो वा।
प्र सीमादित्यो असृजत्॥ [ऋ.२.२८.४]
प्रासृजदिति वा। प्रासृजत्सर्वत इति वा।
वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः [यजु.१३.३] इति च।
व्यवृणोत्सर्वत आदित्यः। सुरुच आदित्यरश्मयः। सुरोचनात्।
अपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणम्।
सीम्नः सीमतः सीमातो मर्यादातः। सीमा मर्यादा। विषीव्यति देशाविति।

यहाँ 'सीम्' निपात परिग्रह अर्थात् सब ओर से ग्रहण करने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस उद्धरण का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'प्रासृजत्सर्वत इति वा'। इसका अर्थ है कि आदित्य लोक ने सब ओर से प्रकृष्ट रूप में उत्पन्न किया। किसको उत्पन्न किया, इस बात की चर्चा इस उद्धरण में नहीं की गई है। हम भी विस्तारभय से इसकी चर्चा नहीं करेंगे। इस उद्धरण का यहाँ इतना ही प्रयोजन है कि 'सीम्' निपात 'सब ओर से' अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'प्रासृजदिति वा' उद्धरण का अर्थ किया है कि आदित्य लोक ने प्रकृष्ट रूप में उत्पन्न किया। यहाँ 'सब ओर से' पदों को छोड़ दिया गया है। इससे ग्रन्थकार यह कहना चाह रहे हैं कि 'सीम्' निपात बिना किसी अर्थ के

केवल पदपूर्ति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इस निपात के सृष्टि प्रक्रिया पर दो प्रभाव होते हैं—

कहीं-२ परिग्रह अर्थ के अनुकूल क्रियाएँ सब ओर हो रही होती हैं, तो कहीं-२ केवल 'सीम्' निपात छन्द रश्मि के अक्षरों की संख्या के कारण छान्दस प्रभाव उत्पन्न करने में अपनी भूमिका निभाता है। इस पद का पृथक् से सृष्टि प्रक्रिया पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसके पदपूरण अर्थ का यही आशय स्पष्ट होता है।

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने यजुर्वेद १३.३ के द्वितीय पाद को उद्धृत किया है, जिसमें मुख्य प्रयोजन 'सीम्' निपात का अर्थ दर्शाना ही है, परन्तु प्रसंगवश इस पाद में एक गम्भीर विज्ञान को दर्शाया गया है।

अब हम ऋचा के इस पाद की ग्रन्थकार द्वारा की गई उपर्युक्त व्याख्या में दर्शाये गये गम्भीर विज्ञान पर विचार करते हैं। यहाँ महर्षि यास्क सुन्दर रूप से चमकने वाली होने के कारण सूर्य की रश्मियों को सुरुच कहते हैं। अब उस सूर्य से ये रश्मियाँ कैसे निकलती हैं, इस विषय में मन्त्र का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'व्यवृणोत्सर्वत आदित्यः'। इसका अर्थ यह है कि वह आदित्यलोक अपनी रश्मियों को सब ओर से खोलता है। यहाँ 'सीम्' निपात का अर्थ 'सर्वतः' अर्थात् सब ओर से है। सूर्य का अपनी रश्मियों को खोलना यह संकेत करता है कि मानो वे रश्मियाँ सूर्य के अन्दर किसी आवरण से ढकी हुई होती हैं, उस आवरण को जैसे ही हटाया जाता है, वे रश्मियाँ सूर्य से बाहर अन्तरिक्ष में गमन करने लगती हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए निरुक्त भाष्यकार पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर लिखते हैं—

''वस्तुतः अहः और रात्रिः अति सूक्ष्म पदार्थ हैं। उन से सूर्य आवृत है। ये दोनों आप्य और आग्नेय परमाणुओं के योग का फल हैं। इन्हीं से आगे संवत्सर बना है। इसी लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में— अग्निः संवत्सरः (तां.ब्रा.१७.१३.१७), संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः (ऐ.ब्रा.३.४१) ऐसे प्रवचन हैं।

यह विद्या आज संसार से लुप्त है, योरोपीय लोग इस सूर्य विद्या के समीप नहीं पहुँचे। अतः हम योरोप और अमेरिका के वैज्ञानिकों के भय से इस विद्या से मुख नहीं मोड़ सकते। योरोप का विज्ञान अत्यल्प और अधूरा है। वैदिक ज्ञान आर्ष, अतः पूर्ण सत्य

है। इसी रात्रिः के कोश में से आदित्य अपनी किरणों को भले प्रकार से खोलता है।''

निश्चित ही पण्डित जी आर्यसमाज के एक महान् वैदिक विद्वान् थे, जिन्होंने सबसे पहले वैदिक वाङ्मय की असाधारण वैज्ञानिकता को समझने का प्रयास किया और इन्हीं के ग्रन्थों से मुझे भी ऐसी प्रेरणा हुई, परन्तु यहाँ पण्डित जी के इस निष्कर्ष (जब वह आदित्य उदय होता है। इस ही सुवर्णा कुशी के अनुकूल होता है। फिर जब अस्तता को प्राप्त होता है, इस ही कुशी में अनुप्रविष्ट होता है) से यदि हम यह समझें कि दिन-रात होने की प्रक्रिया पृथ्वी के अक्ष पर घूर्णन के कारण नहीं होती है, बल्कि सूर्य द्वारा अपनी रश्मियों के खोलने और वापिस समेटने के कारण होती है, तो इस निष्कर्ष से हम सहमत नहीं हैं। मान्य पण्डित भगवद्दत्त ने तैत्तिरीय ब्राह्मण के जिस प्रकरण से यह निष्कर्ष प्राप्त किया है, उसे हम यहाँ पूर्ण रूप से उद्धृत कर रहे हैं—

''स समुद्र उत्तरतः प्राज्वलद्भूम्यन्तेन। एष वाव स समुद्रः। यच्चात्वालः। एष उ वेव स भूम्यन्तः। यद्वेद्यन्तः। तदेतत्त्रिशलं त्रिपूरुषम्। तस्मात्तं त्रिविप्तस्तं खनन्ति, इति। स सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत्। तं यदस्या अध्यजनयन्। तस्मादादित्यः (१)। अथ यत्सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत्। साऽस्य कौशिकता, इति ... ते कुश्यौ। व्यघ्नन्। ते अहोरात्रे अभवताम्। अहरेव सुवर्णाऽभवत्। रजता रात्रिः। स यदादित्य उदेति। एतामेव तत्सुवर्णां कुशीमनुसमेति। अथ यदस्तमेति। एतामेव तद्रजतां कुशीमनुसंविशति, इति।'' (तै.ब्रा.१.५.१०)

इन कण्डिकाओं की वैज्ञानिकता पर हम अपने ढंग से विचार करते हैं—

[समुद्रः = एष वाव स समुद्रः यच्चात्वालः (तै.ब्रा.१.५.१०.१), रुक्मो वै समुद्रः (श.ब्रा. ७.४.२.५)। रुक्मः = हिरण्यनाम (निघं.१.२), असौ वाऽआदित्यऽएष रुक्मः (श.ब्रा. ६.७.१.३)। भूमिः = भवन्ति पदार्था अस्यामिति भूमिः उत्पत्तिस्थानम् वा (उ.को.४.४६)। चात्वालः = अग्निरेष यच्चात्वालः (श.ब्रा.७.१.१.३६; ९.१.१.४२), एषा (चात्वालः) वा अग्नीनाꣳयोनिः (मै.सं.३.९.७), योनिर्वै यज्ञस्य चात्वालं (जै.ब्रा.३.११५), आनुष्टुभः पुरुष (मै.सं.४.७.५), गायत्रो वै पुरुषः (ऐ.ब्रा.४.३), त्रैष्टुभो वै पुरुषः (जै.ब्रा.२.४७)। वितस्तिः = विशेषेण तस्यत्युपक्षिपति वा सा वितस्तिः (उ.को.४.१८३), हस्तो वितस्तिः (श.ब्रा. १०.२.२.८), सुवर्ण-रजत = अहर्वै सुवर्णं रात्री रजतम् (जै.ब्रा.२.९८), कुशः =

आपो हि कुशाः (श.ब्रा.१.३.१.३)]

व्याख्या— यहाँ अग्नि का उत्पत्ति स्थान होने से आदित्य ही समुद्र कहलाता है। वह निर्माणाधीन आदित्य लोक अपने उत्तरी भाग में अधिक प्रकाशमान होना प्रारम्भ होता है। इस विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' १.७ द्रष्टव्य है, जहाँ उत्तरी भाग में अन्य भागों की अपेक्षा विद्युत् की प्रचुरता बतलाई गई है। यद्यपि वहाँ दक्षिणी भाग में ऊष्मा की अधिकता दर्शायी है, परन्तु विद्युत् रूप सविता की प्रधानता उत्तरी भाग में ही दर्शायी है। इस कारण इस भाग में वैद्युत तेजस्विता अधिक होगी। इसके उपरान्त आदित्य लोक के भूमि संज्ञक भाग के अन्तिम भाग तक यह वैद्युत तेजस्विता पहुँचती है। यह समुद्र संज्ञक आदित्य लोक चात्वाल रूप होता है। इसका अर्थ यह है कि वह आदित्य लोक सम्पूर्ण रूप से अग्निमय अथवा अग्नि की उत्पत्ति और निवास का मुख्य स्थान होता है। इस आदित्य लोक में विद्यमान वह भाग जो नाना प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों के संलयन वा संयोजन का प्रमुख स्थान होता है, उसे ही भूमि एवं वेदी कहते हैं। इस वेदी रूपी भाग में ही नाना प्रकार के पदार्थों का निर्माण होता है। उस वेदी अथवा भूमि संज्ञक भाग अर्थात् तारों के नाभिक के अन्दर ये क्रियाएँ होती हैं। वह भाग तीन प्रकार के पुरुषों अर्थात् गायत्री, अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के आच्छादक एवं तीक्ष्ण तथा तीव्र गमनशील स्वरूप से विशेष रूप से समृद्ध होता है। इस विषय के विस्तृत विज्ञान के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है, जहाँ सूर्यलोक के नाभिक में इन तीनों छन्द रश्मियों की महती भूमिका को अनेकत्र दर्शाया है। इन तीनों रश्मियों की तीक्ष्ण धाराएँ संयोजनीय वा संलयनीय सूक्ष्म पदार्थों की धाराओं को आदित्य लोक के उत्तरी भाग से केन्द्रीय भाग की ओर तीव्रता से प्रक्षिप्त करती हैं। ये हरणशील धाराएँ अत्यन्त तीव्र गति से बाधक आसुरी रश्मियों को नष्ट व नियन्त्रित करते हुए केन्द्रीय भाग को बाहरी पदार्थ के लिए मानो खोलती वा खोदती रहती हैं, जिससे संलयनीय वा संयोजनीय पदार्थ उत्तरी भाग से केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होता हुआ संग्रहीत होता रहता है।

इसके अनन्तर ग्रन्थकार आदित्य लोक के विषय में कहते हैं कि वह लोक सुवर्ण रूपी अहन् और रजतरूपी रात्रि का संयुक्त रूप होता है तथा यह आपः अर्थात् सूक्ष्म कणों वा रश्मियों के द्वारा अधिगृहीत किया हुआ होता है। इसका आशय यह है कि आदित्य लोक इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों के द्वारा व्याप्त व आच्छादित तथा निर्मित होता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि किसी तारे के अन्दर केन्द्रीय भाग को अहन् रूप वा अग्निष्टोम कहा जाता है तथा शेष भाग को रात्रि रूप कहा जाता है। इस विषय में मद्रचित ग्रन्थ 'वेदविज्ञान-आलोक:' ३.४१ द्रष्टव्य है। यहाँ दृश्य पदार्थ को अहन् और अदृश्य अर्थात् असुर पदार्थ (अप्रकाशित पदार्थ व ऊर्जा) को रात्रि भी कहते हैं, जिन दोनों की भूमिका किसी भी आदित्य लोक के निर्माण में सामूहिक रूप से होती है। वह आदित्य लोक इन दोनों ही पदार्थों की विद्यमानता में जन्म लेता है। जन्म लेने की इस प्रक्रिया में पूर्वोक्त भूमि संज्ञक भाग केन्द्र रूप होता है और उसके ऊपर ही विशाल आदित्य लोक प्रतिष्ठित होता है। इस लोक के केन्द्रीय भाग में अदिति देवता की प्रतिष्ठा होती है, इसके कारण ही सम्पूर्ण लोक को आदित्य लोक कहा जाता है। इस विषय में 'वेदविज्ञान-आलोक:' १.७ द्रष्टव्य है। यहाँ 'अदिति' नामक पदार्थ का तात्पर्य मन, वाक् एवं सूक्ष्म रश्मियाँ भी ग्रहणीय है। यह आदित्य लोक कुशी रूप दैवी एवं आसुरी आप: अर्थात् रश्मि आदि पदार्थों के द्वारा आच्छादित व व्याप्य होता है, इस कारण आदित्य लोक को कौशिक भी कहते हैं।

जब वे कुशी संज्ञक दोनों प्रकार की रश्मियाँ परस्पर पृथक्-२ उत्पन्न एवं गमनशील होती हैं, तब वे ही प्रकाशमान अहन् और अप्रकाशित रात्रि रूप कहलाती हैं, इन्हें ही क्रमश: सुवर्ण और रजत भी कहते हैं। ध्यातव्य है कि मनस्तत्त्व रूपी प्रजापति से देव और असुर अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थ उत्पन्न होकर इस सृष्टि में पृथक्-२ वर्तमान रहते हुए भी साथ-२ अपनी भूमिका निभाते हुए सूर्यादि लोकों को उत्पन्न करते हैं। जब आदित्य रूपी प्राण रश्मियाँ प्रकाशित छन्दादि रश्मियों के साथ मिलकर नाना संयोग आदि क्रियाएँ करती हैं, तब आदित्य अर्थात् सूर्यलोक की उत्पत्ति प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, इसी को आदित्य का उदय होना कहा गया है। यहाँ एक अन्य पक्ष यह भी है कि सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग में जब भारी मात्रा में विकिरण उत्पन्न होते हैं, तब सूर्यलोक फूलने लगता है, इसी को सूर्य का उदय होना कहा गया है और विकिरण को ही सुवर्ण रूप अहन् कहा जाता है। उधर जब आदित्य रूपी सूर्यलोक रजतरूपी रात्रि अर्थात् असुर पदार्थ में प्रविष्ट होता है अर्थात् किसी भी तारे पर बाहर की ओर से उस पदार्थ का तीव्र प्रतिकर्षक बल काम करता है, तो वह सूर्यलोक अस्तरूपता को प्राप्त होने लगता है अर्थात् वह सिकुड़ने लगता है। कभी-२ नाभिक में ईन्धन की समाप्ति होने पर वह सूर्यलोक

सिकुड़कर अप्रकाशित रूप को भी प्राप्त कर सकता है, इसी को सूर्य का अस्त होना भी कहा है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का पृथ्वी आदि लोकों पर होने वाले दिन और रात से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा हमारा स्पष्ट मत है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यजुर्वेद के प्राक् वर्णित मन्त्र और उसकी ग्रन्थकार के द्वारा की गई व्याख्या में आदित्य द्वारा अपनी रश्मियों को खोलने का क्या अर्थ है? इसके उत्तर में हमारा यह मत है—

जब कोई इलेक्ट्रॉन आदि कण किसी फोटोन का उत्सर्जन करता है, तब इस क्रिया में अनेक छन्द रश्मियों के साथ-२ प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों की भी अनिवार्य भूमिका होती है तथा जब कोई इलेक्ट्रॉन फोटोन का अवशोषण करता है, तब अनेक छन्द रश्मियों के साथ-२ अपान रश्मियों की भी अनिवार्य भूमिका होती है। इन प्रक्रियाओं में उत्सर्जन के समय फोटोन इलेक्ट्रॉन के बाहर की ओर स्पन्दित होती हुई प्राण रश्मियों के साथ गमन करता है तथा अवशोषण के समय इलेक्ट्रॉन की ओर आता हुआ फोटोन इलेक्ट्रॉन के अन्दर स्पन्दित होती हुई अपान रश्मियों के साथ इलेक्ट्रॉन के अन्दर प्रविष्ट होता है, यही सूर्य का रश्मियों को खोलना और खींचना अथवा उदय और अस्त होना कहा गया है। ध्यातव्य है कि सूर्य के केन्द्र से उसके बाहरी भाग तक आने तथा बाहरी भाग से अन्तरिक्ष में प्रकाशादि किरणों के उत्सर्जित होने तक सभी क्रियाओं में यही प्रक्रिया होती रहती है। इसके अभाव में सूर्य हमें कभी दिखाई नहीं दे सकता और न उसकी ऊष्मा आदि का ही हमें अनुभव हो सकता है। यही रश्मियों का खोलना है, परन्तु सूर्य द्वारा किरणों को वापिस खींच लेना कल्पनामात्र है। वस्तुतः पण्डित जी के तैत्तिरीय ब्राह्मण को उपर्युक्त कथन को समझने में भूल हुई है।

तदनन्तर ग्रन्थकार का कथन है— 'अपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्च-मीकर्माणम् सीम्नः सीमतः सीमातो मर्यादातः सीमा मर्यादा विषीव्यति देशाविति'। इसका आशय यह है कि 'सीम्' निपात के साथ अनर्थक उपबन्ध पञ्चमी अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। 'सीमतः' में 'सीम्' के साथ अनर्थक 'अ' अनुबन्ध लगाकर 'पञ्चम्यास्तसिल्' (अष्टा.५.३.७) सूत्र से तसिल् प्रत्यय करके 'सीमतः' की उत्पत्ति होती है, जो मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'सीमा' को ही मर्यादा कहा जाता है, जो दो जुड़े हुए क्षेत्रों को

पृथक्-२ करती है। उपर्युक्त ऋचा अर्थात् छन्द रश्मि में 'सीमतः' पद आदित्य रश्मियों के उत्सर्जन और अवशोषण एवं किसी भी तारे के जीवन में उसके फैलने और सिकुड़ने की क्रियाओं के मध्य एक मर्यादा स्थापित करने में सहयोग करता है। इस प्रकार इस पद के दोनों ही प्रभाव इस सृष्टि में दिखाई देते हैं।

त्व इति विनिग्रहार्थीयम् सर्वनामानुदात्तम्। अर्धनामेत्येके॥ ७॥

'त्वः' यह पद निपात न होकर सर्वनाम है, जो अनुदात्त ही प्रयुक्त होता है। यह सर्वनाम विनिग्रह अर्थात् पृथक्करण अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह ग्रन्थकार महर्षि यास्क का मत है। कुछ अन्य आचार्यों के मत में यह पद अर्द्ध अर्थात् आधे का वाचक है।

* * * * *

अष्टमः खण्डः

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

[ऋ.१०.७१.११]

इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होता।
ऋगर्चनी। गायत्रीमेको गायति शक्वरीषूद्गाता।
गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः।
तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्। इति विज्ञायते।
ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः। सर्वं वेदितुमर्हति।
ब्रह्मा परिवृळहः श्रुततः। ब्रह्म परिवृळहं सर्वतः।
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुः। अध्वरं युनक्ति।
अध्वरस्य नेता। अध्वरं कामयत इति वा। अपि वाधीयाने युरुपबन्धः।
अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा। तत्प्रतिषेधः।

अब हम उपर्युक्त ऋचा पर विचार करते हैं। इस ऋचा की उत्पत्ति बृहस्पति ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से तीव्र तेज और बलों की उत्पत्ति होती है। इसका देवता ज्ञान है। 'ज्ञानम्' पद 'ज्ञा अवबोधने' धातु से निष्पन्न होता है, जिसके कई अर्थों में से जानना व सीखना एक प्रसिद्ध अर्थ है। आप्टे कोषकार ने इसके कई अर्थों में से 'काम करना' एवं 'व्यस्त करना' अर्थ भी दिये हैं। इसके साथ ही एक अर्थ 'खोजना' भी है। इस कारण हमारी दृष्टि में इसके दैवत प्रभाव से यह छन्द रश्मि अन्य सम्बन्धित छन्द रश्मियों, तरंगों अथवा कणों को खोजती हुई उन्हें अधिक सक्रिय करने में सहयोग करती है।

आधिदैविक भाष्य— (ऋचाम्, त्वः, पोषम्, आस्ते, पुपुष्वान्) [ऋक् = अस्थि वाऽऋक् (श.ब्रा.७.५.२.२५), त्वः = त्वे अपरे (निरु.१.९)] कुछ ऋषि संज्ञक रश्मियाँ ऋग् रूप छन्द रश्मियों के पुष्टिकारक व्यवहारों के द्वारा इस सृष्टि प्रक्रिया को पोषण प्रदान करती हैं। ये ऋक् रश्मियाँ सृष्टि के सम्पूर्ण रश्मि समूह में अस्थि के समान व्यवहार करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि में ऋक् रश्मियों का जाल सम्पूर्ण सृष्टि को एक ढाँचागत आधार प्रदान करता है और इस आधार को कुछ ऋषि रश्मियाँ निरन्तर पोषण प्रदान करती रहती हैं।

(शक्वरीषु, गायत्रम्, त्वः, गायति) [शक्वरी = वज्रो वै शक्वरी (तै.सं.२.२.८.५), वज्रश्शक्वर्यः (जै.ब्रा.१.२०४; तां.ब्रा.१२.१३.१४)] अपर या अन्य ऋषि रश्मियाँ बाधक रश्मि आदि पदार्थों को नष्ट करने में समर्थ शक्वरी रश्मियों के मध्य विभिन्न गायत्री छन्द रश्मियों को उत्पन्न व प्रकाशित करती हैं। इसके कारण शक्वरी छन्द रश्मियाँ, जो स्वयं अतीव शक्तिशाली होती हैं, और अधिक शक्तिशाली हो उठती हैं। शक्वरी रश्मियों के विषय में ऋषियों का कहना है—

यदिमाँल्लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद्
यदिदं किं च तच्छक्वर्योऽभवंस्तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम् (ऐ.ब्रा.५.७)
एताभिर्वा इन्द्रो वृत्रमशकद् हन्तुं तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तस्माच्छक्वर्यः (कौ.२३.२)

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि शक्वरी छन्द रश्मियाँ सृष्टि की तीक्ष्ण क्रियाओं में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, जो गायत्री छन्द रश्मियों के साथ मिलकर

और अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं।

(ब्रह्मा, त्वः, वदति, जातविद्याम्) इसके अतिरिक्त ब्रह्म संज्ञक रश्मियाँ [ब्रह्मा = मह इति ब्रह्म (तै.आ.७.५.३, तै.उ.१.५.३), मनो वै यज्ञस्य ब्रह्म (बृ.उ.३.१.६), व्यानो मे ब्रह्मा (ष.ब्रा.२.७), प्राणापानौ ब्रह्म (गो.पू.२.११)। विद्या = विद्या वै धिषणा (तै.सं.५.१.७.२, काठ.सं.१९.७)। धिषणा = अन्तो वै धिषणा (ऐ.ब्रा.५.२), धिषणा वाङ्नाम (निघं. १.११), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] अन्य ब्रह्मा संज्ञक रश्मियों में मनस्तत्त्व एवं 'महः' व्याहृति रश्मियाँ एवं अन्य सूक्ष्म प्रसिद्ध प्राणादि रश्मियाँ अन्य रश्मियों के अन्दर विचरण करती हुई उन्हें सम्पीडित व संयुक्त करने में सहायक होती हैं। इसके साथ ही प्राण, अपान एवं व्यान रूपी ब्रह्मा संज्ञक प्राण रश्मियाँ इस सृष्टि में उत्पन्न वाक् तत्त्व अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियों को गति और तेज प्रदान करती हैं।

(त्वः, यज्ञस्य, मात्राम्, वि, मिमीत, उ) इसके अतिरिक्त अन्य कुछ ऋषि रूप रश्मियाँ [मिमीतः = मिमीहि याच्ञाकर्मा (निघं.३.१९), याचते वधकर्मा (निघं.२.१९), मिमीते = रचयति (म.द.ऋ.भा.१.१६४.२४)] इस सृष्टि यज्ञ के कुछ भागों अर्थात् रश्मि आदि पदार्थों को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं तथा इनमें से कुछ अनिष्ट रश्मि आदि पदार्थों को नष्ट करने तथा सृष्टि के अनुकूल पदार्थों का आकर्षण करने वाली होती हैं।

उक्त मन्त्र का यह हमारा भाष्य है। अब हम भगवान् यास्क द्वारा की गई इस मन्त्र की व्याख्या पर व्याख्यान करते हैं—

यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं— 'ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' अर्थात् यहाँ ऋत्विजों के कर्मों का विनियोग कहा गया है। यहाँ हम सर्वप्रथम यह विचार करते हैं कि ऋत्विज् किसे कहते हैं? स्वयं भगवान् यास्क के शब्दों में 'ऋत्विक् कस्मात् ईरणः ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः ऋतुयाजी भवतीति वा' (निरु.३.१९) अर्थात् ऋक् रश्मियों के द्वारा यजन करने वाली एवं ऋतु संज्ञक रश्मियों के साथ यजन करने वाली विभिन्न प्रेरक रश्मियाँ ही ऋत्विज् कहलाती हैं, ऐसा महर्षि यास्क एवं उनके पूर्ववर्ती आचार्य शाकपूणि का मत है। प्रश्न यह है कि हमने यहाँ रश्मियों को ऋत्विज् क्यों कहा? इस विषय में ऋषियों का मत है— छन्दांꣳसि वा ऋत्विजः (मै.सं.३.९.८; काठ.सं.२६.९), ऋत्विजो देवयजनम् (गो.पू.२.१४)। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि सृष्टि में हो रहे देवयजन के

कार्य में जो छन्द रश्मियाँ कार्य करती हैं, वे ऋत्विज् कहलाती हैं। वे छन्द रश्मियाँ अपने देवयजन के कार्य को किस प्रकार सम्पादित करती हैं, इस क्रियाविज्ञान को ही यहाँ समझाया गया है। 'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होता' इस पर व्याख्यान हम मन्त्र के भाष्य में कर ही चुके हैं। 'ऋग्गर्चनी' पर भी वहाँ विचार किया जा चुका है। 'गायत्रीमेको गायति शक्वरीषूद्गाता' इस पर भी मन्त्र के भाष्य में विचार किया जा चुका है। हाँ, यहाँ इतना विशेष है [होता = होतारं ह्वातारम् (निरु.७.१५), आत्मा वै यज्ञस्य होता (कौ.९.६), अग्निर्वै देवानां होता (ऐ.ब्रा.१.२८)। उद्गाता = प्राण उद्गाता (कौ.१७.७; गो.उ.५.४), ते य एवेमे मुख्याः प्राणा एत एवोद्गातारश्चोऽपगातारश्च (जै.ब्रा.१.६.३.५), सूर्य उद्गाता (गो.पू. १.१३)] कि ऋक् रूप रश्मियों के द्वारा सृष्टि प्रक्रिया को पुष्ट करने वाली जो ऋषि रश्मियाँ होती हैं, वे होतारूप सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ ही होती हैं। इस समय अग्नि अर्थात् ऊष्मा की उत्पत्ति व समृद्धि होती है। फोटोन की उत्पत्ति भी इसी चरण में मान सकते हैं। उधर द्वितीय चरण में जो ऋषि रश्मियाँ शक्वरी रश्मियों के अन्दर गायत्री रश्मियों को प्रकाशित करती हैं, उस समय सभी प्राणापान आदि रश्मियाँ उद्गाता रूप में कार्य करते हुए सम्पूर्ण पदार्थ को उत्कृष्टता से प्रकाशित व सक्रिय करके तारों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ करती हैं। इसके अनन्तर ग्रन्थकार लिखते हैं—

"गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छ-क्वरीणां शक्वरीत्वम् इति विज्ञायते।"

अर्थात् गायत्री रश्मियाँ स्तुति करने वाली अर्थात् प्रकाश को उत्पन्न करने में प्राथमिक भूमिका निर्वहण करने वाली होती हैं, इसी कारण ऋषियों ने अनेकत्र कहा है— तेजो वै गायत्री (तै.सं.३.२.९.३, काठ.सं.१९.३, गो.उ.५.३, जै.ब्रा.२.८९), तेजो वै ब्रह्मवर्चसम् (ऐ.ब्रा.१.५, गो.उ.५.५, जै.ब्रा.१.१३१)। शक्वरी छन्द रश्मियों के विषय में कहते हैं कि विशेष शक्तिशाली होने से इन्हें शक्वरी कहा जाता है। अन्यत्र भी कहा है—

यच्छक्वर्यास्तदैन्द्रः (काठ.सं.२९.७)
यदशक्नोत् (इन्द्रः) तस्माच्छक्वर्यः (जै.ब्रा.३.१११)।

इन रश्मियों के द्वारा ही इन्द्र तत्त्व असुर पदार्थ को नष्ट वा नियन्त्रित करने में सक्षम होता है, ऐसा अनेक ब्राह्मण आदि आर्ष ग्रन्थों से जाना जाता है। ब्रह्मा के विषय में

यहाँ कहा गया है— 'ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति ब्रह्मा परिवृळ्हः श्रुततः ब्रह्म परिवृळ्हं सर्वतः'। इस सृष्टि यज्ञ में ईश्वर तत्त्व से निसृत 'ओम्' रश्मियों से सम्पृक्त मनस्तत्त्व रूपी ब्रह्मा सम्पूर्ण भौतिकी के नियमों अर्थात् सृष्टि के सम्पूर्ण क्रियाविज्ञान को जानता है। इसी मनस्तत्त्व के माध्यम से ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि को सब ओर से विज्ञानपूर्वक नियन्त्रित करता है। वह मनस्तत्त्व सम्पूर्ण सृष्टि के नियमों को अपने साथ समेटे हुए सर्वत्र व्याप्त होता है। मनस्तत्त्व में उत्पन्न प्राण, अपान व व्यान ये तीन मुख्य प्राथमिक प्राण रश्मियाँ ब्रह्मा रूप होकर सर्वत्र व्याप्त होकर मनस्तत्त्व से प्रेरित होती हुई अग्रिम चरण की रश्मियों, पुनः तरंगों व कणों के निर्माण में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती हैं।

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने उपर्युक्त ऋचा के चतुर्थ पाद में वर्णित ऋषि रूप रश्मियों को अध्वर्यु कहा है, जिसके विषय में कहते हैं— 'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत अध्वर्युरध्वरयुः अध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता अध्वरं कामयत इति वा अपि वाधीयाने युरुपबन्धः अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः'। यहाँ अध्वर्यु को अध्वरयु कहा है। इसका आशय यह है कि ये रश्मियाँ विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों को अध्वर अर्थात् संयोग आदि क्रियाओं से जोड़ती हैं एवं उनकी नायिका बनकर उन क्रियाओं को गति देती हैं। ये रश्मियाँ यजन प्रक्रिया के विस्तार एवं तीव्रता को निर्धारित करती हैं।

यहाँ अध्वर्यु का निर्वचन करते हुए 'युः' उपबन्ध अर्थात् प्रत्यय मानकर अध्ययन करने वाले को भी अध्वर्यु कहा है। इसके साथ ही यज्ञ को भी अध्वर्यु कहा है, जिसका अर्थ है— हिंसारहित कर्म। सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत भी बाधक व हिंसक रश्मियों को जब नष्ट व नियन्त्रित कर लिया जाता है, तभी कोई यजन क्रिया सम्पन्न हो पाती है। अध्वर्यु के विषय में तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने कहा है— 'प्राणापानावेवाध्वर्य्यू' (गो.पू.२.११) अर्थात् प्राण एवं अपान रश्मियों का युग्म अध्वर्यु रूप होकर विभिन्न यजन क्रियाओं में सम्भावित बाधक असुरादि रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करने में अपनी अन्तिम भूमिका निभाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि 'ओम्' रश्मियों की भूमिका सबसे सूक्ष्म और अन्तिम होती है।

भावार्थ— इस सृष्टि में कुछ ऋग् रश्मियाँ शरीर में अस्थियों की भाँति सम्पूर्ण सृष्टि को एक ढाँचा प्रदान करती हैं। इन ऋग् रश्मियों को कुछ सूक्ष्म ऋषि रश्मियाँ, विशेषकर

सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ निरन्तर पोषण प्रदान करती हैं। इससे ऊष्मा में वृद्धि होने लगती है। कुछ अन्य ऋषि रश्मियाँ बाधक असुर रश्मियों को नष्ट करने वाली शक्वरी छन्द रश्मियों के मध्य कुछ गायत्री छन्द रश्मियों को उत्पन्न करके उन्हें और भी अधिक तीक्ष्ण बल से युक्त करती हैं। प्राणापानव्यान रश्मियों का त्रिक विभिन्न छन्द रश्मियों को अधिक गति व बल प्रदान करता है। तारों के निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ इन्हीं रश्मियों से होता है। मनस्तत्त्व में विद्यमान 'ओम्' रश्मियाँ सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया को विज्ञानपूर्वक कराने में अपनी भूमिका निभाती हैं, अन्य रश्मियों में ज्ञान का भाव नहीं होता। प्राणापानादि रश्मियाँ असुर रश्मियों को नष्ट करने में मौलिक भूमिका निभाती हैं।

निपात इत्येके। तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्। दृष्टव्ययं तु भवति। उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः [ऋ.१०.७१.५] इति द्वितीयायाम्। उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्त्रे [ऋ.१०.७१.४] इति चतुर्थ्याम्। अथापि प्रथमाबहुवचने॥ ८॥

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि 'त्वः' को कुछ आचार्य निपात मानते हैं, तब कैसे इसको अनुदात्त प्रकृति का नाम (सर्वनाम) माना गया है। सर्वनाम तो प्रातिपदिक होते हैं और वे 'फिषोऽन्त उदात्तः' से अन्तोदात्त होते हैं, परन्तु यहाँ उसे अनुदात्त कहा गया है। इसलिए 'त्वः' निपात ही हो सकता है, यह सर्वनाम नहीं है। इसका उत्तर देते हुए महर्षि यास्क कहते हैं कि 'त्वः' पद दृष्टव्यय होता है अर्थात् इसके नामवाची पदों की भाँति विभिन्न रूप होते हैं, इस कारण यह अव्यय पद नहीं है, जबकि निपात तो अव्यय ही होते हैं अर्थात् इनके रूप नहीं बदलते हैं। इसके अतिरिक्त इसको निपात मानने पर यह प्रश्न भी उठता है कि निपात 'निपाता आद्युदात्ताः' से आद्युदात्त होते हैं, इस कारण 'त्वः' अनुदात्त न होकर उदात्त होना चाहिए, परन्तु पूर्व उद्धृत सर्वत्र ही 'त्वः' अनुदात्त है, इस कारण यह निपात नहीं हो सकता। यदि इसे अपवाद मानें, तब दृष्टव्ययता को अपवाद नहीं माना जा सकता। यहाँ ग्रन्थकार दृष्टव्ययता के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— 'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः'। यहाँ 'त्वं' पद द्वितीया विभक्ति एकवचन का प्रयोग है, जबकि 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे' यहाँ 'त्वस्मै' पद चतुर्थी विभक्ति का एकवचन है। इन दोनों ऋचाओं का व्याख्यान इस अध्याय में आगे किया जायेगा, जहाँ ग्रन्थकार ने इन दोनों ही

ऋचाओं को पूर्ण रूप से उद्धृत किया है।

इसके अनन्तर ग्रन्थकार कहते हैं कि 'त्वः' के प्रथमा विभक्ति बहुवचन का प्रयोग भी वेद में मिलता है, इसका उदाहरण अगले खण्ड में प्रस्तुत किया जायेगा।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥

[ऋ.१०.७१.७]

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। अक्षि चष्टेः। अनक्तेः इत्याग्रायणः।
तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते। कर्णः कृन्ततेः।
निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेरित्याग्रायणः।
ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते। मनसां प्रजवेष्वसमा बभूवुः।
आस्यदघ्ना अपरे। उपकक्षदघ्ना अपरे। आस्यमस्यतेः।
आस्यन्दत एनदन्नमिति वा। दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः। दस्यतेर्वा स्यात्।
विदस्ततरं भवति। प्रस्नेयाः। ह्रदा इवैके ददृशिरे। प्रस्नेयाः स्नानार्हाः।
ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः। ह्लादतेर्वा स्याच्छीतीभावकर्मणः।

इस ऋचा का ऋषि बृहस्पति, देवता ज्ञान एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसके ऋषि व देवता के विषय में पूर्व ऋचा 'ऋचां त्वः पोषमास्ते' का व्याख्यान पठनीय है तथा इसका छान्दस प्रभाव पूर्व ऋचा से कुछ अधिक तीक्ष्ण होता है।

आधिदैविक भाष्य—

इस पर हम ग्रन्थकार की व्याख्या के आधार पर विचार करते हैं—

(अक्षण्वन्तः) 'अक्षिमन्तः', यहाँ 'अक्षि' शब्द का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा

है— 'अक्षि चष्टेः अनक्तेरित्याग्रायणः तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते'। यहाँ 'विज्ञायते' पद इस बात का सूचक है कि निरुक्तकार ने यह निर्वचन किसी ब्राह्मण ग्रन्थ के आधार पर किया है अथवा उससे उद्धृत किया है, भले ही वह ब्राह्मण ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध न हो, यही मत निरुक्तभाष्यकार पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का भी है। यहाँ 'अक्षि' पद का तात्पर्य इस प्रकार प्रकट होता है—

जो सूक्ष्म रश्मियाँ प्रकाश व क्रियाशीलता की उत्पादिका होती हैं और जिनके कारण कोई पदार्थ व्यक्ततर होता हुआ प्रकाशित एवं गतिशील होता है, उन सूक्ष्म रश्मियों को 'अक्षि' कहते हैं। यहाँ महर्षि यास्क महर्षि आग्रायण के मत से सहमत हैं, अन्यथा वे इस निर्वचन को उद्धृत करने के पश्चात् इसका खण्डन अवश्य करते। (कर्णवन्तः) 'कर्णवन्तः' कर्णों से युक्त, यहाँ ग्रन्थकार कर्ण शब्द का निर्वचन करते हुए अपना और महर्षि आग्रायण का मत प्रस्तुत करते हैं—

''कर्णः कृन्ततेः निकृत्तद्वारो भवति ऋच्छतेरित्याग्रायणः ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते।''

यहाँ भी विज्ञायते पद से पूर्वोक्त आशय का ग्रहण करना चाहिए। उधर उणादि कोष की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द ने 'कर्णः' पद की व्युत्पत्ति में लिखा है— 'किरति विक्षिपतीति कर्णः' [कर्णाः = यैः कार्याणि कुर्वन्ति ते (म.द.य.भा.२४.३)] इस सबका तात्पर्य यह है कि जो सूक्ष्म रश्मियाँ छेदन क्षमता से युक्त आकाश तत्त्व की ओर गति करती हुई अर्थात् किसी कण वा फोटोन में से बाहर की ओर तीक्ष्णता से गमन करती हुई अथवा उस कण वा फोटोन को छेदकर बाहर की ओर बिखरती हुई उस कण वा फोटोन के नाना प्रकार के कार्यों को करने में अपनी भूमिका निभाती हैं, उन्हें कर्ण कहते हैं। ऐसी कर्ण रूपी रश्मियों से युक्त कण वा फोटोन (सखायः) 'सखायः' समान व्यवहार वाले होते हैं।

यहाँ इस विज्ञान को दर्शाया गया है कि सभी सूक्ष्म कणों एवं फोटोन्स में अक्षि एवं कर्ण रूप इन रश्मियों की विद्यमानता के कारण उन सबके व्यवहारों में बहुत समानताएँ होती हैं।

(मनोजवेषु, असमा, बभूवुः) 'मनसां प्रजवेष्वसमा बभूवुः' मनस्तत्त्व की प्रकृष्ट गतियों के

मध्य ये कण वा फोटोन अर्थात् उनकी अवयवरूप सूक्ष्म रश्मियों के स्तर पर वे परस्पर असमान होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न कणों अथवा तरंगों के अन्दर जो प्राण व छन्दादि रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, उनकी संख्या, गति और उनकी संयोजन व्यवस्था में परस्पर भेद होता है। इसके कारण सभी प्रकार के कण और फोटोन सर्वथा समान नहीं होते। ऋचा के उतरार्द्ध में दर्शाया गया है कि सृष्टि में पूर्वोक्त समान अक्षि और कर्ण रूपी रश्मियों से युक्त सूक्ष्म कणों और तरंगों में क्या-२ भेद होते हैं?

(उ, त्वे, आदघ्नासः) 'आस्यदघ्ना अपरे' यहाँ निरुक्तकार ने आदघ्नास का अर्थ आस्यदघ्ना किया है। 'आस्य' का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

आस्यमस्यतेः आस्यन्दत एतदन्नमिति वा।

एवं 'दघ्नम्' का निर्वचन करते हुए लिखा है—

दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः दस्यतेर्वा स्यात् विदस्ततरं भवति।

यहाँ दघ्न शब्द 'दघ घातने पालने च' धातु से भी निष्पन्न माना जा सकता है। इन सबका आशय यह है कि आदघ्नास रूप कण वा तरंग ऐसे पदार्थ हैं, जो इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों का भक्षण करके और उन्हें सूक्ष्मतर पदार्थों में परिवर्तित कर सृष्टि प्रक्रिया के लिए और उपयोगी बनाने में सहायक होते हैं। ऐसे कण व तरंग रूप पदार्थों में से वे सूक्ष्मतर हुए पदार्थ रिसते रहते हैं। यहाँ 'विदस्ततर' का अर्थ सभी भाष्यकारों ने 'क्षीणतर' किया है अर्थात् ये पदार्थ रिसते हुए क्षीणता को भी प्राप्त होते रहते हैं तथा वे कण व तरंग रूप पदार्थ उन सूक्ष्मतर पदार्थों के संरक्षण में भी सहयोग करते हैं।

(उपकक्षासः, उ, त्वे) 'उपकक्षदघ्ना अपरे' [कक्षः = कषति हिनस्तीति, कक्षो बाहुमूलं (उ.को.३.६२)] यहाँ 'उप' उपसर्ग उपजन अर्थात् वृद्धि अथवा उद्गम स्थान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है— उप इत्युपजनम् (निरु.१.३)। इससे संकेत मिलता है कि कुछ कण वा तरंग ऐसे होते हैं, जो अन्य पदार्थों पर आघात की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने व बढ़ाने में सहायक होते हैं। ऐसे कण वा तरंग रूप पदार्थ अन्य पदार्थों पर निकटता से प्रहार करके उनकी शक्ति को क्षीण कर देते हैं। ये पदार्थ उन पदार्थों का विखण्डन भी कर सकते हैं।

(ह्रदा, इव, स्नात्वा, ददृश्रे) 'ह्रदा इवैके ददृशिरे', यहाँ 'स्नात्वा' का अर्थ करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'प्रस्नेयाः स्नानार्हाः' तथा 'ह्रद' का निर्वचन करते हुए लिखा— 'ह्रदो ह्रदतेः शब्दकर्मणः ह्लादतेर्वा स्याच्छीतीभावकर्मणः' अर्थात् कुछ कण व तरंग अव्यक्त शब्द उत्पन्न करते हुए झूमते हुए से गमन करते हैं। इसके साथ ही वे विभिन्न पदार्थों का शोधन करने में भी सक्षम होते हैं अथवा वे पदार्थ अन्य पदार्थों को अपनी मन्द-२ वृष्टि द्वारा सींचते रहते हैं। वे पदार्थ अपने द्वारा सींचे हुए सूक्ष्म पदार्थों के तापमान में कमी लाते हैं। यहाँ शोधन करने का तात्पर्य यह है कि वे पदार्थ इस सृष्टि में अनिष्ट रूप से मिश्रित पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके पृथक्-२ करने में सहायक होते हैं। यहाँ 'त्वे' पद सर्वनाम तथा बहुवचन में प्रयुक्त है।

भावार्थ— किसी भी प्रकाशाणु (फोटॉन) के अन्दर कुछ रश्मियाँ ऐसी होती हैं, जिनके कारण उस प्रकाशाणु में प्रकाश का गुण उत्पन्न होता है एवं उसे गति भी प्राप्त होती है। अन्य रश्मियाँ प्रकाशाणुओं को भेदकर निरन्तर बाहर की ओर उत्सर्जित होती हुई उन्हें नाना कार्य करने में सहयोग प्रदान करती हैं। इन दोनों प्रकार की रश्मियों को क्रमशः अक्षि व कर्ण कहा जाता है। विभिन्न कणों वा तरंगों के अन्दर जो प्राण व छन्दादि रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, उनकी संख्या, गति एवं संयोजन व्यवस्था में भेद होता है। इसी कारण सभी प्रकाशाणु (फोटॉन) समान नहीं होते। इस सृष्टि में ऐसे अनेक प्रकार के कण हैं, जो इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों को सूक्ष्मतर रूप में परिवर्तित कर देते हैं। कुछ कणों वा तरंगों से सूक्ष्म रश्मियाँ रिसती रहती हैं। वह रिसा हुआ पदार्थ सूक्ष्मतर पदार्थों के संरक्षण में सहयोगी होता है। कुछ कण वा तरंग अन्य पदार्थों पर प्रहार करके उन्हें अधिक शक्तिशाली बना देते हैं, तो अन्य कुछ तरंग वा कण उन्हें अधिक क्षीण कर देते हैं। कुछ कण वा तरंग ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ का भेदन करके उन्हें शुद्ध रूप प्रदान करते हैं, तो कुछ उनमें न्यूनता लाते हैं।

अथापि समुच्चयार्थे भवति।
पर्याया इव त्वदाश्विनम्। [कौ.ब्रा.१७.४] आश्विनं च पर्यायाश्च इति।

इसके अनन्तर एक अन्य निपात की चर्चा करते हैं, जो समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे- 'त्वत्'। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कौषीतकि ब्राह्मण का उद्धरण

प्रस्तुत किया है— 'पर्याया इव त्वदाश्विनम्'। यहाँ 'त्वत्' निपात समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त है। इस कारण यहाँ 'च' निपात के स्थान पर उसी अर्थ में 'त्वत्' का प्रयोग किया गया है। पूर्व में ग्रन्थकार ने 'त्वः' पद को केवल सर्वनाम बताकर उसके निपात होने का खण्डन किया था, जबकि यहाँ 'त्वः' के स्थान पर 'त्वत्' पद निपात के रूप में स्वीकार किया है। इस उदाहरण में 'इव' पद पदपूरण अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। इसी कारण यहाँ दिए गए उदाहरण में ग्रन्थकार ने 'इव' पद का कोई अर्थ नहीं किया है।

अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु। अनर्थकाः। कमीमिद्विति॥ ९॥

इसके अनन्तर लिखते हैं— [प्रवृत् = यः प्रवर्त्तते सः (म.द.ऋ.भा.३.३१.३)] जो अर्थ अर्थात् कार्य पूर्ण हो जाता है, उस समय अनिश्चित अक्षरों वाले ग्रन्थों अर्थात् गद्य ग्रन्थों जैसे ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कुछ निपात वाक्यों की पूर्ति के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, न कि किसी अर्थ विशेष को दर्शाने के लिए। उधर जो ग्रन्थ मिताक्षर होते हैं अर्थात् पद्यरूप में होते हैं, उनमें वे ही निपात संज्ञक पद पदपूरण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। उनका कोई अपना अर्थ उस प्रसंग में नहीं होता। ये चार निपात इस प्रकार हैं— 'कम्', 'ईम्', 'इत्', 'उ'। इनके विषय में अगले खण्ड में चर्चा की जायेगी।

* * * * *

दशमः खण्डः

निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव।
बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्॥
शिशिरं जीवनाय। शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा।
एमेनं सृजता सुते॥ [ऋ.१.९.२]
आसृजतैनं सुते।
तमिद्वर्धन्तु नो गिरः॥ [ऋ.९.६१.१४]

तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः।
अयमु ते समतसि॥ [ऋ.१.३०.४]
अयं ते समतसि। इवोऽपि दृश्यते। सु विदुरिव। सुविज्ञायेते इव।

आचार्य विश्वेश्वर ने अपने निरुक्त-भाष्य में इस पर पाद टिप्पणी में लिखा है— दुर्गाचार्य की टीका में केवल 'शिशिरं जीवनाय कम्' इतने ही अंश को मूल पाठ में माना है और लिखा है कि 'शाखान्तरेषु शेषो मृग्यः' अर्थात् मन्त्र का शेष पूरा पाठ ऋग्वेद की किसी दूसरी शाखा में खोजना चाहिए। किन्तु दुर्गाचार्य के समय के पूर्व ही कुछ लोगों ने मन्त्र के शेष भाग को जोड़कर इस रूप में मन्त्र की पूर्ति कर दी थी। इसका संकेत करते हुए दुर्गाचार्य ने लिखा है कि 'केचिदेवं कृतशेषमधीयते'।

निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरि तोका वृकादिव। बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्॥

किन्तु पूर्ति करने वालों ने यह पाठ कहाँ से और किस शाखा से लिया है, इसका कुछ पता नहीं लगता। ऋग्वेद में न यह पूरा मन्त्र पाया जाता है और न ही 'शिशिरम्' पद।

आधिदैविक भाष्य—

हमारे मत में इस ऋचा का देवता शिशिरम् तथा छन्द अनुष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से शिशिर ऋतु रश्मियाँ अनुकूलतापूर्वक कम्पायमान होती हुई रश्मियों वा तरंगों को थामती और अनुकूलतापूर्वक प्रकाशित करती हैं। इस ऋचा की उत्पत्ति किस ऋषि रूप रश्मि से होती है, यह कहना हमारे लिए कठिन है।

(निष्ट्वक्त्रासः) यहाँ 'निष्ट्वक्त्रासः' का अर्थ सभी भाष्यकारों ने वस्त्रहीन किया है। ऐसे सूक्ष्म कण वा तरंग आदि पदार्थ, जो किसी प्रकार की आच्छादिका एवं रक्षिका रश्मियों के सूक्ष्म आवरण से विहीन हो गए हैं, उन्हें 'निष्ट्वक्त्रासः' कहते हैं। सृष्टि में कहीं-२ व कभी-२ ऐसी घटनाएँ घट सकती हैं, जहाँ आच्छादिका रक्षिका रश्मियाँ विध्वंसिका आसुर रश्मियों के प्रहार से किसी कण वा तरंग से पृथक् हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में वे कण वा तरंग रूप पदार्थ सुरक्षाविहीन हो जाते हैं।

(चिदिन्नरः) [नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४), प्रजा वै नरः (ऐ.ब्रा.२.४)] वे कुछ आच्छादन विहीन एवं अरक्षित और कुछ तीव्रगामी तथा प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होने वाले

कण वा तरंग आदि पदार्थ (भूरितोकाः) [तोकम् = तोकं तुद्यतेः (निरु.१०.७), प्रजा वै तोकम् (श.ब्रा.७.५.२.३९), तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु (चुरा.) धातोः संज्ञायां घः प्रत्ययः (वै.को.)] जब बड़ी संख्या में उत्पन्न होते हुए तेजस्वी, बलवान् और घातक रश्मि आदि पदार्थों के द्वारा बलपूर्वक ग्रहण किए जाते हैं, उस समय (बिभ्यस्यन्तः, ववाशिरे) वे अरक्षित पदार्थ तीव्र रूप से कम्पायमान होते हुए नाना प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करने लगते हैं। उनकी ध्वनि व कम्पन ऐसे ही होते हैं, (वृकात्, इव) जैसे [वृकः = वज्रनाम (निघं.२.२०)] विभिन्न वज्र रश्मियाँ जब बाधक व हिंसक असुरादि पदार्थों (अप्रकाशित पदार्थ व ऊर्जा) को नियन्त्रित व नष्ट करती हैं, तब उस असुर पदार्थ में जैसा कम्पन और शब्द उत्पन्न होता है, वैसा ही यहाँ पर होता है। इसका अन्य अर्थ यह है कि उसी समय वृक अर्थात् वज्र रश्मियों के रूप में उत्पन्न (शिशिरम्, जीवनाय, कम्) 'शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा' [शिशिरं = शिशिरं प्रतिष्ठानम् (मै.सं.४.९.१८), शिशिरं वा अग्नेर्जन्म ... सर्वासु दिक्ष्वग्निश्शिशिरे (काठ.सं.८.१.), षड्भिरैन्द्राबार्हस्पत्यैः (पशुभिः) शिशिरे (यजते) (श.ब्रा.१३.५.४.२८)] शिशिर नामक ऋतु रश्मियाँ जो तीक्ष्ण बलों से युक्त होती हैं, इस कारण वे अरक्षित व अनाच्छादित हो चुके पदार्थों पर आघात करने वाली हिंसक रश्मियों को नष्ट करती हैं। ये शिशिर रश्मियाँ विभिन्न प्राण, छन्द, आकाश तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों का एक विशेष आवरण उन अरक्षित कण वा तरंगरूप पदार्थों को प्रदान करके उन्हें उचित रूप में प्रतिष्ठित करने में सहायक होती हैं। शिशिर रश्मियों के विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ का 'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान' अध्याय पठनीय है। यहाँ 'कम्' निपात पदपूरण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस कारण इसका कोई अर्थ नहीं है।

इस ऋचा के भाष्य के बाद हम 'एमेनं सृजता सुते' (ऋ.१.९.२) पर विचार करते हैं। इस ऋचा का देवता इन्द्र है। इसी की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'आसृजतैनं सुते' [सुतम् = सुतेषु सोमेषु (निरु.५.२२), सुतः = सुतम् इत्यन्ननामनी (निघं.२.७)] अर्थात् इन्द्र तत्त्व विभिन्न संयोजनीय सोम रश्मि आदि पदार्थों में इन प्रत्यक्ष हो सकने वाले पदार्थों को सब ओर से रचता और प्रकाशित करता है। यहाँ 'एमेनं = आ+ईम्+एनम्' पदच्छेद हुआ है, जिसमें 'ईम्' पद निपात है, जो केवल पदपूरण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका यहाँ कोई अर्थ नहीं है।

इसके अनन्तर 'तमिद्वर्धन्तु नो गिरः' (ऋ.९.६१.१४) पर विचार करते हैं। इसका

भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः गिरो गृणातेः'। [गिरः= वाङ्नाम (निघं.१.११), वाग्वै गीः (श.ब्रा.७.२.२.५)] इस ऋचा का देवता पवमान सोम है, इस कारण यहाँ 'तम्' सर्वनाम उसी सोम के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस कारण इसका अर्थ है कि उन शुद्ध सोम रश्मियों को इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली ऋषि रश्मि से उत्पन्न अन्य छन्द रश्मियाँ समृद्ध करती हैं। यहाँ 'इत्' निपात का प्रयोग है, जो पदपूरण अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यहाँ अनर्थक है।

इसके अनन्तर 'अयमु ते समतसि' (ऋ.१.३०.४) पर चिन्तन करते हैं। इस ऋचा का देवता इन्द्र है। इस कारण यहाँ 'ते' सर्वनाम पद का प्रयोग इन्द्र तत्त्व के लिए हुआ है। यहाँ 'अयम्' सर्वनाम सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। जिनके लिए इन्द्र तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सतत गमन करता रहता है। इस सोम के विषय में ऋषियों ने कहा है— एतद्वै देवानां परममन्नं यत्सोमः (तै.ब्रा.१.३.३.२), हविर्वै देवानां सोमः (श.ब्रा. ३.५.३.२), इन्द्राय हि सोम आह्रियते (तै.सं.६.४.४.१)।

उधर इन्द्र और मरुत् रश्मियों का सम्बन्ध दर्शाते हुए कहा गया है— मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः (श.ब्रा.२.५.३.२०), ते (मरुतः) एनम् (इन्द्रम्) अध्यक्रीडन् (तै.ब्रा.१.६.७.५)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि इन्द्र तत्त्व मरुद् अर्थात् सोम रश्मियों का सदैव भक्षण करने के लिए सदैव सक्रिय रहता है। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि यह सोम तेरे अर्थात् इन्द्र के लिए है। यहाँ 'उ' निपात पदपूरण अर्थ में प्रयुक्त है, इस कारण इसका यहाँ कोई अर्थ नहीं है।

इन निपातों की भाँति 'इव' निपात भी पदपूरण अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसलिए ग्रन्थकार ने उदाहरण दिया है— 'सु विदुरिव' अर्थात् वे अच्छी प्रकार जानते हैं। यहाँ 'इव' का कोई अर्थ नहीं है।

प्रश्न— जब वेद में निरर्थक पद विद्यमान हैं, तब उन पदों की विद्यमानता की आवश्यकता ही क्या है?

उत्तर— यद्यपि वेदार्थ में इन पदों की आवश्यकता नहीं है, तदपि छन्द रश्मियों में वर्णों की संख्या के निर्धारण में और इस आधार पर छन्दों के स्वरूप को निश्चित करने में इनकी अनिवार्य भूमिका होती है। यदि ये पद विद्यमान नहीं हों, तो छन्द का स्वरूप परिवर्तित

होकर सृष्टि प्रक्रिया पर उनका प्रभाव भी परिवर्तित हो जायेगा। हमारा एक अन्य मत यह भी है कि किन्हीं अर्थ विशेष में ये अनर्थक निपात अर्थवान् भी हो सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में ऋषि दयानन्द ने इन निपातों के भी अर्थ दिये हैं। यदि इन निपातों का कोई अर्थ कभी भी नहीं हो सकता, तब ऋषि दयानन्द भी इनका अर्थ नहीं करते। अनन्ता वै वेदा: (तै.ब्रा.३.१०.११.४) का यह अच्छा उदाहरण है।

अथापि न इति एष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये॥ १०॥

'न' यह पद जब 'इत्' के साथ मिलकर प्रयुक्त होता है, उस समय यह परिभय अर्थ में प्रयुक्त होता है अर्थात् सब ओर से भय को दर्शाने में इन दोनों निपातों के संयुक्त रूप 'न+इत्' का प्रयोग होता है। इसके उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने एक ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया है।

* * * * *

= एकादश: खण्ड: =

हविर्भिरेके स्वरित: सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम॥ इति॥

[खैलिक मन्त्र २४.१]

नरकं नि अरकं। नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा।
अथापि न च इत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। न चेत्सुरां पिबन्तीति।
सुरा सुनोते:। एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। त उपेक्षितव्या:॥ ११॥

इस ऋचा को निरुक्त भाष्यकार पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने खैलिक मन्त्र २४.१ माना है, जबकि अन्य निरुक्त भाष्यकारों श्री छज्जूराम शास्त्री, आचार्य भगीरथ शास्त्री, पण्डित देवशर्मा शास्त्री तथा पण्डित मुकुन्द झा शर्मा ने इस ऋचा का कोई पता नहीं दर्शाया है, जबकि आचार्य विश्वेश्वर ने इस ऋचा के चतुर्थ पाद को ही उद्धृत किया है तथा इसका पता ऋग्वेद १०.१०६.१ दिया है, जो मिथ्या है। इस विषय में इन्होंने लिखा

है—

"यह पूरा मन्त्र निरुक्त के मूल पाठ में नहीं दिया गया है। मूल पाठ में केवल चतुर्थ चरण ही दिया गया है, परन्तु कुछ संस्करणों में पूरे मन्त्र को निरुक्त के मूल पाठ में छाप दिया गया है। यह उचित नहीं है। विशेषकर दुर्गाचार्य की टीका में पूरा मन्त्र मूल पाठ में दे दिया गया है, परन्तु दुर्गाचार्य स्वयं इस मन्त्र के पूरे पाठ को मूल में नहीं मानते थे। उन्होंने इसके विषय में टिप्पणी करते हुए लिखा कि 'मृग्य: शेष:' शेष भाग खोजना चाहिये, पर उसके बाद 'केचित्त्वेतं कृतशेषमत्राधीयते' अर्थात् कुछ लोग इसको पूरा करके यहाँ पढ़ते हैं। यह लिखकर पूरा मन्त्र दिया है। इससे प्रतीत होता है कि उनके मत में मूल निरुक्त में केवल एक चरण का ही पाठ होना चाहिये। इसलिये हमने भी मूल पाठ में पूरा मन्त्र नहीं दिया है।"

प्रश्न— यहाँ खैलिक मन्त्र से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर— हमारे मत में जो मन्त्र अग्नि, वायु, आदित्य एवं अङ्गिरा इन चार महर्षियों द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में प्राप्त नहीं किये तथा कालान्तर में इन मन्त्रों को वेद संहिताओं में किसी ने मिला दिया, ऐसे मन्त्र खैलिक अथवा खिल कहे जाते हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों को हम प्रक्षिप्त भी कह सकते हैं। प्रोफेसर मोक्षमूलर (मैक्समूलर) द्वारा सम्पादित एवं कृष्णदास अकादमी, वाराणसी द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद के सायण भाष्य के अन्त में कुल ३२ खिल सूक्त उद्धृत किये हैं, जिनका आचार्य सायण ने भाष्य नहीं किया है। हाँ, ८वें (आठवें) खिल सूक्त के कुल २९ मन्त्रों में से १५ मन्त्रों का भाष्य करते हुए उन १५ मन्त्रों के समूह को श्रीसूक्त कहा गया है। अथर्ववेद के सायण भाष्य में भी ऐसे कुन्ताप संज्ञक सूक्त हैं।

आर्य विद्वान् प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार ने अथर्ववेद काण्ड २० सूक्त १२७ का भाष्य करते हुए लिखा है—

"१२७ सूक्त से १३६ सूक्त तक 'कुन्ताप-सूक्त' हैं। ये सूक्त 'खिल' अर्थात् परिशिष्ट हैं। ऋषि दयानन्द ने इन्हें 'प्रक्षिप्त' माना है अर्थात् मिलावट माना है। 'चतुर्वेद-विषय सूची' (वैदिक यन्त्रालय अजमेर) में उनका कथन निम्नलिखित है—

'य एष स्वप्ननंशन इत्यादि पदार्थविद्या'। अथर्ववेदे विंशम् काण्डम्'॥ २०॥

'इति अथर्ववेदस्य सूचीपत्रम् समाप्तम्'॥

अर्थात् 'य एष स्वप्ननंशनः' (सूक्त १२६, मन्त्र २१ से) पदार्थविद्या का वर्णन है। 'अथर्ववेद में २०वां काण्ड समाप्त'।

यह अथर्ववेद का सूचीपत्र समाप्त हुआ।

'भद्रेण वचसा वयम्' (अथर्व.१२७.१४) इत्यादि; 'गोमयाद् (गोमीद्या) गोगतिरिव (गोगतिरिति)' (अथर्व.१२९.१३) इत्यादि; 'आदलाबुकमेककम् अलाबुकं निखातकम्' (अथर्व.१३२.१, २)॥ १॥ इत्यादि; 'उद्भिर्यथालाबुनि' (अथर्व.१३५.२; १३५.३) इत्यादि; 'इदं राधो विभु प्रभु' (अथर्व.१३५.९) इत्यादि; इति कुन्ताप-सूक्तानि समाप्तानि। परिशिष्टानि प्रक्षिप्तानीति विज्ञेयम्॥

अभिप्राय यह है कि सूक्त १२७, मन्त्र १४ से सूक्त १३६ की समाप्ति तक 'कुन्ताप-सूक्त' समाप्त हैं। ये परिशिष्ट हैं, प्रक्षिप्त हैं— यह जानना चाहिये।

'य एष स्वप्ननंशनः' (सूक्त १२६, मन्त्र २१) इत्यादि पदार्थविद्या,'- द्वारा महर्षि ने २०वें मण्डल की समाप्ति तक अर्थात् सूक्त १४३, मन्त्र ९ तक का विषय निर्देश कर दिया है। परन्तु इन सूक्तों के मध्य में १२७वें सूक्त से लेकर १३६वें सूक्त तक 'कुन्ताप-सूक्त' पठित हैं, जिन्हें कि महर्षि ने परिशिष्ट अर्थात् प्रक्षिप्त कहा है।

परन्तु वह सन्दर्भ जिसमें कि 'कुन्ताप सूक्तों' को परिशिष्ट अर्थात् प्रक्षिप्त कहा है, उसके अन्त में निम्नलिखित वाक्य 'चतुर्वेद-विषय-सूची' में और मिलता है। यथा— 'यद्वा वाणीत्यादि (सूक्त १४२, मन्त्र ४); ऋतस्येत्यादि (सूक्त १४३, मन्त्र ३); मधुमानित्यादि (सूक्त १४३, मन्त्र ८) पदार्थविद्या।' इस वाक्य द्वारा यह प्रतीत होता है कि कुन्ताप-सूक्तों के पश्चात् के सूक्त भी अर्थात् २०वें काण्ड की समाप्ति तक २०वें काण्ड के ही भाग हैं।"

इस पर विचारने से यह स्पष्ट होता है कि वेद-संहिताओं में भी कुछ मन्त्र वा सूक्त परिशिष्ट रूप में कालान्तर में जोड़े गये हैं। जो वेदभक्त ऋषि दयानन्द के विषय में कहते हैं कि उन्होंने कुन्ताप-संज्ञक सूक्तों को प्रक्षिप्त माना है अर्थात् वेद में प्रक्षिप्त को स्वीकार किया है, वे यह भूल जाते हैं कि ऋषि दयानन्द से पहले आचार्य सायण ने भी उपरिवर्णित सूक्तों को प्रक्षिप्त माना है।

प्रश्न— यदि वेद, जिसे ईश्वरीय ग्रन्थ कहा जाता है, में भी प्रक्षेप हैं, तब इसे भी स्वतः प्रमाण कैसे मान सकते हैं?
उत्तर— दुर्भाग्य से संहिता भाग में भी कुछ प्रक्षेप हुए हैं। उनको छोड़कर सम्पूर्ण वेद स्वतः प्रमाण है।

प्रश्न— ये प्रक्षेप (खिल सूक्त) किसके द्वारा और कब प्रक्षिप्त किये गये तथा आपकी दृष्टि में इनकी प्रामाणिकता क्या है? आपने स्वयं 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में खिल सूक्त माने जाने वाले अथर्ववेदीय कुन्ताप सूक्तों के मन्त्रों का सृष्टि पर प्रभाव दर्शाया है तथा चार मन्त्रों का भाष्य भी किया है। जब ये सूक्त खिल संज्ञक (प्रक्षिप्त) हैं, तब उनका सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव कैसे हो सकता है?
उत्तर— हमारी दृष्टि में यह कहना अत्यन्त कठिन व असम्भव है कि इन सूक्तों का प्रक्षेप किसने और कब किया, परन्तु इन मन्त्रों को देखकर और इन पदों पर विचार कर यह स्पष्ट होता है कि सभी खिल मन्त्र समान स्तर के नहीं हैं और न इनको संहिता भाग में मिलाने वाला कोई एक विद्वान् रहा होगा। यदि हम अथर्ववेद और ऋग्वेद के खिल सूक्तों पर एक साथ विचार करें, तब हमारा यह निश्चय होता है कि कुछ मन्त्र, जो अपेक्षाकृत अधिक संख्या में हैं, अति प्राचीन काल में संहिता भाग में मिलाए गए हैं। इनमें से उपरिवर्णित यह मन्त्र भी है, जो ग्रन्थकार ने यहाँ उद्धृत किया है तथा इसका कोई भी पता ग्रन्थकार ने नहीं दिया है। ऊपर जो पता दर्शाया गया है, वह पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने मैक्समूलर द्वारा सम्पादित आचार्य सायण के भाष्य के आधार पर दिया है। जो मन्त्र वा सूक्त अति प्राचीन काल में संहिता भाग में मिलाए गए थे, उनके विषय में हमारा मत है कि भले ही इन मन्त्रों को अग्नि और अङ्गिरा जैसे महान् ऋषियों ने ईश्वरीय प्रेरणा से समाधि अवस्था में ब्रह्माण्ड में विद्यमान सूक्ष्म कम्पनों के रूप में ग्रहण नहीं किया, पुनरपि ये मन्त्र इस ब्रह्माण्ड में उस समय भी अवश्य विद्यमान थे। इन मन्त्रों को कालान्तर में कुछ महान् महर्षियों ने ईश्वरीय प्रेरणा से महर्षि अग्नि आदि ऋषियों की भाँति समाधि अवस्था में ग्रहण किया था। इस कारण ये मन्त्र भी उतने ही प्रामाणिक हैं, जितने कि वेद के अन्य मन्त्र। यह भी सम्भव है कि उन्हीं साक्षात्कृद्धर्मा महर्षियों ने ही इन्हें संहिता भाग में जोड़ दिया हो। महर्षि यास्क जैसे वेदद्रष्टा ने ऐसे मन्त्रों को इस ग्रन्थ में उद्धृत किया है, तब इन मन्त्रों की प्रामाणिकता में सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता। क्योंकि ये मन्त्र

भी कुछ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड में विद्यमान कम्पनों के रूप में ग्रहण किये थे, इस कारण ये मन्त्र भी संहिता के अन्य मन्त्रों की भाँति निश्चित रूप से ईश्वरीय हैं, ऋषिजन केवल उनके साक्षात्कर्त्ता ही हैं।

खैलिक मन्त्रों की इस वास्तविकता एवं प्रामाणिकता के साथ एक और वास्तविकता भी है कि कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जो सर्वथा मध्यकालीन कुछ आचार्यों के द्वारा अपने अनार्ष एवं अप्रामाणिक ग्रन्थों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए संहिता भाग में मिला दिये गये हैं। निश्चित ही ऐसे मन्त्र उन आचार्यों के कल्पित मतों की पुष्टि के प्रयास का परिणाम हैं। ऐसे मन्त्र हमारी दृष्टि में सर्वथा अप्रामाणिक व कल्पित हैं। इन मन्त्रों का संहिता भाग में मिला देना निश्चित ही दुर्भाग्यजनक है। हम यहाँ पाठकों को यह भी अवगत कराना चाहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आश्वलायन आदि श्रौत सूत्रों में भी कुछ ऐसे छन्द विद्यमान हैं, जिन्हें वहाँ मन्त्र कहा गया है। प्रख्यात आर्य विद्वान् पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने उन्हें कल्पित माना है, परन्तु हमारी दृष्टि में वे मन्त्र प्रामाणिक खिल मन्त्रों की भाँति ब्रह्माण्ड से किन्हीं ऋषियों ने ग्रहण किये थे। वे ऋषि ब्राह्मण ग्रन्थकार आदि भी हो सकते हैं अथवा उनके पूर्वज भी।

प्रश्न— आपके विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि जो खैलिक मन्त्र आपके विचारों की पुष्टि करते हों, उन्हें आप प्रामाणिक मानते हैं और जो आपके विचारों की पुष्टि नहीं करते हों, उन्हें आप कल्पित मानते हैं। वास्तव में कल्पित और यथार्थ मन्त्रों को पहचानने की कसौटी क्या है?

उत्तर— आपका यह कथन उचित नहीं है। वेद का कोई भी गम्भीर अध्येता जब खिल सूक्तों पर गहराई से विचार करेगा, तो उन मन्त्रों में शैलीगत एवं भावात्मक भेद स्वयं दिखाई देगा। हमने भी यह स्वयं देखा है, इस कारण इनकी प्रामाणिकता एवं वास्तविकता की परीक्षा के लिए कसौटी निम्नानुसार मानी जा सकती है—

१. जो मन्त्र किसी प्राचीन आर्ष ग्रन्थ में प्रकरणानुसार उद्धृत किये गये हों, उन मन्त्रों की प्रामाणिकता और यथार्थता स्वीकरणीय है।
२. जिन मन्त्रों का भाव संहिता के अन्य मन्त्रों के प्रतिकूल न हो, वे मन्त्र प्रामाणिक और यथार्थ हैं। इस दृष्टि से इन मन्त्रों में किसी भी प्रकार का अनित्य इतिहास,

भूगोल एवं अवैज्ञानिक बातें विद्यमान नहीं होनी चाहिए।

इन दोनों कसौटियों के आधार पर हम खैलिक मन्त्रों में से प्रामाणिक एवं वास्तविक तथा काल्पनिक एवं मिथ्या मन्त्रों की पहचान कर सकते हैं। खैलिक मन्त्रों के विषय में इस मीमांसा के पश्चात् हम आचार्य विश्वेश्वर के उपर्युक्त उद्धरण एवं उनके द्वारा प्रस्तुत निरुक्त के विख्यात टीकाकार आचार्य दुर्ग के मत पर भी विचार करते हैं— इन दोनों के मतानुसार निरुक्त में उपरि-उद्धृत मन्त्र 'हविर्भिरेके स्वरितः ... नरकं पताम' में से केवल चौथा पाद 'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम' ही महर्षि यास्क द्वारा उद्धृत है। अपनी इसी भावना के अनुसार आचार्य विश्वेश्वर ने केवल इसे ही उद्धृत किया है, जबकि अन्य भाष्यकारों ने सम्पूर्ण मन्त्र को उद्धृत किया है। इस विषय में हमारा मत यह है कि यदि महर्षि यास्क ने केवल इस चतुर्थ पाद को ही उद्धृत किया हो, तदपि इस पाद के प्रामाणिक व वास्तविक होने से सम्पूर्ण मन्त्र ही प्रामाणिक एवं वास्तविक सिद्ध होगा। इसलिए हमने भी यहाँ अन्य भाष्यकारों की भाँति सम्पूर्ण मन्त्र को उद्धृत किया है। अब हम इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

आधिदैविक भाष्य— (एके) इस सृष्टि में एक प्रकार के कण (हविर्भिः) [हविः = मासा हवींषि (श.ब्रा. ११.२.७.३)] विभिन्न प्रकार की मास रश्मियों के द्वारा [मास रश्मियों के विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ का 'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान' अध्याय पठनीय है।] (इतः) भूलोक से अर्थात् अप्रकाशित लोकों से अर्थात् अप्रकाशित अवस्था से (स्वः) स्वर्गलोक अर्थात् तारों, विशेषकर उनके केन्द्रीय भागों को (सचन्ते) [सचति गतिकर्मा (निघं.२.१४), सचन्ते सेवन्ते (निरु.७.१३), षच समवाये (भ्वा.)] प्राप्त करते हैं अर्थात् उनकी ओर गमन करते हुए उनका भाग बन जाते हैं। (एके) कुछ अन्य कण (सवनेषु) नाना प्रकार की सम्पीडन क्रियाओं में (सोमान्) विभिन्न सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों अथवा सोम्य विद्युत् कणों (इलेक्ट्रॉन्स आदि) को (सुन्वन्तः) अपने साथ संगत करते हुए पूर्वोक्त स्वर्गलोक अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग को प्राप्त करते हैं (उत) और (शचीः) [शची = वाङ्नाम (निघं.१.११), कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.९)] तीव्र सक्रिय और तेजस्विनी विभिन्न छन्द रश्मियाँ (दक्षिणाभिः) [दक्षिणा = अन्नं दक्षिणाः (ऐ.ब्रा.६.३), दक्षिणा वै स्तावाः (श.ब्रा.९.४.१.११), दक्षिणाः सावित्री (गो.पू.१.३३)] चमकते हुए तेजस्वी एवं संयोजनीय विद्युत् कणों के साथ संयुक्त होकर

(मदन्तः) झूमती वा उत्तेजित होती हुई उस द्युलोक अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होती हैं।

अब यहाँ 'न+इत् = नेत्' पद परिभय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (न, इत्) कुछ कण सब ओर से कम्पन करते हुए (जिह्मायन्त्यः) कुटिल अर्थात् टेढ़े मार्गों पर अस्त-व्यस्त गति करते हुए (नरकम्) 'नरकं नि अरकं नीचैर्गमनम् नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा' अर्थात् ऐसी स्थिति वा तारों के अन्दर ऐसे क्षेत्र, जिनमें वे कुटिल मार्गगामी कण स्वतन्त्रतापूर्वक लम्बी दूरी तक गमन नहीं कर सकते अर्थात् वे एक सीमित क्षेत्र में ही प्रवाहित होने में सक्षम होते हैं, उस स्थान वा स्थिति को नरक कहा गया है। उसी स्थान को वे कुटिल मार्गगामी कण (पताम) प्राप्त होते हैं अर्थात् उसी क्षेत्र में गिरने लगते हैं।

इस ऋचा का देवता सूर्य प्रतीत होता है, इस कारण इसके दैवत प्रभाव से सूर्यलोक में होने वाली क्रियाएँ समृद्ध होती हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् है, इस कारण इसके छान्दस प्रभाव से तारों के केन्द्र की ओर प्रवाहित होता हुआ पदार्थ तीव्र रक्तवर्णीय तेज और बल से युक्त होता है। इससे ऐसा संकेत मिलता है कि तारों के अन्दर कुछ ऐसे कूप अथवा गुफानुमा क्षेत्र होते हैं, जिनका ताप अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कम होता है और उनमें विद्यमान पदार्थ का अन्य पदार्थ से संसर्ग भी अपेक्षाकृत कम हुआ करता है।

इसके अनन्तर 'न', 'च' एवं 'इत्' इन तीन निपातों का समूह अनुपृष्ट अर्थात् दूसरी बार प्रश्न करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके लिए ग्रन्थकार ने एक लौकिक उदाहरण दिया है— 'न चेत्सुरां पिबन्ति'। इस उदाहरण में किसी ने प्रश्न किया है कि कहीं सुरा तो नहीं पी रहे हैं? यहाँ इस प्रसंग में कुछ भी तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। इससे परोक्षतः प्रतिध्वनित हो रहा है कि किसी ने किसी से पूछा कि वहाँ कुछ लोग बैठे हैं क्या? तब उत्तर दिया गया कि हाँ, वहाँ कुछ लोग बैठे हैं। तब पुनः उससे प्रश्न किया गया कि कहीं सुरा तो नहीं पी रहे हैं? यहाँ सुरा शब्द का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है—'सुरा सुनोतेः'। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न औषधियों को निचोड़कर जो रस तैयार किया जाता है, उसे सुरा कहते हैं अर्थात् औषधियों के स्वरस को भी सुरा कहते हैं। इसी कारण ग्रन्थकार ने अपने निघण्टु (१.१२) में 'सुरा' शब्द को उदकनाम में पढ़ा है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के निपात संज्ञक पदों की चर्चा करते हुए बताया गया कि ये पद

विभिन्न प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होते हैं तथा सृष्टि प्रक्रिया में ये पद छन्द रश्मियों के सूक्ष्म अवयव के रूप में छन्द रश्मियों के निर्माण के समय बाहर से आकर मिलते रहते हैं। इनके विषय में वेदविज्ञान के साधकों को अच्छी प्रकार से विचारना चाहिए। यहाँ 'उपेक्षितव्याः' का अर्थ आचार्य दुर्ग ने 'ईक्षितव्याः' किया है।

* * * * *

= द्वादशः खण्डः =

इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च।
तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।
न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।
तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि। यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्।
यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्यात्। यत्किञ्चित्तृन्द्यात्तृणं तत्।
अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत ताव-द्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्।
तत्रैवं स्थूणा दरशया वा सञ्जनी च स्यात्॥ १२॥

इस पाद के बारह, तेरह व चौदह इन तीनों खण्डों में नाम संज्ञक सभी पद आख्यातज अर्थात् यौगिक होते हैं वा नहीं, इस पर दो पक्षों की चर्चा प्रस्तुत की गई है। हमारी दृष्टि में इस पाद से अन्य कोई विज्ञान प्रकट नहीं होता। इसलिए हम स्वयं इसका भाष्य न करके पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के भाष्य को ही यहाँ शब्दशः उद्धृत कर रहे हैं। इसका कारण हमारे पास समय की न्यूनता भी है, साथ ही इससे भाष्य में कोई मौलिक अन्तर भी नहीं आएगा। पण्डित जी का भाष्य निम्नानुसार है—

"इस प्रकार ये चार (पदजातानि) पद-समूह अनुक्रम से कह दिए। नाम और

आख्यात, उपसर्ग और निपात।

इस विषय में नाम [सारे] आख्यातज अर्थात् क्रिया से उत्पन्न होने वाले हैं, यह शाकटायन [मानता है] और नैरुक्तों का (समय) सिद्धान्त है।

नहीं सारे [नाम आख्यातज।] यह गार्ग्य [मानता है] और वैयाकरणों में से कुछ एक।

गार्ग्य प्रदर्शित आक्षेप

प्रथम आक्षेप—

तो जहाँ स्वर [उदात्त आदि] और संस्कार [प्रकृति, प्रत्यय आदि] समर्थ=युक्त बनें और (प्रादेशिकेन) व्याकरण से प्रदर्शित विकारों से अथवा स्पष्ट धातु वाले नाम से जुड़े हुए हों, (संविज्ञातानि) ठीक जाने हुए वे [हैं।] यथा- गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती- इति।

भाष्य— प्रतीत होता है, यास्क से पूर्व के निरुक्तों में भी नाम, आख्यातादि के वर्णन का यही अनुक्रम था। वैयाकरणों में से शाकटायन और प्रायः सब नैरुक्तों का एक सिद्धान्त था। तथा नैरुक्तों में से गार्ग्य और प्रायः सब वैयाकरणों का दूसरा मत था। गौः आदि शब्द संविज्ञात हैं, पर डित्थः, डवित्थः आदि नहीं। उन का धातु कल्पित नहीं किया जा सकता। राजवाड़े का स्वीकृत पाठ- प्रादेशिकेन गुणेन है। पर लक्ष्मणसरूप का स्वीकृत पाठ है— प्रादेशिकेन विकारेण- यहाँ गुण का अर्थ धातु है। बहुत सम्भव है विकारेण शुद्ध मूल पाठ हो। वस्तुतः धातु भी तो मूल शब्द का एक विकारमात्र है।

दूसरा आक्षेप—

और यदि सारे नाम आख्यातों से उत्पन्न होने वाले हों, तो जो कोई [प्राणी] वह कर्म करे, तो उस सारे प्राणी [समुदाय को] वैसा कहें। जो कोई [अध्वानम्] मार्ग को व्याप्त करे, घोड़ा वह कहा जाए। जिस किसी को तोड़ें, तृण वह [हो।]

तीसरा आक्षेप—

यदि सारे नाम आख्यातों से उत्पन्न होने वाले हों, तो जितने भावों=क्रियाओं से

[नाम वाला] संयुक्त हो, उतनी से [उसे नाम की] प्राप्ति हो। वहाँ ऐसा हो, स्थूणा (फारसी-स्तून, स्तम्भ) दरशया (दरदरार में, शया-सोने वाली) अथवा सञ्जनी (रखा जाता है बाँस जिस पर छत टिकाने के लिये)।

भाष्य— लक्ष्मणसरूप पाठ- वा संजनि। राजवाड़े पाठ- च आसञ्जनी। स्कन्द पाठ- वाऽऽसचनी। स्कन्द लिखता है—आसंजनीति त्वयमपपाठः। दुर्ग- सञ्जनी पाठ ठीक मानता है। भाषा की दृष्टि से च और ज दोनों ही ठीक हो सकते हैं। ऋग्वेद में समान पाठ वाले मन्त्रों में वाचं और वाजं दोनों रूप मिलते हैं।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

चतुर्थ आक्षेप—

अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्।

पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्। अष्टेत्यश्वं। तर्दनमिति तृणम्।

और भी जो इन का (न्यायवान्) व्याकरण के लक्षण से युक्त (कार्मनामिकः) कर्मनिमित्त में होने वाला [प्रकृति-प्रत्यय का] संस्कार है, [उस के कारण] जिस प्रकार [वे नाम] (प्रतीतार्थानि) ठीक समझ में आने वाले अथवा स्फुटार्थ हों, वैसे इन को कहें, अष्टा यह अश्व को, तर्दन यह तृण को [कहें।]

भाष्य— सृष्टि के आदि में शब्द अथवा वाक्यरूप मन्त्र थे। वे ही भाषा का आदर्श हैं। धातुओं की विद्या बहुत उत्तर काल में ऋषियों ने मन्त्रों के आधार पर आविष्कृत की। धातुओं को मुख्य मानकर नैरुक्तों का निर्वचन-सिद्धान्त चला। वैयाकरण शाकटायन उनसे सहमत हुआ। दूसरी ओर नैरुक्त गार्ग्य ने इसे पर्याप्त नहीं समझा। वह धातुओं से सब नामों की उत्पत्ति नहीं मानता। यास्क ने उसके पक्ष की त्रुटिमात्र दिखाई है।

पाँचवाँ आक्षेप—

अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति।
प्रथनात्पृथिवीत्याहुः। क एनामप्रथयिष्यत्। किमाधारश्चेति।

और भी, निष्पन्न होने पर अभिव्याहार के अर्थात् पूर्वसिद्ध नाम के प्रयोग के पूर्ण ज्ञान के पश्चात् गम्भीर विचार करते हैं। (प्रथनात्) फैलाने के कारण से पृथिवी, ऐसा कहते हैं। [यदि] किसी ने इस [भूमि] को फैलाया होता और किस आधार पर [ठहर कर।]

भाष्य— प्रथनात्पृथिवीत्याहुः। यह किसी पुरातन श्लोक का चतुर्थांश है। निश्चय है कि पृथिवी फैलाई गई थी। पर किसी पुरुष ने इसे नहीं फैलाया। इस फैलाव का कारण भौतिक माया थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका स्पष्टीकरण है।

षष्ठ आक्षेप—

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान्त्सञ्चस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम्।
अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।

और [शब्द से] अनुगत न होने पर अर्थ के शास्त्रादिष्ट विकार=क्रिया के [न होने पर], [आख्यात] पदों से [सर्वथा बेजोड़ वाले दूसरे] [आख्यात] पदों के आधे भागों से [प्रकृति-प्रत्यय का] संस्कार किया शाकटायन ने। [यथा-] एति धातु से (कारितं) [पाचयति आदि में जो] णिच् कहा और [यकारादिं] जो [दीव्यति आदि में] यकार (अन्तकरणम्) प्रत्यय को [माना] अर्थात् जिस में शब्द का अन्त किया गया। [तथा] अस्ति धातु से शुद्ध को और सकारादि [यथा पिपासति यियासति रूपों] को।

भाष्य— यास्क के सामने शाकटायन व्याकरण और उसकी पूरी प्रक्रिया वर्तमान थी। यास्क और उससे पूर्व काल में धातु उस रूप में बहुधा नहीं लिखे जाते थे, जैसे पाणिनीय प्रक्रिया में लिखे जाते हैं। अतः यास्क के निर्वचन आदि में तथा इस प्रकरण में एतेः [=एति से] तथा अस्तेः (=अस्ति से) रूप पढ़े गए हैं। यास्क ने गार्ग्य का आक्षेप दिखाते हुए शाकटायन की प्रक्रिया का प्रदर्शन किया है। गार्ग्य ने सत्य शब्द पढ़ा नहीं, पर यहाँ सिद्धि इसी शब्द की अभिप्रेत है। शाकटायन का व्याकरण उस समय अति प्रसिद्ध था, अतः गार्ग्य ने उसकी शब्द-सिद्धि का प्रकार अत्यन्त स्थूल रूप में दर्शाया है। यास्क से

पूर्ववर्ती वैयाकरण अन्तकरण पद का प्रत्यय अर्थ में प्रयोग करते थे।

इस षष्ठ आक्षेप से एक ऐतिहासिक तत्त्व भी ज्ञात होता है। यास्क (भारत युद्ध से लगभग ५० वर्ष पूर्व) से गार्ग्य पहले था और गार्ग्य से पूर्व शाकटायन था।

सप्तम आक्षेप—

अथापि सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुः।
अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति।

और भी-(सत्त्वपूर्वः) द्रव्य अथवा पदार्थ पूर्वक (भावः) क्रिया [होती है] ऐसा कहते हैं। [अतः] उत्तरकाल में होने वाली क्रिया से पूर्व के [पदार्थ का] (प्रदेश=) जताना नहीं युक्त होता। इति।

भाष्य— इन सात हेतुओं से गार्ग्य ने यह पक्ष रखा है कि सारे नाम आख्यातज नहीं हैं। इस सारे प्रकरण के अन्त में इति पद बताता है कि ये सातों हेतु गार्ग्य के मूल शब्दों में ही रखे गए हैं। राजवाड़े ने इति पद के अन्त में होने का तर्क तो नहीं दिया, पर बात यही मानी है— Yāska quotes the very words of Gārgya (Page No. 263)

अब यास्क कहता है—

तदेतन्नोपपद्यते॥ १३॥

अर्थात् तो यह नहीं उपपन्न होता।

* * * * *

═ चतुर्दशः खण्डः ═

यास्क का उत्तर, प्रथम आक्षेप का समाधान—

यथो हि नु वा एतत्।
तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां सर्वं

प्रादेशिकमिति।

एवं सत्यनुपालम्भ एष भवति।

यथा-हि-नु-वै-एतत्। [यह दुर्ग के अनुसार मूल पाठ का सन्धि-छेद है।] यथा-उ-हि-नु-आ इति पञ्चैते निपाताः-[यह स्कन्द के अनुसार है।] अर्थात् जिस क्रम से पूर्वपक्ष, उसी क्रम से हेतुओं का कथन यह है— 'जहाँ स्वर (उदात्तादि) और संस्कार (प्रकृति, प्रत्यय आदि) समर्थ, युक्त बनें और व्याकरण से प्रदर्शित धातु वाले (विकार) = नाम आदि से जुड़े हुए हों, वह सब व्याकरण शास्त्र के अनुकूल है।' यहाँ ऐसा होने पर विना उपालम्भ (उलाहना, पंजाबी में उलाम्भा) के यह बात है।

भाष्य— यह सब व्याकरण शास्त्र के अनुकूल है। अर्थात् सब ही नाम आख्यातज हैं। यह व्याकरण-विरुद्ध नहीं। जिस प्रकार गौः, अश्वः आदि का स्वर और संस्कार ज्ञात है, उसी प्रकार प्रत्येक नाम का। तथा डित्थः, डवित्थः आदि नामों का भी स्वर और संस्कार ज्ञात हो सकता है। यास्क से पहले अर्थात् भारत युद्ध से पहले भी संस्कृत व्याकरण संकुचित हो चुके थे। अतः गार्ग्य ने उन संकुचित व्याकरणों के आधार पर आक्षेप किया था। उन में धातु थोड़े से रख लिए गए थे। यास्क ने परिस्थिति को स्पष्ट करके उसका उत्तर दे दिया। सब नाम आख्यातज हैं, यह जाना जा सकता है।

दूसरा समाधान—

यथो एतत्। यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्निति।
पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्।
यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति।

और जो यह 'जो कोई प्राणी वह कर्म करे, तो उस सारे प्राणी [समुदाय] को वैसा कहें।' [इस विषय में] हम देखते हैं, समान कर्म [करने] वालों में से कुछ एक को उस नाम की प्राप्ति [होती है], नहीं अन्यों को। यथा— तक्षा अर्थात् छीलने वाला (पंजाबी-तरखान), परिव्राजकः अर्थात् घूमने वाला (संन्यासी), जीवनः अर्थात् जीता हुआ [दुर्ग-इक्षुरस अथवा शाक जाति। स्कन्द-अग्नि वाला अङ्गार] भूमिजः अर्थात् भूमि से जन्मा (=अङ्गारक अथवा भौम ग्रह) इति।

भाष्य— गार्ग्य का आक्षेप है समान कर्म करने वाले सबको एक ही नाम की प्राप्ति होनी चाहिए। यास्क का उत्तर है कि ऐसी प्राप्ति में समान कर्म ही कारण नहीं, प्रत्युत उस समान कर्म का सतत करना अथवा उस का अवस्था-विशेष में होना भी कारण है।

दुर्ग गुर्जर था। वह जम्बू मार्गाश्रम में रहता था। वहाँ जीवन शब्द इक्षुरस अथवा शाकविशेष के लिये प्रयुक्त होता होगा। स्कन्द वलभी का था। वहाँ जीवन शब्द साग्नि अङ्गार के लिए प्रयुक्त होता होगा। परन्तु अङ्गार तो सदा साग्नि होता है, फिर स्कन्द का प्रयोग चिन्त्य है।

तीसरा समाधान—

एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः।

इस दूसरे आक्षेप के खण्डन से उत्तर अर्थात् तीसरा आक्षेप भी खण्डित किया गया।

भाष्य— 'जितनी क्रियाओं से [नाम वाला] संयुक्त हो, उतनी से [उसे नामों की] प्राप्ति हो।' इस का खण्डन यही है कि क्रिया-विशेषों से नामों का सम्बन्ध है, केवल क्रियाओं से नहीं।

चौथा समाधान—

यथो एतत्। यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्निति।
सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः।
यथा व्रततिर्दमूना जाट्य आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति।

जो यह है, 'और जैसे [ये शब्द] स्फुट अर्थ वाले हों, वैसे इन को कहें।' हैं अल्प प्रयोग वाले [ऐसे शब्द।] कृतः = कृदन्त शब्द [वे नाम आदि, जिन के धातु स्पष्ट हैं] तथा च ऐकपदिक [प्रकरण में पढ़े शब्द।] यथा- व्रततिः = वल्ली = बेल। दमूनाः = अग्नि अथवा अतिथि। जाट्यः = जटावाला। आट्णारः = अटनशील। जागरूकः = सजग। दर्विहोमी = दर्वी से होम करने वाला-इति।

भाष्य— व्रतति आदि के विषय में दुर्ग का मत है कि शाकटायन के अभिप्राय से ये सब

प्रतीतार्थ हैं। यह अध्येता का दोष है कि उसे अनेक शब्द अप्रतीतार्थ दिखाई देते हैं। ध्यान रहे कि आट्णार: शब्द का अपभ्रंश अंग्रेजी के itinerarw विकार में आज भी पाया जाता है। अत: कभी यह भी पूरा प्रतीतार्थ था।

अट्णार पुरुष-विशेष का भी नाम है। अमरीका निवासी ब्लूमफील्ड अपने वैदिक वेरिएण्ट्स, भाग २, पृ.२४७ पर अट्णार पद के विषय में लिखता है— अटणारस्य (Proper names of barbaric appearance and unknown relationships) अर्थात् अट्णार पद बर्बर दिखाई देता है। यदि ब्लूमफील्ड के ध्यान में अंग्रेजी का itinerarw अपभ्रंश आ गया होता, तो वह ऐसा भ्रमपूर्ण लेख न करता।

पाँचवाँ समाधान—

यथो एतन्निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्तीति।
भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः। प्रथनात्पृथिवीत्याहुः।
क एनामप्रथयिष्यत्किमाधारश्चेति। अथ वै दर्शनेन पृथुः।
अप्रथिता चेदप्यन्यैः। अथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते।

जो यह है— 'पूर्वप्रसिद्ध नाम के प्रयोग के पूर्ण ज्ञान के पश्चात् गम्भीर विचार करते हैं।' [ऐसा] होता ही है। पूर्व-प्रसिद्ध नाम के प्रयोग पर ही (योग-परीष्टिः) [उस के] योग अर्थात् अवयवों=प्रकृति-प्रत्यय की पर्येष्णा=परीक्षा [होती है।] [और जो कहा] फैलाने के कारण पृथिवी, ऐसा कहते हैं। [यदि] किसी ने इस [भूमि] को फैलाया होता और किस आधार पर [ठहर कर।] [अरे] यह निश्चय ही दर्शनमात्र से फैली हुई [दिखाई] देती है। न फैलाई गई भी हो यदि किन्हीं अन्यों के द्वारा। और इस प्रकार सब दिखाई देने वाले पदार्थों के (प्रवाद) नामों पर उपालम्भ होंगे।

भाष्य— नाम पद अनादि हैं। वे अनादि मन्त्रों के अङ्ग हैं। अत: यह आक्षेप व्यर्थ है। गार्ग्य स्वयं मन्त्रों को अनादि मानने वालों में है। अत: इस तथ्य के मानने में कोई आपत्ति नहीं कि नाम के प्रयोग के पश्चात् ही उस नाम में योग देने वाले प्रकृति-प्रत्यय की परीक्षा होती है। पूर्व-प्रसिद्ध नामादिकों के रूपों पर ही व्याकरण शास्त्र बने हैं।

पृथिवी-प्रथन- यास्क मुनि ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा इस वैज्ञानिक सत्य को जानता था

कि कल्प के प्रारम्भ में पृथिवी फैलाई गई थी। यह फैलाव भौतिक शक्तियों द्वारा हुआ था। इसमें किसी मनुष्य की आवश्यकता नहीं थी। फिर उसके किसी आधार पर ठहरने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। फिर भी यास्क इस विवाद में नहीं पड़ा। उस ने सीधा उत्तर दिया कि दर्शनमात्र से यह फैली हुई प्रतीत होती है।

षष्ठ समाधान—

यथो एतत्। पदेभ्यः पदेतरार्धान्त्संचस्कारेति।
योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः।
सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा [इति]।

और जो यह- '[आख्यात] पदों से [सर्वथा बेजोड़ वाले] दूसरे [आख्यात] पदों के आधे भागों से [प्रकृति प्रत्यय का] संस्कार किया [शाकटायन ने।]' जिसने [शब्द से] अनुगत न होने पर अर्थ के [पदों का असम्बद्ध] संस्कार किया, वह उस से निन्द्य हुआ। वह यह गर्हा = निन्दा पुरुष की निन्दा है, नहीं व्याकरण शास्त्र की निन्दा। इति।

भाष्य— मूल पाठ के अन्त में अनेक कोषों में इति पद नहीं है। यास्क गार्ग्य का शाकटायन पर आक्षेप उद्धृत करता है। पुनः 'योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः' लिखकर यास्क ने यह दर्शाया है कि जो कोई ऐसा शब्द-संस्कार करे, वह निन्द्य है। परन्तु वह मानता है कि शाकटायन ने ऐसा शब्द-संस्कार नहीं किया। अतः शाकटायन वा उसके व्याकरण की निन्दा नहीं हो सकती। हाँ, उस मूर्ख पुरुष की निन्दा हो सकती है, जो उल्टा संस्कार करे।

सप्तम समाधान—

यथो एतत्। अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति।
पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद्भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्। बिल्वादो लम्बचूडक इति।
बिल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा॥ १४॥

और जो यह— 'उत्तरकाल में होने वाली क्रिया से पूर्व के [पदार्थ का] (प्रदेश)

जताना नहीं युक्त होता।' इति। हम देखते हैं कि पूर्व उत्पन्न हुए (सत्त्वानाम्) पदार्थों अथवा द्रव्यों की उत्तरकाल में होने वाली क्रिया से नामधेय की प्राप्ति होती है, कई एक की [और नहीं होती] कई एक की। यथा- बिल्व को अदन अर्थात् खाने वाला। लम्बचूडक अर्थात् लम्बे बालों वाला, इति। बिल का निर्वचन-भरणाद्वा दुर्भिक्षादि में पालन-पोषण करता है अथवा वृक्ष को भर देता है। अथवा भेदन करने से। तोड़ कर खाया जाता है अथवा अतिसार के रोग को तोड़ता है, छिन्न-भिन्न करता है।

निरुक्त का प्रयोजन— शास्त्र के तीन खण्डों (१२-१४) में, पूर्वपक्ष के खण्डन के पश्चात् यह निर्णीत कर दिया कि सम्पूर्ण नाम आख्यातज हैं। यही बताने के लिए निरुक्त शास्त्र की आवश्यकता है। सम्पूर्ण नाम क्रिया से उत्पन्न हुए हैं। सृष्टि बनते समय ये नानाविध क्रियाएँ ही थीं, जिनसे नाम उत्पन्न हो रहे थे। अत: इस परम सत्य सिद्धान्त को निरुक्त ने ही सजीव रखा है। ऐसे मूल सिद्धान्त की रक्षा के लिए यास्क ने कठोरता से काम लिया है। वह वेद के एक पद को भी रूढ़ नहीं मानता। इसी अभिप्राय से पतञ्जलि मुनि ने व्याकरण महाभाष्य में लिखा है— 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्, नैगम-रूढिभवं हि सुसाधु' अर्थात् निगम अर्थात् मन्त्रों में होने वाला एक शब्द भी रूढ़िभव नहीं है। इस मौलिक सिद्धान्त को वर्तमान ईसाई-यहूदी पाश्चात्य लेखकों ने न समझ कर वेद-विद्या को कलुषित करने का भरसक यत्न किया है और वेद-विद्या के गम्भीरतम रहस्यों पर वृथा उपहास किया है। राथ, ह्विटने, वाकरनागल और मेक्डौनल आदि को वर्षों तक भारतीय आचार्यों से पढ़ना चाहिए था। इनमें से वाकरनागल का महान् परिश्रम भी अति क्षुद्र और दोषपूर्ण है।

निरुक्त का इतना मात्र दिखाना ही प्रयोजन नहीं। आगे निरुक्त शास्त्र के अन्य पाँच प्रयोजन कहते हैं।''

नोट— द्वादश से चतुर्दश खण्ड का पण्डित भगवद्दत रिसर्च स्कॉलर कृत भाष्य का उद्धरण यहाँ समाप्त हुआ। अब हम आगे पञ्चदश खण्ड का अपना भाष्य आरम्भ करेंगे।

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।
अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः।
तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।

इसके अनन्तर चर्चा करते हुए कहते हैं कि इस निरुक्त शास्त्र को पढ़े व समझे बिना वेद मन्त्रों में विद्यमान वैज्ञानिक सम्पदा का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और बिना यथार्थ ज्ञान के उस महती वैज्ञानिक सम्पदा पर दृढ़ विश्वास नहीं हो सकता। इसके साथ ही वेद मन्त्रों के अर्थ जाने बिना उनके स्वर और संस्कार अर्थात् व्याकरण का भी अभिप्राय विदित नहीं होता अर्थात् निरुक्त के बिना व्याकरण का ज्ञान अधूरा है। इस कारण यह शास्त्र विद्या का स्थान कहलाता है। यह अपने निर्वचनों द्वारा जहाँ वैदिक पदों के अर्थों को गहराई से प्रकाशित करता है, वहीं यह व्याकरण शास्त्र को पूर्णता प्रदान करता है।

यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः।
तदेतेनोपेक्षितव्यम्।

निरुक्त के उपर्युक्त प्रयोजन पर प्रश्न उठाते हुए ग्रन्थकार पूर्व पक्ष को उद्धृत करते हुए कहते हैं— यदि निरुक्त शास्त्र वेद मन्त्रों के अर्थ के ज्ञान के लिए है, तो यह निरर्थक है अर्थात् निरुक्त शास्त्र व्यर्थ है, ऐसा आचार्य कौत्स का कथन है। कौत्स की दृष्टि में वेदमन्त्र भी अनर्थक हैं। इस बात को कौत्स ने अनेक तर्कों से समझाया है।

कुछ विवेचना— इस प्रकरण से ऐसा स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस काल में कुछ ऐसे भी आचार्य विद्यमान थे, जो वेद मन्त्रों का अनर्थक होना ही स्वीकार करते थे। सम्भवतः वे वेद मन्त्रों को यज्ञीय कर्मकाण्ड के साधन मात्र के रूप में ही स्वीकार करते थे। ये आचार्य कौत्स कौन थे? इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का निरुक्त भाष्य अवश्य पठनीय है। इसे हम यहाँ पाठकों के लिए यथावत् उद्धृत कर रहे हैं—

"अब यास्क एक नया पूर्वपक्ष उपस्थापित करता है। वह पक्ष कौत्स का है। तदनुसार अनर्थक ही निश्चय से मन्त्र हैं। इस विषय में निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१. कौत्स कौन था?
२. उसने मन्त्रों को अनर्थक क्यों कहा?
३. वह मन्त्र और ब्राह्मण में श्रद्धा और विश्वास रखता था वा नहीं?

इन प्रश्नों का उत्तर प्राचीन वाङ्मय में स्पष्ट मिलता है।

उत्तर— १. कृष्ण द्वैपायन व्यास के चार प्रधान शिष्यों में जो जैमिनि नाम का मुनि था, वह भी एक कौत्स था। इसका प्रमाण भारतसंहिता, आदिपर्व ४८.५-७ में है। यथा— वृद्धः कौत्सार्यजैमिनिः।

अर्थात् [जनमेजय के सर्प-सत्र में] वृद्ध कौत्सार्य जैमिनि उपस्थित था। प्रतीत होता है, जैमिनि का गोत्रापत्य नाम कौत्स भी था। भारतेतिहास का कर्त्ता व्यास धन्य है, जिसने यह बहुमूल्य इतिहास सुरक्षित किया।

व्यास मुनि का शाखा-प्रवचन भारत युद्ध से लगभग १०० वर्ष पहले हुआ। और जनमेजय का सर्प-सत्र युद्ध के लगभग ५० वर्ष पश्चात्। शाखा-प्रवचन के समय जैमिनि यदि ६० वर्ष का हो, तो सर्प-सत्र के समय वह लगभग २०० वर्षीय था। वह वस्तुतः वृद्ध था। उसके मीमांसा सूत्रों की रचना भी भारत युद्ध से पूर्व हो चुकी थी।

२. जैमिनि मीमांसा शास्त्र का कर्त्ता था। उसके कतिपय मीमांसा सूत्रों की निरुक्तस्थ पूर्वपक्ष के वचनों से तुलना आगे की जाती है—

निरुक्त में कौत्स का पूर्वपक्ष	**मीमांसासूत्र**
१. अनर्थका हि मन्त्राः।	आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमत-दर्थानां तस्मादनित्यमित्युच्यते।
२. अनुपपन्नार्था भवन्ति। ओषधे त्रायस्वैनम्।	अचेतनार्थसम्बन्धात्।
३. विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति।	अर्थविप्रतिषेधात्।
४. अविस्पष्टार्था भवन्ति।	अविज्ञेयात्।

ऐसी तुलना लक्ष्मणसरूप जी के निरुक्त संस्करण के पृष्ठ २८०-८१ पर की गई है। यास्कधृत वचनों और मीमांसा सूत्रों का पाठ अति साम्य रखता है। सम्भव है, जैमिनि

के किसी अन्य ग्रन्थ में यास्कधृत वचन ही याथातथ्य रूप में हों। अब विचारणीय है कि सामसंहिता के प्रवचनकर्त्ता जैमिनि ने मन्त्रों को अनर्थक कहा वा नहीं? इसका समाधान स्पष्ट है। जैमिनि मुनि मन्त्रों में यज्ञ-क्रिया को ही प्रधान मानता था। वह उन-उन यज्ञों में मन्त्रोच्चारण मात्र और तत्सम्बन्धी क्रिया से फल मानता है। पर उसके पूर्वोद्धृत सूत्र पूर्वपक्ष के हैं। उसने अनर्थक पक्ष का स्वयं खण्डन किया है। अत: अनर्थक पक्ष किसी दूसरे कौत्स का है। वह भी उसी काल का प्रतीत होता है। तभी यास्क और जैमिनि ने उसका खण्डन किया है। उस दूसरे कौत्स ने भी यज्ञ के फल की दृष्टि से मन्त्रों को अनर्थक कहा है।''

अब आचार्य कौत्स के तर्कों को क्रमश: प्रस्तुत किया जाता है—

१. नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।

अर्थात् वेदमन्त्र निश्चित शब्दों की रचना वाले होते हैं, साथ ही इनमें शब्दों का कर्म भी निश्चित ही होता है। जैसे 'अग्ने नय सुपथा' में 'अग्ने' के स्थान पर 'वह्ने' पद का प्रयोग नहीं होता, यही इनका निश्चित शब्दों की रचना वाला होना है अर्थात् इसमें एक पद के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'अग्ने नय सुपथा' के स्थान पर 'सुपथा अग्ने नय' भी नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें क्रम परिवर्तन नहीं हो सकता। जबकि लोक में ऐसा नहीं होता, हम 'जलमानय' के स्थान पर 'वारिमानय' का प्रयोग भी कर सकते हैं एवं 'आनय जलम्' का भी प्रयोग किया जा सकता है। इस कारण हमें वेद मन्त्र अनर्थक प्रतीत होते हैं।

२. अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते।
उरु प्रथस्व। [यजु.१.२२] इति प्रथयति।
प्रोहाणि। इति प्रोहति।

अगला तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वेदमन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा रूपसम्पन्न किये जाते हैं अर्थात् वे ब्राह्मण ग्रन्थों के द्वारा यज्ञीय कर्म में विनियुक्त किये जाते हैं। यहाँ उदाहरण देते हुए आचार्य कौत्स कहते हैं— 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' अर्थात् 'उरु प्रथस्व' (यजु.१.२२) यह बोलकर याज्ञिक लोग पुरोडाश को फैलाते हैं। प्राय: सभी

भाष्यकारों ने इसका ऐसा ही अर्थ किया है। वस्तुतः सभी ब्राह्मण ग्रन्थ सृष्टि विज्ञान के ग्रन्थ हैं, किन्तु याज्ञिकों ने उनमें लौकिक कर्मकाण्ड को आरोपित कर दिया है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कौत्स भी ब्राह्मण ग्रन्थों के यथार्थ विज्ञान से अवगत नहीं थे, अन्यथा वे इस ब्राह्मण वचन के आधार पर वेद मन्त्रों को ही अनर्थक नहीं कहते, ऐसा हमारा मत है। आचार्य कौत्स ने फिर दूसरा उदाहरण देते हुए कहा है कि 'प्रोहामि' (यजु.२.१५) से याज्ञिक लोग प्रोहण कर्म करते हैं। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार वे पुरोडाश को 'प्रोहामि' पद का उच्चारण करके पूर्व की ओर प्रेरित करते हैं। उल्लेखनीय है कि पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर एवं आचार्य भगीरथ शास्त्री ने अपने-२ निरुक्त भाष्य में 'प्रोहामि' के स्थान पर 'प्रोहाणे' पाठ स्वीकार किया है, परन्तु यजुर्वेद संहिता में 'प्रोहामि' पद ही मिलता है। इसे पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने पाद टिप्पणी में भी स्पष्ट किया है। यहाँ आचार्य कौत्स का कथन यह है कि 'इति प्रथयति' एवं 'इति प्रोहति' इन पदों को जोड़कर ही 'उरु प्रथस्व' एवं 'प्रोहामि' पदों की सार्थकता सिद्ध होती है अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों ने मन्त्रों के वचनों को रूपसम्पन्न किया है अर्थात् उनका विनियोग किया है। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो मन्त्र अनर्थक ही होते।

३. अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति।
ओषधे त्रायस्वैनम्। [मै.सं.३.९.३]
स्वधिते मैनं हिंसीः। [यजु.४.१] इत्याह हिंसन्।

और अगला तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं, इस कारण भी वे अनर्थक होते हैं। इसके उदाहरण देते हुए वे कहते हैं—

(क) 'ओषधे त्रायस्वैनम्' यहाँ ओषधि से कहा जा रहा है कि हे ओषधि! तू इसकी रक्षा कर। भला जड़ ओषधि कैसे किसी की रक्षा ही करेगी? और कैसे किसी की प्रार्थना वा आदेश ही सुनेगी? यह कितनी असंगत व निरर्थक बात है? 'ओषधे त्रायस्व' यह पाठ यजुर्वेद ४.१ में भी विद्यमान है।

(ख) 'स्वधिते मैनं हिंसीः' यहाँ कुल्हाड़ी को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि हे कुल्हाड़ी! तू इसको मत काट और ऐसा मन्त्र बोलते हुए भी वह उस औषधि को काटता

है। ये दोनों वचन मैत्रायणी संहिता और यजुर्वेद संहिता में साथ-२ दिये गये हैं। इस कारण यहाँ हिंसा का अर्थ औषधि रूप पौधे के साथ ही संगत होगा। जो भाष्यकार आचार्य भगीरथ शास्त्री की तरह यहाँ हिंसा का सम्बन्ध अकारण ही पशु से जोड़कर पशुबलि का संकेत करते हैं, तो वह उनके स्वयं के मस्तिष्क की वेद-विरुद्ध कल्पना है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त-भाष्य में निरुक्त के प्राचीन भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि उन्होंने भी यहाँ यज्ञ में पशु हिंसा को स्वीकार किया है तथा इस हिंसा को हिंसा नहीं माना है।

[वस्तुतः ऐसे भाष्यकारों की यह बड़ी भ्रामक दृष्टि रही है, जिसका खण्डन पण्डित भगवद्दत्त ने भी किया है।]

आचार्य विश्वेश्वर एवं मुकुन्द झा शर्मा ने यहाँ औषधि का ही ग्रहण किया है, न कि पशु का। यही बात वेदसम्मत भी है और प्रकरणसम्मत भी। यहाँ आचार्य कौत्स का यही आक्षेप है कि औषधि को काटते हुए भी कुल्हाड़ी से कह रहे हैं कि तू इसकी हिंसा मत कर। इस प्रकार दोनों ही उदाहरणों से वेद की निरर्थकता सिद्ध होती है।

४. अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति।
एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः।
असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्। [यजु.१६.५४]
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे। [ऋ.१०.१३३.२]
शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः। [ऋ.१०.१०३.१] इति।

यहाँ अगला तर्क और प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वेद में विपरीत अर्थ वाले मन्त्र भी विद्यमान हैं, तब कौन से अर्थ को उचित माना जाए, यह समस्या है। इस कारण भी वेदमन्त्र अनर्थक हैं विपरीत अर्थ वाले मन्त्रों के उदाहरण देते हुए लिखते हैं—

(क) 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' यह मन्त्र कहाँ का है, यह ज्ञात नहीं, परन्तु कुछ पाठभेद के साथ तै.सं.१.८.६.१ में यह इस प्रकार उपलब्ध है— 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे'। यहाँ कहा गया है कि वह रुद्र अकेला ही अवस्थित है। उधर दूसरी ओर

कहा गया है— 'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्' अर्थात् इस पृथ्वी पर असंख्य एवं हजारों की संख्या में रुद्र विद्यमान हैं। अब यदि मन्त्रों को सार्थक माना जाए, तो किस मन्त्र को सत्य माना जाए? एक मन्त्र कहता है कि रुद्र एक है और दूसरा मन्त्र कहता है कि रुद्र हजारों व असंख्य हैं, तब विरुद्ध अर्थ वाले दोनों मन्त्रों को कैसे सत्य और सार्थक माना जाए, यह आचार्य कौत्स का आक्षेप है।

(ख) यहाँ ऋग्वेद में कहा गया— 'अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे'। इसका अर्थ है— शत्रु रहित इन्द्र पैदा हुआ अर्थात् उस इन्द्र का कोई शत्रु नहीं था और न है और दूसरे स्थान पर कहा गया- 'शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः' अर्थात् इन्द्र ने एक सौ सेनाओं को एक साथ जीता। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब इन्द्र का कोई शत्रु ही नहीं था, तब सौ सेनाओं के विरुद्ध इन्द्र ने युद्ध क्यों किया? इस कारण इन दोनों ही मन्त्रों के अर्थों में परस्पर भारी विरोध है। इसलिए दोनों मन्त्रों के अर्थ सत्य नहीं हो सकते। इस कारण भी वेदमन्त्र अनर्थक हैं। ऐसा आचार्य कौत्स का आक्षेप है।

५. अथापि जानन्तं संप्रेष्यति।
अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि। इति। [तै.सं.६.३.७.१]

यहाँ पाँचवाँ आक्षेप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जानते हुए को भी मन्त्रों में यज्ञीय कर्मकाण्ड की विभिन्न साधारण-सी क्रियाओं के लिए भी प्रेरित किया गया है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि'। जिसका अर्थ है— जलते हुए अग्नि के लिए मन्त्रों का उच्चारण कर और आहुति दे। ये बात अति साधारण है। इतनी बात यज्ञकर्त्ता स्वयं जानता है, तब भी उसको वेदमन्त्र प्रेरणा दे रहा है। इस कारण भी वेदमन्त्र निरर्थक हैं।

६. अथाप्याहादितिः सर्वमिति।
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्। इति। [ऋ.१.८९.१०]
तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

इसके अनन्तर छठा आक्षेप प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि वेदों में कहा गया है

कि 'अदिति' ही सब कुछ है। यहाँ 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' अर्थात् अदिति ही द्यौ है और अदिति ही अन्तरिक्ष है। भला एक ही वस्तु सब कुछ कैसे हो सकती है? इस कारण भी वेदमन्त्र अनर्थक हैं।

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने लिखा है— 'तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः'। यहाँ निरुक्तकार ने लिखा है कि इस मन्त्र की व्याख्या आगे करेंगे। यह मन्त्र तो निरुक्त ४.२३ में व्याख्यात है। केवल इसी मन्त्र के लिए ऐसा क्यों लिखा अर्थात् केवल इसी मन्त्र को क्यों व्याख्यात किया? अन्य पूर्व में आए हुए मन्त्रों पर निरुक्तकार ने कुछ क्यों नहीं लिखा? यह चिन्त्य है।

७. अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति।
अम्यक्। यादृश्मिन्। जारयायि। काणुका। इति॥ १५॥

आचार्य कौत्स अन्तिम आक्षेप करते हुए कहते हैं कि अनेक मन्त्र ऐसे भी होते हैं, जिनके कई पदों का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं होता। इसके उदाहरण में चार पद उद्धृत किये हैं— अम्यक् (ऋ.१.१६९.३), यादृश्मिन् (ऋ.५.४४.८), जारयायि (ऋ.६.१२.४), काणुका (ऋ.८.७७.४)। ये चारों पद ऐसे प्रतीत होते हैं, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। जब पदों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता, तब ये पद जिन-२ मन्त्रों में विद्यमान हैं, उनका अर्थ भी स्पष्ट नहीं होगा। इस कारण हमारा यह कथन सत्य है कि वेदमन्त्र अनर्थक हैं। उनका फल तो केवल उनसे होने वाले यज्ञों में मन्त्रों के विनियोग से ही मिलता है।

विशेष ज्ञातव्य— आचार्य कौत्स के द्वारा वेद मन्त्रों के अर्थवान् होने पर उपर्युक्त कुल सात आक्षेप किये गये हैं। इन आक्षेपों में जिन-२ मन्त्रों को उद्धृत किया गया है, उन-२ मन्त्रों का अर्थ भी हमने कौत्स की भावना के अनुकूल ही किया है, जो कि रूढ़ ही है, यौगिक नहीं। हम यह भी जानते हैं कि आचार्य कौत्स वेद मन्त्रों का रूढ़ अर्थ ही जानते व मानते थे, अन्यथा वे वेद मन्त्रों को इस प्रकार अनर्थक नहीं कहते। हाँ, इतना अवश्य है कि महाभारत काल के समय और उसके कुछ पूर्व ही इस भारतवर्ष (आर्यावर्त्त) में वेदविद्या का इतना पतन हो गया था कि वेद-विज्ञान पर अविश्वास करने वाले कुछ आचार्य इस देश में विख्यात थे। यदि कौत्स कोई साधारण व्यक्ति होता और वह वेद को साधारण

जनता में अनर्थक कहता, तो उसका मत वेदविद्या के महान् और प्रसिद्ध ज्ञाता भगवान् यास्क के कानों तक नहीं पहुँचता और वे कौत्स के मत को महत्त्व देकर उसका खण्डन इस शास्त्र में करने को विवश नहीं होते। इससे यह सिद्ध होता है कि कौत्स उस समय के अथवा उससे कुछ पूर्व के प्रसिद्ध आचार्य थे, जो मन्त्रों को अनर्थक किन्तु नाना प्रकार के यज्ञों में उनके नाना प्रकार के विनियोग को फलदायक मानते थे और भारतवर्ष में उनकी इस विचारधारा के अनेक व्यक्ति भी होंगे। इस कारण ही महर्षि यास्क को वेद की गरिमा बचाने के लिए और वेदों के गम्भीर विज्ञान को प्रकाशित व रक्षित करने के लिए निरुक्त शास्त्र की रचना करनी पड़ी और वेद के मूल आशय के अनुकूल वेदार्थ की शैली को प्रकाशित करना पड़ा। अब महर्षि यास्क आचार्य कौत्स के आक्षेप पक्ष को उद्धृत करने के पश्चात् इन आक्षेपों का उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं। एक-२ आक्षेप का क्रमशः उत्तर देने से पूर्व वे लिखते हैं—

* * * * *

≡ षोडशः खण्डः ≡

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्।
एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति।
इति च ब्राह्मणम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः। [ऋ.१०.८५.४२] इति।

वेदमन्त्र निरर्थक नहीं हैं, बल्कि सभी वेदमन्त्र निश्चित रूप से सार्थक ही होते हैं, लौकिक शब्दों के समान। वस्तुतः लोक में शब्द वेद से ही गये हैं। इस विषय में भगवान् मनु महाराज ने मनुस्मृति १.२१ में कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

अर्थात् सृष्टि के सभी पदार्थों के नाम प्रारम्भ में वेद के शब्दों से ही ऋषियों ने

दिये अर्थात् भाषा और ज्ञान की उत्पत्ति वेद से ही हुई। अब जबकि वेद के आधार पर लोक में रखे गये नाम सार्थक होते हैं, तब वेद के शब्द कैसे निरर्थक हो सकते हैं? इस विषय में महर्षि यास्क ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन उद्धृत करते हुए कहते हैं—

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति। (गो.उ.२.६)

इसी प्रकार का वचन ऐतरेय ब्राह्मण में भी आया है, भेद केवल यह है कि वहाँ 'ऋग्यजुः' के स्थान पर केवल 'ऋक्' का ही प्रयोग है। इस ब्राह्मण वचन का अर्थ यह है कि इस सम्पूर्ण सृष्टियज्ञ की समृद्धि अथवा विशेषता यही है कि ऋक् अथवा यजुः मन्त्रों के द्वारा जिस किये जाने वाले कर्म को वेद में कहा गया है, वही कर्म प्रत्यक्ष रूप से इस सृष्टि में उन-२ मन्त्ररूप छन्द रश्मियों के द्वारा सम्पन्न होता है। इसी को मन्त्रों की रूपसमृद्धि कहा गया है। इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण १.१३.९ का व्याख्यान करते हुए 'वेदविज्ञान-आलोकः' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"रूपसमृद्धि को परिभाषित करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यज्ञ की समृद्धि ही रूपसमृद्धि कहलाती है। यज्ञ की क्रिया व स्वरूप सम्यक् रीति से संचालित होवे और उनमें तेजस्विता होवे, यही रूपसमृद्धि कहलाती है। जैसी-२ क्रिया उपर्युक्त ऋचाओं में जिस-२ क्रम से वर्णित है, उस-२ क्रम से तत्-तदनुसार सम्पन्न होती है। इस प्रक्रिया और क्रम में कहीं भी कोई दोष अथवा विघ्न उपस्थित नहीं हो पाता। ऋचाओं में जो-२ भी वर्णन जिस-२ क्रिया का हुआ है, उसी के अनुसार सृष्टि में भी क्रिया का होना अर्थात् हिरण्यगर्भ (नेब्यूला), तारे एवं परमाणु (एटम्स) आदि प्राक् वर्णित क्रियाओं का सम्पन्न होना ही ऋचाओं का रूपसमृद्ध होना कहलाता है।"

यहाँ ग्रन्थकार ने ऋग्वेद १०.८५.४२ के तृतीय पाद 'क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

इस ऋचा का देवता सूर्या है। इस कारण इस ऋचा का सम्बन्ध सूर्य से है। हम यहाँ सम्पूर्ण ऋचा का वैज्ञानिक भाष्य अथवा प्रभाव दर्शाना विस्तारभय से आवश्यक नहीं

समझते, परन्तु ऋचा के केवल तृतीय पाद के व्याख्यान से आशय स्पष्ट नहीं हो पायेगा, इस कारण हम ऋचा के वैज्ञानिक स्वरूप को यहाँ सार रूप में ही दर्शा रहे हैं—

[सूर्या = वाङ्नाम (निघं.१.११), सूर्यस्य पत्नी (निरु.१२.७)। पुत्रः = पुत्रो वै वीरः (श.ब्रा.३.३.१.१२)। वीरः = प्राणा वै दश वीराः (श.ब्रा.१२.८.१.२२)। नप्ता = नपततीति नप्ता (उ.को.२.९७)]

सूर्य के अन्दर विभिन्न रक्षिका छन्द आदि रश्मियों के मध्य आग्नेय एवं सौम्य कण अर्थात् धनावेशित एवं ऋणावेशित कण अपने बल और क्रियाओं से पतित न होने वाली विभिन्न प्राण रश्मियों के साथ अर्थात् उनके बल के द्वारा बल को प्राप्त करके अपने गृह रूप सूर्यलोक में स्वच्छन्द परन्तु ईश्वरतत्त्व द्वारा नियन्त्रित गतियों को प्राप्त करके नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हुए व्याप्त होते हैं। वे दोनों प्रकार के कण कभी भी परस्पर पूर्णतः पृथक् नहीं होते अर्थात् उनमें पारस्परिक आकर्षण बल का भाव सदैव विद्यमान रहता है।

इस उदाहरण को प्रस्तुत करने का महर्षि यास्क का अभिप्राय इतना ही है कि जो क्रिया इस मन्त्र के पदों द्वारा कही जा रही है, वैसी ही क्रिया सूर्यलोक में इसी मन्त्र के शब्दों के प्रभाव से वास्तव में होती है। इसलिए वेदमन्त्र निरर्थक नहीं, बल्कि गम्भीर अर्थों से युक्त होते हैं।

अब ग्रन्थकार आचार्य कौत्स के आक्षेपों (तर्कों) का क्रमशः उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं—

१. यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथेन्द्राग्नी। पितापुत्राविति।

जैसा कि आचार्य कौत्स ने आक्षेप किया कि वेदमन्त्रों में पद और उनके स्थान निश्चित होते हैं, इस कारण वेदमन्त्र अनर्थक हैं, यह युक्ति उचित नहीं है। इस प्रकार की व्यवस्था तो लोक में भी पाई जाती है। जैसे 'इन्द्राग्नी' के स्थान पर 'अग्नीन्द्रौ' तथा 'पितापुत्रौ' के स्थान पर 'पुत्रपितरौ' का प्रयोग नहीं होता। यहाँ 'अजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन', इस वार्तिक से अजादि अदन्त 'इन्द्र' पद का प्रयोग पूर्व में हुआ है तथा घि संज्ञक 'अग्नि'

पद का प्रयोग बाद में हुआ है। यहाँ 'शेषो घ्यसखि' (अष्टा.१.४.७) से अग्नि पद की घि संज्ञा हुई है। इधर पितापुत्रौ समास में 'अभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्' वार्तिक (सामासिकः २८८) से पिता का प्रयोग पूर्व में और पुत्र का प्रयोग बाद में हुआ है।

यहाँ ग्रन्थकार का तर्क है कि जब लोक में नियत पदों वाले ये समस्त पद अर्थवान् हैं, तब वेदों में ऐसे ही नियत पदों वाले मन्त्र कैसे निरर्थक हो सकते हैं? हमारी दृष्टि में वेदों में शब्दों के नियत स्थान और स्वरूप का होना वैज्ञानिक कारणों से भी अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना छन्द रश्मियों का प्रभाव भी कुछ सीमा तक परिवर्तित हो जायेगा। उधर यदि वेद मन्त्रों में किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची प्रयुक्त किया जाए, तब भी उस पद का प्रभाव परिवर्तित हो जायेगा। पर्यायवाची शब्दों में धातु और प्रत्यय दोनों में परिवर्तन होकर उनकी व्युत्पत्ति वा निर्वचन में भी भेद हो जायेगा। यदि पर्यायवाची शब्दों की अक्षर संख्या में भेद हो, तो उस मन्त्र का छन्द भी परिवर्तित हो जायेगा। इस कारण से उन पदों का सृष्टि प्रक्रिया पर जो प्रभाव होगा, उसमें अवश्य ही भेद होगा, भले ही वह भेद अत्यन्त सूक्ष्म स्तर पर क्यों न हो? संस्कृत भाषा, विशेषकर वैदिकी वाक् का यह सूक्ष्म एवं गम्भीर विज्ञान अन्य भाषाविदों को अत्यन्त कठिनता से ही समझ में आयेगा।

अब अगले आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखते हैं—

२. यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इति। उदितानुवादः स भवति।

आचार्य कौत्स ने जो आक्षेप किया है कि वेदमन्त्र अनर्थक हैं, वे ब्राह्मण वचनों द्वारा विनियुक्त होकर ही सार्थक हो पाते हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थ अपने विनियोग के द्वारा जो भी दर्शाते हैं अथवा सृष्टि की जिस प्रक्रिया का वर्णन करते हैं, वह वेदमन्त्र अथवा मन्त्रांश का उत्कृष्ट अनुवाद ही होता है तथा ब्राह्मण ग्रन्थ उस वेदमन्त्र वा मन्त्रांश के द्वारा इस सृष्टि में क्या क्रिया हो रही है, इसी को दर्शाता है, न कि किसी वेदमन्त्र वा मन्त्रांश की अपूर्णता वा अनर्थकता को पूर्णता वा सार्थकता प्रदान करता है। आचार्य कौत्स ने अपने आक्षेप में जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उन पर हमारा मत इस प्रकार है—

(क) 'उरु प्रथस्व' (यजु.१.२२) इसमें 'इति प्रथयति' इन दो पदों को जोड़कर 'उरु

प्रथस्व' को कोई पूर्णता वा सार्थकता प्रदान नहीं की, बल्कि ब्राह्मण ग्रन्थ ने यह दर्शाया है कि 'उरु प्रथस्व', जिसका देवता यज्ञ है, ये दो पद अपने प्रभाव से सृष्टि में होने वाली यजन प्रक्रियाओं को विस्तार प्रदान करते हैं।

(ख) 'प्रोहामि' (यजु.२.१५) पद भी इस मन्त्र में अपना स्पष्ट एवं पूर्ण अर्थ रखता है। इस मन्त्र का देवता अग्नीषोमौ एवं ऋषि परमेष्ठी प्रजापति है। इस 'प्रोहामि' पद के प्रभाव से अग्नि और सोम अर्थात् प्राण एवं मरुद् रश्मियाँ आग्नेय एवं सौम्य कणों को प्रेरित करती रहती हैं। यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थ इसी विज्ञान को कहता है कि 'प्रोहामि' पद इस प्रेरणा का साधन होता है।

इस प्रकार आचार्य कौत्स के ये दोनों उदाहरण उनके आक्षेप की पुष्टि नहीं करते, बल्कि वेद के गम्भीर अर्थ वा विज्ञान को ही प्रकाशित करते हैं। इसके पश्चात् तीसरे आक्षेप का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

३. यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्ति इति। आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत।

अर्थात् वेदमन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं, इस आक्षेप का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि कौत्स ने 'स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः' (यजु.४.१) को उद्धृत करते हुए जो यह आक्षेप किया कि कुल्हाड़ी से औषधि को काटते हुए भी कह रहे हैं कि इसकी हिंसा मत कर, यह बात ही अनर्थक है। वस्तुतः औषधि को काटना हिंसा नहीं है, बल्कि इससे रोगी के प्राणों की रक्षा होती है। इस कारण यह अहिंसा है। अहिंसा की परिभाषा करते हुए योगदर्शन २.३० के भाष्य में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः'

अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति सभी प्रकार से सदैव द्रोह से रहित होना अहिंसा कहलाती है। इसके विपरीत प्राणियों के प्रति कभी भी किञ्चित् भी द्रोह का भाव रखना हिंसा कहलाती है। जब वैद्य कुल्हाड़ी से औषधि को काटता है, तब रोगी के प्रति न केवल प्रीति से युक्त होता है, अपितु वह औषधि के प्रति द्रोह की भावना नहीं रखता है और वह औषधि का पूर्ण संरक्षण भी करता है। इस कारण इस मन्त्र को असंगत मानना अविद्या की बात है।

यहाँ महर्षि यास्क का 'आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत' कहना वेद के प्रति कितने बड़े विश्वास को व्यक्त करता है, जो प्रत्येक वेद साधक को कहते हैं कि 'स्वधिते मैनं हिंसी:' यह वेद का वचन है, इसलिए इस पर दृढ़ विश्वास रखो कि यह हिंसा नहीं, बल्कि अहिंसा की ही बात है। इससे ग्रन्थकार संकेत देना चाहते हैं कि वेद में कहीं हिंसा प्रतीत होने वाले पद दिखाई भी दें, तदपि उनसे वेदों में हिंसा का भ्रम नहीं होना चाहिए, क्योंकि वेद कभी भी हिंसा की प्रेरणा नहीं दे सकते, बल्कि वेद प्राणिमात्र के प्रति प्रीतिपूर्वक व्यवहार की ही प्रेरणा करते हैं। हम यहाँ इस सम्बन्ध में वेद के कुछ प्रमाणों को उद्धृत कर रहे हैं—

- मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पद:। (अथर्व.११.२.१) अर्थात् हमारे मनुष्यों और पशुओं को नष्ट मत कर।
- इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्। (यजु.१३.४७) अर्थात् इस दो खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।
- इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्। (यजु.१३.४८) अर्थात् इस एक खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।
- यजमानस्य पशून् पाहि। (यजु.१.१) अर्थात् यजमान के पशुओं की रक्षा कर।

आप कहेंगे कि यह बात यजमान वा किसी मनुष्य विशेष के पालतू पशुओं की हो रही है, न कि हर प्राणी की। इस भ्रम के निवारणार्थ अन्य प्रमाण—

- मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। (यजु.३६.१८) अर्थात् मैं सब प्राणियों को मित्र की भाँति देखता हूँ।
- मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजा:। (यजु.१२.३२) अर्थात् इस शरीर से प्राणियों को मत मार।
- मा स्रेधत (ऋ.७.३२.९) अर्थात् हिंसा मत करो।

इतने पर भी कोई यह कहे कि वेद में पशुबलि का विधान है, तो यह नितान्त मूर्खता है। महाभारतकार महर्षि वेदव्यास ने भी स्पष्ट कहा है—

- सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्। धूर्तै: प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्। (शान्तिपर्व अ.२६५.९) अर्थात् शराब, मांस आदि की यज्ञ में आहुति देना वेद-

विरुद्ध है तथा यह धूर्तों द्वारा चलायी गयी है।

- अहिंसा सकलो धर्मः। (शान्तिपर्व अ.२७२.२०) अर्थात् अहिंसा सम्पूर्ण धर्म है।
- बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ॥ नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः॥ (शान्तिपर्व ३३७.४-५) अर्थात् यज्ञ बीजों (अन्न आदि) से करना चाहिये, यही वैदिक विधान है। इन बीजों की अज संज्ञा है। छाग (बकरा) मारना उचित नहीं।

इसी कारण ही महर्षि यास्क वेद के वचनों पर दृढ़ता से विश्वास करके कह रहे हैं कि वेद में सर्वत्र सदा अहिंसा का ही विधान है।

इस मन्त्र में 'ओषधे त्रायस्व' पदों को लेकर जो भी भाव भाष्यकारों ने व्यक्त किया है, उस विषय में हमारा कथन यही है कि ये दोनों उदाहरण वस्तुतः एक ही हैं। 'त्रायस्व' पद के साथ 'एनम्' सर्वनाम को जोड़ना मैत्रायणी संहिताकार का केवल स्पष्टीकरण ही है। यजुर्वेद में 'स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः' में विद्यमान 'एनम्' पद 'ओषधे त्रायस्व' के साथ भी पठनीय है। इस कारण यह सम्पूर्ण भाग एक ही उदाहरण है। इसी को दृष्टिगत रखकर महर्षि यास्क ने इस आक्षेप का उत्तर देते समय केवल हिंसा की ही चर्चा की है, औषधि के द्वारा किसी की रक्षा की नहीं। यदि दुर्जनतोषन्याय से 'ओषधे त्रायस्व' को अलग ही माना जाए, तब भी वेद के अध्येता को यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि वेद के सभी पद यौगिक हैं तथा वेद में विभक्ति एवं पुरुष व्यत्यय भी होते हैं, इस कारण रूढ़ अर्थों का ग्रहण कर वेद पर आक्षेप करना बुद्धिमत्ता नहीं है। अब अगले आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखते हैं—

४. यथो एतद् विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा। असपत्नोऽयं ब्राह्मणः। अनमित्रो राजा। इति।

आचार्य कौत्स का यह कहना है कि वेदमन्त्रों में परस्पर विपरीत बातें भी होती हैं, इस कारण मन्त्र अनर्थक ही हैं। जैसा कि उन्होंने उदाहरण दिया कि कहीं इन्द्र को अकेला माना, तो कहीं इन्द्र को अनेक मान लिया। उनका यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा तो लोक में भी देखा जाता है। जैसे 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः' एवं 'अनमित्रोऽयं राजा' अर्थात् शत्रुरहित ब्राह्मण एवं शत्रुरहित राजा। यहाँ यह विचारना चाहिये कि संसार में कोई भी

व्यक्ति ऐसा नहीं होता है, जिसका कोई भी शत्रु न हो। इतिहास में अजातशत्रु विशेषण से विभूषित मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम एवं धर्मराज युधिष्ठिर जैसे महापुरुषों के भी शत्रु थे, फिर भी इन्हें अजातशत्रु माना जाता है। वस्तुतः ऐसे विशेषण प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर प्रयुक्त किये जाते हैं। इस कारण जिसके शत्रु बहुत कम हों और मित्र अधिक हों, उसे अजातशत्रु कहा जाता है। हमारे मत में आचार्य कौत्स ने जो उदाहरण दिया है, वह आक्षेप की पुष्टि नहीं करता, बल्कि खण्डन ही करता है। ऋग्वेद १०.१०३.१ में इन्द्र को अनेक सेनाओं के साथ एक साथ युद्ध करने वाला बताया है। वहाँ इन्द्र के अनेक विशेषण जैसे— आशु, शिशान, भीम, क्षोमण एवं एकवीर दिये हैं। इन सब विशेषणों से इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण तरंगें अति तीक्ष्ण भेदन क्षमता से युक्त सिद्ध होती हैं। इस कारण वे अनेक प्रकार के असुर पदार्थ सृष्टि प्रक्रिया में बाधा पहुँचाने वाली तरंगों को नष्ट करने में सक्षम होते हैं।

उधर ऋग्वेद १०.१३३.२ में जो इन्द्र को अशत्रु बताया है, उसी इन्द्र को उसी मन्त्र में शत्रु को नीचे गिराने वाला व नष्ट करने वाला भी बताया है। इसका आशय यह है कि संयोजनीय कणों के मध्य जब कोई बाधक असुर पदार्थ शत्रु बनकर बाधा डालता है, उस समय इन्द्र तत्त्व उन संयोजनीय कणों के शत्रु बने असुर पदार्थ को नष्ट वा नियन्त्रित करता है और उन कणों की संयोग प्रक्रिया को शत्रुरहित कर देता है। वस्तुतः इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों पर कोई भी असुर पदार्थ आक्रमण नहीं करता, इस कारण भी वह अशत्रु है। परन्तु जब वह विभिन्न कणों के संयोग की घटनाओं के समय असुरादि बाधक तरंगों के सब ओर से हो रहे प्रहारों को रोकने के लिए और सृष्टि की सृजन क्रियाओं को निर्बाध सम्पन्न कराने के लिए असुर पदार्थ पर आक्रमण करता है, तब वह शत्रुओं की एक साथ अनेक सेनाओं का हनन करने वाला माना जाता है। इस प्रकार आचार्य कौत्स का यह उदाहरण देना ही स्वयं में भ्रामक है।

अब अगले आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं—

**५. यथो एतज्जानन्तं संप्रेष्यतीति। जानन्तमभिवादयते।
जानते मधुपर्कं प्राहेति।**

आचार्य कौत्स का यह आक्षेप है कि वेदमन्त्र जानते हुए को भी प्रेरणा देते हैं,

इसलिए अनर्थक हैं। उनका ऐसा कहना स्वयं में निरर्थक है। लोक में भी ऐसा स्वाभाविक रूप से देखा जाता है। यह जानते हुए भी कि आचार्य को उसके नाम और गोत्र का ज्ञान है, शिष्य अपने नाम और गोत्र का उच्चारण करके नियमित अभिवादन करता है। इसी प्रकार जानते हुए अतिथि को भी 'मधुपर्क' शब्द तीन बार उच्चारण करके उसे 'मधुपर्क' दिया जाता है, ऐसा सभी भाष्यकारों ने लिखा है। इस कारण जब लोक में ऐसा कहना अनर्थक नहीं होता, तो वेद में कैसे हो सकता है?

हमारे मत में यज्ञ-प्रक्रिया में जो भी आदेश, निर्देश वा क्रियाएँ होती हैं, वे केवल सांकेतिक हैं। वस्तुतः इस सम्पूर्ण सृष्टि में असंख्य प्रकार की रश्मियों, तरंगों व कणों का जो महान् यजन कर्म हो रहा है, उसी की अनुकृति लोक में हम करते हैं। इस कारण जानते हुए को भी प्रेरित वा निर्देशित करना वेदमन्त्रों के अनर्थक होने का कारण नहीं बन सकता। हम यहाँ यह भी निवेदन करना चाहते हैं कि यह मत हमारा स्वयं का कल्पित किया हुआ नहीं है, बल्कि यह सनातन आर्ष परम्परा का सनातन मत है। इसकी विशेष जानकारी के लिए इस ग्रन्थ की भूमिका पठनीय है।

अब यहाँ अगले आक्षेप का उत्तर देते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं—

६. यथो एतददितिः सर्वमिति। लौकिकेष्वप्येतत्।
यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम् इति।

यहाँ आचार्य कौत्स का यह कथन है कि अदिति सब कुछ है, वेद में ऐसा कथन स्वयं वेद की अनर्थकता सिद्ध करता है। ऐसा आक्षेप उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि ऐसा प्रयोग तो लोक में भी होता है, जैसे 'सारे रस जल में हैं'। जब लोक में ऐसा कहना सार्थक हो जाता है, तब वेद में ऐसा ही कथन निरर्थक कैसे कहा जा सकता है?

वस्तुतः यहाँ भी कौत्स को भ्रम हुआ, क्योंकि अदिति शब्द यौगिक होने के कारण ही प्रकरण के अनुसार भिन्न-२ अर्थ रखता है। यही वेद का वेदत्व है, जहाँ एक ही शब्द से अनेक अर्थ प्राप्त होकर नाना प्रकार के विज्ञान को प्रकाशित करता है, यही सनातन वैदिक मत है।

अब अगले एवं अन्तिम आक्षेप का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

७. यथो एतद् अविस्पष्टार्था भवन्ति इति।
नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।
यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति।
पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति॥ १६॥

आचार्य कौत्स के इस तर्क कि वेदमन्त्र अस्पष्ट अर्थों वाले होते हैं, इसलिए वेदमन्त्र अनर्थक हैं, का तीव्र प्रतिवाद करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं कि ऐसा आक्षेप नितान्त मिथ्या है। इसके लिए वे उदाहरण देते हैं कि यदि कोई अन्धा वा असावधान व्यक्ति किसी खूँटे से टकरा जाए और उसे चोट आ जाए, तो इसमें खूँटे का क्या दोष, वह अन्धा वा असावधान व्यक्ति ही दोषी होता है, खूँटा नहीं। इसी प्रकार यदि वेदमन्त्रों के कुछ पदों का अथवा अनेक पदों का अर्थ किसी की समझ में न आए, तो इसमें वेदमन्त्रों का दोष नहीं है, बल्कि उस व्यक्ति की बुद्धि का दोष है, जो वेदमन्त्रों का अर्थ नहीं समझती।

इसके पश्चात् कहते हैं कि किसी जनपद अर्थात् देश में पाई जाने वाली अनेक प्रकार की लौकिक विद्याओं को जानने से कोई व्यक्ति विशिष्ट पुरुष माना जाता है। उसी प्रकार अवर से लेकर पर तक का ज्ञान रखने वाले वेदवेत्ताओं में जो अधिक विद्वान् और प्रतिभाशाली होता है, वही प्रशंसनीय होता है। ऐसा व्यक्ति वेद के उन पदों के भी अर्थों को हस्तामलकवत् साक्षात् कर लेता है, जो पद अन्य विद्वानों को अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। यह महर्षि यास्क का आचार्य कौत्स को स्पष्ट उत्तर है।

यहाँ आचार्य कौत्स ने जिन वैदिक पदों को उद्धृत करते हुए उन्हें अस्पष्ट अर्थों वाला माना है, उन सबके अर्थ ऋषि दयानन्द एवं अन्य विद्वानों ने अपने वेदभाष्यों में दिये हैं, उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

१. **अम्यक्** (ऋ.१.१६९.३) का अर्थ ऋषि दयानन्द ने 'अमिं सरलां गतिमञ्चति' किया है।
२. **यादृश्मिन्** (ऋ.५.४४.८) का अर्थ ऋषि दयानन्द ने 'यादृशे व्यवहारे' किया है।
३. **जारयायि** (ऋ.६.१२.४) का अर्थ ऋषि दयानन्द ने 'जारं जरावस्थां यातुं शीलं यस्य तच्छरीरम्' किया है।

४. काणुका (ऋ.८.७७.४) का अर्थ पण्डित शिवशंकर ने 'मनभाते' किया है।

इन पदों पर हम यहाँ कोई आधिदैविक विचार करना आवश्यक नहीं समझते हैं। यहाँ अभिप्राय यही है कि वेद का कोई भी पद अनर्थक होना तो नितान्त असम्भव है, बल्कि वेद का प्रत्येक पद गम्भीर वैज्ञानिक अर्थों से सम्पन्न होता है। इसके साथ ही एक ही पद के अनेक अर्थ होते हैं। जिस-२ विद्वान् की जैसी-२ प्रतिभा और साधना होती है, उसी अनुपात में वह वेदार्थ को समझने में सक्षम होता है। मूर्ख व्यक्ति तो अनेक लौकिक शब्दों को भी समझने की क्षमता नहीं रखता।

प्रश्न— ग्रन्थकार ने आचार्य कौत्स के प्रायः अधिकांश आक्षेपों का अति संक्षिप्त और साधारण उत्तर देकर वैदिक पदों की लौकिक पदों से तुलना की है। तब क्या हम यह मान लें कि वैदिक पद लौकिक पदों की भाँति साधारण अर्थ ही रखते हैं? यदि ऐसा है, तो वेद का कोई गम्भीर महत्त्व कहाँ रहता है? आपने अपनी बुद्धि से आचार्य कौत्स के आक्षेपों का महर्षि यास्क से आगे जाकर उत्तर दिया है, तब क्या यह मान लें कि महर्षि यास्क को इस प्रकार का उत्तर देना नहीं आता था?

उत्तर— नहीं-नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं करें, भगवान् यास्क जैसे वेदद्रष्टा महान् योगी और वैज्ञानिक से आज संसार भर के बड़े से बड़े विद्वान् की तुलना करना अल्पज्ञता है। हम उन ऋषियों से ऋषि दयानन्द की तुलना भी नहीं कर सकते और स्वयं ऋषि दयानन्द भी प्राचीन ऋषियों के समक्ष स्वयं को साधारण पुरुष ही मानते थे, तब आप मेरी तुलना उन महान् ऋषियों से कैसे करने लग गये? जहाँ तक महर्षि यास्क द्वारा साधारण उत्तर देने का प्रश्न है, तो उस विषय में हमारा मत यह है कि आचार्य कौत्स के प्रश्न भी अति साधारण स्तर के ही हैं। उनका वेदमन्त्रों के प्रति सोचने का ढंग भी साधारण लौकिक भाषा के स्तर का ही है। इसी कारण उन्होंने आचार्य कौत्स के आक्षेपों का उत्तर उन्हीं के स्तर पर जाकर लौकिक उदाहरण देते हुए दिया है। यदि आचार्य कौत्स गम्भीर आक्षेप करते, तो मुझे विश्वास है कि महर्षि यास्क भी उसी स्तर के गम्भीर उत्तर देते। हमने तो अपनी ओर से कुछ उत्तर इस कारण दिये हैं कि वर्तमान में वेद के प्रति व्यापक अविश्वास एवं अश्रद्धा के वातावरण में पाठक कहीं वेद को लौकिक स्तर से भी नीचे न देखने लगें और ऐसा करते हुए महर्षि यास्क के उत्तरों का उपहास न करने लगें।

* * * * *

= सप्तदशः खण्डः =

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते।

अवसाय पद्वते रुद्र मृळ। [ऋ.१०.१६९.१] इति।

पद्वदवसं गावः पथ्यदनम्। अवतेर्गत्यर्थस्य। असो नामकरणः।

तस्मान्नावगृह्णन्ति।

अवसायाश्वान्। [ऋ.१.१०४.१] इति।

स्यतिः उपसृष्टो विमोचने। तस्मादवगृह्णन्ति।

अब ग्रन्थकार इस ग्रन्थ की महत्ता दर्शाते हुए पुनः लिखते हैं कि इस निरुक्त के बिना पदविभाग करना सम्भव नहीं होता। बिना पदविभाग के वाक्यार्थ प्रकाशित नहीं हो सकता, यह सर्वविदित है। इसका उदाहरण देते हुए एक वेद मन्त्रांश को उद्‌धृत करते हैं—

'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' इसके पद 'अवसाय' के विषय में लिखते हैं— 'पद्वदवसं गावः पथ्यदनम् अवतेर्गत्यर्थस्य असो नामकरणः तस्मान्नावगृह्णन्ति'। यहाँ 'अवसाय' एक ही पद है, इस कारण इसका पदविभाग सम्भव नहीं हैं। यह पद 'अवस' का चतुर्थी एकवचन है। 'अवस' में 'अव' धातु, जो यहाँ गति अर्थ में मानी गयी है, उससे 'असु' प्रत्यय हुआ है। इस ग्रन्थ में नामकरण का अर्थ प्रत्यय होता है, ऐसा सभी व्याख्याकारों का मत है। ग्रन्थकार ने 'अवस' का अर्थ पथ्यदन किया है, जिसका अर्थ है— 'मार्ग में किया जाने वाला भोजन'। यहाँ 'गावः' को अवस अर्थात् मार्ग का भोजन कहा है।

[गौः = प्राणो गौः (श.ब्रा.४.३.४.२५), अन्नं हि गौः (श.ब्रा.४.३.४.२५), वाङ्नाम (निघं.१.११), गावः रश्मिनाम (निघं.१.५), इमे लोका गौः (श.ब्रा.६.५.२.१७), गावो वा आदित्याः (ऐ.ब्रा.४.१७)]

इन प्रमाणों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि यहाँ गौ शब्द के अनेक अर्थ

सम्भव हैं। इस मन्त्र का देवता 'गाव:' है, इस कारण इस ऋचारूप छन्द रश्मि के दैवत प्रभाव से ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोक एवं सूक्ष्म कण व फोटोन प्रभावित होते हैं। यहाँ इन्हें भी गौ कहना चाहिये और जिन्हें मार्ग का भोजन कहा है, वे गौ वस्तुत: विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियाँ हैं। जब सूक्ष्म कण एवं फोटोन आकाश में (परस्पर संयुक्त होने के लिए) गमन करते हैं तथा विभिन्न लोक-लोकान्तर अपनी कक्षाओं में परिक्रमण करते हैं, उस समय उनके मार्गों की रक्षा करने के लिए आकाश में विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियाँ गमन करती हैं। यहाँ जिन रश्मियों को पाथेय कहा गया है, उन रश्मियों का वे सूक्ष्म कण, फोटोन अथवा लोक निरन्तर भक्षण करते अर्थात् उनका अवशोषण करते रहते हैं। इन पाथेय रूपी रश्मियों एवं रक्षिका रश्मियों के कारण मार्ग में बाधक बनी विभिन्न प्रकार की रश्मियों अथवा कणों को नियन्त्रित वा दूर किया जाता है।

यहाँ रुद्र से ऐसा करने की प्रार्थना की गई है। रुद्र उन तीक्ष्ण रश्मियों का नाम है, जिनकी छेदन-भेदन क्षमता अति तीव्र होती है। रुद्र के कर्मों को दर्शाते हुए कहा गया है— 'रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा संमृजन्तु' (तां.ब्रा.१.२.७)। इसका तात्पर्य है कि तीक्ष्ण रुद्र नामक रश्मि समूह अपनी अङ्गरूप त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा नाना प्रकार के यजनशील कणों और फोटोन्स को शुद्ध करते हैं। यहाँ शुद्ध करने का तात्पर्य यही है कि वे पाथेय रूपी रश्मियों और इन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा उन कणों एवं फोटोन्स को एवं विशाल स्तर पर बड़े-२ लोकों को भी शुद्ध एवं निरापद मार्ग प्रदान करते हैं। ध्यातव्य है कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ बाधक रश्मि आदि पदार्थों के लिए वज्र का कार्य करती हैं, जैसा कि ऋषियों ने कहा है— व्रजस्त्रिष्टुप् (कौ.ब्रा.७.२; श.ब्रा.३.६.४.२२), त्रैष्टुभो वज्र: (गो.उ.१.१८)।

यहाँ गौ को पदवत् कहा है। इसके पीछे हमें एक विशेष कारण प्रतीत होता है। [पदम् = गन्तव्यो मार्ग: (तु.म.द.ऋ.भा.१.४६.९)] वह कारण यह है कि वज्र रूपी रश्मियाँ उन्हीं कण वा फोटोन वा लोक, जो निश्चित मार्गों पर अथवा यजन कर्म करते समय गतिशील होते हैं, के मार्गों पर आने वाले बाधक पदार्थों को ही नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं। इससे यह संकेत स्वत: मिलता है कि जो कण वा लोक अथवा फोटोन किसी के साथ संयुक्त हो चुके होते हैं अथवा यदृच्छया स्वतन्त्र गमन कर रहे होते हैं, ऐसे कण, फोटोन वा लोकों के मार्गों की रक्षा के लिए रुद्ररूप रश्मियाँ प्रकट नहीं होतीं। यहाँ हमने

पदविभाग न हो सकने योग्य 'अवसाय' पद वाले इस उद्धरण की आधिदैविक व्याख्या की है।

अब अगले उद्धरण 'अवसायाश्वान्' पर विचार करते हैं। इसकी व्याख्या में ग्रन्थकार लिखते है— 'स्यतिः उपसृष्टो विमोचने तस्मादवगृह्णन्ति'। यहाँ अवसाय पद 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'षोऽन्तकर्मणि' धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर विमोचन अर्थ में बना है अर्थात् अवपूर्वक 'षो' धातु विमोचन अर्थात् खोलने अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार यहाँ अवसाय का अर्थ है— खोलकर। यहाँ इसी कारण अवसाय का पदविच्छेद करके 'अवऽसाय' पढ़ा जाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि पहले किसी शब्द का निरुक्त प्रक्रिया से निर्वचन करते हैं, उसके पश्चात् ही जहाँ पदविभाग सम्भव हो सकता है, वहाँ पदविभाग करते हैं और जहाँ सम्भव नहीं होता, वहाँ पदविभाग नहीं करते हैं। यह भी निरुक्त की महत्ता है।

दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम। [ऋ.१०.१६५.१] इति।
पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा। षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा। आःकारान्तम्।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व। [ऋ.१०.१६४.१] इति।
चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा। ऐकारान्तम्।
परः संनिकर्षः संहिता। पदप्रकृतिः संहिता। [ऋक् प्राति. २.१]
पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।

[दूतः = दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा (निरु.५.१)। कपोतः = मित्रावरुणाभ्यां कपोतान् (आलभते) (मै.सं.३.१४.४), 'ओतच्प्रत्ययो बकारस्य पकारश्च। कबते विचित्रवर्णो भवतीति कपोतः, पक्षिभेदो वा (उ.को.१.६२)। निर्ऋतिः = पाप्मा वै निर्ऋतिः (श.ब्रा. ७.२.१.३), घोरा वै निर्ऋतिः (श.ब्रा.७.२.१.११), पृथ्वीनाम (निघं.१.१)]

इस मन्त्रांश का व्याख्यान ग्रन्थकार ने नहीं किया है और न ऐसा करना इस प्रकरण में आवश्यक है, पुनरपि हम इस मन्त्रांश 'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम' का आधिदैविक व्याख्यान कर रहे हैं। इस ऋचा का ऋषि कपोतो नैर्ऋतः तथा देवता कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम् है। इससे संकेत मिलता है कि यह छन्द रश्मि उस समय उत्पन्न होती है, जब

किसी हिरण्यगर्भ अर्थात् विशाल कॉस्मिक मेघ के बाहरी भाग से पृथिवी आदि लोक अत्यन्त गर्म अवस्था में ही छिटक कर दूर हो रहे होते हैं। उस समय उनमें से विचित्र रंगों को उत्पन्न करने वाली तरंगें उत्पन्न होती हैं। उन तरंगों से उत्सर्जित होने वाली सूक्ष्म रश्मियों से यह छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इस ऋचा का देवता यह संकेत करता है कि इसको उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म ऋषिरूप रश्मियाँ जब दुर्बल वा नष्ट होने लगती हैं, उस समय वहाँ विद्यमान सभी प्रकार की प्राण रश्मियाँ परस्पर संगत होकर उन्हें पुनः उत्पन्न वा सबल करती हैं।

इस मन्त्रांश 'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम' का अर्थ है कि कॉस्मिक मेघ से दूर होते पृथिवी आदि लोकों से कपोत रूपी दूत अर्थात् विभिन्न प्रकार के रंगों से युक्त नाना प्रकार के कण एवं विकिरण तीव्र गति से प्रवाहित होते हुए उन लोकों, जो बार-२ कॉस्मिक मेघ के आकर्षण के प्रभाव से उसकी ओर गिरते हैं, के मध्य सब ओर से व्याप्त हो जाते हैं। वे कण और विकिरण अपने तीक्ष्ण बल के द्वारा उन लोकों को कॉस्मिक मेघ में गिरने से रोकते तथा दूर हटाने का प्रयास करते हैं। इस प्रक्रिया को पूर्ण रूप से जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है।

अब यहाँ इस उदाहरण के पीछे ग्रन्थकार का प्रयोजन बतलाते हैं। ग्रन्थकार का यहाँ कथन है कि 'निर्ऋत्याः' आःकारान्त पद है, जो 'निर्ऋतिः' का पञ्चमी अथवा षष्ठी विभक्ति एवं एकवचन का रूप है। अब वे अगला उदाहरण प्रस्तुत करते हुए एक और मन्त्रांश 'परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व' को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि यहाँ 'निर्ऋत्यै' पद ऐकारान्त है, जो चतुर्थी विभक्ति एकवचन का रूप है। केवल यही दर्शाना निरुक्तकार का उद्देश्य है। दोनों ही मन्त्रों में 'निर्ऋत्या' इस रूप में दिखाई देने वाला पद वस्तुतः पृथक्-२ रूप में है। पहले मन्त्र में 'निर्ऋत्याः' है, जबकि दूसरे में 'निर्ऋत्यै' है। इसे समझे बिना मन्त्रार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है। दूसरे उद्धरण में कहा गया है— 'परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व' अर्थात् इसका अर्थ यह है कि मनस्पति [मनः = मनो वा असुरम् (जै.उ.३.३५.३)] असुर रश्मियों द्वारा पालित व उत्पन्न असुर पदार्थ पृथिवी आदि लोकों के दूरीकरण की पूर्वोक्त प्रक्रिया के समय कॉस्मिक मेघ एवं उन पृथिवी आदि लोकों के मध्य आकर उन लोकों को दूर से दूरतर करने में सहायक होता है। वह असुर पदार्थ पूर्वोक्त कपोत संज्ञक विविध रंगों वाले पदार्थ के मध्य व्याप्त होकर उन्हें और अधिक बल प्रदान करता है, जिससे वे

लोक अपने उत्पत्ति-स्रोत कॉस्मिक मेघ से दूर होते चले जाते हैं और उनके बार-२ पतन होने की प्रक्रिया क्षीण होती चली जाती है।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'निर्ऋत्यै' पद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ही यह उद्धरण प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात् ग्रन्थकार पदविभाग के इस प्रसंग में संहिता का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— 'परः सन्निकर्षः संहिता', 'पदप्रकृतिः संहिता', 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि'। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न पदों की अत्यन्त निकटता को संहिता कहते हैं। महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी (१.४.१०८) में इसी बात को कहा है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब पदों की अत्यन्त निकटता को संहिता कहा जाता है, तब पद मुख्य हैं अथवा संहिता?

यहाँ ग्रन्थकार ने संहिता का एक और लक्षण प्रस्तुत किया— 'पदप्रकृतिः संहिता'। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस पर आचार्य दुर्ग का मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"इस पाठ के दुर्ग ने दो अर्थ दिए हैं। प्रथम अर्थ है— पदों की जो प्रकृति अथवा मूल है, वही संहिता है। दूसरा अर्थ है— पद हैं प्रकृति जिसकी, वह संहिता है।"

यहाँ दुर्ग के दोनों ही अर्थ परस्पर विपरीत हैं। एक में पद संहिता का कारण है और दूसरे में संहिता पदों का कारण है। इस विषय में ग्रन्थकार आगे लिखते हैं कि सभी चरणों के पार्षदों [पार्षदानि = पर्षदि भवानि प्रातिशाख्यानि (निरुक्त-भाष्य, पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर)] अर्थात् प्रातिशाख्यों के मत में संहिता को पदों की प्रकृति माना है अर्थात् संहिता कारण एवं पद उनके विकार हैं। इसे पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने प्राचीन वैदिक पक्ष बताया है।

इस विषय में हमारे मत में कुछ भिन्नता है। हमारे मत में 'पदप्रकृतीनि' का यह अर्थ भी सम्भव है कि पद हैं प्रकृति (कारण) जिसकी, वे संहिताएँ। सृष्टि की उत्पत्ति प्रक्रिया के समय मनस्तत्त्व में पहले पद रूप सूक्ष्म रश्मियों की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् ही पदों के एक व्यवस्थित क्रम में जुड़ने से विभिन्न छन्द रश्मियों का निर्माण होता है। इस कारण हमारे मत में पद कारण और संहिता कार्य हैं। इसलिए वेदमन्त्रों के विज्ञान के लिए पदविभाग और पदों का विज्ञान अनिवार्य है। पदों के इस विज्ञान को समझने के

लिए पदों के विभाग का ज्ञान होना अनिवार्य है और यह ज्ञान इस निरुक्त ग्रन्थ से ही सम्भव है। यहाँ पण्डित भगवद्दत्त 'चरण' के विषय में लिखते हैं—

"चरण और शाखा में थोड़ा अन्तर है। चरण मूल है और शाखा उसका अवान्तर विभाग है। यथा-वाजसनेय चरण के अन्तर्गत काण्व आदि पन्द्रह शाखाएँ हैं।"

अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति। तदेतेनोपेक्षितव्यम्।
ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति। [ऋ.६.४.७]
इति। वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे।
अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व। [ऋ.१०.८४.२] इति।
तथाग्निर्मान्यवे मन्त्रे। त्विषितो ज्वलितः। त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिर्नाम भवति।
अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति। अज्ञाननिन्दा च॥ १७॥

अब निरुक्त का एक और प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं कि यज्ञ प्रक्रिया में देवता विषयक ज्ञान से अनेक प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। इस कारण से मन्त्रों के देवता का ज्ञान अनिवार्य है। उधर सृष्टि प्रक्रिया में भी मन्त्रों के देवताओं के ज्ञान से सृष्टि प्रक्रिया पर होने वाले प्रभावों को समझा जा सकता है। देवता के ज्ञान के बिना ब्रह्माण्ड का वैदिक रश्मि सिद्धान्त और उसके द्वारा जानी जा सकने वाली सृष्टि प्रक्रिया को नहीं समझा जा सकता। इस कारण सृष्टि विज्ञान को समझने के लिए एवं सृष्टि विज्ञान के प्रतीक रूप नाना प्रकार के यज्ञों को समझने के लिए निरुक्त शास्त्र के द्वारा देवता को ध्यानपूर्वक समझने का प्रयास करना चाहिये। इस विषय में यदि याज्ञिक आदि परम्परा के महानुभाव यह कहें कि हम वेदमन्त्रों के देवता आदि लिङ्गों को अच्छी प्रकार समझते हैं, क्योंकि हम मन्त्रों से ही देवता का ज्ञान कर सकते हैं, इस कारण दैवत ज्ञान के लिए निरुक्त की कोई आवश्यकता नहीं है।

ऐसे याज्ञिकों के समक्ष ग्रन्थकार एक वेद मन्त्रांश 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति' प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इस मन्त्र में इन्द्र और वायु दोनों का लिङ्ग अर्थात् नाम विद्यमान है। ऐसी स्थिति में इसके देवता का निर्धारण कैसे होगा? इन्द्र और वायु में

से जिस एक को देवता मानेंगे, तो वह उचित नहीं होगा और मन्त्र देखकर किसी अन्य देवता का ज्ञान कैसे होगा? ध्यातव्य है कि इस मन्त्र में 'अग्ने' पद भी विद्यमान है, तब दैवत ज्ञान के लिए और भी समस्या खड़ी हो जायेगी, इस कारण यह मानना कि वेदमन्त्र देखकर ही देवता का ज्ञान हो सकता है, निरुक्त की कोई आवश्यकता नहीं, यह उचित नहीं है। इस कारण दैवत ज्ञान के लिए निरुक्त एक महत्त्वपूर्ण साधन है। वस्तुतः इस मन्त्र का देवता अग्नि है, ऐसा ही ग्रन्थकार का मत है।

अब अगला उदाहरण 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि यह मन्त्र मन्युदेवताक है और इसमें 'अग्निः' पद विद्यमान है। ऐसी स्थिति में याज्ञिक देवता का निर्धारण कैसे करेंगे? इस कारण भी निरुक्त का ज्ञान अनिवार्य है। यहाँ ग्रन्थकार 'त्विषितः' का अर्थ 'ज्वलितः' करते हैं और 'त्विष्' धातु को दीप्ति अर्थ में ग्रहण करते हैं।

प्रश्न— यहाँ ग्रन्थकार ने दैवत ज्ञान के लिए निरुक्त की जो अनिवार्यता बतलाई है, उसकी सिद्धि यहाँ नहीं की जा सकी है, तब यह कैसे माना जाए कि दैवत ज्ञान के लिए निरुक्त शास्त्र की अनिवार्यता है अथवा महर्षि यास्क ने इन उपर्युक्त मन्त्रों का जो देवता बतलाया है, वही सत्य है, इसकी प्रामाणिकता क्या है?

उत्तर— वस्तुतः निरुक्त किसी मन्त्र के अर्थ का बोध कराने वाला शास्त्र है। यह बात पूर्व प्रकरणों से सिद्ध भी हो जाती है। वेदमन्त्र का अर्थ जाने बिना उसके देवता का भी ज्ञान नहीं हो सकता। मन्त्रों को कण्ठस्थ करने मात्र से न तो कोई वेद मन्त्रार्थ जान सकता है और न ही उसके देवता को जान सकता है। इसलिए ही दैवत ज्ञान के लिए निरुक्त का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकरण में दोनों मन्त्रों के जो अंश प्रस्तुत किये गये हैं, उनका अर्थ करना न स्वयं ग्रन्थकार ने आवश्यक समझा है और न हमें ही ऐसा करना आवश्यक प्रतीत होता है।

अब वेद ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं— 'शास्त्रों में ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा पाई जाती है'। इस विषय में आगे लिखते हैं—

* * * * *

= अष्टादशः खण्डः =

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥
स्थाणुस्तिष्ठतेः। अर्थोऽर्तेः। अरणस्थो वा॥ १८॥

जो व्यक्ति वेद का पठन मात्र करता है, चाहे वह किसी भी प्रयोजन से क्यों न करता हो, चाहे वह चारों वेदों को कण्ठस्थ करने वाला हो, परन्तु यदि वह उन मन्त्रों के अर्थ नहीं जानता है, तो उसका वेदाध्ययन निरर्थक है। उस व्यक्ति को उपमा देते हुए कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति स्थाणु अर्थात् ठूँठ के समान अथवा भार ढोने वाले पशु के समान मूर्ख है, जैसे ठूँठ फलहीन होता है अथवा वेद के पुस्तकों को पीठ पर ढोने वाला पशु उन पुस्तकों का भार ही जानता है, अर्थ नहीं। इसी प्रकार वेदार्थ ज्ञान से शून्य वेदपाठियों का वेदाध्ययन निरर्थक है। इसी प्रकार नाना प्रकार के यागों को करने वाले याज्ञिक जब तक यज्ञों में विनियुक्त वेदमन्त्रों का अर्थ नहीं समझते, तब तक उनका यज्ञ भी फलहीन ही है। दुर्भाग्य से आर्यावर्त्त में महाभारत के कुछ काल पश्चात् नाना प्रकार के लोभ के वशीभूत वेद मन्त्रार्थ हीन कर्मकाण्डों का बाहुल्य हो गया और वेदविद्या को न केवल भुला दिया, अपितु उसे निरर्थक भी मान लिया। महाभारत काल से पूर्व आचार्य कौत्स, जिनके मत को पूर्व में प्रस्तुत किया गया है, पहले से ही वेदमन्त्रों की अनर्थकता के पोषक बन चुके थे। इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा है कि जो वेदमन्त्रों को अर्थसहित जानता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति वेदार्थ ज्ञान के द्वारा अपने पापों को नष्ट करके मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

इस श्लोक में वेदार्थ जानने वाले एवं वेदों को कण्ठस्थ करने पर भी वेदार्थ न जानने वाले की सुन्दर तुलना की गई है। जहाँ वेद पढ़कर वेदार्थ न जानने वाले को पशु तथा वृक्ष का सूखा हुआ ठूँठ बताया, वहीं वेदार्थ ज्ञानी को न केवल समस्त लौकिक सुख, अपितु मोक्ष का भी अधिकारी बताया। महर्षि कपिल मुनि ने भी ज्ञान की महिमा वर्णित

करते हुए भी कहा है— 'ज्ञानान्मुक्तिः' (सां.द.३.२३)। उधर गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है— 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (गीता ४.३८) अर्थात् संसार में ज्ञान से पवित्र कोई वस्तु नहीं है। इसी प्रकार अगले श्लोक में भी किसी ने कहा है— जो वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ करके उनका अर्थ जाने बिना पाठ मात्र के द्वारा उच्चारण करता है अर्थात् जो वेदमन्त्र बिना अर्थज्ञान के पाठ मात्र से उच्चारित किये जाते हैं, वे उसी प्रकार निरर्थक होते हैं, जिस प्रकार बिना अग्नि के सूखा ईन्धन कहीं भी नहीं जल सकता।

इन दोनों ही श्लोकों के विषय में यह तो नहीं कह सकते कि ये श्लोक किसने लिखे और कब लिखे, परन्तु इस ग्रन्थ में इनके उद्धृत होने से इनकी प्राचीनता और महत्ता अवश्य सिद्ध होती है। इन श्लोकों से उस वैदिक आर्यावर्त्त में ज्ञान-विज्ञान का स्तर भी अनायास प्रकट होता है। उस स्वर्णिम काल में वेदपाठी को, यहाँ तक कि चारों वेदों को कण्ठस्थ करने वाले व्यक्ति को भारवाही पशु अथवा ठूँठ एवं बिना अग्नि की सूखी लकड़ियों के समान कहा गया है। तब कल्पना करें कि जिस व्यक्ति को न कोई वेदमन्त्र स्मरण है, न उसने वेदमन्त्र सुने और न ही वेदों को देखा हो, उस व्यक्ति को किसकी उपमा दी जाये, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से वर्तमान भारत की पतितावस्था भी अकल्पनीय है।

यहाँ ग्रन्थकार 'स्थाणुः' पद को 'स्था' धातु से निष्पन्न मानते हैं। जिस प्रकार ठूंठ खड़ा रहता है, उसमें कोई चेतना, ज्ञान व गति नहीं होती, वैसा ही वेदार्थहीन व्यक्ति भी होता है। 'अर्थ' शब्द 'ऋ गतौ' धातु से निष्पन्न माना है। ऋषि दयानन्द ने भी उणादि कोष की व्याख्या में लिखा है— 'अर्यते प्राप्यतेऽसौ अर्थः' अर्थात् जिसे सभी याचक प्राप्त करते हैं और जिस प्रकार याचक लोग अर्थ = धन को प्राप्त करके तृप्त होते हैं, उसी प्रकार वेद मन्त्रार्थ को प्राप्त होकर वेद के वास्तविक अध्येता तृप्ति का अनुभव करते हैं। इसके साथ ही सभी वेदाध्येता वेदार्थ जानने के लिए ही वेदाध्ययन करते हैं। इस कारण इसे अर्थ कहते हैं।

अब 'अर्थ' का दूसरा निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा— 'अरणस्थो वा'। [अरणः = अरणोऽपार्णो भवति (निरु.३.२), अपार्णः = निकटस्थ (आ.को.)। रणः = संग्रामनाम (निघं.२.१७)] इसका तात्पर्य है कि अर्थ सदैव पदों के अति निकटस्थ होते हैं

अर्थात् वेदों के पदों व उनके अर्थों का नित्य व अति निकट सम्बन्ध है। पदों व उनके अर्थों में कभी विरोध नहीं आ सकता। इसके साथ ही वेदार्थ विज्ञाता के मस्तिष्क में अर्थों को लेकर कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहता। धन को भी अर्थ इस कारण कहते हैं, क्योंकि इसे पाकर भी विवेकी याचक के मस्तिष्क में कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता अर्थात् वह सन्तोष का अनुभव करता है।

ज्ञान के विषय में दो लौकिक श्लोकों को उद्धृत करके निरुक्तकार एतद् विषयक दो मन्त्रों को उद्धृत करते हैं—

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

[ऋ.१०.७१.४]

अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
इत्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्त्रे। इति स्वमात्मानं विवृणुते।
ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा। उपमोत्तमया वाचा।
जायेव पत्ये कामयमाना सुवासाः।
ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोति। इत्यर्थज्ञप्रशंसा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ १९॥

भाष्य— (उत, त्वः, पश्यन्, न, ददर्श, वाचम्) 'अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम्' कोई एक वेदवाणी को देखते हुए भी नहीं देखता है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति वेदमन्त्रों के अर्थ को नहीं जानता है, वह मन्त्रों को देखता अर्थात् पढ़ता हुआ भी नहीं देखता है अर्थात् उन मन्त्रों में छुपे हुए गम्भीर विज्ञान को अथवा उसके साधारण भावों को भी नहीं समझता है। उधर सृष्टि प्रक्रिया में कुछ कण वा तरंग अथवा प्राण रश्मियाँ ब्रह्माण्ड में विद्यमान

विभिन्न छन्द रश्मियों को ईश्वरीय प्रयोजन के अभाव में नहीं देखती अर्थात् आकर्षित नहीं करती हैं। ध्यातव्य है कि 'दृश्' धातु का अर्थ देखने के अतिरिक्त 'इच्छा करना' भी होता है। जैसा कि महर्षि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य १.२४.१ में 'दृशेयम्' का अर्थ 'इच्छां कुर्याम्' भी किया है। उल्लेखनीय है कि इस मन्त्र का देवता 'ज्ञान' है। इस कारण इस सूक्त की छन्द रश्मियाँ उपयुक्त अन्य विभिन्न रश्मियों को ईश्वरीय प्रयोजनानुसार खोजती रहतीं तथा उनसे संयुक्त होती रहती हैं। जिन रश्मियों का अन्य रश्मियों के साथ संयोग का प्रयोजन नहीं होता है, वे रश्मियाँ परस्पर संयुक्त नहीं होती हैं। यहाँ ऐसी ही रश्मियों वा उनके संघनित रूप कणों वा तरंगों की चर्चा है।

(उत, त्वः, शृण्वन्, न, शृणोति, एनाम्) 'अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम् इत्यविद्वांसमाहार्धम्' अर्थात् अन्य कुछ व्यक्ति वेदमन्त्रों को सुनते हुए भी नहीं सुन पाते हैं अर्थात् वे उन मन्त्रों में छुपे हुए अर्थ को नहीं समझ पाते हैं। इस मन्त्र का यह आधा भाग अविद्वानों के लिए कहा गया है अर्थात् अविद्वान् अथवा मात्र याज्ञिक व वेदपाठी वेदों को पढ़ते और सुनते हुए भी वेदों के अर्थों से नितान्त अनभिज्ञ ही रहते हैं। इस कारण वे वेदविद्या के महत्त्व से भी नितान्त वंचित रहते हैं। उधर सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड में विद्यमान कुछ कण वा विकिरण अथवा प्राण आदि रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों के क्षेत्र में गमन करते हुए भी [यहाँ 'शृणोति' अर्थात् 'श्रु श्रवणे' धातु को गति अर्थ में भी मानना चाहिये।] उन छन्द रश्मियों के साथ व्याप्त नहीं होते हैं अर्थात् ईश्वरीय प्रयोजनाभाव से वे परस्पर कोई संयोग नहीं करते हैं।

मन्त्र के इस पूर्वार्द्ध के सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न कण, विकिरण अथवा प्राण रश्मियों का विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ ईश्वरीय प्रयोजन के अभाव में जो संगमन नहीं हो पाता है, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या इस प्रकार भी समझनी चाहिए कि उन पदार्थों से उत्सर्जित होने वाली अत्यन्त सूक्ष्म रश्मियों का संगम उनकी शक्ति की न्यूनता वा असामंजस्यता के कारण नहीं हो पाता है अर्थात् वे पदार्थ परस्पर संगम के अयोग्य होते हैं। स्थूल भौतिकी में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। यथा समान संयोजकता वाले आयन परस्पर मिलकर किसी अणु का निर्माण करते हैं, जबकि असंयोजकता वाले आयन ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार विद्युत् आवेशित पदार्थों में परस्पर अन्योन्य क्रिया होती है, जबकि आवेशित पदार्थ निरावेशित पदार्थों के निकट विद्यमान रहने पर भी उनके साथ

कोई क्रिया नहीं करते। ऐसा इस प्रकरण में भी समझना चाहिये। यहाँ अविद्वान् की चर्चा की गई है।

(उतो, त्वस्मै, तन्वम्, विसस्रे) 'अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे इति स्वमात्मानं विवृणुते ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा उपमोत्तमया वाचा' अब विद्वान् की चर्चा करते हुए कहते हैं कि अन्य किसी के लिए अर्थात् विद्वान् योगी पुरुष व ऋषि आत्मा, जो अर्थ और काम की आसक्ति से मुक्त होते हैं, के लिए वेदविद्या अर्थात् वेदमन्त्रों के अर्थ स्वयं अपने आत्मा को खोल देते हैं अर्थात् प्रकाशित कर देते हैं। इसका आशय यह है कि जब योगी ऋषि आत्मा वेदमन्त्रों का अर्थ जानने का प्रयास करते हैं, तो उनके अन्तःकरण में ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा वेदमन्त्रों में छिपा हुआ गम्भीर विज्ञान, जो अन्यों के लिए गुप्त अथवा अज्ञेय है, वह पूर्णतः स्पष्ट प्रकाशित होने लगता है। यही विद्वान् और अविद्वान् में भेद है। महाप्राज्ञ भगवान् मनु ने भी लिखा है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ (मनुस्मृति २.१३)

अर्थात् जो व्यक्ति अर्थ और काम में पूर्णतः अनासक्त होता है, उसे ही धर्म (परा तथा अपरा विद्या) का ज्ञान होता है और इन दोनों ही विद्याओं के ज्ञान के लिए वेद ही परम प्रमाण है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अर्थ और काम में आसक्त व्यक्ति चाहे कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, वह वेदविद्या के रहस्य को कभी नहीं समझ सकता। जो लोग वेदार्थ करने वाले की योग्यता बतलाने के लिए अनेक शास्त्रीय प्रमाण देते हैं, वे इस प्राचीनतम और प्रामाणिकतम प्रमाण को भूल जाते हैं। इस प्रकार इस तीसरे पाद के द्वारा वेद के ज्ञान के प्रकाशन की बात कही गई है।

अब अगले अन्तिम पाद में वेदार्थ ज्ञान प्रकाशन को एक उपमा द्वारा समझाया गया है—

(जाया, इव, पत्ये, उशती, सुवासाः) 'जायेव पत्ये कामयमाना सुवासाः ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोति' इसका आशय यह है कि जब पुरुष एवं स्त्री संज्ञक दो कणों के मध्य संयोग की प्रक्रिया होती है, उस समय स्त्री संज्ञक कणों के चारों ओर विद्यमान आच्छादक रश्मियों, जिनके विषय में

'वेदविज्ञान-आलोक:' १.३ एवं २.६.३ पठनीय है, का आवरण हटकर उन कणों को संयोजनीय पुरुषरूप कण के निकट निर्बाध आने अर्थात् आकर्षित करने का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार जो आवरण स्त्रीरूप कणों का सदैव आच्छादक रहता है, वही कमनीय पुरुषरूप कणों के संयोग के समय सर्वथा दूर हटकर स्त्रीरूप कणों को स्पष्ट दर्शाने लगता है।

यहाँ निरुक्तकार द्वारा ऋतुकाल शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इसका आशय हमें यह प्रतीत होता है कि संयोग प्रक्रिया में ऋतु रश्मियाँ विशेष रूप से सहायक होती हैं तथा [काल: = कल आस्वादने] उस समय वे ऋतु रश्मियाँ परा 'ओम्' रूपी काल रश्मियों से विशेष रूप से संपृक्त होती हैं, किंवा वे उनका त्वरित अवशोषण करते हुए अति सक्रिय होकर उस आवरण को हटाने और संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न करने में सहायक होती हैं। पाठकों को ऋतु एवं काल रश्मियों के बारे में जानने के लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ को पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार योगी आप्त पुरुष के समक्ष भी विद्या अपने सभी आवरणों को स्वयं हटाकर अपना यथार्थ स्वरूप प्रकाशित कर देती है। इसके साथ ही सभी प्रकार की पूर्वोक्त संयोग प्रक्रियाओं में रश्मि आदि पदार्थों के मध्य आच्छादक आवरण दूर हट जाते हैं।

पाठक यहाँ यह शंका प्रस्तुत कर सकते हैं कि उपमा सदैव सरल एवं लोकप्रसिद्ध उदाहरण के द्वारा दी जाती है, तब यहाँ उपमा स्वयं में इतनी सूक्ष्म और कठिन क्यों है? इसके उत्तर में हमारा मत है कि वेद के ऐसे गूढ़ तत्त्व वेद के अध्येताओं के लिए उस काल में सुपरिचित ही होंगे, जो आज सर्वथा बुद्धि से ओझल हो चुके हैं। इतने पर भी हम यहाँ निरुक्त के अन्य टीकाकारों द्वारा किये गये अर्थ में लोकप्रसिद्ध उपमा को भी स्वीकार करते हैं। वह उपमा यह है कि जिस प्रकार कोई स्त्री अपने शरीर को किसी को भी नहीं दर्शाती, परन्तु वही ऋतुकाल में सन्तान की कामना के लिए अपने पति के समक्ष अपने सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित व समर्पित कर देती है, क्योंकि पति ही इसका अधिकारी है। उसी प्रकार जो वेदविद्या अविद्वानों से अपने रहस्यों को छुपाती अर्थात् वे अविद्वान् वेदविद्या के रहस्य को नहीं समझ पाते हैं, वही विद्या अधिकारी विद्वान् के समक्ष अपने स्वरूप को खोलकर प्रकाशित कर देती है। यहाँ इस उपमा से यह भी स्पष्ट होता है कि बिना ऋतुकाल तथा सन्तान की कामना के किसी भी पत्नी के लिए उसका पति भी

परपुरुषों की भाँति इस प्रसंग में वर्णित उसके स्वरूप को देखने वा पाने अर्थात् शारीरिक सम्बन्ध बनाने का अधिकारी कदापि नहीं है, यही वैदिक सनातन आदर्श मर्यादा है।

यहाँ इस मन्त्र के द्वारा ज्ञान की प्रशंसा की गई है। इसके आगे अगली ऋचा विषय को और भी खोलकर प्रस्तुत करने के लिए उद्धृत की गई है।

* * * * *

विंशः खण्डः

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥

[ऋ.१०.७१.५]

अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतमाहुः। रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये।
रमणीये स्थान इति वा। विज्ञातार्थं यन्नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि।
अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया।
नाऽस्मै कामान् दुग्धे वाक् दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु।
यो वाचं श्रुतवान्भवत्यफलामपुष्पामिति।
अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा। किञ्चित्पुष्पफलेति वा।
अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले। देवताध्यात्मे वा।

(उत, त्वम्, सख्ये, स्थिरपीतम्, आहुः) 'अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतमाहुः रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये रमणीये स्थान इति वा' वेदार्थ को जानने वाले किसी योगी पुरुष को अपने समान वेदवेत्ताओं के समाज में स्थिरतापूर्वक वेदविज्ञान को पीया हुआ अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्राप्त किया हुआ कहा जाता है। ऐसे वेदवेत्ता को, जिसने वेदविद्या को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष किया हो, वेदज्ञ कहा जाता है। उधर इस सृष्टि में कुछ एक कण, विकिरण वा प्राण रश्मियाँ छन्दादि रश्मियों को प्राप्त वा संगत करके [पा पाने = पीना, संरक्षण करना (सं.धा.को.)] वा नाना प्रकार की यजन क्रियाओं में स्थिरतापूर्ण संरक्षण के

साथ सृष्टि प्रक्रिया को संचालित व समृद्ध करती हैं। जो प्राण रश्मियाँ अथवा कण वा विकिरण उपर्युक्त छन्द व मरुद् रश्मियों से संगत हो जाती हैं, वे सहसा एवं बिना किसी गम्भीर बाधक कारण के उन छन्द व मरुद् रश्मियों से पृथक् नहीं होती हैं। इस कारण वे सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाओं में अपने समान अन्य रश्मि, कण वा विकिरण के सामने स्थिरतापूर्वक डटी रहती हैं।

(न, एनम्, हिन्वन्ति, अपि, वाजिनेषु) 'विज्ञातार्थं यन्नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि', उपर्युक्त वेदज्ञ योगी पुरुषों को जो विद्वत् समाज में सुखपूर्वक रमण करने वाले होते हैं अर्थात् जो वेदविद्या का विशेष पान करके नाना प्रकार के सुखलाभ प्राप्त करते हैं, उनको वेदवाणी द्वारा ज्ञेय विभिन्न प्रबल अर्थात् दुर्बोध्य विषयों में वे मनुष्य, जो वेदमन्त्रों के अर्थों को नहीं जानते हैं, कभी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसका आशय यह है कि चाहे कोई व्यक्ति सम्पूर्ण वेद को कण्ठस्थ कर ले, नाना प्रकार के वैदिक यागों को सम्पन्न कर ले अथवा सुन्दर वेदपाठ करने में दक्ष हो, फिर भी वह वेदार्थतत्त्ववेत्ता की समानता नहीं कर सकता। उधर सृष्टि प्रक्रिया में जो कण, विकिरण अथवा प्राण रश्मियाँ उपर्युक्त छन्द व मरुद् रश्मियों के साथ उचित संयोग नहीं कर पाती हैं, वे रश्मियाँ, कण वा विकिरण अन्य रश्मियों, कणों वा विकिरणों के समान सृष्टि कर्म में भाग नहीं ले पाते हैं।

(अधेन्वा, चरति, मायया, एष) 'अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया नाऽस्मै कामान् दुग्धे वाक् दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु' यह व्यक्ति अर्थात् जो मनुष्य सम्पूर्ण वेद को पढ़ा हुआ एवं श्रद्धालु याजक है, परन्तु वेदार्थ को नहीं जानता है, वह व्यक्ति मायामयी अर्थात् नकली अधेनु अर्थात् दूध न देने वाली वाग्रूपी गौ के साथ विचरण करता है। ऐसी वाग्रूपी गौ उस व्यक्ति की किसी कामना को पूर्ण नहीं करती अर्थात् हजारों वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ कर लेने पर भी अथवा उनसे यज्ञ में हजारों आहुतियाँ देने पर भी एक भी वेदमन्त्र का अर्थ वह वेदवाणी प्रकट नहीं करती। ऐसा व्यक्ति देवों अर्थात् उच्च कोटि के वेदज्ञ विद्वानों और मनुष्यों अर्थात् सत्यासत्य का विचार करके कार्य करने वालों में वेदविद्याविहीन होने से उस वेदवाणी से कुछ भी सुख प्राप्त नहीं कर पाता। इसी प्रकार इस सृष्टि में जो कण, विकिरण वा प्राण रश्मियाँ उपर्युक्त छन्द वा मरुद् रश्मियों के साथ संयुक्त नहीं हो पाती हैं, वे रश्मियाँ, कण वा विकिरण नाना प्रकार की छन्द रश्मियों के निकट विचरण करते हुए भी इस सृष्टि में निरर्थक ही अपनी आयु व्यतीत करते हैं।

(वाचम्, शुश्रुवान्, अफलाम्, अपुष्पाम्) 'यो वाचं श्रुतवान्भवत्यफलामपुष्पामिति अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा' जो व्यक्ति बिना फल और पुष्प वाली वेदवाणी को ही सुनता है अर्थात् वेदों का पाठ मात्र करता है अथवा उनसे यज्ञ मात्र करता है, उसके लिए वह वेदवाणी बिना फल एवं बिना पुष्पों वाली ही रहती है अर्थात् उसको कभी भी वेदार्थ का ज्ञान एवं तज्जन्य सुख भी प्राप्त नहीं हो पाता है।

अब यहाँ ग्रन्थकार ने वेदमन्त्र में आये नञ् तत्पुरुष अफलाम् व अपुष्पाम् को ईषत् अर्थ में ग्रहण किया है। इस कारण वे लिखते हैं— 'किञ्चित्पुष्पफलेति वा अर्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा'। इसका अर्थ यह है कि वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ करना, उनका सस्वर पाठ करना अथवा उनसे नाना प्रकार के यज्ञ करना कुछ पुष्प-फलों को प्राप्त करा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वेदमन्त्रों के अर्थ जाने बिना भी वेदाध्ययन का कुछ फल अवश्य मिलता है। उस फल को भी यहाँ ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है, जो इस प्रकार है—

१. यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान
२. देवता सम्बन्धी ज्ञान (आत्मा अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा अथवा शरीर एवं ब्रह्माण्ड का ज्ञान)

इस प्रकार ग्रन्थकार की दृष्टि में इन विषयों का कुछ-२ ज्ञान बिना वेदार्थ जाने केवल यज्ञों से हो सकता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अब तक ग्रन्थकार ने वेदार्थ न जानने वाले वेदपाठी अथवा याज्ञिक को नाना प्रकार की उपमाओं के द्वारा ज्ञानशून्य बताया है। खण्ड १.१७ में दो वेदमन्त्रों 'इन्द्रं न त्वा...चाग्नेये मन्त्रे' (ऋ.६.४.७) एवं 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' (ऋ.१०.८४.२) को प्रस्तुत करके बिना निरुक्त शास्त्र के अध्ययन के दैवत ज्ञान होने का खण्डन किया है। तब यहाँ कैसे देवता के कुछ-२ ज्ञान होने की बात कही गई है? यहाँ यह अन्तर्विरोध प्रतीत होता है। इस विषय में हमारा विचार यह है कि विभिन्न प्रकार के यज्ञों में आग्नेयी, वैष्णवी अथवा ऐन्द्री आदि ऋचाओं के परम्परागत प्रयोग को जानकर वेदार्थ से अनभिज्ञ याज्ञिक भी प्रयुक्त हुए मन्त्रों के देवता जान ही पाता है। उसका यह जानना बहुत अल्पांश में ही है, क्योंकि वह देवताओं के नामों को ही जान पाता है, न कि उनके वैज्ञानिक रहस्य को। इस कारण ग्रन्थकार ने देवता का ईषत् ज्ञान हो

सकना लिखा है। इसी प्रकार यज्ञों की नाना प्रकार की क्रियाओं, जो इस सृष्टि में हो रही क्रियाओं का सांकेतिक रूप होती हैं, को निरन्तर देखकर वह सृष्टि प्रक्रिया की कुछ क्रियाओं को अति स्थूल रूप में कुछ-२ ही जान सकता है। इतने पर भी यह समझना उचित नहीं होगा कि वह वेदार्थवित् योगी पुरुष के समान कभी हो सकता है। यहाँ याज्ञिक को तो यह अल्पज्ञान हो भी सकता है, परन्तु वेदार्थहीन वेदपाठी को ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा हमारा मत है। इसलिए ईषत् ज्ञान वाली बात भी ग्रन्थकार ने सम्भवतः याज्ञिकों के लिए ही कही है। पुनरपि हम यह भी कहना चाहेंगे कि यदि वेदपाठ विधिपूर्वक किया जाए, तो उससे उत्पन्न तरंगों के द्वारा न केवल शरीर, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर कुछ न कुछ सकारात्मक प्रभाव अवश्य पड़ेगा। इसके साथ ही आत्मा पर भी अनुकूल एवं सात्त्विक प्रभाव अवश्य पड़ेगा। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि वेद की ऋचाएँ ईश्वर द्वारा ब्रह्माण्ड में उत्पन्न किये गये वा किये जा रहे कम्पनों का रूप हैं। इस कारण वेदपाठी और ईश्वर के मध्य अंशमात्र ही सही, सम्बन्ध स्थापित करने में सहयोग मिलेगा ही, यदि वह वेदपाठी इस सामान्य तथ्य को जानते वा हृदयंगम करते हुए वेदपाठ करे तो।

यहाँ अब तक इस ग्रन्थ के प्रयोजन का प्रतिपादन किया गया। अब निरुक्त शास्त्र के आगम के प्रकार की चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।
तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः।
उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः।
वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा।

प्रारम्भ से लेकर सहस्रों वर्षों तक वेदार्थ तत्त्ववेत्ता महर्षि सृष्टि के सभी पदार्थों के गुणधर्मों को समाधि के द्वारा साक्षात् जान लेने वाले हुए। उस समय तक विद्या के कोई भी ग्रन्थ संसार भर में प्रचलित नहीं थे। अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के द्वारा विद्या को प्राप्त किये हुए महर्षि ब्रह्मा से प्रारम्भ हुई वेदविद्या की परम्परा सुनने और सुनाने के द्वारा ही अविच्छिन्न रूप से चलती रही। उस समय सभी ऋषि जिस भी पदार्थ के विषय में जानना चाहते थे, वे अपने योगबल के द्वारा ईश्वरीय प्रेरणा से पूर्ण निर्भ्रान्त रूप से जान

लिया करते थे, चाहे वे पदार्थ चेतन हों अथवा जड़, सबको जानने की उनकी यही पूर्ण निर्दोष प्रक्रिया थी। उस समय सभी ऋषि भगवन्त निर्मल शुद्ध आत्मा वाले तथा शुद्ध सात्त्विक पूर्ण निर्दोष अन्तःकरण वाले हुआ करते थे। इसी कारण उनको किसी ग्रन्थ, लेखनी आदि साधनों की आवश्यकता नहीं थी। उस समय के सामान्य पुरुष भी बहुत उत्तम कोटि के सदाचार एवं प्रज्ञा से युक्त हुआ करते थे। वे सभी ऋषियों से वेदविद्या का श्रवण करके सभी प्रकार के लोकव्यवहारों का निर्वहण करते थे। धीरे-२ जब सत्त्व गुण की न्यूनता होने लगी, तब ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों को साक्षात् करने का सामर्थ्य भी क्षीण होने लगा। उस समय जो मनुष्य साक्षात्कृतधर्मा थे, उनसे न्यून स्तर वाले मनुष्यों को श्रवण मात्र से वेदविद्या के अभ्यास में कठिनाई अनुभव होने लगी, क्योंकि सत्त्वगुण की न्यूनता के कारण उनकी धारणावती प्रज्ञा अपेक्षाकृत क्षीण होने लगी। इस काल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने अपने शिष्यों को उपदेश के द्वारा वेदमन्त्रों को प्रदान किया। इसका अर्थ यह है कि उनके गुरु वेदमन्त्रों और विधिवत् अर्थ करने की प्रक्रिया को विस्तृत रूप से समझाने लगे। इस समय भी वेदविद्या लिपिबद्ध नहीं थी, बल्कि सुनने-सुनाने के रूप में प्रचलित थी। यहाँ यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भिक समय में सभी मनुष्य प्रायः ऋषि कोटि के हुआ करते थे, इस कारण वे सभी पदार्थों का साक्षात् योगबल से ही किया करते थे।

हमने जो यह दर्शाया है कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषिजन सामान्य पुरुषों को जो वेदविद्या की शिक्षा देते थे, वह केवल सांकेतिक ही होती थी अर्थात् वे उस समय के सामान्य जन भी ऋषित्व के स्तर के समान ही होने से अपने गुरुओं के द्वारा वेदमन्त्रों उच्चारण मात्र से उस मन्त्र का सम्पूर्ण विज्ञान समझ लिया करते थे, यह हमारा मत है। उधर यह भी सम्भव है कि उस प्रारम्भिक काल में सभी जन साक्षात्कृतधर्मा ही हों। हमने ऊपर जो दूसरे स्तर की चर्चा की है, उसमें सामान्य जन महती प्रज्ञासम्पन्न होते हुए भी अपने गुरुओं से वेदमन्त्र सुनने के पश्चात् भी उसका विज्ञान जानने में पूर्ण सक्षम नहीं थे। इस कारण उनको उन मन्त्रों की व्याख्या की अपेक्षा रहती थी और यह कार्य उनके साक्षात्कृतधर्मा गुरु किया करते थे। यहाँ मन्त्रों को देने का तात्पर्य यह है कि ऋषि ही उनको वेदमन्त्र बताया करते थे और वे ही उनकी सम्पूर्ण व्याख्या करते थे।

धीरे-२ इस प्रक्रिया में भी उन शिष्यों को बाधा आने लगी अर्थात् वे इस मौखिक श्रवण व श्रावण प्रक्रिया से वेदविद्या को ग्रहण करने में कठिनाई अनुभव करने लगे, ऐसे

लोगों के लिए साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने वेदविद्या (आध्यात्मिक एवं पदार्थ विद्या) के बिल्म = भिल्म अर्थात् सहजता से प्रकाशन करने के लिए इस ग्रन्थ को रचा। इसके साथ ही अन्य ग्रन्थों की रचना का क्रम प्रारम्भ हुआ। यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर 'वेदं च वेदाङ्गानि च' के भाष्य के लिए ऋषि दयानन्द सरस्वती को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

" 'वेदं च वेदाङ्गानि च...' स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका अर्थ किया है। ... समाम्नासिषुः सम्यगभ्यासं कारितवन्तः। येन सर्वे मनुष्याः वेदं च वेदाङ्गानि च जानीयुः। इति। निरुक्त पाठ का दूसरा अर्थ भी है— वेद को आम्नायों, चरणों और शाखाओं के रूप में समाम्नात किया तथा वेदाङ्गों का संग्रह किया।"

यहाँ ऋषि दयानन्द ने 'समाम्नासिषुः' का अर्थ सम्यक् अभ्यास कराना किया है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब ग्रन्थ थे ही नहीं, तब उनका सम्यक् अभ्यास कैसे कराया? इस विषय में हमारा मत यह है कि जिस समय निरुक्त वा निघण्टु की रचना की गई थी, उस समय वेद की शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों का संकलन वा निर्माण हो चुका था। इस कारण ही निरुक्त में पदे-२ वेद के साथ-२ इन ग्रन्थों को भी उद्धृत किया गया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वेद (मूल मन्त्र) तो अपौरुषेय होने के कारण सृष्टि के प्रारम्भ से ही सुनने-सुनाने की परम्परा से चले आ रहे थे। ये वेदमन्त्र सृष्टि की प्रारम्भिक पीढ़ी में उत्पन्न अग्नि, वायु, आदित्य एवं अङ्गिरा ऋषियों द्वारा ब्रह्माण्ड में विद्यमान परा वा पश्यन्ती रश्मियों के रूप में ग्रहण किये गये थे। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत केवल ईश्वर ही है। वेदमन्त्रों को नानाविध विनियुक्त करके नाना प्रकार के ग्रन्थों (विभिन्न शाखाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों आदि) की रचना साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने समय-२ पर की, इसी बात का यहाँ संकेत किया गया है। इन ग्रन्थों में जो मन्त्र भाग है, वह अपौरुषेय होने से वेदसंज्ञक है और शेष भाग वेदसंज्ञक नहीं है, बल्कि वह ऋषिकृत है। वेदोत्पत्ति एवं वेद के स्वरूप के विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ पठनीय है। इस प्रकरण में हम आचार्य विश्वेश्वर को भी उद्धृत करना उचित समझते हैं—

" 'वेदं च वेदाङ्गानि च' का अर्थ सत्यव्रत सामाश्रमी ने वेदपद से ब्राह्मण-ग्रन्थों का ग्रहण किया है। दुर्गाचार्य ने वेद की शाखाओं का ग्रहण किया है। स्कन्दस्वामी ने

'कृत्स्नवेदग्रन्थग्रहणार्थं समाम्नातवन्तः' यह किया है। इसका मुख्य भाव यही है कि वेद को कण्ठ करने तथा उसका अर्थ जानने के लिए सारे वेद को उन्होंने लिपिबद्ध किया।

'इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः, वेदं च, वेदाङ्गानि च' इस वाक्य में 'इमं ग्रन्थं' से स्पष्ट रूप से 'निघण्टु' का ही ग्रहण होता है। उसके साथ प्रयुक्त 'वेदं च' की व्याख्या दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी और सत्यव्रत सामाश्रमी ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है, उसे हमने ऊपर दिखा दिया है। इनके अतिरिक्त एक और व्याख्या है, वह अधिक उपयोगी भी जान पड़ती है। 'निघण्टु' मूल ग्रन्थ है और 'निरुक्त' उसकी टीका है। किन्तु ६ वेदाङ्गों में 'निघण्टु' की गणना न करके निरुक्त की गणना की गयी है। इसका क्या कारण है, इसका स्पष्टीकरण इस 'वेदं च' पद से होता है। यहाँ 'वेदं च' को 'इमं ग्रन्थं' का विशेषण मान लिया जाये, तो उसका अभिप्राय यह हो जायेगा कि 'निघण्टु' स्वयं वेदरूप है, इसलिए उसकी गणना वेदाङ्गों में नहीं की गयी है। यों 'निघण्टु' वैदिक शब्दों का कोश है। उसमें वेद के शब्दों का संग्रह किया गया है। किन्तु वे वैदिक शब्द अपने समुदाय से अलग होकर भी 'यूथपरिभ्रष्ट गवादि न्याय' से वेद ही कहे जा सकते हैं। जैसे अपने झुण्ड से बिछुड़ जाने पर भी गाय गाय ही रहती है, बदल नहीं जाती, इसी प्रकार 'निघण्टु' में संगृहीत वैदिक शब्द अपने यूथ से परिभ्रष्ट होकर भी वेद ही कहे जा सकते हैं। 'इमं ग्रन्थं' के साथ 'वेदं च' को जोड़कर यह अर्थ किया जा सकता है। उस दशा में 'निघण्टु' की गणना वेदाङ्गों में क्यों नहीं की गयी, इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। अतः यह व्याख्या स्कन्द, दुर्गाचार्य तथा सामाश्रमी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। किन्तु हमने ऊपर जो अर्थ दिया है कि 'वेदों को भी लिपिबद्ध किया तथा वेदाङ्गों की रचना की', यह अर्थ इन सबसे अधिक उचित प्रतीत होता है।"

यहाँ ग्रन्थकार ने ज्ञान-विज्ञान के इतिहास को अति स्पष्ट और शुद्ध रूप में दर्शाया है। वर्तमान में पाश्चात्य विद्वानों का कथित विकासवाद नितान्त कल्पनाओं अथवा पक्षपात पर आधारित है। इस विषय में भी 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ तथा पण्डित रघुनन्दन द्वारा रचित 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थ को अवश्य पढ़ना चाहिए।

अब निघण्टु ग्रन्थ के विषयभेद की दृष्टि से तीन विभागों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

एतावन्तः समानकर्माणो धातवः। धातुर्दधातेः।
एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि। एतावतामर्थानामिदमभिधानम्।
नैघण्टुकमिदं देवतानाम। प्राधान्येनेदमिति।
तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्।
अश्वं न त्वा वारवन्तम्॥ [ऋ.१.२७.१]
अश्वमिव त्वा वालवन्तम्। वाला दंशवारणार्था भवन्ति। दंशो दशतेः।

अब इस ग्रन्थ में प्रयुक्त विभिन्न पदों के विषय में लिखते हैं कि इतने पद समान अर्थ वाले धातु के रूप में हैं, जैसे गति अर्थ वाली १२२ धातुएँ निघण्टु में वर्णित हैं। उन सबका अर्थ गमन करना ही है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि वेद में एक ही गति अर्थ वाली १२२ धातुएँ क्यों वर्णित हैं? क्या एक ही धातु से काम नहीं चल सकता था? एक ही कार्य को दर्शाने के लिए इतने धातुओं का प्रयोग करके वेद को जटिल क्यों बनाया गया? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि गति नामक क्रिया इस सृष्टि में सदैव समान ही नहीं होती। मेंढक, सर्प, पक्षी, छिपकली, बन्दर एवं मनुष्य आदि सभी प्राणियों के गमन की प्रक्रिया एक ही प्रकार से नहीं होती। इनसे भिन्न विद्युत् तरंगों का चलना, हवा का प्रवाह, नदियों का बहना, किसी पत्थर आदि पिण्ड का लुढ़कना, उसका सीधे या नीचे गिरना अथवा उसका ऊपर की ओर फेंका जाना, अग्नि की ज्वालाओं का ऊपर की ओर उठना, किसी द्रव का रिसना, किसी द्रव अथवा गैस के अन्दर अणुओं का निरन्तर तेजी से गमन करते हुए एक-दूसरे से टकराना, छन्द रश्मियों का गमन करना, किसी वाहन का चलना, पृथ्वी आदि लोकों का विभिन्न प्रकार से गमन करना आदि सभी क्रियाएँ परस्पर समान प्रकार से नहीं होती। इस कारण ही वेद एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में गमन करने के लिए केवल एक ही धातु का प्रयोग नहीं मिलता, बल्कि १२२ धातुओं का प्रयोग मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि वेद में ब्रह्माण्ड के विभिन्न पदार्थों के द्वारा होने वाली १२२ प्रकार की गमन क्रियाओं का उल्लेख है, जिनमें परस्पर सूक्ष्म ही सही, परन्तु कुछ न कुछ भेद अवश्य है। यह सूक्ष्म भेद ही गति के महान् विज्ञान को प्रकट करता है। इस प्रकार अन्य क्रियाओं के विषय में भी समझें। अब 'धातुः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि 'धातुः' पद 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि

धातुवाची पद उससे निष्पन्न शब्द के अर्थ को ही नहीं, अपितु उससे अभिहित पदार्थ के स्वरूप के विज्ञान को भी धारण वा प्रकाशित करता है।

एक ही अर्थ वाली विभिन्न धातुओं की चर्चा करने के पश्चात् लिखते हैं कि इसी प्रकार एक ही द्रव्य के ये अनेक नाम हैं अर्थात् क्रिया की भाँति द्रव्य भी अनेक नामों वाला वर्णित है। उदाहरण के लिए वेद में पृथिवी के वाचक के रूप में २१ नाम, रश्मियों के लिए १५ नाम, अन्तरिक्ष के लिए १६ नाम आदि विद्यमान हैं। इसका अर्थ यह भी है कि पृथिवी आदि द्रव्य क्रमशः २१, १५ और १६ अर्थों के वाचक हैं। इससे इन द्रव्यों के अनेक प्रकार के कर्मों का विज्ञान भी प्रकाशित होता है। किसी भी द्रव्य के जितने वाचक दिये गये हैं, उन सबसे सर्वथा समान अर्थ प्रकट नहीं होता। उनमें सूक्ष्म ही सही, परन्तु भेद अवश्य होता है। वैदिक पदों का यही सूक्ष्म वैज्ञानिक रहस्य है।

यह निघण्टु का प्रथम काण्ड है, जो नैघण्टुक काण्ड कहलाता है। अब अगले काण्ड की चर्चा करते हुए कहा है—

कोई भी एक वाचक इतने अर्थों को कहता है अर्थात् एक ही पद के अनेक अर्थ भी होते हैं। वे पद धातु भी हो सकते हैं और नामवाची भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए— 'आदित्योऽप्यकूपार उच्यते अकूपारो भवति दूरपारः समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते' (निरु.४.१८)। इसी प्रकार रजः पद अनेकार्थ में प्रयुक्त है— 'ज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु.४.१९)। इसी प्रकार एक ही धातु के अनेक अर्थों का भी उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

'शुचिः शोचतेः ज्वलतिकर्मणः अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव' (निरु.६.१)।

इस प्रकार अनेक प्रकार के नामों और धातुओं का जिसमें संग्रह है, उस भाग को नैगम काण्ड कहते हैं। यह ग्रन्थ का दूसरा भाग है। अब तीसरे और अन्तिम काण्ड की चर्चा करते हुए कहते हैं— देवता का यह नाम नैघण्टुक है और यह देवता का नाम प्रधान है। इसकी चर्चा जिसमें की गई है, वह दैवत काण्ड कहलाता है। यहाँ सभी भाष्यकारों ने नैघण्टुक शब्द का अर्थ गौण ही किया है। देवता के गौणत्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो देवता अन्य देवता वाले मन्त्रों में आता है, वह नैघण्टुक अर्थात् गौण कहलाता है और जो देवता वास्तव में उस मन्त्र का देवता है, वह देवता प्रधान देवता कहलाता है।

इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्'।

इस मन्त्र का प्रधान देवता अग्नि है, किन्तु इसमें 'अश्वम्' पद भी विद्यमान है, इस कारण यहाँ अश्व नैघण्टुक अर्थात् अप्रधान देवता है। यहाँ अग्नि को अश्व के समान वालवन्त कहा है। 'वाला' का निर्वचन करते हुए लिखा— 'वाला दंशवारणार्था भवन्ति दंशो दशतेः'। इसका अर्थ यह है कि घोड़े के बाल मच्छर व मक्खी आदि के दंश को रोकने वाले होते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि अग्नि की बाल वाले घोड़े से तुलना कैसे की है? अग्नि अर्थात् फोटोन अथवा किसी मूल कण को दंश करने वाला कौन है? और इनके पास दंश निवारण वाले कौनसे बाल हैं, जिनके द्वारा ये दंश निवारण करते हैं? हमारे मत में इन कणों व फोटोन के साथ गमन करने वाली प्राण व अपान आदि रश्मियाँ ही इनके बाल के समान कार्य करते हुए इनके मार्ग में बाधक बन सकने वाली किसी भी रश्मि को नियन्त्रित वा दूर हटाती हैं। इसलिए ही अग्नि की तुलना बाल वाले घोड़े से की है। इन कणों व फोटोन के बारे में अधिक जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है। अब दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥ [ऋ.१.१५४.२]
मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः।
भीमो बिभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितम्।
अथ चेद्देवताभिधानम्। क्वायं न चरतीति। गिरिष्ठा गिरिस्थायी।
गिरिः पर्वतः। समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान्पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा।
अर्धमासपर्व। देवानस्मिन्प्रीणन्तीति। तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्।
मेघस्थायी मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव।

इस मन्त्र का प्रधान देवता इन्द्र है और नैघण्टुक अर्थात् गौण देवता मृग है। यहाँ कहा गया है कि इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें मृग अर्थात् सिंह की भाँति भीम अर्थात् भयानक होती हैं। यहाँ मृग का निर्वचन करते हुए कहा है— 'मृगो मार्ष्टेर्गति-कर्मणः' अर्थात् मृग शब्द गति अर्थ वाली 'मार्ष्टि' धातु से निष्पन्न होता है। जैसे सिंह अपने शिकार की खोज में निरन्तर गति करता रहता है, वैसे ही इन्द्र अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत्

तरंगें बाधक असुर पदार्थ (अप्रकाशित पदार्थ एवं ऊर्जा) को खोजती हुई गति करती रहती हैं। यहाँ मृग को भीम भी कहा है, क्योंकि उससे जंगल के सभी प्राणी भयभीत रहते हैं। इसलिए सिंह को भीम और भीष्म भी कहते हैं। जंगल के सभी प्राणी सिंह की गर्जना सुनकर अथवा उसे अपनी ओर आता हुआ देखकर भय से काँपने लगते हैं। उसी प्रकार इन्द्र के वज्र अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों से उत्पन्न तीव्र भेदक वज्र रश्मियों के सक्रिय होने अथवा अपनी ओर आते हुए अनुभव करने पर असुर पदार्थ में भी तीव्र कम्पन होने लगते हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सिंह के निकट होने पर भी यदि जंगली जानवरों को उसकी उपस्थिति का ज्ञान न हो, तब वे भयभीत नहीं होते। परन्तु जैसे ही सिंह गर्जना करता है अथवा किसी जंगली जानवर की ओर आने लगता है, तब उसे सुनकर वा देखकर ही वन्य पशु-पक्षियों में भय उत्पन्न होता है एवं इस भय के कारण उनके शरीर और मन पर भय का प्रभाव दिखाई देने लगता है।

इसी प्रकार इस सृष्टि में किसी संयोग प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करने को उद्यत असुर पदार्थ में कम्पन उसी समय उत्पन्न होता है, जब वह तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों रूपी इन्द्र तत्त्व उनको नष्ट व नियन्त्रित करने के लिए सूक्ष्म वज्र रश्मियों को उत्पन्न व प्रक्षिप्त करता है। यहाँ मृग अर्थात् सिंह का 'कुचर' विशेषण भी दिया है, जिसका निर्वचन करते हुए लिखा है— 'कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितम्' अर्थात् सिंह पशु-पक्षियों को मारने के लिए यत्र-तत्र कुटिल मार्गों से गमन करता रहता है। उसी प्रकार तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें (इन्द्र) असुर पदार्थ को नष्ट व नियन्त्रित करने के लिए कुटिल मार्गों के द्वारा वज्र रश्मियों का प्रहार करती रहती हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने प्रधान देवता इन्द्र के लिए 'कुचर' पद का निर्वचन अन्य प्रकार से भी किया है—

'क्वायं न चरतीति' अर्थात् इन्द्र तत्त्व कहाँ नहीं गमन करता है? अर्थात् वह सर्वत्र गमन करता है। इस ब्रह्माण्ड में इन्द्र तत्त्व सर्वत्र कार्य कर रहा है। ध्यातव्य है कि शास्त्र में इन्द्र शब्द के अनेक अर्थ हैं। तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें इन्द्र का स्थूल रूप हैं। प्राण, मन और वाक् आदि इन्द्र के सूक्ष्म रूप हैं। ये सभी पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र कार्य कर रहे हैं। अब मृग का एक और विशेषण 'गिरिष्ठाः' कहा है अर्थात् सिंह पर्वतों पर रहता है। यहाँ सिंह के पहाड़ पर रहने की बात तो समझ में आती है, परन्तु इन्द्र तत्त्व के गिरि पर निवास करने व ठहरने का अर्थ क्या है, यह विचारणीय है। इसके लिए ग्रन्थकार ने 'गिरिः' पद

का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति पर्ववान्पर्वतः पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा अर्धमासपर्व देवानस्मिन्प्रीणन्तीति तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात् मेघस्थायी मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव' अर्थात् गिरि और पर्वत दोनों एक ही पदार्थ के नाम हैं। हम सर्वप्रथम गिरि शब्द पर विचार करते हैं—

यह शब्द 'गॄ निगरणे' एवं 'गॄ शब्दे' दो धातुओं से निष्पन्न है और इन्हीं धातुओं से 'गिरणः' पद भी निष्पन्न होता है। गिरि उस पदार्थ का नाम है, जो अच्छी प्रकार से ऊपर की ओर प्रकट होता हुआ उत्पन्न होता है। साथ ही ऐसा होते समय ध्वनि तरंगों को भी उत्पन्न करता है। पृथिवी आदि लोकों पर पहाड़ों की उत्पत्ति का यह एक रहस्यमय विज्ञान यहाँ प्रकट हो रहा है।

इस निर्वचन से यह संकेत मिलता है कि लोकों के निर्माण के पश्चात् भिन्न-२ कालखण्ड में नाना प्रकार की भूगर्भीय विक्षोभकारी क्रियाओं के द्वारा इन लोकों के भीतर से कुछ पदार्थ इन लोकों के तल को फोड़ता हुआ ऊपर की ओर आ गया और धीरे-२ वहीं अचल भी हो गया। इस प्रकार ये उठे हुए भाग गिरि कहलाए। ये गिरि जब आपस में जुड़कर एकाकार हो जाते हैं, तब वे ही पर्वत कहलाते हैं, क्योंकि इनमें नाना पर्व अर्थात् जोड़ होते हैं अर्थात् जिसमें जोड़ न हों, वह गिरि और जिसमें जोड़ हों, वह पर्वत कहलाता है। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि पृथिवी आदि लोकों से जो पदार्थ बाहर निकलता है, वह अत्यन्त गर्म एवं द्रवीभूत अवस्था में ही होता है, जिससे वह पदार्थ नाना गिरियों के रूप में प्रकट होकर और उनकी परस्पर सन्धि होने से पर्वतों का रूप ले सके।

यहाँ ग्रन्थकार ने पर्वत शब्द को पर्व अर्थात् सन्धियुक्त कहा है एवं 'पर्व' शब्द 'पृणाति दानकर्मा' (निघं.३.२०), 'पॄ पालनपूरणयोः', 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च', इन धातुओं से निष्पन्न होता है। इससे यह रहस्य प्रकट होता है कि किसी भी पर्वत में विद्यमान विभिन्न गिरियों के मध्य सन्धिभाग पर्वत निर्माण के समय कुछ पदार्थों का सूक्ष्म स्थानान्तरण करके सम्पूर्ण पर्वत को आकार प्रदान करने में अपनी विशेष भूमिका निभाते हैं। पदार्थ के इस स्थानान्तरण अथवा पारगमन से सभी गिरियों के मध्य कार्यरत बल संतुलित हो जाते हैं। ये पर्व इसी प्रकार कार्य करते हैं, जिस प्रकार किसी गन्ने अथवा बांस में उसके पर्व अर्थात् गाँठें कार्य करती हैं।
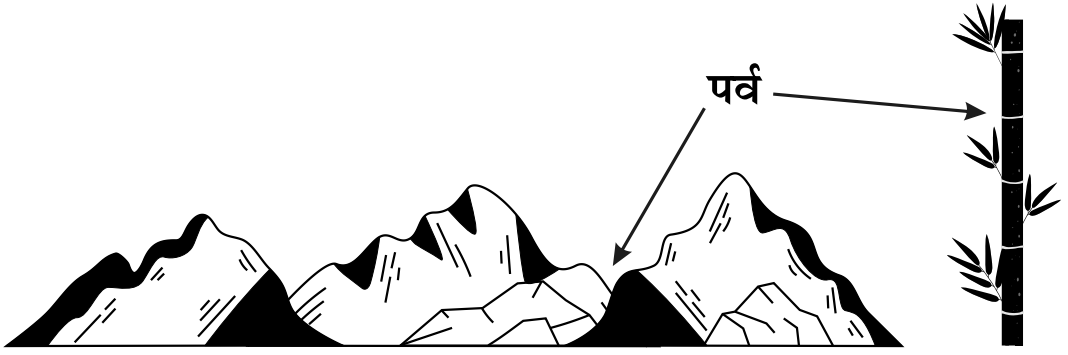
जिस प्रकार अब तक वर्णित पर्वत और गिरियों को सिंह का निवास व आश्रय स्थान माना जाता है। वैसे इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीव्र विद्युत् तरंगों के लिए गिरि और पर्वत किसे कहा जा सकता है? हमारे मत में ये दो शब्द सृष्टि विज्ञान के क्षेत्र में गम्भीर अर्थ रखते हैं। गिरि शब्द के पूर्वोक्त निर्वचनों पर विचार व्यक्त करें, तो यह प्रकट होता है कि जो-२ पदार्थ इन्द्र तत्त्व के वाचक हैं, उन-२ की उत्पत्ति उस समय होती है, जब उनके उपादानभूत पदार्थ में ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा से कुछ स्थूलता अथवा व्यक्तता प्रकट होती है। जैसे पृथिवी के गर्भ से उत्पन्न होने वाले पर्वत वा गिरि अपनी उत्पत्ति के पूर्व पृथिवी के गर्भ में अवस्थान्तर के रूप में विद्यमान होते हैं, उसी प्रकार इन्द्र तत्त्व वाचक मन वा प्राण रश्मियों का आश्रयभूत पदार्थ महत् वा मन की रश्मियाँ प्रकृति के महत् तत्त्व के अन्दर गुप्त व अवस्थान्तर रूप में विद्यमान होती हैं। जिनका बाहर प्रकट होना ही गिरि अवस्था कहलाता है और इस अवस्था में ही मनस्तत्त्व वा प्राण रश्मियाँ उद्भूत होती हैं।

जहाँ तक तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों की उत्पत्ति व आश्रय स्थल का प्रश्न है, उस विषय में हमारा मत यह है कि जब विभिन्न मूलकणों और विकिरणों की उत्पत्ति हो जाती है, उस समय उनके द्वारा कॉस्मिक मेघों का प्राकट्य होता है। तब उन कॉस्मिक मेघों को अनिष्ट रूप से आच्छादित करने वाले आसुर मेघ (वृत्रासुर) को छिन्न-भिन्न करने के लिए तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों रूपी इन्द्र प्रकट होता है। इसी बात को महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार कहा है— तस्य (वृत्रस्य) एतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः (श.ब्रा.३.४.३.१३), मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रꣳ हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः (श.ब्रा.२.५.३.२०)।

यहाँ जिस इन्द्र की चर्चा की गई है, वह तीक्ष्ण दृश्य विद्युत् तरंगों का रूप है, जिसकी उत्पत्ति कॉस्मिक मेघों के अन्दर होती है। ये कॉस्मिक मेघ ही गिरि और पर्वत

कहे जाते हैं। ये मेघ ही वृत्ररूपी असुर पदार्थ के भी शरीर अर्थात् आश्रय रूप हैं। इसके कारण इन्द्र और वृत्र नामक पदार्थों में परस्पर संघर्ष चलता रहता है। विभिन्न कॉस्मिक मेघ नाना प्रकार के छोटे-२ मेघों से मिलकर बनते हैं। एक मेघ 'गिरि' और इनके मिलने से बना हुआ विशाल मेघ 'पर्वत' कहा जाता है। इसी कारण निघण्टु में गिरि और पर्वत को मेघनाम के अन्तर्गत पढ़ा गया है। कॉस्मिक मेघों के अन्दर भी अनेक मेघ परस्पर जुड़कर विशाल मेघरूपी पर्वत का निर्माण करते हैं। छोटे-२ मेघों के सन्धि भाग में से सूक्ष्म पदार्थ का पारगमन निरन्तर होता रहता है, जिससे वे छोटे-२ मेघ परस्पर जुड़े रहकर विशाल मेघ को आकार प्रदान करते रहते हैं। पर्व शब्द के प्रकरण में यह भी ध्यातव्य है कि सृष्टि में होने वाली नाना प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं में अर्द्धमास रश्मियों की सन्धियाँ भी इसी प्रकार कार्य करती हैं। इन रश्मियों में नाना प्रकार की सूक्ष्म प्राण रश्मियाँ विद्यमान और तृप्त रहती हैं, जिनकी संयोग-वियोग प्रक्रिया में सूक्ष्म भूमिका रहती है। हम अन्य सन्धियों की चर्चा कर ही चुके हैं।

अब इस अध्याय का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते।
तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। नैघण्टुकानि नैगमानीहेह॥ २०॥

निघण्टु में जो नाम प्रधान स्तुति वाले देवताओं के हैं और उनकी व्याख्या जिस काण्ड में की जायेगी, उसे दैवत काण्ड कहेंगे। इन देवताओं की व्याख्या आगे की जाएगी अर्थात् दैवत काण्ड, नैघण्टुक एवं नैगम काण्ड के पश्चात् लिखा जायेगा। यहाँ द्वितीय अध्याय के चौथे खण्ड तक भूमिका, २.५-३ अध्यायों में नैघण्टुक काण्ड के पदों तथा ४-६ अध्यायों में नैगम काण्ड के पदों की व्याख्या की जायेगी। उसके पश्चात् ७-१३ अध्यायों में दैवत काण्ड के पदों की व्याख्या करेंगे। यहाँ आचार्य विश्वेश्वर ने खण्ड विभाजन परम्परागत खण्ड विभाजन से कुछ हटकर किया है, परन्तु हमने निरुक्त पाठ व खण्ड विभाजन रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के पाठ को ग्रहण किया है। वैसे इन पाठों में कोई भेद अब तक प्रतीत नहीं हुआ। यहाँ 'इह' का दो बार पाठ अध्याय की परिसमाप्ति का सूचक है।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)
प्रथमोऽध्यायः समाप्यते।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

अथ निर्वचनम्।

ग्रन्थकार ने प्रथम अध्याय को ग्रन्थ के विषय-प्रवेश के रूप में लिखा है, जिसमें निघण्टु सम्बन्धी सामान्य विषयों की चर्चा की गयी है। इस द्वितीय अध्याय में निर्वचन अर्थात् निघण्टु की व्याख्या का प्रारम्भ करेंगे। इसके भी प्रथम पाद में निर्वचन प्रक्रिया के सामान्य नियमों का वर्णन है। निर्वचन प्रक्रिया को जानने से पूर्व हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि 'निर्वचन' पद का क्या अर्थ होता है? पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य में आचार्य दुर्ग को उद्धृत करते हुए लिखा है—

''अपिहितस्य अर्थस्य परोक्षवृत्तौ अतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम् अर्थात् शब्द में छिपे हुए अर्थ के परोक्षवृत्ति अथवा अतिपरोक्षवृत्ति होने पर खींचकर अथवा तोड़कर जो वचन हो, वह 'निर्वचन' होता है। निर्वचन पद का एक सीधा अर्थ भी है अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति के समय अर्थ = पदार्थ की माया, जिससे वचन = शब्द बना, निर्गतो वचनं यस्मात् ...''

यहाँ 'अर्थ' शब्द से पदार्थ के ग्रहण के हेतु प्रमाण रूप में पण्डित भगवद्दत्त ने न्यायदर्शन के सूत्र 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्...' को उद्धृत किया है। हम पण्डित भगवद्दत्त के मत से पूर्णतः सहमत हैं। इस सृष्टि में जो-जो पदार्थ जब-जब उत्पन्न हो रहा होता है, उस-उस समय उस-उस पदार्थ का वाचक शब्द भी कम्पन के रूप में उत्पन्न होता है। यह कम्पन मनस्तत्त्व में भी हो सकता है और आकाश महाभूत (स्पेस) में भी। वेद मन्त्रों के सृष्टि प्रक्रिया पर होने वाले प्रभावों के विषय में हम अपने ग्रन्थ 'वेदविज्ञान-आलोकः' में प्रकाश डाल चुके हैं, जहाँ शब्द और अर्थ किंवा उसके वाचक पदार्थ के नित्य सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। किसी पद का निर्वचन अर्थ अर्थात् उस शब्द के वाच्य रूप के स्वरूप की व्याख्या करता है, उसकी उत्पत्ति व क्रियाविज्ञान की व्याख्या करता है, उसके गुणों को भी प्रकाशित करता है। पदार्थ की उत्पत्ति के समय की वह प्रक्रिया, जिसमें उस पदार्थ का निर्माण विशेष छान्दस तरंगों से होता है, जिनके अन्दर उस पदार्थ के वाचकरूप पद विद्यमान होते हैं, निर्वचन कहाती है। पण्डित भगवद्दत्त का यह उपर्युद्धृत मत उचित है और हमारा वैदिक रश्मि सिद्धान्त (वास्तव में ऋषियों का) इस विज्ञान की व्यापक व पूर्ण

व्याख्या करता है। हमारी दृष्टि में किसी पदार्थ में उस पदार्थ के वाचकरूप पद अति सूक्ष्म रश्मियों के रूप में न केवल विद्यमान रहते हैं, अपितु उस पदार्थ में से सदैव निर्गत भी होते रहते हैं और उत्पन्न भी होते रहते हैं।

जहाँ तक आचार्य दुर्ग के मत का प्रश्न है, तो उस विषय में हमारा मत है कि वैदिक पदों के अन्दर उनके अर्थ अर्थात् वाच्यरूप पदार्थ का स्वरूप परोक्ष वा अतिपरोक्ष रूप में ही विद्यमान रहता है, प्रत्यक्ष नहीं। जब प्रतिभाशाली निर्वचनकर्त्ता उस पद का निर्वचन करता है, तब वह अपनी दिव्य ऊहा व तर्क की विलक्षण क्षमता के द्वारा उस पद के अर्थ, जो उस पद के अन्दर ही छुपा रहता है, को बाहर निकालकर उस वाच्यरूप पदार्थ के स्वरूप का यथोचित उद्घाटन करता है। इसी प्रक्रिया को निर्वचन कहा जाता है। विभिन्न पदों के परोक्ष वा अतिपरोक्ष होने के कारण ही निर्वचन प्रक्रिया के छः मौलिक सिद्धान्त हैं, जिनका प्रत्येक निर्वचनकर्त्ता विद्वान् को ध्यान रखना होता है। ये सिद्धान्त इस शास्त्र के प्राणभूत हैं, इस कारण प्रत्येक पाठक को चाहिए कि इन सिद्धान्तों को गम्भीरता से समझ ले, अन्यथा निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन समझ नहीं आयेगा। इन्हीं छः सिद्धान्तों की चर्चा ग्रन्थकार आगे क्रमशः करते हैं—

तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।

निर्वचन प्रक्रिया का प्रथम सिद्धान्त बतलाते हुए लिखते हैं कि जिन पदों में उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर एवं प्रकृति, प्रत्यय, आगम आदि संस्कार परस्पर समर्थ होवें अर्थात् वास्तविक अर्थ का बोध कराने में सक्षम हों। इसके साथ ही वे स्वर एवं संस्कार व्याकरण प्रक्रिया से समन्वित हों अर्थात् वे पद प्रकृति और प्रत्यय के द्वारा स्पष्ट अर्थ का बोध कराने में सक्षम हों, तो उन पदों का उसी प्रक्रिया के द्वारा निर्वचन करना चाहिए। 'प्रदेशः' की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है— 'प्रदिश्यन्ते साध्यन्ते शब्दा अनेन इति प्रदेशो व्याकरणम्'। अब हम इस निर्वचन के उस आधिदैविक स्वरूप, जो सृष्टि प्रक्रिया के चलते प्रकट होता है, पर विचार करते हैं—

इस विषय में सर्वप्रथम 'समर्थ' शब्द पर विचार करना आवश्यक है। ऋषि

दयानन्द सरस्वती अपने अष्टाध्यायी भाष्य के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र 'समर्थः पदविधिः' की व्याख्या करते हुए महाभाष्य को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

"किं समर्थं नाम। पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्। सङ्गतार्थं समर्थं, संसृष्टार्थं समर्थं, सम्प्रेक्षितार्थं समर्थं, सम्बद्धार्थं समर्थम्।"

यद्यपि यह प्रकरण समास से सम्बन्धित है, तथापि निरुक्त के इस प्रकरण में भी समर्थ शब्द का यह चारों प्रकार का अर्थ उचित प्रतीत होता है। जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि किसी पद का निर्वचन उस पदार्थ के स्वरूप एवं उत्पत्ति दोनों का प्रकाशक होता है। प्रकृति व प्रत्यय रूप पद रश्मियाँ एक ही पदार्थ को कहती वा निर्मित करती हैं, तब उसे पदों का एकार्थीभाव कहा जाता है। यहाँ स्वर एवं प्रकृति-प्रत्यय आदि सङ्गत होने का अर्थ यह है कि प्रकृति और प्रत्यय रूपी अति सूक्ष्म रश्मियाँ परस्पर सङ्गत होकर उस पदार्थ का निर्माण भी करती हैं और उसके विविध क्रियाकलापों को सम्पादित भी करती हैं। इस प्रकरण में उनके साथ उपयुक्त स्वरों का होना भी अनिवार्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो पद और पदार्थ (वाच्यरूप) जिन प्रकृति और प्रत्यय के मेल से बनते हैं, वे प्रकृति और प्रत्यय रश्मि रूप में सदैव सहगमन अर्थात् कम्पन करते हुए पदार्थ के साथ निरन्तर सङ्गत रहते हैं, जैसे अग्नि का कोई परमाणु (फोटोन) जब गमन कर रहा होता है, तब अग्नि पद के अवयव रूप धातु और प्रत्यय सूक्ष्म रश्मियों के रूप में फोटोन के साथ स्पन्दित होते हुए गमन करते रहते हैं। यद्यपि अग्नि के परमाणु में अनेक छन्द रश्मियाँ विद्यमान होने से अनेक पदरूप सूक्ष्म रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, तथापि अग्नि पद एवं उसकी अवयवभूत धातु एवं प्रत्यय रश्मियाँ विशेष रूप से फोटोन के साथ सङ्गत रहती हैं अर्थात् उसके साथ स्पन्दित होते हुए गमन करती रहती हैं।

अब प्रकृति और प्रत्यय के संसृष्ट होने के अर्थ पर विचार करते हैं—

यहाँ संसृष्ट होने का अर्थ यह है कि प्रकृति और प्रत्यय रूप सूक्ष्म रश्मियाँ उपयुक्त स्वरों के साथ किसी पद के वाच्यरूप पदार्थ में पूरी तरह से मिश्रित हुई होती हैं। यद्यपि किसी पदार्थ के परमाणु में अनेक छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। अनेक छन्द रश्मियाँ विद्यमान होने से अनेक पदरूप रश्मियों की विद्यमानता भी होती है, परन्तु उस पदार्थ के वाचकरूप पद तथा उसकी अवयवरूप प्रकृति व प्रत्ययरूप रश्मियाँ उस पदार्थ

के अन्दर मिश्रित होकर उसे सक्रिय करती तथा उस पदार्थ के स्वरूप को बनाए रखने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। पूर्व में दर्शायी हुई सङ्गत रश्मियाँ प्रायः पदार्थ के बाहरी भाग में सङ्गत होती हुई गमन करती हैं, जबकि संसृष्ट रश्मियाँ उस पदार्थ के अन्दर मिश्रित होकर उस पदार्थ को सक्रियता प्रदान करने में सहायक होती हैं। उदाहरण के लिये किसी अग्नि के परमाणु (फोटोन) के अन्दर अग्नि पद की अवयवरूप प्रकृति-प्रत्ययरूप सूक्ष्म रश्मियाँ फोटोन के अन्दर विद्यमान विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियों में मिश्रित रहती हैं।

अब सम्प्रेक्षित होने के अर्थ पर विचार करते हैं—

सम्प्रेक्षित शब्द का अर्थ है— किसी लक्ष्य की ओर देखना। इससे यहाँ यह आशय प्रतीत होता है कि प्रकृति और प्रत्यय रूप सूक्ष्म रश्मियाँ एक-दूसरे से पूर्णतः मिली हुई तो नहीं होती, परन्तु वे एक-दूसरे के आकर्षण में बँधी हुई सदैव ही उस पदार्थ में विद्यमान रहकर उस पदार्थ के स्वरूप को बनाए रखने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। उदाहरण के लिए किसी फोटोन के अन्तर्गत अथवा उसके बाहरी भाग में ये प्रकृति और प्रत्यय रूप सूक्ष्म रश्मियाँ एक-दूसरे से सर्वथा मिश्रित न होने पर भी अपने सूक्ष्म आकर्षण बल से सङ्गत अथवा संसृष्ट रश्मियों जैसा प्रभाव बनाए रखती हैं।

अब हम प्रकृति और प्रत्यय रूप रश्मियों के परस्पर सम्बद्ध होने पर विचार करते हैं—

इसमें ये दोनों प्रकार की रश्मियाँ एक-दूसरे के साथ दृढ़ता से मिथुन बनाकर उस पद रूप रश्मि के प्रभाव को प्रकट करती हैं। उदाहरणतः अग्नि के परमाणु में अग्नि पद की अवयवरूप प्रकृति और प्रत्यय रूप रश्मियाँ उस परमाणु के निर्माण में अपनी विशेष भूमिका निभाती हैं।

यहाँ समर्थ शब्द के चार प्रकार के अर्थ दर्शाये हैं। सुविधा के लिए हमने अग्नि के परमाणु (फोटोन) का उदाहरण देकर पदार्थ की उत्पत्ति और स्वरूप की प्रक्रिया को दर्शाया है। यह आवश्यक नहीं है कि अग्नि के परमाणु की उत्पत्ति की प्रक्रिया और स्वरूप इन चारों ही प्रकार का हो। हमारे इस कथन का उद्देश्य मात्र यही है कि सृष्टि प्रक्रिया में किसी पद का निर्वचन अर्थात् किसी पद का निर्माण इन चारों ही प्रक्रियाओं में से किसी भी एक प्रकार से हो सकता है। सृष्टि प्रक्रिया में पदरूप सूक्ष्म रश्मियों का यह

अद्भुत विज्ञान यहाँ दर्शाया गया है। यहाँ ग्रन्थकार वेदार्थ को जानने के लिए जहाँ वैदिक पदों के निर्वचन की प्रक्रिया विद्वानों को समझाते हैं, वहीं वे सृष्टि के अतिगूढ़ तत्त्वों को भी निर्वचन के माध्यम से समझाते हुए चलते हैं। यह इस शास्त्र का अद्भुत स्वरूप है।

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत।
केनचिद् वृत्तिसामान्येन।

अब निर्वचन का दूसरा सिद्धान्त बतलाते हुए कहते हैं कि जब किसी पद का धातु-प्रत्यय आदि से सीधा सम्बन्ध प्रकट न हो रहा हो, व्याकरण शास्त्र के लोप, आगम एवं विकार आदि विकार स्पष्ट प्रतीत नहीं हो रहे हों, तो उस पद के अर्थ में समाये हुए अर्थात् छुपे हुए निर्वचन की परीक्षा अपनी प्रज्ञा से करे। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि ऐसे पद जिनका व्याकरण से कोई अर्थ प्रकट नहीं होता हो, तो उन पदों के अर्थों को योग व ऊहा आदि साधनों के द्वारा जानने का प्रयास करे और उन जाने हुए अर्थों के अनुसार ही उन पदों का निर्वचन करे। ऐसे पदों में प्रत्यय आदि कुछ विकारों की कुछ समानता के आधार पर ही निर्वचन करने का प्रयास करना चाहिए। उल्लेखनीय है कि व्याकरण शास्त्र की व्युत्पत्तियाँ पद को प्रधानता देकर की जाती हैं और निर्वचन प्रक्रिया अर्थ की प्रधानता पर आधारित होती है। व्याकरण एवं निरुक्त की कार्यप्रणाली में यह मौलिक भेद है। उधर हम इस बात से भी अवगत हैं कि व्याकरण शास्त्र में भी अनेक बार धातु और प्रत्यय की स्पष्टता नहीं होती है और वहाँ भी अपनी ऊहा के बल पर धातु और प्रत्ययों की कल्पना की जाती है। यहाँ अर्थ की प्रधानता का सिद्धान्त व्याकरण में धातु-प्रत्यय की कल्पना से एक चरण आगे मात्र है। अब हम इस सिद्धान्त पर आधारित सृष्टि विज्ञान के सूक्ष्म तत्त्व को जानने का प्रयास करते हैं।

इस सृष्टि में निर्वचन के प्रथम सिद्धान्त में दर्शायी गई चार प्रक्रियाओं के अतिरिक्त यहाँ पाँचवीं प्रक्रिया को दर्शाया गया है, वह इस प्रकार है— इस सृष्टि में कुछ पदरूप रश्मियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनमें प्रकृति और प्रत्यय रूपी अवयव रश्मियाँ अनिश्चित होती हैं अर्थात् वे पदरूप रश्मियाँ इस प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों से मिलकर उत्पन्न होती हैं, जिन्हें निश्चितता से जानना दुष्कर होता है। इसके साथ ही एक ही पदरूप रश्मि अनेक प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों के भिन्न-२ युग्मों के द्वारा निर्मित हो सकती है,

जिन्हें कोई तत्त्वज्ञानी ही जान सकता है। जानने की इस प्रक्रिया का भी संकेत करते हुए कहते हैं कि कुछ वृत्तियों अर्थात् उन परमाणु आदि पदार्थों की कुछ क्रियाओं की समानता से भी पदार्थ के स्वरूप को जाना जा सकता है, लेकिन ऐसा भी कोई तत्त्वज्ञानी ही कर सकता है। वस्तुतः परमेश्वर की सृष्टि बहुत विचित्र और जटिल है। इस कारण इसे जानने के लिए सामान्य और सरल नियमों का होना दुष्कर है।

अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्।

अब निर्वचन का तीसरा सिद्धान्त बतलाते हुए लिखते हैं कि जब किसी पद एवं किसी धातु अथवा प्रत्यय में कुछ भी समानता न प्रतीत हो रही हो, तब भी निर्वचन अवश्य करना चाहिए। पूर्व सिद्धान्त में पद एवं किसी धातु व प्रत्यय में कुछ न कुछ समानता की चर्चा की गई है, परन्तु यहाँ ऐसा न होने की स्थिति है। इस स्थिति में ग्रन्थकार लिखते हैं कि किसी पद तथा किसी अक्षर व वर्ण अर्थात् स्वर अथवा व्यञ्जन की समानता को लेकर ही निर्वचन करना चाहिए। इसका आशय यह है कि किसी पद और किसी धातु में यदि किसी स्वर अथवा व्यञ्जन की समानता दिखाई दे, तो उसी समानता के आधार पर भी निर्वचन किया जा सकता है। यहाँ किसी पद में किसी धातु अथवा प्रत्यय का यथावत् विद्यमान होना अनिवार्य नहीं है। अब इसके आधिदैविक पक्ष पर भी विचार करते हैं—

जब सृष्टि प्रक्रिया के चलते किसी पदार्थ अर्थात् किसी पद के वाच्यरूप पदार्थ का निर्माण हो रहा होता है, उस समय उस पदार्थ की उपादानभूत विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियों के अवयवरूप अथवा उन छन्द व प्राण रश्मियों में विचरण करती हुई सूक्ष्म पदरूप रश्मियों की उत्पत्ति इस प्रकार भी हो सकती है, जिसमें किसी धातु एवं प्रत्ययरूपी सूक्ष्म रश्मियों से निःसृत कुछ स्वर व व्यञ्जन रूप सूक्ष्मतम रश्मियों के रहस्यमय संयोगों के कारण नाना पदरूप रश्मियाँ प्रकट हो सकती हैं। इस प्रक्रिया में धातु अथवा प्रत्ययरूप रश्मियों का सम्पूर्ण रूप प्रकट नहीं होता।

न त्वेव न निर्ब्रूयात्।

यहाँ ग्रन्थकार लिखते हैं कि कोई भी वेदपिपासु विद्वान् वेदार्थ करते समय किसी

पद का निर्वचन न करे, यह नहीं होना चाहिए। इसका आशय यह है कि वेदार्थ को समझने के लिए वैदिक पदों का निर्वचन अवश्य ही करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना उस पद का अर्थ समझा ही नहीं जा सकता। निर्वचन कैसे करना है, यह उस विद्वान् को स्वयं विचारना है।

उधर सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत जब ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की सूक्ष्म रश्मियाँ उत्पन्न हो रही होती हैं, उस समय उन रश्मियों के मेल से किसी न किसी पदार्थ का निर्माण अवश्य होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि सूक्ष्म रश्मियाँ तो उत्पन्न होती रहें और किसी भी पदार्थ का निर्माण न हो।

प्रश्न— अब तक आपने पदार्थ के निर्माण की चार प्रक्रियाओं का वर्णन किया, तब यह प्रश्न उठता है कि क्या एक ही पदार्थ चारों प्रकार से निर्मित हो सकता है अथवा चारों प्रक्रियाओं से निर्मित पदार्थ भिन्न-२ होते हैं?

उत्तर— हमारी दृष्टि में एक ही पदार्थ सभी प्रक्रियाओं से निर्मित नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि उस पदार्थ के वे भिन्न-२ रूप होंगे, जिनमें कुछ न कुछ भेद अवश्य होगा, चाहे वह अत्यन्त सूक्ष्म क्यों न हो। इस सृष्टि में एक ही उपादान कारण एवं समान प्रकार की क्रियाओं से उत्पन्न पदार्थ ही गुणधर्म की दृष्टि से समान होते हैं। यदि उनकी क्रिया, संरचना एवं उपादान कारण में कुछ भी भेद हो, तो उनके स्वरूप और गुणधर्मों में अवश्य ही कुछ न कुछ भेद होगा। इस प्रकार का अनुभव वर्तमान भौतिकी एवं रासायनिक विज्ञान के अध्येता भी अवश्य करते हैं।

न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।
यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।

अन्त में ग्रन्थकार लिखते हैं कि किसी पद का निर्वचन करते समय संस्कार अर्थात् व्याकरण शास्त्र के नियमों अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन, आगम और लोप आदि के नियमों की चिन्ता न करे, क्योंकि ये वृत्तियाँ विशयवती अर्थात् संदिग्ध ही होती हैं। यहाँ वृत्ति के विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का कथन है—

''यहाँ वृत्ति शब्द अति प्राचीन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आख्यातों और नामरूपों

को धातुओं से निकालने वाले शास्त्र। इसी अभिप्राय से व्याकरण महाभाष्य में पाणिनीय सूत्रों को वृत्तिसूत्र की संज्ञा दी है। (न ब्रूमो वृत्तिसूत्र-प्रामाण्यात्) आपिशलि ने भी अपनी शिक्षा में वृत्तिकार (पाणिनीय शिक्षासूत्र में भी यह वृत्तिकार प्रकरण है।) नाम का एक प्रकरण पढ़ा है।''

इससे ग्रन्थकार यह दर्शाना चाहते हैं कि व्याकरण के नियम सर्वथा असंदिग्ध नहीं होते हैं। इस कारण किसी पद का निर्वचन करते समय अध्येता को व्याकरण के नियमों से ही नहीं बँधे रहना चाहिए, बल्कि अर्थ के अनुसार विभक्ति आदि में परिवर्तन कर लेना चाहिए। इस परिवर्तन को ही व्यत्यय कहते हैं। इसको न केवल महर्षि यास्क स्वीकार करते हैं, अपितु महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि भी विभिन्न विधियों के व्यत्यय की चर्चा करते हैं—

''सुपां व्यत्ययः तिङां व्यत्ययः वर्णव्यत्ययः लिङ्गव्यत्ययः पुरुषव्यत्ययः कालव्यत्ययः आत्मनेपदव्यत्ययः परस्मैपदव्यत्ययः इति।'' (अष्टा.३.१.८५)

इससे स्पष्ट है कि व्याकरण के नियम अपरिवर्तनीय एवं असंदिग्ध नहीं हैं। इस कारण निर्वचनकर्त्ता विद्वान् को चाहिए कि किसी पद के अर्थ के अनुसार विभक्ति आदि के व्यत्यय की कल्पना करके निर्वचन करे। इस प्रकरण से उन अध्येताओं, जो पाणिनीय व्याकरण के आधार पर ही प्रत्येक वैदिक पद का अर्थ करने का व्यर्थ हठ करते हैं, को शिक्षा लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त स्वयं महर्षि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी का सूत्र 'बहुलं छन्दसि', जो अनेकत्र आवृत्त हुआ है, भी ऐसा ही सन्देश देता है।

अब हम इसके आधिदैविक तथ्य पर विचार करते हैं—

इस सृष्टि की उत्पत्ति तथा इसके सम्पूर्ण काल में अनेक प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। उन पदार्थों (कण, तरंगाणु आदि) की अवयव एवं वाचकरूप सूक्ष्म पद रश्मियाँ व्याकरण शास्त्र के नियमानुसार ही व्युत्पन्न नहीं होती, अपितु अन्य अनेक परिवर्तित विकल्पों के द्वारा भी व्युत्पन्न हो सकती हैं। उपर्युक्तानुसार दर्शाये गये व्यत्यय इस सृष्टि प्रक्रिया में भी देखे जाते हैं। ऋषियों का यह महान् विज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म व गम्भीर है, जो वर्तमान वैज्ञानिकों को आश्चर्यचकित करने वाला है। कैसे एक सूक्ष्म रश्मि दूसरी सूक्ष्म रश्मि की भाँति व्यवहार करने लगती है, यह जगन्नियन्ता की अद्भुत लीला है।

प्रश्न— एक सूक्ष्म रश्मि का अन्य सूक्ष्म रश्मि की भाँति व्यवहार करना क्या किन्हीं नियमों के अन्तर्गत होता है अथवा पूर्ण स्वच्छन्द व अनियमित रूप में होता है?

उत्तर— सृष्टि की सभी क्रियाएँ ईश्वर की दृष्टि में पूर्ण नियन्त्रित, व्यवस्थित एवं निश्चित नियमों के अनुकूल ही होती हैं, वे भले ही अल्पज्ञ मनुष्य को अनियमित व अनिश्चित प्रतीत होवें। इसी प्रकार एक सूक्ष्म रश्मि वा धातु-प्रत्यय के उपर्युक्त खेल व व्यत्यय आदि विधियों के भी कुछ नियम अवश्य होते हैं, भले ही उन सबको हम नहीं जान पायें।

इन खण्डों में विभिन्न पदों की व्याकरण के अनुसार व्युत्पत्ति की चर्चा की गई है। हम उस प्रक्रिया को स्वयं समझाने के प्रयत्न में समय व्यतीत न करके आचार्य विश्वेश्वर के भाष्य में से ही उद्धृत करेंगे एवं पदों की वैज्ञानिकता को अपने अनुसार दर्शाने का प्रयत्न करेंगे।

प्रत्तम्, अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्येते।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''प्रत्तम्, अवत्तम् आदि प्रयोगों में धातु के आदि भाग ही शेष रह जाते हैं।''

यहाँ इन पदों की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए वे लिखते हैं—

''प्र उपसर्गपूर्वक दा-धातु से 'प्रत्तम्' पद सिद्ध होता है। प्र+दा से क्त प्रत्यय होने पर 'अच उपसर्गात्तः' (अष्टा.७.४.४७) सूत्र से 'दा' के 'आ' के स्थान पर 'त्' होकर प्र+द्+त्+त इस स्थिति में 'झरो झरि सवर्णे' (अष्टा.८.४.६४) सूत्र से उस 'त्' का लोप होकर प्र+द्+त के शेष रहने पर 'खरि च' (अष्टा.८.४.५४) सूत्र से 'द्' को 'त्' होकर 'प्रत्तम्' पद बनता है। इससे दा-धातु का आदि भाग 'द्' और वह भी 'त्' के रूप में शेष रहता है। 'प्रत्तम्' का अर्थ 'दत्तम्' होता है।

दूसरा 'अवत्तम्' पद अव उपसर्गपूर्वक 'दो अवखण्डने' धातु से बना है। इसमें 'दो' धातु के ओकार के स्थान पर 'आदेच उपदेशेऽशिति' (अष्टा.६.१.४४) सूत्र से आकार हो जाता है। शेष सिद्धि पूर्ववत् है। 'अवत्तम्' का अर्थ 'खण्डितम्' होता है।''

'प्रत्तम्' पदरूप रश्मि का वाचक यह शब्द यह संकेत करता है कि कोई पदार्थ

किसी अन्य पदार्थ द्वारा दिया हुआ अथवा छोड़ा हुआ ही प्रत्तम् विशेषण वाला होता है। कौनसा पदार्थ किस पदार्थ के द्वारा किसको दिया गया है, इसका ज्ञान किसी वेदमन्त्र में इस पद को देखे जाने से ही हो सकता है। इधर 'अवत्तम्' पद रूपी विशेषण से युक्त कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के खण्डित होने से उत्पन्न होता है। इन दोनों पदार्थों का ज्ञान भी वेदमन्त्र में आये हुए इन पदों को देखकर ही हो सकता है। इन दोनों ही प्रकार के विशेषणों से युक्त पदार्थों में क्रमशः 'प्रत्तम्' एवं 'अवत्तम्' पदरूप सूक्ष्म रश्मियाँ निरन्तर स्पन्दित होती रहती हैं। इन सूक्ष्म रश्मियों के अन्दर विद्यमान विभिन्न अक्षर अपना प्रभाव उसी प्रकार दर्शाते हैं, जैसा कि हमने 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ में दर्शाया है। तदनुसार प्रत्तम् पदरूप रश्मि 'प्रदाक्त' पद से उत्पन्न होती है, जो कुछ परिवर्तन के पश्चात् प्रत्तम् में परिवर्तित हो जाती है।

प्रदाक्त पद यह दर्शाता है कि यह पदार्थ प्रकृष्ट रूप से गमन करता हुआ अपने किनारों अर्थात् परिधि को बाँधता हुआ किसी अन्य पदार्थ से पृथक् हो रहा होता है, जबकि प्रत्तम् पद यह दर्शाता है कि यह पदार्थ प्रकृष्ट रूप से अपने किनारों अर्थात् परिधि को मापने वाला अर्थात् निश्चित और दृढ़ परिधि वाला होता है। इन दोनों पदों पर विचार करें, तो स्पष्ट होगा कि जब कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से पृथक् हो रहा होता है, उस समय वह निश्चित रूप से घूर्णन करता हुआ ही किसी दिशा विशेष में गतिशील होता है और कुछ काल पश्चात् वह या तो रुक जाता है अथवा उसकी गति मन्द हो जाती है। यही बात 'प्रदाक्त' पद के प्रत्तम् पद में परिवर्तित होने से प्रकट होती है।

'प्रदाक्त' के 'दा' को 'द्' और 'आ' को 'त्' आदेश होने से यह संकेत मिलता है कि 'आ' के कारण जो गति उस पदार्थ में व्याप्त थी, वह धीरे-२ उस पदार्थ के किनारों वाले भाग में अधिक केन्द्रित होकर उस पदार्थ की परिधि को सुदृढ़ करने में सहायक होती है। इस पद की व्युत्पति प्रक्रिया में 'द्' के 'त्' होने से यह संकेत मिलता है कि गति की प्रक्रिया किनारे की ओर केन्द्रित हो रही होती है। फिर एक 'त्' के लोप से सिद्ध होता है कि तीव्र गति से घूमते हुए उस पदार्थ के किनारों की तीक्ष्णता अथवा दृढ़ता अकस्मात् अधिकतम होकर फिर कुछ कम व स्थिर हो जाती है और 'प्रत्तम्' विशेषणयुक्त पदार्थ निर्मित हो जाता है। यह व्याकरण की व्युत्पत्ति प्रक्रिया का अद्भुत विज्ञान है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। व्याकरण पढ़ने वालों को इस विज्ञान को समझने का

प्रयास करना चाहिए, तभी वे वेद एवं उसकी वैज्ञानिकता को समझ पायेंगे एवं उसकी रक्षा कर पायेंगे। इस प्रक्रिया में धातु, प्रत्यय, लोप एवं आदेश आदि के विज्ञान को उनके अक्षरों के अनुसार हमने यहाँ देखा है। इसी प्रकार से किन्हीं शब्दों में आगम की भी वैज्ञानिकता देखी जा सकती है। इस प्रकार किसी भी पद की व्युत्पत्ति अथवा निर्वचन की प्रक्रिया उस पदरूप वाचक के वाच्यरूप पदार्थ की उत्पत्ति के विज्ञान को दर्शाती है।

अथाप्यस्तेर्निर्वृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति। स्तः। सन्तीति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

"गुण वृद्धि के 'निवृत्ति-स्थानों' अर्थात् निषेध-स्थलों में अर्थात् कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर 'श्नसोरल्लोपः' (अष्टा.६.४.१११) सूत्र से अस् धातु के आदि वर्ण का लोप होता है। जैसे— स्तः सन्ति। इसी प्रकार परोक्षवृत्ति शब्दों में भी धातु के आदि भाग का लोप माना जा सकता है।"

अब हम इन क्रियावाची पदों की वैज्ञानिकता पर विचार करते हैं— यहाँ द्विवचनान्त 'स्तः' क्रियापद का अर्थ है— 'वे दो पदार्थ हैं'। यह क्रियापद 'अस्' धातु से 'तस्' प्रत्यय होकर बनता है, जिसमें से अकार का लोप हो जाता है। यह क्रियापद वेद में जहाँ भी विद्यमान है, उस मन्त्र में इससे सम्बन्धित नामवाची पदरूप पदार्थों की स्थिति को दर्शाता है। वे दोनों पदार्थ अपनी-अपनी आधारभूत रश्मियों के साथ वर्तमान होकर एक ही प्रकार के अथवा परस्पर कुछ सम्बन्ध बनाए हुए पदार्थ के रूप में वर्तमान रहते हैं। यह क्रियापद दो पदार्थों की पृथक्-२ सत्ता को दर्शाता है। इसी क्रिया के समकक्ष एक 'भवतः' क्रियापद भी है, जो 'भू' धातु एवं 'तस्' प्रत्यय एवं 'शप्' के मेल से व्युत्पन्न होता है। यह क्रियापद किन्हीं दो पदार्थों के उत्पन्न वा प्रकट होने का भी संकेत देता है। इस क्रिया में उन पदार्थों की उत्पत्ति के समय प्रकट होने वाले सूक्ष्म प्रकाश का भी संकेत है। ऐसा संकेत 'स्तः' क्रियापद में नहीं है और न यह क्रियापद पदार्थों की उत्पत्ति का ही बोध कराता है। 'स्तः' और 'भवतः' इन दोनों समानार्थक सी दिखने वाली क्रियाओं में यह सूक्ष्म भेद है।

अब हम 'सन्ति' इस बहुवचनान्त क्रियापद की वैज्ञानिकता पर विचार करते हैं—

यह क्रियापद यह दर्शाता है कि अनेक पदार्थ अपनी-२ आधारभूत रश्मियों के द्वारा व्याप्त होते हुए अपने किनारों के निकट एक ऐसा निषिद्ध क्षेत्र लिए हुए होते हैं, जो उन सबकी पृथक्-२ सत्ता को बनाए रखने में सहायक होता है। इसके साथ ही वे सभी पदार्थ एक सूक्ष्म एवं व्यापक पदार्थ की सत्ता के द्वारा अपना सह-अस्तित्व बनाए रखने में सक्षम होते हैं। उधर इसी के लगभग समान 'भवन्ति' क्रियापद भी है, जिसका 'सन्ति' से भेद उसी प्रकार समझा जा सकता है, जिस प्रकार 'स्तः' और 'भवतः' क्रियापदों का भेद हम दर्शा चुके हैं। यहाँ हमने नामवाची एवं क्रियावाची दोनों प्रकार के पदों की व्युत्पत्ति प्रक्रिया के विज्ञान को उदाहरण रूप में दर्शाया है और क्रियावाची पदों की अपेक्षा नामवाची पदों के विज्ञान को कुछ विस्तार से समझाया है। पाठक इसी प्रकार अपनी ऊहा से अन्यत्र भी व्याकरण के इस विज्ञान को स्वयं समझने का प्रयास करें।

अथाप्यन्तलोपो भवति। गत्वा। गतमिति। अथाप्युपधालोपो भवति। जग्मतुः। जग्मुरिति। अथाप्युपधाविकारो भवति। राजा। दण्डीति।

यहाँ हम इन सब पदों की कोई वैज्ञानिक विवेचना नहीं करेंगे, इस कारण भाष्य भी हम आचार्य विश्वेश्वर का ही उद्धृत कर रहे हैं—

''और कहीं कित् ङित् प्रत्यय परे रहते 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासि-कलोपो झलि क्ङिति' (अष्टा.६.४.३७) सूत्र से अन्त का लोप होता है। जैसे— गत्वा, गतम्।

इसी प्रकार परोक्षवृत्ति शब्दों में व्याकरण सूत्र के लगाये बिना भी धातु के अन्त का लोप माना जा सकता है। और कहीं कित् ङित् प्रत्यय परे रहते गम् धातु के ही 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (अष्टा.६.४.९८) सूत्र से 'उपधा' का लोप होता है। जैसे— 'जग्मतुः' 'जग्मुः'। 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' अष्टा.१.१.६४ अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ण को 'उपधा' कहते हैं। कहीं उपधा में विकार भी होता है, जैसे— राजा, दण्डी।''

इस पर टिप्पणी करते हुए आचार्य विश्वेश्वर लिखते हैं—

''राजन्' तथा 'दण्डिन्' शब्दों से 'सु' विभक्ति के आने पर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (अष्टा.६.४.८) सूत्र से 'आ' और 'ई' को क्रमशः दीर्घ तथा 'नलोपः

प्रातिपदिकान्तस्य (अष्टा.८.२.७) से न् का लोप होकर यह बनते हैं।''

यहाँ 'राजन्' शब्द भी 'राजृ दीप्तौ' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होकर बनता है। इस प्रकार राजा पद की व्युत्पत्ति राज्+कन्+सु से होती है। इससे यह संकेत मिलता है कि राजा उस पदार्थ का नाम है, जो व्यापक रूप से अपने अन्दर पदार्थों को रमण कराता हुआ नाना प्रकार के महद् बलों से बँधा हुआ तथा अन्य पदार्थों को बलों के द्वारा बाँधता हुआ अपने से छोटे पदार्थों को उत्पन्न करने वाला होकर सब ओर से प्रकाशमान होता है। इससे हम स्पष्ट जान सकते हैं कि सूर्यलोक भी राजा कहा जा सकता है। इसलिए ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य १.२४.७ में राजा पद का अर्थ सूर्यलोक भी किया है। सूर्यलोक स्वयं प्रकाशमान होकर अन्य लोकों को प्रकाशित करता है। उसके अन्दर विभिन्न प्रकार के परमाणु निरन्तर गतिशील रहते तथा नाना प्रकार के बलों से बँधे रहते हैं। यह लोक अत्यन्त बलवान् होकर अपने बल से सभी लोकों को बाँधे रखता है, साथ ही उनकी रक्षा भी करता है, इस कारण सूर्यलोक राजा भी कहलाता है। हम 'वेदविज्ञान-आलोकः' में यह दर्शा चुके हैं कि सूर्यलोक विभिन्न प्रकार की छन्द व प्राण रश्मियों का भण्डार होता है, उनमें त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ विशेष होती हैं। उधर अनेक तत्त्वदर्शी ऋषियों ने 'राजन्यः' पद के विषय में कहा है— तस्माद् राजन्यस्य पञ्चदश स्तोमस्त्रिष्टुप् छन्द इन्द्रो देवता ग्रीष्म ऋतुः (तां.ब्रा.६.१.८), त्रिष्टुप् छन्दा वै राजन्यः (तै.ब्रा.१.१.९.६), आनुष्टुभो राजन्यः (तै.ब्रा.१.८.८.२; तां.ब्रा. १८.८.१४)।

इन प्रमाणों से भी राजा पद का अर्थ सूर्यलोक सिद्ध होता है। इधर आधिभौतिक पक्ष में राजा उस व्यक्ति को कहते हैं, जो अपने गुणों से प्रकाशमान होता हुआ सम्पूर्ण प्रजा को ज्ञानादि सद्गुणों से प्रकाशित करता है। जो धर्मानुसार दण्ड के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र में सतत जाग्रत होकर विचरण करता रहता है। जो अपने राजनियमों से स्वयं बँधा हुआ होकर सम्पूर्ण प्रजा को उन नियमों में चलाता हुआ उनका सम्पूर्ण संरक्षण करता है। इसलिए वह राजा कहलाता है। राजा प्रजा के सुख का मूल कारण है।

आध्यात्मिक अर्थ में राजा ईश्वर का नाम है। वह ईश्वर अपने सर्वज्ञता, स्वयं सर्वपालन आदि गुणों से प्रकाशित होकर जीवमात्र को प्रकाशित और संरक्षित करता है। वह अपने व्रतों में बँधा हुआ सम्पूर्ण जीवमात्र को कर्मफल-व्यवस्था के कठोर नियमों में

बाँधे रखता है। वह सर्वशक्तिमान् होकर जीवमात्र को एवं सम्पूर्ण सृष्टि को बल प्रदान करता है। इसलिए वह ईश्वर भी राजा कहलाता है। वह ईश्वर ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति का मूल निमित्त कारण है।

अब हम दण्डी पद पर विचार करते हैं— पूर्व उद्धृत 'दण्डिन्' शब्द दण्ड्+अच्+ इनि से मिलकर बनता है। यह इस बात का संकेत है कि दण्डी उस पदार्थ का नाम है, जो निरोधक एवं व्यापक गति आदि क्रियाओं से युक्त विभिन्न पदार्थों के निकट सदैव वर्तमान रहता है। इसके आधिदैविक पक्ष पर विचार करें तो सूर्यलोक भी दण्डी सिद्ध होता है, क्योंकि वह अपने आकर्षण बल रूपी रश्मियों से विभिन्न लोकों की गतियों को नियन्त्रित करता हुआ उनके साथ सदैव निकटता से वर्तमान रहता है। वह अपनी गैलेक्सी के चारों ओर चक्कर लगाता हुआ भी सभी ग्रह और उपग्रह आदि लोकों को अपने साथ लेकर चलता है।

इधर आधिभौतिक अर्थ में किसी राष्ट्र का राजा भी दण्डी कहलाता है, क्योंकि वह अन्याय निरोधक दण्ड को लेकर अपनी प्रजा में निरन्तर विचरण करता हुआ अपनी राजव्यवस्था के माध्यम से सदैव उसके निकट वर्तमान रहता है।

आध्यात्मिक पक्ष में ईश्वर भी दण्डी कहलाता है। ईश्वर इस सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया में नाना प्रकार की देव रश्मियों के माध्यम से असुर रश्मियों को नियन्त्रित करता हुआ और असुर रश्मियों के माध्यम से पदार्थों के अनिष्ट एवं अति संघनन को रोकता हुआ उनके अन्दर और बाहर व्याप्त रहता है। वह ईश्वर अपने कठोर दण्डविधान के द्वारा तथा मनुष्यों की अन्तरात्मा की आवाज बनकर उन्हें पाप कर्म से रोकने के लिए निरन्तर उनके मध्य विचरण करता अथवा वर्तमान रहता है। इसलिए ईश्वर को भी दण्डी कहते हैं।

अथापि वर्णलोपो भवति। तत्त्वा यामि। इति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

"और कहीं एक वर्ण का लोप होता है। जैसे 'तत्त्वा यामि।"

यहाँ अपनी टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—

''दुर्गाचार्य आदि सभी व्याख्याकारों ने 'तत्त्वा यामि' इस उदाहरण को 'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः॥' (ऋ.१.२४.११) इस मन्त्र से लिया हुआ माना है और 'यामि' का अर्थ 'याचामि' माना है। याच् धातु के च-कार का लोप होकर 'याचामि' के अर्थ में 'यामि' प्रयोग बनता है। इसलिए यह वर्णलोप का उदाहरण है। यह उनका आशय है।

परन्तु स्कन्दस्वामी ने इस व्याख्या को अशुद्ध 'अपव्याख्यान' बतलाया है। उनका कहना है कि यह उदाहरण 'याच्' धातु के च-कार के लोप को दिखलाने के लिए नहीं दिया गया है। क्योंकि यदि 'याच्' धातु से इसका सम्बन्ध जोड़ा जायेगा, तो यह एक वर्ण के लोप के स्थान पर द्विवर्णलोप का उदाहरण बनेगा। क्योंकि 'याचामि' में 'च्' तथा उसके साथ के 'आ' इन दो वर्णों का लोप होकर यामि पद बनेगा। अतः यह द्विवर्णलोप का उदाहरण होगा, वर्णलोप का नहीं और 'यामि' पद स्वयं ही निघण्टु में 'याचामि' के अर्थ में पढ़ा हुआ है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि यहाँ तो सारे उदाहरण लौकिक प्रयोगों के दिये जा रहे हैं, इसलिए बीच में इस एक वैदिक उदाहरण के आने का कोई अवसर नहीं है। अतः यह उदाहरण पूर्वोक्त मन्त्र से नहीं लिया गया है, अपितु वह लौकिक भाषा का ही उदाहरण है।

उनके मत में इस वाक्य में 'यामि' यह अंश उदाहरणरूप में अभिप्रेत नहीं है, अपितु 'तत्त्वा' यह अंश उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया गया है। 'तत्त्वा यामि' का अर्थ 'तनित्वम् यामि' वस्त्र आदि का विस्तार करके जाता हूँ, यह है। 'तनु विस्तारे' धातु से क्त्वा प्रत्यय करने पर 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (अष्टा.६.४.३७) सूत्र से 'न' का लोप और 'उदितो वा' (अष्टा.७.२.५६) सूत्र से 'इट्' का वैकल्पिक निषेध हो जाने से 'तत्त्वा' पद बनता है। इनमें से 'न' का लोप तो 'अन्तलोपो भवति' का उदाहरण होगा और 'इट्' लोप या इट् का अभाव इस वर्ण-लोप के उदाहरण में आवेगा। यह स्कन्दस्वामी का अभिप्राय है।''

स्कन्दस्वामी के तर्क से हम भी सहमत हैं, क्योंकि ऋषि दयानन्द ने भी इस मन्त्र के भाष्य में 'यामि' पद का अर्थ 'प्राप्नोमि' किया है, न कि 'याचामि' किया है।

अथापि द्विवर्णलोपः। तृच इति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य भगीरथ शास्त्री ने अपनी हिन्दी टीका में लिखा है—

''और कहीं-कहीं दो वर्णों का एक साथ लोप हो जाता है। जैसे 'तृचः'। 'तृचः' में 'तिस्र ऋचः' ऐसा विग्रह है। 'त्रि ऋच्' ऐसी स्थिति में 'ऋचि त्रेः सम्प्रसारणमुत्तर-पदादिलोपश्च छन्दसि' इस वार्त्तिक से 'त्रि' को तो सम्प्रसारण होकर 'तृ' हो गया। अगले 'ऋचः' के 'ऋ' का लोप हो गया। 'ऋ' में रेफ भी समाविष्ट है, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि 'ऋवर्णैकदेशो रेफो हल्त्वेन गृह्यते' ऋ का एकदेश जो रेफ है, वह भी हल् माना जाता है। उससे परे जो अच् भाग है, वह दूसरा वर्ण माना जाता है। इस तरह यहाँ दो वर्णों का लोप हुआ है।''

अथाप्यादिविपर्ययो भवति। ज्योतिः। घनः। बिन्दुः। वाट्य इति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''और कहीं वर्ण का परिर्वतन (विपर्यय) होता है। जैसे— ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्यः।''

यहाँ अपनी टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—

''आदि वर्ण में होने वाले परिवर्तन को दिखलाने के लिए ये चार उदाहरण दिये हैं। इनमें से 'ज्योति' शब्द 'द्युत दीप्तौ' धातु से 'द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः' (उ.को.२.११२) सूत्र से इसन्-प्रत्यय तथा आदि द्-के स्थान में ज् आदेश होकर बनता है। अतः यह आदि-विपर्यय का उदाहरण है। 'घनः' शब्द 'हन हिंसागत्योः' धातु से बना है। इसमें 'मूर्त्तौ घनः' (अष्टा.३.३.७७) सूत्र से अप् प्रत्यय तथा 'ह' को 'घ' होकर घनः शब्द निपातित होता है। अतः यह भी आदि-विपर्यय का उदाहरण है। 'बिन्दु' शब्द व्याकरण में 'बिदि अवयवे' धातु से 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च' (उ.को.१.१०) सूत्र के अन्त में आये हुए च-शब्द से 'बिदि' आदि अन्य धातुओं का भी संग्रह मानकर उ-प्रत्यय करके उणादिगण में बनाया गया है। परन्तु नैरुक्त लोग उसे 'भिदिर् विदारणे' धातु से बनाते हैं। निरुक्त के टीकाकारों ने 'भिदिर्' धातु से ही बिन्दु शब्द की सिद्धि मानी

है। बिदि धातु से मानें या भिदिर्-धातु से, दोनों ही अवस्थाओं में आदि के 'व' या 'भ' के स्थान पर 'ब' करना होता है। इसलिए यह आदि-विपर्यय का उदाहरण बन जाता है। 'वाट्यः' पद 'भट भृतौ' धातु से ण्यत्-प्रत्यय होकर और आदि भकार के स्थान पर वकार होकर बनता है। अतः वह भी आदि-विपर्यय का उदाहरण है।''

अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति। स्तोकाः। रज्जुः। सिकताः। तर्क्विति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''और कहीं आदि और अन्त के वर्णों का उलट-पलट विपर्यय होता है। जैसे—स्तोकाः, रज्जुः, सिकताः, तर्कुः।''

यहाँ अपनी टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—

''स्तोका' पद 'श्च्युतिर् क्षरणे' धातु के 'य' का लोप होकर 'स्कोता' इस रूप में बनता है। परन्तु उसमें 'क' और 'त' के क्रम को उलट देने से 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' (अष्टा.२.१.३९) सूत्र के अनुसार निपातित होकर 'स्तोक' बनता है। 'रज्जु' शब्द 'सृज विसर्गे' धातु से 'सर्जु' का 'रसजु' और फिर 'रज्जु' इस रूप में आद्यन्त-विपर्यय से बनता है। 'सिकता' शब्द 'कस विकसने' धातु से 'कसिता' और फिर 'क' तथा 'स' के क्रम का आद्यन्त-विपर्यय होकर 'सिकता' इस रूप में बनता है। इसी प्रकार 'कृती छेदने' धातु से 'कर्तु' और फिर आद्यन्त-विपर्यय द्वारा 'तर्कु' (चरखे का तकुआ) बनता है।''

अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति॥ १॥

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''और कहीं अन्त का परिवर्तन (व्यापत्ति) होता है।''

* * * * *

= द्वितीयः खण्डः =

ओघः। मेघः। नाधः। गाधः। वधूः। मध्विति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''जैसे— ओघः, मेघः में ह को घ, नाधः, गाधः में अन्तिम ह को ध, वधूः, मधुः में ह को ध।''

यहाँ अपनी टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—

''ओघ शब्द 'वह प्रापणे' धातु से, 'मेघ' शब्द 'मिह सेचने' धातु से बनते हैं। इन दोनों में अन्तिम 'ह' के स्थान पर 'घ' होता है। नाधः, गाधः ये दोनों शब्द क्रमशः 'णह बन्धने', 'गाहू विलोडने' धातुओं से बनते हैं। इन दोनों में अन्तिम 'ह' को 'ध' हो जाता है और वधूः, मधुः शब्द क्रमशः 'वह प्रापणे' तथा 'मद तृप्तौ' धातुओं से बनते हैं। इनमें से पहिली जगह अन्तिम 'ह' को 'ध' तथा दूसरी जगह अन्तिम 'द' को 'ध' होता है। अतः ये छहों 'अन्तव्यापत्ति' के उदाहरण हैं।''

अथापि वर्णोपजनः। आस्थत्। द्वारः। भरूजेति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''और कहीं वर्ण का आगम (उपजन) होता है। जैसे— आस्थत् अस् धातु से लुङ् लकार में 'अस्यतेस्थुक्' (अष्टा.७.४.१७) सूत्र से 'थुक्' का आगम, द्वार पद में वारयतीति द्वारः वार के वकार से पूर्व द का आगम और भरूजा 'भ्रस्ज पाके' धातु में भ के बाद अ और 'र' के बाद 'ऊ' का आगम होता है।''

यहाँ अपनी टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—

''आस्थत्' पद 'असु क्षेपणे' धातु से 'थुक्' का आगम होकर, 'द्वार' पद 'वृङ् संभक्तौ' धातु से 'द' का आगम होकर और 'भरूजा' पद 'भ्रस्ज पाके' धातु से 'रू' का आगम होकर बनते हैं। इसलिए ये तीनों पद 'वर्णोपजनः' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।'

ग्रन्थकार ने इसी अध्याय के प्रारम्भ में निर्वचन करने के लिए जो छः मौलिक सिद्धान्त दिये हैं, उनमें से 'न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' को विशेष प्रधान माना जा सकता है। इसी सिद्धान्त की व्याख्या में इन ग्यारह नियमों को दर्शाया गया है, जिनमें व्याकरण में आने वाले लोप, आगम, वर्णविकार एवं आद्यन्त-विपर्यय आदि कार्यों को दर्शाया गया है। इस प्रकार के परिवर्तन न केवल वैदिक पदों में हो सकते हैं, अपितु लौकिक पदों में भी ऐसा देखा जाता है। वस्तुतः वेद अथवा लोक व्याकरण का अनुकरण नहीं करते, बल्कि व्याकरणशास्त्र वेद और लोक का अनुकरण करता है। इसकी चर्चा स्वयं महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' १.२.५३ से लेकर 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' १.२.५७ तक अशिष्य प्रकरण में की है। वहाँ सभी उदाहरण लौकिक ही दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि सर्वत्र व्याकरण के नियमों की ही हठ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण शब्दराशि को व्याकरण के नियमों में कभी नहीं बाँधा जा सका है और वेद में तो ऐसा होना अति दुष्कर ही है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस विषय में अपने भाष्य में लिखा है—

"इस प्रकरण से अत्यन्त स्पष्ट हो गया कि निर्वचन में पढ़ने वालों को समझाने के लिए ही व्याकरण का आश्रय लिया जाता है। 'ओघः' एक स्वतन्त्र पद है। किसी युग में उसके लिए ओघ धातु कल्पित किया गया होगा। पुनः व्याकरण के संकुचित होते जाने पर यह काम 'वह्' धातु से चलाया जाने लगा। यास्क ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से दोनों शास्त्रों का सामंजस्य बताने के लिये निर्वचन के, अपने काल में होने वाले उपयोगी नियमों का प्रशस्त वर्गीकरण कर दिया। दुर्ग ने ठीक कहा है— 'एवं व्याकरणेऽपि लक्षणप्रधाने सत्यर्थवशेन लोपागमौ विपरिणामश्च शब्दानां दृष्टः, किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव।"

इस विषय में आचार्य भगीरथ शास्त्री ने अपनी हिन्दी टीका में लिखा है—

"जब व्याकरण जैसे शब्दप्रधान शास्त्र में भी कहीं पर स्वर का आदि-लोप, कहीं अन्त-लोप, कहीं दो वर्णों का लोप आदि शब्दों का विपरिणाम देखा गया है, तब निरुक्त जैसे अर्थप्रधान शास्त्र में क्यों न कर लिया जाए? इसीलिए किसी प्राचीन आचार्य ने निरुक्त को इस प्रकार पञ्चविध माना है—

वर्णागमो वर्ण-विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण-विकार-नाशौ।

धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्च-विधं निरुक्तम्॥

अर्थात् निरुक्त पाँच प्रकार का है— वर्ण का आगम, वर्ण का आद्यन्त-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्णनाश और धातु का उससे भिन्न अर्थ के साथ योग।''

सारांश यही है कि वैदिक पदों का निर्वचन करते समय व्याकरण के नियमों में बँधे रहने का हठ करना उचित नहीं है।

तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायाम् अनुपपद्यमानायाम्। इतरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद् यथैतत्। ऊतिः। मृदुः। पृथुः। पृषतः। कुणारुम् इति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''और जहाँ स्वर से अव्यवहित अन्तस्थ वर्ण 'यणोऽन्तस्थाः' अर्थात् य र ल व ये चार वर्ण 'अन्तस्थ' वर्ण कहलाते हैं। जिस धातु के मध्य में आते हों, उसको द्विप्रकृति दो प्रकार के स्वभाव वाले अर्थात् उनमें कहीं सम्प्रसारण होता है, कहीं सम्प्रसारण नहीं होता, इसलिए दो प्रकार के स्वभाव वाले स्थान कहते हैं। उनमें एक प्रकार से अर्थात् सम्प्रसारण मानने या न मानने से सिद्धि न होने पर दूसरे प्रकार से सिद्धि करने का यत्न करे। उन द्विप्रकृतिक धातुओं में से भी कुछ धातु सम्प्रसारण-युक्त रूप में कम प्रयुक्त होने वाले हैं। जैसे— ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः और कुणारुम्।''

यहाँ अपनी टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—

''इसका अभिप्राय यह है कि जिन धातुओं के बीच में स्वर के आगे या पीछे अव्यवहित रूप में अन्तस्थ-अर्थात् य र ल व इन वर्णों में से किसी का प्रयोग होता है, उनके दो प्रकार के रूप हो सकते हैं। एक तो वह, जिसमें धातु अपने स्वरूप में ही बना रहता है। यज धातु से जैसे 'यज्ञः', 'यष्टा', 'यष्टुं' इत्यादि रूप बिना सम्प्रसारण के बनते हैं और दूसरी जगह 'य' को सम्प्रसारण होकर 'इ' हो जाता है। जैसे 'इष्टि', 'इज्या' आदि। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (अष्टा.१.१.४४) सूत्र के अनुसार 'यण्' अर्थात् य र ल व

के स्थान पर होने वाले 'इक्' अर्थात् इ, उ और ऋ को सम्प्रसारण कहते हैं। इसलिए जिन धातुओं में सम्प्रसारण होता है, वे दो प्रकार के स्वभाव वाले बन जाते हैं। उनमें एक प्रकार से सिद्धि न बने, तो दूसरे प्रकार से सिद्धि करने का यत्न करे। इनमें से कुछ धातुओं का सम्प्रसारणयुक्त प्रयोग कम पाया जाता है। उसके दिखाने वाले पाँच उदाहरण यहाँ दिये गये हैं।

इनमें से 'ऊतिः' शब्द 'अव रक्षणे' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (अष्टा.३.३.९४) सूत्र से 'क्तिन् प्रत्यय' करके व्याकरण में 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (अष्टा.६.४.२०) सूत्र से उपधासहित 'वकार' अर्थात् 'अव' दोनों के स्थान पर 'ऊठ' आदेश करके सिद्ध किया जाता है। यास्क ने उसको सम्प्रसारण और पररूप दीर्घादेश करके सिद्ध किया है। ऐसा कुछ लोगों का कहना है। परन्तु यास्क यहाँ सम्प्रसारण ही मानते हों, यह आवश्यक नहीं है। वे तो इसे द्विप्रकृतिक धातु का उदाहरण दिखला रहे हैं। उसमें 'व' का रूपान्तर हो जाना ही द्विप्रकृतिकत्व का सूचक है। वह रूपान्तर चाहे 'सम्प्रसारण' द्वारा हो अथवा 'ऊठ' द्वारा, इससे उसके द्विप्रकृतिकत्व में अन्तर नहीं आता है।

'मृदु' और 'पृथु' शब्द 'म्रद मर्दने' और 'प्रथ प्रख्याने' धातुओं से 'प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च' (उ.को.१.२८) सूत्र से कु-प्रत्यय तथा सम्प्रसारण द्वारा 'र्' के स्थान पर 'ऋ' करके बनते हैं। 'पृषतः' पद 'पृषु सेचने' धातु से 'पृषिरञ्जिभ्यां कित्' (उ.को.३.१११) सूत्र से 'अतच्' प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है। उसके अर्थ बिन्दु और मृग दो होते हैं। पर यहाँ यास्क ने 'प्रुषु' धातु से उसकी सिद्धि मानकर उसे द्विप्रकृतिक धातुओं के उदाहरणरूप में दिखलाया है। धातुपाठ में 'प्रुषु' और 'पृषु' दोनों धातु पाये जाते हैं।

'कुणारु' मेघ का नाम है। 'क्वण शब्दे' धातु से 'पीयुक्वणिभ्यां कालन् ह्रस्वं सम्प्रसारणञ्च' (उ.को.३.७६) सूत्र से बाहुलक-विधि के अनुसार 'कालन्' के स्थान पर कारु-प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है।''

अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः। क्षेत्रसाधा इति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''और भाषिक अर्थात् लोक में प्रयुक्त होने वाले धातुओं से वैदिक कृत् प्रत्यय होते हैं। जैसे— 'दम उपशमे' इस लौकिक धातु से 'दमेरुनसिः' (उ.को.४.२३६) सूत्र से वैदिक ऊनसि प्रत्यय होकर बनता है— दमूनाः और क्षेत्रसाधाः।''

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी टिप्पणी में लिखा है—

''इनमें से 'दमूनाः' यह वैदिक प्रयोग 'दम उपशमे' इस लोक में मुख्य रूप से प्रयुक्त होने वाले धातु से 'दमेरुनसिः' (उ.को.४.२३६) सूत्र से 'ऊनसि' वैदिक प्रत्यय होकर सिद्ध होता है और क्षेत्रसाधा शब्द 'साधि' धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ.को.४.१९०) सूत्र से असुन् प्रत्यय होकर बनता है। इनमें 'दम' तथा 'साध' धातुओं को लौकिक धातु तथा उनसे होने वाले 'ऊनस्' तथा 'असुन्' प्रत्ययों को वैदिक प्रत्यय कहा है।''

अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः। उष्णम्। घृतम् इति।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''और वैदिक धातुओं से लौकिक प्रत्यय भी कहे जाते हैं। जैसे— उष्णम् और घृतम् पदों में।''

यहाँ अपनी टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—

''इसी प्रकार अगली पंक्ति में 'उष दाहे' और 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातुओं को वैदिक धातु और उनसे होने वाले 'नक्' तथा 'क्त' प्रत्यय को लौकिक प्रत्यय कहकर 'उष्णम्' तथा 'घृतम्' उदाहरण दिये हैं। 'जुहोत्यादिगण' के अन्त में 'अथ आगणान्ताः परस्मैपदिनश्छान्दसाश्च' लिखकर ११ छान्दस धातु गिनाये हैं। आपिशलि-व्याकरण में 'उष्' और 'घृ' धातुओं को छान्दस धातु माना है और उनसे बने 'उष्णम्' तथा 'घृतम्' पदों से होने वाले 'नक्' तथा 'क्त' प्रत्यय लौकिक प्रत्यय कहे हैं।''

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते। विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यन्ते। कम्बोजाः कम्बलभोजाः।

कमनीयभोजा वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते। शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु। एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

"और किन्हीं देशों में 'नामानि आख्यातजानि' इस सिद्धान्त के अनुसार आख्यात नाम की प्रकृति हैं और नाम आख्यात की विकृति हैं, इसलिए यहाँ प्रकृति शब्द से आख्यात अर्थात् तिङन्तरूप और विकृति शब्द से नाम अर्थात् सुबन्तरूप का ग्रहण होता है। केवल तिङन्तरूप प्रकृति या आख्यात ही बोले जाते हैं और किन्हीं देशों में सुबन्त विकृति, नाम रूप भी यही बोले जाते हैं।

गति के अर्थ में 'शव-धातु' का तिङन्त 'शवति' रूप केवल 'कम्बोज' देश में ही बोला जाता है।

कम्बोज देश विशेष रूप से कम्बलों का भोग करने वाले होने से कम्बल भोज पदों में से 'ल', तथा 'भ' दो वर्णों का लोप होकर 'कम्बोज' पद बना है। यह इस निर्वचन का अभिप्राय है अथवा कमनीय पदार्थों का भोग करने वाले होने से कम्+भोज में 'भ' के स्थान पर 'ब' होकर 'कम्बोज' शब्द बनता है, यह इस दूसरे निर्वचन का अभिप्राय है। 'कम्बल' कमनीय अर्थात् शीतार्त पुरुषों के द्वारा प्रार्थनीय होता है।

और इस शव-धातु के विकार अर्थात् आख्यातज नाम के सुबन्तरूप 'शव' को आर्यों (आर्य देशों) में बोला जाता है।

इसी का दूसरा उदाहरण देते हैं— 'दाति' धातु (तिङन्तरूप में) काटने के अर्थ में पूर्वीय देशों में और उसका कृदन्तरूप 'दात्रम्' उत्तरीय देशों में बोला जाता है।

इस प्रकार से एकपदों अर्थात् जहाँ प्रकृति-प्रत्यय का विभाग स्पष्ट न हो, ऐसे परोक्षवृत्ति पदों का निर्वचन करना चाहिए।"

इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने लिखा है—

"अति प्राचीन भू-विभाग के अनुसार संसार दो भागों का था। आर्यभाग और म्लेच्छभाग। उससे भी प्राचीन काल में सारा संसार आर्यमात्र था। उस समय संसार की

भाषा अति-भाषा अर्थात् वेद-पद-बहुला भाषा थी। भाषा में विकार के कारण और व्यवहार में दूषित होने से म्लेच्छभाग पृथक् होता गया। यास्क जानता था कि यद्यपि कम्बोज म्लेच्छ हो चुके हैं, पर वे भी कभी संस्कृत बोलते थे। अतः निर्वचन का एक नियम बताते हुए उसने पूर्व प्रसङ्ग उपस्थित किया है।''

अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु वानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्। दण्ड्यः पुरुषः दण्डपुरुषः। दण्डमर्हतीति वा।
दण्डेन सम्पद्यत इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः।
अक्रूरो ददते मणिम्। इत्यभिभाषन्ते।
दमनादित्यौपमन्यवः। दण्डमस्याकर्षतेति गर्हायाम्।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''अब एक जोड़ वाले और अनेक जोड़ों वाले तद्धित और समासों के निर्वचन में पहिले प्रथम अर्थात् तद्धित-प्रत्यय के अर्थ अथवा समस्त-पद में समास का निर्वचन करके बाद को दूसरे अर्थात् तद्धित के मूल शब्द का और समास के घटक पदों का निर्वचन करना चाहिये। जैसे— 'दण्ड्यः पुरुषः'।

यह 'दण्ड्यः पुरुषः' तद्धित का उदाहरण है। इसमें पहिले तद्धित प्रत्यय का निर्वचन होगा, फिर मूल 'दण्ड' पद का दण्डमर्हति अर्थात् दण्ड पाने के योग्य है, इस अर्थ में 'दण्डादिभ्यो यत्' (अष्टा.५.१.६५) सूत्र द्वारा दण्ड शब्द से यत्-प्रत्यय करके 'दण्ड्यः' पद सिद्ध होता है अथवा दण्ड से सम्पन्न-युक्त होता है, वह 'दण्ड्यः' कहलाता है।

'दण्ड' शब्द धारणार्थक 'दद' धातु से बना है। दद धातु का धारणार्थ में कहाँ प्रयोग होता है, इसके लिए कहते हैं— 'अक्रूरो ददते मणिम्' यहाँ धारणार्थ में 'दद' धातु का प्रयोग मानकर यह कहते हैं।

'उपमन्यु' के शिष्य औपमन्यवः 'दम' धातु से दमन करने के कारण दण्ड शब्द बनता है, यह कहते हैं। 'इसको दण्ड दो' यह निन्दा अर्थ में दण्ड का प्रयोग है।''

कक्ष्या रज्जुरश्वस्य। कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः। क्स इति नामकरणः। ख्यातेर्वानर्थकोऽभ्यासः। किमस्मिन्ख्यानमिति। कषतेर्वा। तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः। बाहुमूलसामान्यादश्वस्य॥ २॥

[अश्वः = असौ वा आदित्योऽअश्वः (तै.ब्रा.३.९.२३.२), सौर्यो वा अश्वः (गो.उ.३.१९), वाजिनो ह्यश्वाः (श.ब्रा.५.१.४.१५)। कक्ष्याः = अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), प्रकाशयन्ति कर्माणि (निरु.३.९)]

सूर्य अथवा सूर्य की बलशाली किरणों को उत्पन्न करने वाली रज्जु अर्थात् रश्मियाँ कक्ष्या कहलाती हैं। रज्जु पद 'सृज विसर्गे' धातु से कैसे व्युत्पन्न होता है, यह हम पूर्व खण्ड में लिख चुके हैं। ये कक्ष्यारूप रश्मियाँ सूर्य अथवा फोटोन्स की अंगुलियों के समान होती हैं। जिस प्रकार से शरीर में हाथ की अंगुलियाँ हाथ से किये जाने वाले कार्यों को सम्पन्न करने में प्रमुख भूमिका निभाती हैं और इनके बिना हाथ अथवा पैर दोनों ही अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकते, उसी प्रकार सूर्य एवं उनकी किरणों के अन्दर स्पन्दित होती हुई विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियाँ ही सूर्य एवं उनकी किरणों के सम्पूर्ण कार्यों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। जिस प्रकार अंगुलियाँ शरीर के बाहरी भाग में स्थित होकर आभ्यन्तर शक्तियों के द्वारा नाना प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करती हैं, उसी प्रकार विभिन्न तारों एवं उनसे उत्पन्न प्रकाशाणुओं के बाहरी भाग में उनकी गति की दिशा में कुछ विशेष प्रकार की रश्मियाँ उत्पन्न होकर उन तारों अथवा प्रकाशाणुओं के मार्ग को निर्धारित करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। इसके साथ ही कुछ रश्मियाँ तारों और प्रकाशाणुओं के आकर्षण आदि बल का कारण भी होती हैं, यही 'कक्ष्या' कहलाती हैं। कक्ष अथवा कक्षा में होने के कारण भी ये कक्ष्या कहलाती हैं। ये विभिन्न तारों की कक्षाओं में तथा प्रकाशाणुओं के मार्ग में अग्रगामिनी होकर गमन करती हैं, इसलिए भी कक्ष्या कहलाती हैं।

यहाँ निरुक्तकार ने 'कक्ष्या' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'कक्षं सेवते' अर्थात् जो रश्मि आदि पदार्थ कक्ष का सेवन करते हैं अर्थात् कक्ष में ही आश्रित होकर उन्हीं में बसे हुए नाना प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करते हैं और वे रश्मि आदि पदार्थ उसी कक्षरूपी क्षेत्र में रमण करते हुए नाना प्रकार से उपयोग में आते रहते हैं। पुनः आगे लिखते हैं— 'कक्षो गाहतेः क्स इति नामकरणः' अर्थात् यह पद 'गाहू विलोडने' धातु से

'क्स' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। गाहू धातु के अनेक अर्थ हैं। जैसे— विलोडन करना, आन्दोलित करना, प्रविष्ट होना, लीन होना, नष्ट करना, गोता लगाना आदि। इसका आशय यह है कि कक्ष वह विशाल रश्मि समूह है, जिसमें नाना प्रकार की रश्मियाँ सम्पूर्ण क्षेत्र को व्याप्त व आन्दोलित करती रहती हैं। ये रश्मियाँ सम्पूर्ण पदार्थ के अन्दर तक प्रविष्ट होकर सभी हानिकारक पदार्थों को नष्ट भी करती रहती हैं। इस प्रकार किसी तारे अथवा फोटोन के रूप में संघनित हुआ सम्पूर्ण रश्मि समूह कक्ष कहलाता है और इनमें से कुछ रश्मियाँ जो उपर्युक्त कक्ष्या संज्ञक गुणों वाली होती हैं, वे कक्ष में होने के कारण भी कक्ष्या कहलाती हैं।

अब ग्रन्थकार इसे 'ख्या प्रकथने' धातु से भी निष्पन्न मानते हैं, जिसमें अभ्यास को अनर्थक अर्थात् स्वार्थ में ही प्रयुक्त मानते हैं। इस प्रकार 'ख्या' धातु को द्वित्व होकर कख्य माना, पुनः कख्य ही कक्ष कहलाया। इस प्रकार निष्पन्न कक्ष पद यह संकेत करता है कि किसी तारे अथवा फोटोन से बाहर उत्सर्जित होती हुई रश्मियाँ अथवा रश्मियों का संघनित रूप विभिन्न किरणें ही उस तारे अथवा फोटोन की सत्ता और स्वरूप को प्रकट व घोषित करती हैं। यदि किसी तारे अथवा किसी कण वा फोटोन में से कोई भी रश्मि वा तरंग उत्सर्जित न होवे, तो तारे अथवा फोटोन का स्वरूप तो क्या, सत्ता भी किसी को विदित न हो सके। ऐसी रश्मियों के क्षेत्र को ही यहाँ कक्ष कहा है, जिनमें नाना कक्ष्या संज्ञक सूक्ष्म रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। आगे कक्षरूपी क्षेत्र के विषय में पुनः लिखते हैं— 'किमस्मिन् ख्यानमिति'। इससे ग्रन्थकार दर्शाना चाहते हैं कि इस क्षेत्र में दर्शनीय क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पहले तो इस क्षेत्र को सब कुछ दर्शाने वाला कहा और अब यह कह दिया कि इसमें दर्शाने व कहने योग्य कुछ भी नहीं है। वस्तुतः यहाँ कोई अन्तर्विरोध नहीं है, बल्कि एक वैज्ञानिक सत्य है कि सूर्य अथवा उससे आने वाले फोटोन के बाहरी क्षेत्र में विद्यमान विभिन्न रश्मियाँ किसी को दिखाई नहीं दे सकती और इस कारण उनके विषय में कुछ विशेष कहा व जाना नहीं जा सकता, परन्तु इन रश्मियों के कारण हम सृष्टि के विभिन्न पदार्थों को अवश्य देख सकते हैं। तारों और प्रकाशाणुओं के विषय में भी बहुत कुछ जान सकते हैं, देख सकते हैं। परन्तु ये रश्मियाँ प्रायः अज्ञेय और अदर्शनीय ही रहती हैं। यही दर्शाना ग्रन्थकार का प्रयोजन है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार 'कष' हिंसार्थक धातु से भी कक्ष शब्द को निष्पन्न मानते हैं।

ऋषि दयानन्द उणादि कोष के भाष्य में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं— 'कषति हिनस्तीति कक्षः' (उ.को.३.६२)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तारों के चारों ओर अथवा सूक्ष्म कणों व प्रकाशाणुओं के चारों ओर रश्मियों का जो क्षेत्र विद्यमान होता है, वह हिंसन आदि गुणों से युक्त होता है। जब कोई फोटोन अथवा सूक्ष्म कण किसी अन्य सूक्ष्म कण से टकराते हैं, तब उनके कक्ष संज्ञक बाहरी क्षेत्र में विद्यमान सूक्ष्म रश्मियाँ ही सम्मुख विद्यमान रश्मि समूह पर आक्रमण करती हैं, न कि कणों और फोटोन्स के अन्दर विद्यमान रश्मियाँ। इस कक्ष संज्ञक क्षेत्र में विद्यमान सूक्ष्म रश्मियाँ ही बाहर से आने वाले आघातों को नष्ट करके उन कणों और फोटोन्स की रक्षा करती हैं। उधर तारों के बाहरी कक्ष संज्ञक क्षेत्र में व्याप्त विभिन्न प्रकार के विकिरण और सूक्ष्म रश्मियाँ सुदूर अन्तरिक्ष से आने वाले हानिकारक विकिरणों वा असुरादि रश्मियों को नष्ट करके उन तारों के स्वरूप की रक्षा करती हैं। इस कारण भी ये रश्मियाँ कक्ष वा कक्ष्या कहलाती हैं।

[बाहूः = बाहू कस्मात् प्रबाधत आभ्यां कर्माणि (निरु.३.८), वीर्यं वाऽ एतद्रजन्यस्य यद् बाहू (श.ब्रा.५.४.१.१७), बाहुवोर्बलम् (तै.सं.५.५.९.२)]

अब ग्रन्थकार किसी सूर्यलोक अथवा कण या फोटोन के कक्ष की समानता मनुष्य और अश्व अर्थात् घोड़े से करते हुए कहते हैं— 'तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः बाहुमूलसामान्यादश्वस्य'। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार सूर्य अथवा कण वा फोटोन के बाहरी क्षेत्र में विद्यमान कक्ष संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ राशि नाना प्रकार के कर्मों को करने में मुख्य भूमिका निभाता है तथा नाना अनिष्ट रश्मि आदि पदार्थों को नष्ट वा दूर करती है, उसी प्रकार मनुष्य एवं घोड़े की भुजाएँ भी यही कार्य करती हैं और उन भुजाओं में मुख्य बल उनकी कक्ष अर्थात् बाहुमूल (कन्धे वा बगल) में ही स्थित होता है। मनुष्य अपने हाथों एवं घोड़ा अपने अगले पैरों से ही नाना प्रकार के कर्मों को करने तथा अपने मार्ग को निरापद बनाने में सफल हो पाता है। मनुष्य वा घोड़े की बगल भी सभी कार्यों में विलोडित होती रहती है। वही सभी कार्यों को करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के साथ-२ गुप्त वा ढकी भी रहती है। किसी अनिष्ट आक्रमण से रक्षा करने के लिए दुष्ट को चोट पहुँचाने में भी सक्षम होती है। यहाँ अश्व का अर्थ घोड़ा ग्रहण करके सूर्य एवं फोटोन रूपी पूर्वोक्त अश्व की तुलना दर्शायी गई है। यहाँ इसका दूसरा अर्थ यह भी ग्रहण कर सकते हैं कि अश्व का अर्थ सूर्य अथवा फोटोन ही समझा जाए और उसकी तुलना मनुष्य

के कन्धे वा बगल से की जाए। दोनों ही अर्थों का यहाँ ग्रहण किया जा सकता है।

यह तद्धित के निर्वचन का दूसरा उदाहरण हुआ।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरि षादः। पुरि शयः। पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
[तै.आ.१०.१२.३]

इत्यपि निगमो भवति।

तद्धित के निर्वचन के उदाहरण प्रस्तुत करने के पश्चात् अब समास के निर्वचन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— 'राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः' यह षष्ठी तत्पुरुष समास का निर्वचन है अर्थात् राजा का पुरुष राजपुरुष कहलाता है। अब इस समस्तपद के दोनों पदों का पृथक्-२ निर्वचन दर्शाते हैं— 'राजा राजतेः' अर्थात् राजा पद 'राजृ दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। हम राजा पद का निर्वचन पूर्व खण्ड में कर चुके हैं, इस कारण हम यहाँ 'राजा' शब्द का निर्वचन 'राजृ दीप्तौ' धातु तक ही सीमित रखते हैं। इस धातु का अर्थ है— चमकना, शासन करना आदि। इस प्रकार राजा उस व्यक्ति को कहते हैं, जो अपने बल, विवेक, सद्गुणों एवं न्यायोचित राजनियमों के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रकाशमान होता है और इन्हीं विशेषताओं के कारण वह सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए धर्मानुसार शासन करता है।

अब 'पुरुषः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'पुरुषः पुरि षादः पुरि शयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य' अर्थात् जो पुरी के अन्दर बैठता है, उसमें शयन करता है, उसे पुरुष कहते हैं। अब पुरी किसे कहते हैं, इस विषय में ऋषियों ने लिखा

है— आत्मा वै पूः (श.ब्रा.७.५.१.२१), मनऽएव पुरः (श.ब्रा.१०.३.५.७)। इस कारण आत्मारूपी पुरी में बैठने वा रहने वाला ईश्वर पुरुष कहलाता है। इसकी साक्षी उपनिषत्कार ऋषि भी देते हैं— 'य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्' अर्थात् जो आत्मा में स्थित है और आत्मा जिसका शरीर अर्थात् निवास स्थान है। इससे पुरुष का अर्थ ईश्वर सिद्ध होता है। जब पुरी का अर्थ मन है, तब मन के अन्दर स्थित जीवात्मा ही पुरुष सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'पॄ' धातु से भी पुरुष शब्द निष्पन्न माना गया है। अन्तर पुरुष (अन्तर्यामी) परमात्मा के अभिप्राय से 'पूरयति अन्तः' ऐसा विग्रह यहाँ किया गया है, जिसका अर्थ है कि वह पुरुष परमात्मा अन्तर्यामी रूप होकर सबको व्याप्त कर रहा है, इसलिए भी वह परमात्मा पुरुष कहलाता है। इसी प्रकार जीवात्मा अपने चित् स्वरूप के द्वारा सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करता है, इसलिए वह जीवात्मा पुरुष कहलाता है।

इस उदाहरण में परमात्मा अथवा जीवात्मा की संगति राजा के साथ ठीक-२ नहीं बैठती। इस कारण यहाँ 'पुरी' का अर्थ नगर वा राज्य ग्रहण करना अधिक तर्कसङ्गत है, तब पुरुष का अर्थ है— नगर वा राज्य में रहने वाला व्यक्ति और राजपुरुष का अर्थ है— राजा के परिवार वा दरबार का व्यक्ति।

जब पूर्व खण्ड में दर्शाये अनुसार राजा का अर्थ सूर्यलोक माना जाए, तब पुरुष के अर्थ भी निम्नानुसार होंगे—

इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः। (श.ब्रा.१३.६.२.१), प्राण एष स पुरि शेते स पुरि शेत इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते (गो.पू.१.३९), पुरुषोऽग्निः (श.ब्रा.१०.४.१.६)।

यहाँ क्रमशः वायु, प्राण व अग्नि को पुरुष कहा है। तब राजपुरुष का अर्थ सूर्य में स्थित वायुतत्त्व, प्राणतत्त्व एवं अग्नितत्त्व होगा। हमें प्रकरण के अनुसार ही पदों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यहाँ ग्रन्थकार ने परमात्मारूपी पुरुष के लिए निगम का प्रमाण दिया है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
(श्वेताश्व ३.९, तै.आ.१०.१२.३)

इसका अर्थ यह है कि उस परम पुरुष परमात्मा से परे अर्थात् उसके दूसरी ओर कुछ भी नहीं है। इसका कारण यह है कि उसका दूसरा सिरा कोई है ही नहीं, क्योंकि वह देश की दृष्टि से अनन्त है। इसी प्रकार उसके परे अर्थात् उसके पश्चात् भी कुछ नहीं है, कारण यह है कि उसका अन्त कभी होता ही नहीं है, क्योंकि वह सर्वोपरि विराजमान है। उससे अपर अर्थात् इस ओर अर्थात् निकट कोई भी नहीं है, क्योंकि वह सबके अन्दर व्याप्त होकर सबसे निकटतम बसा हुआ है। उससे अपर अर्थात् पूर्व में भी किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है, क्योंकि उसका पूर्व होता ही नहीं है, उसके काल की दृष्टि से अनन्त होने के कारण अर्थात् अजन्मा होने के कारण। उससे अपर अर्थात् उसके नीचे की ओर भी कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह क्षेत्र की दृष्टि से अनन्त है।

इसके आगे कहा— 'यस्मात् न अणीः' अर्थात् उस परमात्मा से सूक्ष्म किसी अन्य पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है। इस ब्रह्माण्ड में वैज्ञानिक सबसे सूक्ष्मतम पदार्थ कथित स्ट्रिंग की कल्पना करते हैं, वे जिसकी लम्बाई $१०^{-३५}$ मीटर मानते हैं और इसकी चौड़ाई शून्य मानते हैं। यद्यपि चौड़ाई का शून्य होना असम्भव है, परन्तु यह सबसे छोटी दूरी अवश्य मानी जा सकती है, परन्तु इससे भी सूक्ष्म मरुत् एवं प्राण रश्मियाँ होती हैं। उनसे भी सूक्ष्म मनस्तत्त्व और उससे भी सूक्ष्म महत् और प्रकृति नामक पदार्थ हैं, जिनकी सूक्ष्मता के विषय में कोई भी वैज्ञानिक कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, परन्तु ईश्वर इन सूक्ष्मतर पदार्थों से भी सूक्ष्म है। पुनः कहते हैं— 'न ज्यायः अस्ति कश्चित्' अर्थात् उससे बड़ा कोई पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी विद्यमान नहीं है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से देखें, तो स्पेस क्षेत्र व आयतन की दृष्टि से सबसे विशाल पदार्थ माना जा सकता है, परन्तु प्राणतत्त्व स्पेस से भी विशाल पदार्थ है। उससे भी विशाल पदार्थ क्रमशः इस प्रकार हैं— मनस्तत्त्व, महत्तत्त्व एवं प्रकृति। लेकिन परमात्मा इस प्रकृतिरूपी विशालतम पदार्थ से भी अधिक विशाल है।

इसके पश्चात् कहा— 'वृक्ष इव स्तब्ध दिवि तिष्ठति एकः'। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार एक विशाल वृक्ष पृथ्वी पर निष्कम्प खड़ा रहकर आकाश में स्थित होता है, उसी प्रकार परमात्मा [वृक्षः = यो वृश्च्यते छिद्यते स संसारः (म.द.य.भा.१७.२०), वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा (निरु.२.६)। क्षाम् = क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः (निरु.२.६)। द्यौः = द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् (श.ब्रा.१४.३.२.८)] सभी उत्पन्न पदार्थों और जीवों के निवास

स्थान प्रकृतिरूपी सूक्ष्मतम एवं विशालतम जड़ पदार्थ को अपनी व्यापकता से आच्छादित करके सभी देव पदार्थों (जड़ एवं चेतन) आदि के भी निवास स्थान अवकाशरूप आकाश में सदैव अचल रूप में स्थित रहता है। वह परमात्मा पूर्णतः गतिहीन होकर ही सबको आच्छादित किये रहता है और वह वृक्षरूप परमात्मा नाना प्रकार के पदार्थों का छेदन, विभाजन एवं संयोग आदि कर्मों को करता हुआ इस प्रकृति और उसमें बसे हुए सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक सभी पदार्थों को आच्छादित किये रहता है। वह इस प्रकृतिरूपी पदार्थ के बाहर भी अपने प्रकाशस्वरूप अस्तित्व के साथ विद्यमान रहता है।

यहाँ वृक्ष से ईश्वर की तुलना करना भी विशेष महत्त्व रखता है, जिससे यह प्रकट होता है कि जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ों के माध्यम से पृथ्वी को आच्छादित करके उससे खनिज और जल अवशोषित करके नाना प्रकार के फल व बीजों को उत्पन्न करता है, जबकि उस मिट्टी में फल एवं बीजों का अस्तित्व किसी को भी प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा प्रकृति जैसे अव्यक्त एवं सूक्ष्मतम जड़ पदार्थ से नाना प्रकार के लोक-लोकान्तरों और सूक्ष्म कणों को उत्पन्न करता है और ऐसा प्रकाशस्वरूप परमात्मा प्रकृति से पृथक् अर्थात् उससे भी बाहर और सब जीवात्माओं के अन्दर अपने चेतन, सर्वज्ञ एवं सच्चिदानन्दस्वरूप में व्याप्त रहता है। जिस प्रकार वृक्ष पृथिवी पर निष्कम्प खड़ा रहकर अपनी जड़ों के द्वारा उसको आच्छादित किये रहता है, उसी प्रकार परमात्मा पूर्णतः गतिहीन होकर अपने व्यापकत्व आदि गुणों के द्वारा इस प्रकृति को आच्छादित किये रहता है। ऐसा वह परमात्मा केवल एक ही है। उसके जैसा कोई अन्य परमात्मा कहीं भी कभी विद्यमान नहीं रहता है। यही उस ब्रह्म का अद्वैतपन है।

जो विद्वान् अद्वैत का अर्थ यह निकालते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है, यह उनकी महती भ्रान्ति है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम एक अद्वितीय प्रजापालक राजा थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य कोई राजा इस पृथ्वी पर विद्यमान नहीं था। यहाँ अद्वितीय का अर्थ यही है कि भगवान् श्रीराम जैसा अन्य कोई श्रेष्ठ राजा नहीं था, उनसे हीन स्तर के भले ही अनेक राजा थे। इसी प्रकार इस सृष्टि में वा सृष्टि से बाहर ब्रह्म जैसी सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ एवं आनन्दस्वरूप अन्य कोई सत्ता कभी और कहीं नहीं हो सकती, परन्तु उससे न्यून गुण वाली अन्य सत्ताएँ जैसे— जीवात्मा एवं प्रकृति आदि पदार्थ अवश्य विद्यमान हैं। इनमें से जीवात्मा और

प्रकृति तो ब्रह्म की भाँति अजन्मे, अजर एवं अविनाशी भी हैं, परन्तु ब्रह्म के अन्य गुण इन दोनों में ही नहीं हैं, इसलिए यहाँ ब्रह्म को एक कहा है। इसी कारण अथर्ववेद में कहा गया है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥
(अथर्व.१३.४.१६-१८)

अर्थात् वह परब्रह्म परमात्मा दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ आदि नहीं है, बल्कि वह केवल एक ही है। उसके समान अन्य कोई नहीं है।

इसके पश्चात् अन्त में कहा है— 'तेन इदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' अर्थात् उस एक ऐसे परमात्मा के द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् पूर्ण हो रहा है अर्थात् वह ब्रह्म सब में व्याप्त है। कहा भी है— तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। (यजु.४०.५) अर्थात् वह परमपुरुष इस सम्पूर्ण जगत् के अन्दर व बाहर सर्वत्र व्याप्त है।

विश्चकद्राकर्षः। वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना। कद्रातीति द्रातिकुत्सना। चकद्राति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः। तदस्मिन्नस्तीति विश्चकद्रः।

यहाँ 'विश्चकद्राकर्षः' यह पद तद्धित और समास दोनों का सम्मिलित उदाहरण है। इसमें 'विश्चकद्रः' यह तद्धितान्त एक पद है एवं 'आकर्षः' दूसरा पद है। इन दोनों का समास होकर 'विश्चकद्राकर्षः' पद व्युत्पन्न हुआ है। 'विश्चकद्रः' पद 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'चकद्रः' और दोनों के बीच में 'सुट्' आगम होकर व्युत्पन्न हुआ है। इस विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने 'चकद्रः' शब्द को मतुप् अर्थ में 'अच्' प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है। अच् प्रत्यय के तद्धित होने से विश्चकद्रः पद तद्धित का उदाहरण हुआ। 'चकद्रः' पद 'द्रा कुत्सायां गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। आचार्य विश्वेश्वर ने इस विषय में लिखा है—

''द्रा कुत्सायां गतौ' इस धातुपाठ के अनुसार द्राति अर्थात् द्रा यह धातु गति की निन्दा अर्थात् निन्दित गति के अर्थ में है। 'कुत्सितं द्राति कद्राति' 'कु' को कत् आदेश होने

से 'कद्राति' यह 'द्राति' अर्थात् निन्दित गति की भी निन्दा अर्थात् अत्यन्त निन्दित हिंसामयी गति का बोधक है। 'कद्राति' इसका स्वार्थ में अनर्थक द्वित्व होकर 'चकद्राति' यह पद बना है अर्थात् चकद्राति का अर्थ अत्यन्त निन्दित गति हुआ, वह जिस कुत्ते में है, वह कुत्ता 'विश्वकद्रः' हुआ।''

यहाँ ग्रन्थकार ने 'वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते' ऐसा कहा है। लौकिक अर्थ की दृष्टि से आचार्य विश्वेश्वर द्वारा किया गया अर्थ उचित माना जा सकता है, किन्तु वैदिक दृष्टि से और इस ग्रन्थ के स्तर और विषयवस्तु की दृष्टि से यह अर्थ उचित नहीं है। यहाँ प्रयुक्त 'श्वा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि कोष के भाष्य में लिखा है— 'श्वयति गच्छति वर्द्धतेऽसौ श्वा' (उ.को.१.१५९)।

उधर स्वयं ग्रन्थकार का कथन है— शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे (निरु.९.४०)। इसका तात्पर्य है कि वायुतत्त्व, जिसके विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' पठनीय है, जो सम्पूर्ण आकाश तत्त्व में वर्धमान होता हुआ निरन्तर गमन करता रहता है, उसे 'श्वा' कहते हैं। इसका कुत्ता अर्थ करना रूढ़ है। इस प्रकार जो अन्तरिक्ष में निरन्तर विविध प्रकार की कुटिल गति करता रहता है अर्थात् उसकी गति अज्ञेय व सतत होती है, वह वायुतत्त्व 'विश्वकद्रः' कहलाता है।

उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण स्पेस के अन्दर जो भी वैक्यूम एनर्जी भरी हुई है अथवा जो असुर ऊर्जा (कथित डार्क एनर्जी) है, वह भी वायु का ही रूप है। वर्तमान भौतिक विज्ञान इन दोनों के ही स्वरूप और व्यवहार को प्रायः नहीं जानता। ये दोनों ही ऊर्जारूप वायुतत्त्व विश्वकद्र के नाम से जाने जाते हैं और जो पदार्थ इन दोनों पदार्थों को आकर्षित करने में सक्षम होता है, वह 'विश्वकद्राकर्षः' कहलाता है। अब आइये इस पर विचार करते हैं कि कौन सा ऐसा पदार्थ है, जो इन दोनों सूक्ष्म पदार्थों (ऊर्जाओं) को भी आकर्षित करने की क्षमता रखता है। हम जानते हैं कि जब दो विपरीत विद्युत् आवेश वाले पदार्थ परस्पर निकट आते हैं, तब उनके मध्य विद्यमान वायुतत्त्व (कथित वैक्यूम एनर्जी) में हलचल उत्पन्न होती है और यह हलचल दोनों आवेशित पदार्थों में से उत्सर्जित होने वाली प्राण एवं मरुद् रश्मियों के कारण होती है। ये दोनों प्रकार की रश्मियाँ वैक्यूम एनर्जी के साथ मिलकर मध्यस्थ कणों (मीडियेटर पार्टिकल्स) का निर्माण करती हैं। इस प्रकार

ये रश्मियाँ ही वायुतत्त्व अर्थात् कथित वैक्यूम एवं डार्क एनर्जी को आकर्षित वा प्रतिकर्षित करने में सक्षम होती हैं। ये रश्मियाँ न केवल वायुतत्त्व को, अपितु आकाश (स्पेस) को भी विकृत अथवा वक्र करने में सक्षम होती हैं और विकृत अथवा वक्र हुआ आकाश वायुतत्त्व अर्थात् वैक्यूम एनर्जी को आकृष्ट करने में सक्षम होता है। इसलिए प्राण एवं मरुद् रश्मियों तथा आकाश इन तीनों को ही विश्वकद्राकर्षः कह सकते हैं। यह पद किस ग्रन्थ से लिया है, यह ज्ञात नहीं, परन्तु हमारा मत यह है कि यह पद वेद की किसी लुप्त शाखा अथवा वर्तमान में अनुपलब्ध किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का ही होना चाहिए। इसका कारण हमें यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना वैदिक पदों के निर्वचन के लिए की गई है, न कि लौकिक पदों के निर्वचन के लिए। इसलिए निरुक्त के उदाहरणों की लौकिकता दर्शाने से हमें बचना चाहिए।

कल्याणवर्णरूपः। कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः। एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात्। नैकपदानि निर्ब्रूयात्।

यहाँ दो से अधिक पद वाले समास को उद्धृत करते हुए उसका निर्वचन करते हैं। यह पद है— 'कल्याणवर्णरूपः', जिसका निर्वचन करते हुए लिखते हैं— जिस पदार्थ का कल्याण वर्ण वाला रूप होता है, उसे 'कल्याणवर्णरूप' कहते हैं। यहाँ सभी भाष्यकारों ने कल्याण शब्द का अर्थ स्वर्ण (सोना) माना है। तब सोने जैसा रंग-रूप जिस पदार्थ का हो, वह कल्याणवर्णरूप कहलाएगा। समास का निर्वचन करने के पश्चात् पदों का निर्वचन किया गया है। कल्याण पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'कल्याणं कमनीयं भवति' अर्थात् जो पदार्थ कामना करने के योग्य होता है, वह कल्याण कहलाता है। लोक में सुवर्ण धातु सभी मनुष्यों को प्रिय होता है, इसलिए उसे भी कल्याण कहते हैं। इस सृष्टि में जिन रश्मियों में कमनीय अर्थात् आकर्षण का गुण विशेष होवे, वह पदार्थ भी कमनीय कहलाता है। यह पदार्थ तरंग, कण वा रश्मि आदि किसी भी रूप में हो सकता है। इस प्रकार के पदार्थों की संयोज्यता अधिक होती है। अब 'वर्णः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा— 'वर्णो वृणोतेः'। इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ अपने आश्रित पदार्थ को आच्छादित किये रहता है, वह पदार्थ 'वर्ण' कहलाता है। इस सृष्टि में जैसे प्रत्येक सूक्ष्म

व स्थूल पदार्थ सूत्रात्मा वायु, प्राण रश्मि एवं बृहती आदि छन्द रश्मियों से आच्छादित हुआ होता है, तब वहाँ सूत्रात्मा वायु एवं बृहती रश्मियों को भी उस आच्छादित पदार्थ का वर्ण कहेंगे।

अब रूप शब्द का निर्वचन करते हैं— 'रूपं रोचतेः' अर्थात् जो प्रकाशित एवं सक्रिय होता है, उस पदार्थ को 'रूप' कहते हैं। इस प्रकार 'कल्याणवर्णरूप' उस पदार्थ का नाम है, जो विभिन्न पदार्थों के द्वारा सहज भाव से आकृष्ट होने वाला, अपने आश्रित पदार्थ को आच्छादित करने वाला एवं प्रकाशमान होता है। निश्चित ही ऐसा पदार्थ सूत्रात्मा वायु एवं बृहती व गायत्री छन्द रश्मियाँ हो सकती हैं। सूर्यादि लोकों की परिधि में विभिन्न प्रकाशमान पदार्थों (कणों, तरंगों अथवा रश्मियों) का चमकीला आवरण भी 'कल्याण-वर्णरूप' कहलाता है। इस प्रकार तद्धितों और समासों का निर्वचन करना चाहिए।

प्रकरण पर पूर्ण ध्यान दिये बिना अकेले पदों का निर्वचन नहीं करना चाहिए। इसका आशय यह है कि वेद मन्त्रों का अर्थ खण्ड-२ में नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मन्त्र के प्रकरण पर गम्भीरता से विचार करके समस्त पदों का अर्थ करना चाहिए, विग्रह पदों का पृथक्-२ नहीं।

नावैयाकरणाय। नानुपसन्नाय अनिदंविदे वा। नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्। यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्। मेधाविने तपस्विने वा॥ ३॥

यहाँ निरुक्त शास्त्र अर्थात् निर्वचन विद्या के अधिकार व अनधिकार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि तीन प्रकार के व्यक्ति निर्वचन विद्या के अधिकारी नहीं हैं।

१. अवैयाकरण अर्थात् जो व्यक्ति व्याकरण शास्त्र से अपरिचित हो। जब कोई व्यक्ति व्याकरण प्रक्रिया से पदों की व्युत्पत्ति आदि तथा उसमें प्रयुक्त धातु, प्रत्यय, लोप, आगम आदि को नहीं जानता हो, वह निर्वचन विद्या को समझ ही नहीं पायेगा। यह बात हम पूर्व प्रकरणों से स्वयं समझ सकते हैं। इस विषय में यह भी ध्यातव्य है कि निरुक्त शास्त्र महर्षि पाणिनि से पूर्वकालीन होने से पाणिनीय व्याकरण के साथ-साथ पाणिनि से पूर्वकालीन वैयाकरणों के व्याकरण को भी समझने की आवश्यकता है। जो इन्हें न समझे,

उसे निरुक्त न पढ़ावे।

२. जो व्यक्ति गुरु के निकट अर्थात् शिष्यभाव रखकर न आया हो, वह भी निरुक्त शास्त्र को पढ़ने का अधिकारी नहीं है। वस्तुतः जब तक कोई व्यक्ति उत्कट जिज्ञासा लेकर किसी सुयोग्य गुरु के पास नहीं रहेगा, तब तक वह निर्वचन विद्या को समझ ही नहीं सकेगा। इस कारण ऐसा व्यक्ति भी इस विद्या का अधिकारी नहीं है।

३. अनिदंवित् = अन्+इदं निरुक्तशास्त्रंवित् अर्थात् जो व्यक्ति इस शास्त्र को समझने की योग्यता न रखता हो, उसे भी यह शास्त्र नहीं पढ़ावे। इसका कारण बताते हुए लिखा है कि जो व्यक्ति इस शास्त्र को समझने की प्रतिभा न रखता हो, वह इस शास्त्र को पढ़ाने से भी नहीं समझ सकेगा और इस विद्या को न समझ पाने के कारण सदा ही अपने गुरु से ही असूया का भाव रखेगा अर्थात् अपनी अयोग्यता को न देखकर गुरु की अध्यापन शैली में ही दोष बतायेगा अथवा निर्वचन के महान् विज्ञान की ही निन्दा करने लगेगा। वह अपनी अल्पबुद्धि के कारण इस विज्ञान को विज्ञान ही नहीं समझेगा और न मानेगा, उल्टे उसे ही अज्ञान बताने लगेगा। इससे व्यर्थ ही निर्वचन के महान् विज्ञान और उसके महान् ज्ञाता आचार्य का अपयश होगा और अन्य जिज्ञासु भी निर्वचन विद्या से दूर चले जायेंगे। इस कारण ऐसे अयोग्य व्यक्ति को विद्या देने का ही निषेध किया है।

अब बतलाते हैं कि इस विद्या को किसे पढ़ावे?

१. 'उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्' अर्थात् जो श्रद्धाभाव से आचार्य के निकट इस विद्या को पढ़ने आया हो। बिना श्रद्धा वाले को विद्या की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसका कारण यह है कि वह अपने गुरु तथा शास्त्रों के प्रति नकारात्मक सोच ही रखेगा, जिससे वह विद्या को समझेगा ही नहीं और जब वह गुरु व शास्त्रों पर श्रद्धा रखेगा, तब वह गुरु के वचनों को ध्यान से सुनेगा, उन पर मनन करेगा और शास्त्र के प्रत्येक शब्द पर भी गम्भीरता से मनन करेगा। इसके फलस्वरूप वह इस शास्त्र के विज्ञान को समझने में समर्थ होगा। इस कारण श्रद्धाभाव से निकट आये शिष्य को ही इस विद्या को पढ़ावे।

२. 'यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्' अर्थात् जो शिष्य इतना प्रतिभाशाली हो कि गुरु के पढ़ाने पर इस विद्या को समझने की क्षमता रखता हो, ऐसे शिष्य को विद्या पढ़ावे। जो व्यक्ति श्रद्धाभाव से आया हो, परन्तु उसमें समझने की योग्यता नहीं हो, तब भी उसे पढ़ाना

निरर्थक होगा। इस कारण पूर्ण योग्य शिष्य को ही विद्या पढ़ावे।

३. 'मेधाविने तपस्विने वा' अर्थात् जो शिष्य श्रद्धालु व योग्य होने के साथ-२ मेधावी अर्थात् धारणात्मिका बुद्धि वाला अर्थात् विशेष स्मृतिमान् होवे, साथ में तपस्वी भी होवे, उसे ही इस विद्या को पढ़ावे। यदि शिष्य स्मृतिमान् नहीं होगा, तो पढ़ाई गयी विद्या को भूलता रहेगा तथा शास्त्र में पूर्वापर सङ्गति भी अच्छी प्रकार नहीं लगा पायेगा, इस कारण स्मृतिमान् होना भी अनिवार्य है। पुनः कहा कि इतने गुणों वाला होने पर भी यदि शिष्य अतपस्वी होगा, तो वह किञ्चिद् दुःख वा क्लेश को भी सहन नहीं कर पायेगा और विद्याध्ययन बीच में ही छोड़ देगा। इस कारण उसका तपस्वी होना भी अनिवार्य है। यहाँ तप की परिभाषा वही समझनी चाहिए, जो पातञ्जल योगदर्शन में दी है— 'द्वन्द्वसहनं तपः' अर्थात् वह मान-अपमान, शीत-उष्णता, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करने में भी समर्थ हो। विद्याध्ययन काल में इन सब कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। इनसे विचलित होने वाला, विलासी, अधीर व अतपस्वी व्यक्ति विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता। इस कारण अन्य पूर्वोक्त गुणों के साथ-२ तपस्वी होना भी शिष्य का अनिवार्य लक्षण है।

यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि निर्वचन विद्या पढ़ाने का निषेध करने में सर्वप्रथम जो वैयाकरण नहीं हो, उसकी चर्चा की, जबकि जब इस विद्या को पढ़ाने की योग्यता का प्रकरण आया, तो अन्य गुणों की चर्चा तो कर दी, परन्तु वैयाकरण होने की चर्चा क्यों छोड़ दी? जबकि पूर्व प्रकरण को दृष्टिगत रखकर तो निर्वचन विद्या को पढ़ने के अधिकारी के लिए सर्वप्रथम व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य होना चाहिए। कोई यहाँ यह तर्क दे सकता है कि जब अवैयाकरण को निर्वचन विद्या अर्थात् वेद विद्या का अधिकारी नहीं माना, तो फिर यह तो अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध हो ही गया कि निर्वचन विद्या जानने वाले के लिए व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है, भले ही उसकी चर्चा यहाँ न की गई हो। इस विषय में हमारा प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में गुरु के निकट श्रद्धाभाव से आना और पढ़ना और निर्वचन विद्या को समझने की योग्यता वाला होना भी तो अर्थापत्ति से सिद्ध हो ही सकता था, तब इसकी पुनः चर्चा क्यों की? क्या यह महर्षि यास्क से कोई भूल हुई अथवा निर्वचन विद्या के अधिकारी का वैयाकरण होना नितान्त अनिवार्य नहीं है?

इस विषय में हमारा मत यह है कि महर्षि यास्क जैसे वेद वैज्ञानिक से कोई भूल हो, यह सम्भव नहीं है। हमारी दृष्टि में निर्वचन विद्या के अधिकारी को व्याकरण का ज्ञान होना उतना अनिवार्य नहीं है, जितना कि उपर्युक्त अन्य गुणों का होना, अन्यथा अधिकार प्रकरण में अनधिकार प्रकरण की भाँति वैयाकरण होने की अनिवार्यता को अवश्य ही दर्शाते। हम इसी अध्याय के प्रथम खण्ड में निर्वचन विज्ञान के छह मूल सिद्धान्तों के बारे में लिख चुके हैं। इनमें से एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह भी था— 'न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति', जो व्याकरण प्रक्रिया की न्यूनता को स्पष्टता से दर्शा रहा था। ऐसी स्थिति में निर्वचन विद्या के अधिकारी को व्याकरण का ज्ञान होने की नितान्त अनिवार्यता कैसे बतला सकते थे? हाँ, इतना अवश्य है कि व्याकरण प्रक्रिया को बिल्कुल भी न जानने वाला व्यक्ति किसी पद के अर्थ को विचार करके उसमें धातु-प्रत्यय आदि की अपनी ऊहा से कल्पना करके उसका निर्वचन करने में समर्थ नहीं हो पायेगा, इसलिए व्याकरण की साधारण समझ भी न रखने वाले को निर्वचन विद्या का अधिकारी नहीं माना है।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

इसके पश्चात् ग्रन्थकार निर्वचन विद्या अर्थात् वेदविद्या के अनधिकारी के विषय में पुनः कहते हैं—

विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

(विद्या) विद्या (ह वै) निश्चय से (ब्राह्मणम्, आ, जगाम) वेदवेत्ता ब्राह्मण के पास आकर बोली— हे ब्राह्मण! (शेवधिः, ते) तेरी निधि अर्थात् सम्पत्ति (अहम्, अस्मि) मैं हूँ, इसलिए (मा, गोपाय) मेरी रक्षा कर। (असूयकाय) गुरु अथवा विद्या की निन्दा करने वाले के लिए, (अनृजवे) जो सरल चित्त नहीं है अर्थात् कुटिल चरित्र वाले के लिए, (अयताय) अजितेन्द्रिय अर्थात् लम्पट के लिए (न, मा, ब्रूयाः) उपदेश मत कर अर्थात्

इनको मुझ विद्या का दान मत कर। (वीर्यवती, तथा, स्याम्) उस प्रकार से ही अर्थात् इन अनधिकारी लोगों को विद्या का उपदेश न करने से ही मैं बलवती हो सकूँगी।

इस श्लोक पर विचार करने से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं—

१. सच्चे और तपस्वी ब्राह्मण की सम्पत्ति वेदविद्या ही है। अन्य किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का उसके लिए न कोई मूल्य है और न ही उसका उस ब्राह्मण को लोभ व मोह होना चाहिए। वर्तमान काल में धन, पद एवं यश के लोभी कथित विद्वानों को इससे शिक्षा लेनी चाहिए।

२. ब्राह्मण का एकमात्र अथवा सबसे प्रधान कर्त्तव्य यह है कि वह विद्या की सब प्रकार से रक्षा करे, जो ब्राह्मण विद्या की रक्षा नहीं कर सकता, उसका ब्राह्मण होना व्यर्थ है। भगवान् मनु महाराज ने मनुस्मृति में और भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में जो ब्राह्मण के लक्षण कहे हैं, उनमें सबसे पहले अध्ययन और अध्यापन को ही कहा है। इसलिए ब्राह्मण का सर्वोत्तम धर्म वेदविद्या की रक्षा और वृद्धि करना है और इसकी रक्षा और वृद्धि का उपाय यही है कि विद्या को उचित पात्र को दान कर दे अर्थात् उसे पढ़ाये, परन्तु कुपात्र को विद्या दान न दे, क्योंकि वह विद्या का दुरुपयोग करके लोक का अहित ही करेगा।

३. गुरु अथवा उसकी विद्या की निन्दा करने वाले को यदि विद्या का उपदेश किया जायेगा, तो वह अपनी अश्रद्धा के कारण विद्या को पूरी तरह समझ नहीं पायेगा और अपूर्ण विद्या को लेकर उसका नानाविध दुरुपयोग करके अपनी और दूसरों की हानि ही करेगा। इसके साथ ही विद्या और गुरु की निन्दा करता हुआ वह अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्क में भी विद्या एवं ब्राह्मण के प्रति दुर्भावना को ही उत्पन्न करेगा, जिससे क्रमशः विद्या धीरे-धीरे न्यून होते-होते अन्त में नष्ट हो जायेगी। आज विश्व में लाखों विद्यालय और विश्वविद्यालय होते हुए भी विद्यार्थी के लिए निन्दा करने को दोष के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता, इसलिए वर्तमान विज्ञान मानव जाति को त्रास देने वाला ही सिद्ध हो रहा है।

४. दूसरा अनधिकारी उसे बताया, जिसका चित्त सरल नहीं होता है अर्थात् जो निरन्तर कलुषित चालों को चलने की योजनाएँ बनाता रहता है। ऐसा व्यक्ति कभी किसी के उपकार के विषय में सोच ही नहीं सकता और जो किसी का उपकार नहीं कर सकता, वह

विद्या का करेगा ही क्या? वह विद्या का केवल स्वार्थ में ही प्रयोग कर सकता है। इसके कारण उसकी विद्या धीरे-२ या तो लुप्त हो जायेगी या फिर दूसरों को दुःख देने वाली ही होगी। इस कारण ऐसे व्यक्ति को भी विद्यादान करने का निषेध है।

५. तदनन्तर अजितेन्द्रिय अर्थात् लम्पट व्यक्ति को विद्या देने के अयोग्य बताया है, क्योंकि इन्द्रियलोलुप व्यक्ति अपनी इन्द्रियलोलुपता के कारण वेदविद्या का दुरुपयोग ही करेगा। वह अपनी इन्द्रियलोलुपता के कारण नानाविध ऐसे आविष्कार करेगा, जो मानव सभ्यता अथवा प्राणी जगत् के लिए हानिकारक होंगे। इसी कारण विद्या स्वयं ब्राह्मण से अनुरोध कर रही है कि वह ऐसे अनधिकारी व्यक्तियों को विद्या का उपदेश न करे, अन्यथा विद्या बलवती तो नहीं, बल्कि दुर्बल होते-२ अन्त में नष्ट हो जायेगी। आज ऐसे ही अनधिकारियों को विद्या का अधिकार देने से सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान-विज्ञान नष्ट हो गया और उसके स्थान पर एकांगी और अपूर्ण आधुनिक विद्या सबके हाथों में पहुँचकर न केवल मानव जाति, अपितु प्राणिमात्र के लिए घातक सिद्ध हो रही है।

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह॥

(यः) जो व्यक्ति (आतृणत्ति) खोलता है। (अवितथेन) अव्यर्थ अर्थात् सर्वहितकारिणी सत्य सनातनी वेदविद्या के द्वारा (कर्णौ) कानों को (अदुःखम्, कुर्वन्) और दुःख को दूर करता हुआ (अमृतम्) मोक्षरूपी अमर पद को (सम्प्रयच्छन्) अच्छी प्रकार देता हुआ शिष्य का सर्वाङ्गीण विकास करता है। (तम्, मन्येत, पितरम्, मातरम्, च) उस गुरु को माता-पिता के रूप में माने (तस्मै, न, द्रुह्येत्) उस गुरु से द्रोह न करे (कतमच्चन, अह) कदाचित् भी अर्थात् कभी भी द्रोह न करे।

इस श्लोक से कुछ बातें इस प्रकार प्रकट होती हैं—

१. गुरु जो भी विद्या देता है, वह सर्वहितकारिणी वेदविद्या ही होती है। ऐसी वेदविद्या शिष्य के कानों को खोलने वाली होती है। इसका आशय यह है कि यह विद्या उसके लिए अभूतपूर्व होती है, जिसे वह गुरु से प्रथम बार सुनता है।

२. वह विद्या उस शिष्य के लिए अवश्य ही सुफल को प्राप्त कराने वाली होती है। वह

उसके जीवन में कभी निष्फल नहीं होती है।

३. वैदिक विद्या वर्तमान शिक्षा के समान उपाधियाँ लेकर व्यर्थ घूमने के लिए नहीं, बल्कि उस व्यक्ति के जीवन के सभी प्रकार के दुःखों अर्थात् आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीनों ही दुःखों को दूर करने वाली होती है। इन तीनों दुःखों के अतिरिक्त अन्य कोई चौथा दुःख इस संसार में होता ही नहीं है। इन दुःखों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

(क) आधिदैविक दुःख — प्राकृतिक आपदाओं अर्थात् भूकम्प, सुनामी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चक्रवात, तूफान, दावानल आदि से उत्पन्न दुःख।

(ख) आधिभौतिक दुःख — अर्थात् विभिन्न प्राणियों, जैसे— हानिकारक कीट-पतंगों, हिंसक और विषैले जीवों, चोर-लुटेरे और दुष्ट राज्याधिकारियों व समाज कण्टकों से उत्पन्न हुआ दुःख।

(ग) आध्यात्मिक दुःख — शरीर के अन्दर होने वाले शारीरिक, मानसिक और आत्मिक रोगों का दुःख। जैसे- शारीरिक और मानसिक व्याधि तथा क्रूरता, अहंकार, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञानता, काम-क्रोध आदि से उत्पन्न दुःख।

इस प्रकार संसार के सभी दुःखों की गणना हम उपर्युक्त तीन प्रकार के दुःखों में ही कर सकते हैं। वेदवेत्ता गुरु द्वारा दी हुई विद्या इन दुःखों को दूर करने वाली होती है।

४. इसके साथ ही वह विद्या ब्रह्म का साक्षात्कार कराके परमानन्दरूपी मोक्ष को भी प्राप्त कराने वाली होती है। आज विश्व में ऐसी कोई विद्या नहीं, जो मोक्ष प्राप्त कराने वाली तो क्या, सभी लौकिक दुःखों को दूर करने वाली ही हो। इस कारण वर्तमान सम्पूर्ण शिक्षा को अविद्या ही मान सकते हैं, विद्या कदापि नहीं।

५. ऐसी सर्वकल्याणकारिणी विद्या को प्रदान करने वाला व्यक्ति निश्चित ही बहुत महान् होता है। इसलिए उसे माता-पिता के तुल्य कहा गया है और ऐसे आचार्य से द्रोह करना निश्चित ही घोर अपराध है।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।

यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

(ये, अध्यापिता, विप्राः) जो मेधावी विद्वान् गुरु द्वारा पढ़ाए गये होते हैं, वे (वाचा, मनसा, कर्मणा, वा) वाणी से, मन से अथवा अपने कर्मों वा आचरण के द्वारा (गुरुम्, न, आद्रियन्ते) अपने आचार्य का आदर नहीं करते हैं अर्थात् वे अपने गुरु का किसी भी प्रकार अनादर करते हैं वा अनादर करने की बात सोचते भी हैं। (यथा, एव) जैसे ही (ते) वे (न, गुरोः, भोजनीयाः) अपने गुरु के काम नहीं आ सकते अथवा गुरु को प्रसन्न नहीं कर सकते, (तथा, एव) वैसे ही (तान्) उनको (श्रुतम्, तत्) उनके द्वारा गुरु से वह पढ़ा हुआ शास्त्र (न, भुनक्ति) उन विप्रों के काम नहीं आता है और न ही उनको आनन्दित कर सकता है।

यहाँ यह कहा गया है कि यदि कोई गुरु किसी को पढ़ा भी दे और पढ़कर भी वह शिष्य अपने गुरु की निन्दा करने लगे अथवा आदर न करे, तो उस शिष्य की पढ़ी हुई विद्या काम नहीं आती।

इसके अगले श्लोक में पढ़ाने योग्य शिष्य के गुणों के बारे में पुनः लिखते हैं—

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ इति।
निधिः शेवधिरिति ॥४॥

(ब्रह्मन्) हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण! (यम्, एव) आप जिसे ही (शुचिम्) सर्वात्मना पवित्र अर्थात् यम-नियमादि व्रतों से सम्पन्न (अप्रमत्तम्) अप्रमादी अर्थात् सदैव सावधान व सक्रिय (मेधाविनम्) अत्यन्त बुद्धिमान् व स्मृतिमान् (ब्रह्मचर्य्योपपन्नम्) ब्रह्मचर्य रूप तप से युक्त (विद्याः) जानें एवं (यः) जो कोई भी (कतमच्चनाह) किसी भी स्थिति में (ते, न, द्रुह्येत्) आपके साथ द्रोह न करे, बल्कि आप पर सदैव निश्छल श्रद्धा रखे (तस्मै, निधिपाय) विद्या की रक्षा व वृद्धि करने में समर्थ (मा) मुझ शिष्य को (ब्रूयाः) विद्या का उपदेश करो।

यहाँ विद्या के अधिकारी में जिन गुणों का होना अनिवार्य है, उनकी पुनः चर्चा की गयी है। वे गुण हैं—

१. शुचिता अर्थात् सम्पूर्ण पवित्रता। यहाँ शुचिता को समझने के लिए भगवान् मनु महाराज का यह श्लोक विचारणीय है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ (मनु.५.१०९)

अर्थात् शरीर के बाह्य अङ्ग जल से पवित्र होते हैं। मन की शुद्धि सत्यवचन, सत्यकर्म एवं सत्य विचारने से होती है। असत्य सदैव मन को दूषित व विकृत करता है। विद्या अर्थात् पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के बोध और तप अर्थात् द्वन्द्वों (मान-अपमान, सुख-दुःख आदि) को सहन करने से आत्मा पवित्र होता है और बुद्धि ज्ञान से पवित्र होती है। इस प्रकार इन सभी साधनों के द्वारा स्वयं को पवित्र बनाना ही शुचिता है। इनमें से किसी भी प्रकार से अपवित्र व्यक्ति विद्या का अधिकारी नहीं है।

२. पूर्ण निरालस्य व्यक्ति ही विद्या प्राप्त कर सकता है। कहा भी है— 'अलसस्य कुतो विद्या', 'उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः'।

३. प्रज्ञासम्पन्न होना। जिसमें स्वयं प्रज्ञा नहीं होती, उसे कोई गुरु ही कैसे विद्या दे सकता है? इसलिए कहा है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

४. ब्रह्मचर्य व्रत से सम्पन्न व्यक्ति ही विद्या का अधिकारी है। दुर्भाग्य से आज विद्या लम्पटों व स्वच्छन्दों के हाथ में है।

५. गुरु से द्रोह करने की बात तो मन में भी न लाने वाला। वर्तमान में छात्रों व शिक्षकों के अपवित्र सम्बन्ध, पारस्परिक द्रोह, हड़ताल प्रदर्शन और धरने जैसी उद्दण्डता के दुष्काल में न सच्चे गुरु हैं और न ही सच्चे विद्यार्थी।

अन्त में कहा है कि 'शेवधिः' पद निधि अर्थात् सम्पत्ति, खजाने वा कोष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

* * * * *

= अथ नैघण्टुक-काण्डम् =

= पञ्चमः खण्डः =

अथातोऽनुक्रमिष्यामः।

**१. गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरं गता भवति।
यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरणः।**

२. अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव।

**३. अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति।
गोभिः श्रीणीत मत्सरम्। [ऋ.९.४६.४] इति पयसः।**

पूर्व पाद में निर्वचन प्रक्रिया की सामान्य जानकारी रूपी भूमिका के वर्णन के पश्चात् निघण्टु के पदों की क्रमशः व्याख्या करते हैं—

१. 'गौः' यह पृथिवी का नाम है, क्योंकि यह दूर तक गयी हुई होती है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह पृथिवी किससे दूर गयी हुई होती है? यह किससे व कब दूर हुई थी? इस निर्वचन से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह पृथिवी पूर्व में किसी अन्य लोक के निकट थी, जो कालान्तर में दूर होती चली गयी और फिर दूर जाकर निश्चित स्थान पर पहुँचकर ठहर गयी अथवा निश्चित कक्षा में परिक्रमण करने लगी। हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में विशाल अग्निपिण्ड से ग्रहों के पृथक्करण की प्रक्रिया को दर्शाया है। वहाँ पाठक पढ़ सकते हैं कि किस प्रकार घूर्णन करते हुए विशाल लोक से पृथिव्यादि लोक पृथक् होकर पहिले उस विशाल लोक के निकट दोलन करने लगे। तदुपरान्त धीरे-२ दूर हटते गये और अन्त में वे एक निश्चित दूरी पर जाकर अपनी-२ कक्षाओं में उस विशाल लोक सूर्य के चारों ओर परिक्रमण करने लगे। इसलिए ये ग्रहादि लोक 'गौः' ही कहलाएँगे। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पृथिवी को 'गौः' क्यों कहते हैं, इसे 'गौः' पद के निर्वचन से समझाया गया है, परन्तु पृथिवी को 'पृथिवी' क्यों कहा गया, इसकी चर्चा यहाँ नहीं है।

अब 'गौ' का दूसरा निर्वचन किया गया— 'यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति'। इसका अर्थ है कि इस 'गौः', जिसका यहाँ पृथिवी लोक अर्थ किया गया है, पर विभिन्न भूत गति करते हैं। इसका अर्थ है कि विभिन्न भूत अर्थात् प्राणी इस पृथिवी रूपी गौ पर गमन करते हैं और रहते हैं। यहाँ 'भूत' शब्द से पञ्चमहाभूत का भी ग्रहण किया जा सकता है। इससे पृथिवी रूपी गौ का अर्थ यह निकलता है कि इस पृथिवी पर सभी पञ्चमहाभूत आकाश, वायु, अग्नि, आपः एवं पृथिवी अर्थात् स्पेस, प्राण व छन्द रश्मियों का मिश्रण, मूलकण व तरंगाणु (क्वाण्टा), एटम्स-आयन्स तथा विभिन्न प्रकार के अणु (मोलिक्यूल्स) आदि इन पृथिव्यादि लोकों में गमन करते रहते हैं, किंवा इस पर वा इसमें व्याप्त रहते हैं। ये लोक सृष्टि के स्थूलतम पदार्थों से निर्मित हैं, इस कारण इन लोकों में पाँचों महाभूत विद्यमान होते हैं।

प्रश्न— सूर्य्यादि लोकों में भी पाँचों महाभूत विद्यमान रहते हैं, तब उन्हें भी 'गौ' क्यों नहीं कह सकते?

उत्तर— प्रथमतः सूर्य्यादि लोकों में पार्थिव परमाणुओं की मात्रा नगण्य होती है, क्योंकि वहाँ लगभग सम्पूर्ण पदार्थ आयनों के रूप में रहता है। इस कारण वहाँ आणविक अवस्था का होना सम्भव नहीं और यदि कुछ है भी, तो भी पृथिव्यादि लोकों की अपेक्षा नगण्य ही होगी। वस्तुतः पृथिव्यादि में ही पाँचों महाभूतों की विद्यमानता होती है। दूसरी बात यह है कि 'गौः' का अर्थ पृथिवी के अतिरिक्त रश्मि, आदित्य, प्राण, वाक् आदि भी है ही। परन्तु यहाँ इसका प्रकरण नहीं है। यहाँ निर्वचन पृथिव्यादि को लेकर ही किया गया है, इस कारण हम अपनी बात यहीं तक सीमित रखते हैं। यहाँ 'गौः' पद 'गम्लृ गतौ' धातु से 'गमेर्डोः' (उ.को.२.६८) सूत्र से 'डो' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है।

इसके उपरान्त 'गौः' की व्याख्या में ग्रन्थकार कहते हैं— 'गातेर्वौकारो नामकरणः' अर्थात् 'गौः' पद 'गाङ् गतौ' धातु से 'औ' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'गौः' पद 'गम्' एवं 'गाङ्' दोनों ही धातुओं से निष्पन्न हो सकता है। दोनों ही धातुओं से क्रमशः कर्त्ता व अधिकरण अर्थ में 'गौः' पद बनता है।

२. इसके अनन्तर कहते हैं कि 'गौः' पद पृथिव्यादि लोकों के साथ-२ कर्त्ता व अधिकरण अर्थ में पशु के लिए भी प्रयुक्त होता है अर्थात् यह पशु नाम वाला भी होता है। गौ चरते

हुए दूर-२ विचरण करती है, इसलिए उसे 'गौः' कहते हैं। इसके साथ मनुष्य इस गौ में ही अथवा इस गौ के द्वारा ही अपने इष्ट कर्मों को प्राप्त करते हैं, इस कारण इन्हें 'गौः' कहते हैं। ध्यातव्य है कि पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'गम्लृ' धातु का अर्थ गमन करने के अतिरिक्त 'इष्टार्थ सिद्ध होना' भी किया है। गौ नामक पशु से अन्न, फल, दुग्ध, घृत, छाछ, दधि, मक्खन आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं। इनसे अनेक लौकिक लाभ जैसे यज्ञ के द्वारा पर्यावरण शोधन, उत्तम स्वास्थ्य आदि लाभ भी प्राप्त होते हैं। गोदुग्ध, गो-घृत आदि संसार के सर्वोत्तम सात्त्विक खाद्य पदार्थ हैं। इनसे सात्त्विकी प्रज्ञा प्राप्त करके मनुष्य लौकिक लाभ के साथ-२ योगसाधना का आश्रय लेकर मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार गाय सभी प्रकार से कल्याणकारिणी सिद्ध होने से गौ कहलाती है।

३. इसके उपरान्त लिखते हैं कि इसमें अर्थात् इस 'गौः' पद से तद्धित प्रत्यय करके जो पद बनता है, 'कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' अर्थात् वह तद्धितान्त पद 'गौः' इस सम्पूर्ण पद के समान ही वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। इसका आशय है कि वेद में 'गौः' शब्द जो बिना तद्धित के प्रयुक्त है, वह तद्धितान्त गो पद के समान भी प्रयुक्त होता है। इसके लिए उदाहरण दिया—

'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ.९.४६.४)

यहाँ निर्वचन विद्या से अनभिज्ञ कोई भी मूर्ख वा दुष्ट व्यक्ति यही अर्थ लगाएगा कि मत्सर अर्थात् सोम को गौ के साथ पकाओ अर्थात् गौ को मारकर पकाकर खाओ। वह यहाँ इसी का विधान मानेगा। 'मत्सरः' पद का निर्वचन अगले खण्ड में देखें। वस्तुतः निरुक्त को पढ़े व समझे बिना वेदार्थ में प्रवृत्त होने का यही परिणाम होगा। आज संसार में अनेक वेदविरोधी कथित वैदिक विद्वान् ऐसे ही प्रयोगों को देखकर भ्रमित होकर मांसाहार व पशु हिंसा के दुष्ट आरोप वेद पर मढ़ते हैं। वे वास्तव में वेदविद्या में नादान बच्चे हैं, भले ही लोक में उन्हें बड़ा स्कॉलर माना जाता हो। यहाँ भगवान् यास्क ने वेद को समझने का कैसा सुन्दर उदाहरण व उपाय बताया कि यदि कहीं 'गौः' पद से युक्त वाक्य का ऐसा अनिष्ट अर्थ निकलता प्रतीत होवे, तो उसे वेद व ऋषियों के अहिंसा धर्म के सर्वथा प्रतिकूल मानकर अन्य विकल्पों पर विचार करे और यह विकल्प यहाँ ग्रन्थकार ने विचारपूर्वक ही सुझाया है। वह यह है कि 'गौः' पद को तद्धितान्त मानकर अर्थात् गौ के

विकार दुग्ध, घृत आदि के रूप में ग्रहण करके 'गोभिः' का अर्थ 'गोदुग्ध के साथ' ऐसा ग्रहण करे।

इस प्रकार 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' का अर्थ होगा कि 'सोमलता को गाय के दूध के साथ पकाओ'। इस प्रकार वेद का अनर्थ करने वालों को स्पष्ट सन्देश दिया है कि वे वेद का अर्थ बिना निर्वचन विद्या को पढ़े अनायास ही न करें, अन्यथा वे वेद का अनर्थ ही करेंगे।

यहाँ दूध का वर्णन है।

मत्सरः सोमः। मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः। मत्सर इति लोभनाम। अभिमत्त एनेन धनं भवति। पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा। क्षीरं क्षरतेः। घसेर्वेरो नामकरणः। उशीरमिति यथा।

मत्सर सोम को कहते हैं। यहाँ सोम एक औषधि का नाम है, जो तृप्ति और प्रसन्नता देने वाली होती है। यह मत्सर शब्द 'मदी हर्षे तथा मदि (मन्द्) स्तुतिमोदमद-स्वप्नकान्तिगतिषु' धातुओं से निष्पन्न होता है। ऋषि दयानन्द ने उणादि कोष ३.७३ की व्याख्या में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है— 'माद्यतीति मत्सरः'। उपर्युक्त वेदमन्त्र में मत्सर संज्ञक सोम नामक औषधि को गोदुग्ध के साथ पकाने का वर्णन है।

यहाँ ग्रन्थकार मत्सर का एक और अर्थ करते हैं कि मत्सर लोभ का नाम है, क्योंकि इस लोभ के वशीभूत होकर कोई व्यक्ति उन्मत्त जैसा हो जाता है। इसलिए लोभ को भी मत्सर कहते हैं। यहाँ आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी टिप्पणी में लिखा है—

''अभिमत्त एनेन धनं भवति' यह पाठ त्रुटित-सा जान पड़ता है। 'धनं' के आगे 'प्रति' का प्रयोग होना आवश्यक है। सब टीकाकारों ने 'प्रति' का अध्याहार करके ही इसका अर्थ किया है। उसके बिना वाक्य का अर्थ समझाने में कठिनाई होती है या फिर दूसरा मार्ग यह है कि 'धनं' पद को 'धनिक' अर्थ का वाचक माना जाये। धनिक लोग इस लोभ के कारण मत्त हो जाते हैं, यह अर्थ भी हो सकता है।''

हम यहाँ महर्षि यास्क का पाठ त्रुटित नहीं मान सकते। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों और वेद संहिताओं के पाठ को पाणिनीय व्याकरण के आधार पर सर्वथा नहीं तोला जा सकता।

पाणिनिपूर्व आर्ष ग्रन्थों में अनेक प्रयोग ऐसे मिलेंगे, जो पाणिनीय व्याकरण से हटकर होंगे। जहाँ तक अध्याहार की बात है, तो यह न केवल आर्ष ग्रन्थों में, बल्कि वेदमन्त्रों में भी कहीं-२ देखा जा सकता है। इस कारण यहाँ भी अध्याहार करना स्वाभाविक ही है। 'धनम्' को 'धनिक' का वाचक मानना भी सम्भव है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार 'पयः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा' अर्थात् यह पद 'पा पाने' तथा 'ओप्यायी वृद्धौ' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है कि जिसे पीया जाता है, जिसे पीने से प्राणियों की वृद्धि होती है, उसे पयस् अर्थात् दूध कहा जाता है। इसे क्षीर भी कहते हैं। क्षीर का निर्वचन करते हुए कहा— 'क्षीरं क्षरतेः'। क्षीर शब्द 'क्षर संचलने' धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि यह गाय के थन से टपकता है। इसके अतिरिक्त 'घस्लृ अदने' धातु से 'घसेः किच्च' (उ.को.४.३५) से ईर प्रत्यय करके भी 'क्षीर' शब्द व्युत्पन्न होता है, जिस प्रकार से 'वश' धातु से 'वशेः किच्च' (उ.को.४.३२) से ईर प्रत्यय होकर 'उशीरम्' शब्द व्युत्पन्न होता है। यहाँ तक हमने उपर्युक्त मन्त्रांश 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' के आधिभौतिक अर्थ पर विचार किया है। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

आ धावता सुहस्त्यः शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना।
गोभिः श्रीणीत मत्सरम्॥ (ऋ.९.४६.४)

इस मन्त्र का ऋषि अयास्य तथा देवता पवमान सोम तथा छन्द निचृत् गायत्री है। [अयास्यः = स प्राणो वा अयास्यः (जै.उ.२.८.८)] इसका अर्थ है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होती है। इसका देवता पवमान सोम होने से इसके प्रभाव से [पवमानः = यज्ञमुखं वै पवमानः (मै.सं.३.८.१०)] संयोज्य मरुद् रश्मियाँ समृद्ध होती हैं। इसका छन्द निचृत् गायत्री होने से बल व तेज की समृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (सुहस्त्यः) सुन्दर हरणशील रश्मियों से युक्त इन्द्र तत्त्व (आ, धावता) सब ओर से तीव्र गति से गमन करता है अर्थात् वह इन्द्र तत्त्व इस ब्रह्माण्ड में सब ओर अपने कर्मों से विद्यमान रहता है, ऐसा इन्द्र तत्त्व (मन्थिना) मन्थि नामक अत्यन्त सूक्ष्म बल, जो दैवी गायत्री छन्द रश्मियों तथा उदान प्राण रश्मियों से मिलकर उत्पन्न होता है और विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों को आश्रय देता है, के द्वारा (शुक्राः) शुक्र नामक

बलों, जो दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से उत्पन्न होता है एवं यह अत्यन्त शीघ्रकारी विभिन्न परमाणुओं को अपने में समेटने वाला और उनमें आकर्षण बल व तेज को उत्पन्न करने वाला होता है, ऐसे शुक्र नामक बल को (गृभ्णीत) वह इन्द्र तत्त्व ग्रहण अथवा प्राप्त करता है। इन दोनों बलों के विषय में वेदविज्ञान-आलोक: ३.१.१ पठनीय है। ऐसा वह इन्द्र तत्त्व (गोभि:) विभिन्न कणों, फोटोन्स व लोकों में विद्यमान नाना प्रकार की छन्द रश्मियों के साथ मिलकर (मत्सरम्) उत्तेजित और संदीप्त सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों को अर्थात् ऐसी मरुद् रश्मियाँ जो भ्रान्त वा अस्त-व्यस्त होकर चञ्चल हो चुकी होती हैं, उन्हें (श्रीणीत) परिपक्व बनाता है अर्थात् उन्हें स्वयं द्वारा अवशोषित होने योग्य बनाकर अवशोषित कर लेता है।

सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव— सूर्यादि लोकों में तीव्र विद्युत् वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें आकर्षण आदि बलों के साथ सब ओर निरन्तर विचरण करती हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म बल रश्मियों के द्वारा दीर्घ एवं सूक्ष्म छन्द रश्मियों को मिश्रित करके ऐसे बलों को उत्पन्न करती हैं, जो परमाणुओं (एटम्स) एवं अणुओं (मोलिक्यूल्स) को छिन्न-भिन्न करने में सक्षम होते हैं। यहाँ गौ शब्द से पयस् का भी ग्रहण किया है।

[पय: = पय: ज्वलतोनाम (निघं.१.१७), प्राण: पय: (श.ब्रा.६.५.४.१५), ऐन्द्रं पय: (गो.उ.१.२२), पय: अन्ननाम (निघं.२.७), वायव्यं पय: (तै.सं.१.८.७.१)]

संतप्त हुई प्राण एवं छन्द रश्मियाँ ही पयस् कहलाती हैं। इन्द्र तत्त्व इन रश्मियों को अवशोषित करके समृद्ध होता है। 'पा पाने' एवं 'ओप्यायी वृद्धौ' धातु से निष्पन्न 'पयस्' पद यही संकेत देता है। क्षीर शब्द भी यही संकेत देता है कि इस प्रकार की रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न पदार्थों से रिसती रहती हैं और इन्द्र तत्त्व उन रश्मियों का अवशोषण करता रहता है।

अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि। [ऋ.१०.९४.९]
इत्यधिषवणचर्मण:। अंशु: शमष्टमात्रो भवति। अननाय शं भवतीति वा। चर्म चरतेर्वा। उच्चृत्तं भवतीति वा।

यहाँ दर्शाया गया मन्त्रांश निम्नलिखित ऋचा का द्वितीय पाद है—

ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेंऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते॥ (ऋ.१०.९४.९)

इसका ऋषि अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः, देवता ग्रावाणः तथा छन्द आर्ची स्वराड् जगती है। [अर्बुदः = वाग्वा अर्बुदम् (तै.ब्रा.३.८.१६.३)। कद्रू = इयं॒ वै कद्रूः (तै.सं.६.१.६.१; मै.सं.३.७.३; काठ.सं.२३.१०)। सर्पः = देवा वै सर्पाः तेषामियं (पृथिवी) राज्ञी (तै.ब्रा. २.२.६.२)। ग्रावाणः = ग्रावा मेघनाम (निघं.१.१०), वज्रो वै ग्रावा (श.ब्रा.११.५.९.७), पशवो वै ग्रावाणः (तां.ब्रा.९.९.१३)] इसका आशय यह है कि यह छन्द रश्मि पृथिवी तत्त्व अर्थात् विभिन्न मोलिक्यूल्स से निरन्तर उत्सर्जित होने वाली अथवा उन मोलिक्यूल्स में विद्यमान रहने वाली छन्द रश्मियों से उत्पन्न वा उत्सर्जित होती रहती है। इसके दैवत प्रभाव से विभिन्न प्रकार के मोलिक्यूल्स से बने हुए कॉस्मिक मेघ में नाना प्रकार की वज्ररूप छन्द व प्राण रश्मियाँ विशेष सक्रिय होती हैं। इसके छान्दस प्रभाव से उस कॉस्मिक मेघ में प्रकाश और ऊष्मा की वृद्धि होने लगती है।

आधिदैविक भाष्य— (ते, सोमादः) सोम पदार्थ अर्थात् सोम रश्मियों अर्थात् मरुद् रश्मियों एवं उनकी प्रधानता से उत्पन्न विद्युत् आवेशित कणों का भक्षण करने वाले धनायनों अथवा विभिन्न ऋणावेशित आयनों का भक्षण करने वाले धनावेशित आयनों से समृद्ध मेघ (इन्द्रस्य) तीव्र विद्युत् के (हरी) आकर्षण और प्रतिकर्षण अथवा आकर्षण और धारण बलों को (निंसते) चूमते अर्थात् प्राप्त करते हैं।

(गवि) [गौः = अन्तरिक्षं गौः (ऐ.ब्रा.४.१५)] अन्तरिक्ष में (अंशुम्) 'अंशुः शमष्टमात्रो भवति अननाय शं भवतीति वा' [अंशुः = प्राणऽ एवांशुः (श.ब्रा.११.५.९.२), व्याप्तिमान् सूर्यः (म.द.य.भा.१८.१९), किरणः (म.द.ऋ.भा.५.४३.४)] विशाल सूर्यलोक को वे धनावेशित मेघ अथवा सूर्य के अन्दर विद्यमान विभिन्न प्रकाशाणु (दुहन्तः) परिपूर्ण करते हैं अर्थात् वे धनावेशित मेघ सूर्यादि लोकों में सर्वत्र भरे रहते हैं एवं सूर्य के अन्दर विभिन्न धनायन अथवा प्राण रश्मियाँ प्रकाशाणुओं को उत्पन्न करती वा आकर्षित करती हैं। (अध्यासते) ऐसे वे धनावेशित मेघ अथवा आयन्स तारों के अन्दर विद्यमान स्पेस में सदैव वास करते हैं। (तेभिः, दुग्धम्) उन धनावेशित मेघों व कणों के द्वारा परिपूर्ण किए हुए अथवा आकृष्ट किये हुये (सोम्यम्, मधु) [मधु = प्रजा वै मधु (जै.ब्रा.१.८८), अन्नं वै

मधु (तां.ब्रा.११.१०.३)] नाना प्रकार के ऋणावेशित कणों को (इन्द्रः) सूर्यलोक (पपिवान्) पीता हुआ अर्थात् अवशोषित करता हुआ (वर्धते, प्रथते) बढ़ता और विस्तृत होता है और (वृषायते) विशेष रूप से बलवान् होता है।

भावार्थ— सूर्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर विभिन्न प्रकार के धनायन विशाल मात्रा में उत्पन्न होकर प्रबल विद्युत् चुम्बकीय बलों से सम्पन्न होते हैं। वे धनावेशित पदार्थ तारों के अन्दर विद्यमान स्पेस में सर्वत्र भरे रहते हैं। वे धनावेशित कण ही परस्पर संलयित होकर ऊर्जा को उत्पन्न करते हैं। उन धनावेशित कणों के द्वारा सूर्यादि लोकों में प्रवाहित होने वाले ऋणायनों अथवा इलेक्ट्रॉन्स की धाराओं को भी निरन्तर आकर्षित किया जाता रहता है। वह सूर्यलोक उन ऋणावेशित धाराओं को निरन्तर पीता अथवा अवशोषित करता हुआ वर्धमान एवं बलवान् होता रहता है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि यद्यपि तारों के केन्द्र की ओर धनावेशित कणों की धाराएँ निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं, परन्तु उनके प्रवाहित होने में ऋणायनों अथवा इलेक्ट्रॉन्स की धाराओं का प्रवाहित होना भी अनिवार्य है, अन्यथा पारस्परिक प्रतिकर्षण के कारण तारों के केन्द्रीय भाग में धनायनों का निरन्तर प्रवाह संकट में पड़ सकता है।

मन्त्र का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव— इस मन्त्र के भावार्थ में दर्शाया गया कार्य इस मन्त्र के प्रभाव से ही सम्पन्न होता है।

व्याख्यान— यहाँ महर्षि यास्क ने बताया है कि अंशु अर्थात् धनावेशित पदार्थ, प्रकाशाणु एवं विभिन्न प्राण रश्मियाँ गौ अर्थात् स्पेस का चर्म संज्ञक भाग, जो तारे के लगभग बाहरी क्षेत्र में स्थित होता है, में विशेष रूप से भरती रहती हैं अथवा विद्यमान रहती हैं। ये धनावेशित आयन एवं फोटोन अथवा प्राण रश्मियाँ अपनी व्याप्ति के द्वारा सम्पूर्ण तारे का सन्तुलन एवं जीवन बनाए रखते हैं। तारे के बाहरी स्पेस को चरम इस कारण कहा जाता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण तारे को व्याप्त करता हुआ निरन्तर घूर्णन भी करता रहता है। यद्यपि सम्पूर्ण तारा गैलेक्सी के चारों ओर चक्कर लगाने के साथ-२ अपने अक्ष पर भी घूर्णन करता रहता है और उसकी घूर्णन गति उसके केन्द्रीय भाग की घूर्णन गति से कुछ भिन्न होती है। यह बात हम 'वेदविज्ञान-आलोकः' नामक ग्रन्थ में दर्शा चुके हैं, किन्तु यहाँ एक और यह संकेत प्राप्त हो रहा है कि तारे का बाहरी भाग, सम्भवतः जिसे कोरोना कहते हैं,

शेष सूर्य की घूर्णन गति से कुछ भिन्न गति से घूर्णन करता है। इसके विषय में ग्रन्थकार ने पुनः लिखा— 'उच्चृत्तं भवतीति वा'। इसका अर्थ यह है कि यह भाग ['चृतम्' पद 'चृती हिंसाग्रन्थनयोः' अथवा 'चृत संदीपने' धातु से निष्पन्न होता है।] सम्पूर्ण तारे को गूँथने और बाँधने में सक्षम होता है और इस क्षेत्र में विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियाँ, धनावेशित पदार्थ एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अधिक सघन मात्रा में एवं प्रायः परस्पर अधिक गूँथी हुई अथवा बँधी हुई विद्यमान रहती हैं। इससे इस भाग की चमक और ताप अन्य निकट एवं आभ्यन्तर भाग की अपेक्षा अधिक होता है। यह इस मन्त्र का आधिदैविक पक्ष है।

अब उस परम्परागत आधिभौतिक अर्थ, जिसका आश्रय सभी भाष्यकारों ने लिया है, पर विचार करते हैं। इस विषय में हम सम्पूर्ण मन्त्र को न लेकर केवल इस मन्त्र का द्वितीय पाद, जिसे ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है, पर ही कुछ चर्चा करना चाहेंगे। यहाँ सभी भाष्यकारों ने 'गवि' पद का अर्थ 'गौ के चर्म पर' ऐसा किया है। इस पाद का अर्थ इस प्रकार किया है— 'सोम रस को निकालने वाले गौ अर्थात् गौ के अवयव अर्थात् विकार-चर्म पर बैठते हैं'। यहाँ गो शब्द तद्धितान्त के समान गोचर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा दर्शाने के लिए ही इस उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ अंशु पद का अर्थ सोम करके उसे शरीर में जाते ही कल्याण व जीवन देने वाला माना गया है। यहाँ चमड़ी को चर्म इसलिए कहा गया है, क्योंकि यह सारे शरीर को व्याप्त करती अथवा आच्छादित किये रहती है। इसके साथ ही यह चमड़ी पशु के मरने के पश्चात् स्वतः अलग नहीं होती, बल्कि उसे काटकर अलग किया जाता है।

प्रश्न— गाय की चमड़ी पर बैठकर सोम निकालना और चमड़ी का काटकर निकाला जाना क्या इस बात का सूचक नहीं है कि प्राचीन काल में ऋषि लोग गाय की हिंसा करते थे और गोचर्म व गोमांस का प्रयोग किया करते थे?

उत्तर— आपकी ऐसी आशंका सर्वथा निराधार है। वैदिक ऋषियों का जीवन योग पर आधारित होता था और योग का प्रथम यम अहिंसा, जिसे योगसूत्र भाष्यकार महर्षि वेदव्यास ने महाव्रत कहा है, पर आधारित होता था। इसलिए उस युग में उनके द्वारा हिंसा की कल्पना करना भी मूर्खता है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही गाय को 'अघ्न्या' कहा है, जो इस बात का स्पष्ट संकेत है कि गाय हर परिस्थिति में अवध्य है। अगर आप कहें कि

अन्य पशु वध्य हैं, तो वह भी उचित नहीं। हम इसके लिए वेदों से ही कुछ प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं —

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वां सीसेन विध्यामः॥ (अथर्व.१.१६.४)

अर्थात् तू यदि हमारी गाय, घोड़ा वा मनुष्य को मारेगा, तो हम तुझे सीसे से बेध देंगे।

मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः। (अथर्व.११.२.१)

अर्थात् हमारे मनुष्यों और पशुओं को नष्ट मत कर।

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्। (यजु.१३.४७)

अर्थात् इस दो खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्। (यजु.१३.४८)

अर्थात् इस एक खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

यजमानस्य पशून् पाहि। (यजु.१.१)

अर्थात् यजमान के पशुओं की रक्षा कर।

आप कहेंगे कि यह बात यजमान वा किसी मनुष्य विशेष के पालतू पशुओं की हो रही है, न कि हर प्राणी की। इस भ्रम के निवारणार्थ अन्य प्रमाण—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। (यजु.३६.१८)

अर्थात् मैं सब प्राणियों को मित्र की भाँति देखता हूँ।

मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजाः। (यजु.१२.३२)

अर्थात् इस शरीर से प्राणियों को मत मार।

मा स्रेधत। (ऋ.७.३२.९)

अर्थात् हिंसा मत करो।

क्या अब भी वेद में हिंसा का प्रमाण देंगे?

यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि गोचर्म पर बैठना भी क्या अपराध नहीं है?

इस विषय में हम यह कहना चाहेंगे कि किसी के भी चर्म पर बैठना अपराध नहीं है, बल्कि उसे मारना अथवा किसी भी प्रकार का दुःख पहुँचाना अपराध है। यदि स्वाभाविक मृत्यु से प्राप्त चर्म उपलब्ध है, तो उसका आसन, जूते, ढोल, नगाड़े आदि बनाने में उपयोग किया जा सकता है।

अथापि चर्म च श्लेष्मा च।
गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व। [ऋ.६.४७.२६] इति रथस्तुतौ।
अथापि स्नाव च श्लेष्मा च।
गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता [ऋ.६.७५.११] इतीषुस्तुतौ।

पूर्व में चर्म शब्द को गो शब्द से ही ग्रहण किया गया था। उसी प्रकार यहाँ पुनः लिखते हैं कि चर्म के साथ-साथ श्लेष्मा का ग्रहण भी गो शब्द के अन्तर्गत हो जाता है। ये चर्म एवं श्लेष्मा दोनों ही गौ के विकार हैं। चर्म शब्द का निर्वचन पूर्व में किया जा चुका है। अब हम श्लेष्मा शब्द पर विचार करते हैं। यह 'श्लेष्मा' पद 'श्लिष आलिङ्गने श्लेषणे च' धातु से 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ.को.४.१४६) से मनिन् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है— 'श्लिष्यतीति श्लेष्मा'। इसका आशय यह है कि जो किसी पदार्थ से चिपका हुआ रहता है अथवा किसी पदार्थ को अपने साथ चिपकाए रखने के स्वभाव वाला होता है, वह श्लेष्मा कहलाता है।

यहाँ प्रथम उदाहरण के रूप में जो मन्त्रांश उद्धृत किया है, वह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ (ऋ.६.४७.२६)

[रथः = वज्रो वै रथः (तै.सं.५.४.११.२; काठ.सं.२१.१२), रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा (निरु.९.११), असौ वाऽआदित्य ऽएष रथः (श.ब्रा.९.४.१.१५)]

यह सम्पूर्ण मन्त्र ग्रन्थकार ने आगे ९.१२ में व्याख्यात किया है। इस कारण सम्पूर्ण

मन्त्र पर हम विस्तार से चर्चा वहीं करेंगे। यहाँ वेदितव्य यह है कि इस मन्त्र का देवता रथ होने से यह मन्त्र आदित्य लोक से सम्बन्धित है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह छन्द रश्मि सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान रहकर अपनी भूमिका निभाती है, जिस पर सम्पूर्ण चर्चा नौवें अध्याय में ही करेंगे। यहाँ उद्धृत पाद में विद्यमान गो शब्द अपने विकाररूप चर्म और श्लेष्मा दोनों के लिए ही प्रयुक्त है। यहाँ चर्म का अर्थ कुछ ऐसी छन्द रश्मियाँ व अन्य तरंगें है, जो परस्पर गुँथी हुई होने से तीक्ष्ण बलयुक्त होती हैं और श्लेष्मा का तात्पर्य वे रश्मियाँ है, जो अन्य रश्मि आदि पदार्थों का आलिङ्गन करते हुए उनके साथ संयुक्त हो जाती हैं और ऐसा करके वे अन्य अपेक्षाकृत स्थूल परमाणु आदि पदार्थों को भी परस्पर संयुक्त होने में सहयोग करती हैं। ऐसी रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु एवं बृहती छन्द रश्मियाँ हो सकती हैं। चर्म संज्ञक रश्मियों के निर्माण में भी इनकी भूमिका होती है।

सूर्यलोक इन दोनों ही प्रकार की रश्मियों से सन्नद्ध होता है अर्थात् ये रश्मियाँ ही सूर्यलोक के पदार्थ को परस्पर बाँधे रखती हैं और इसी कारण सूर्यलोक गैसीय एवं प्लाज्मा अवस्था वाले पदार्थ का रूप होकर भी अत्यन्त दृढ़ता से बँधा रहता है।

इस प्रकार इस मन्त्रांश में रथ अर्थात् आदित्य लोक की स्तुति की गई है। इसके पश्चात् लिखते हैं— 'अथापि स्नाव च श्लेष्मा च'। [स्नाव = स्नाति शुच्यतीति स्नावा (उ.को.४.११४)] अर्थात् आदित्य लोक के अन्दर त्रिष्टुप् एवं शक्वर्यादि अत्यन्त तीक्ष्ण एवं भेदक शक्तिसम्पन्न रश्मियों अथवा गायत्र्यादि शोधक छन्द रश्मियों अथवा तीक्ष्ण छेदक गुणों वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं। ये धाराएँ अणुओं (मोलिक्यूल्स) वा परमाणुओं (एटम्स) को तोड़कर आयन्स में बदल देती हैं। इन्हीं धाराओं को आदित्य लोक की नाड़ियाँ (स्नायु) कहा जा सकता है। इसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार ने एक मन्त्रांश 'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' (ऋ.६.७५.११) को उद्धृत किया है। यह पूरा मन्त्र इसी ग्रन्थ के नौवें अध्याय में आया है। इस कारण सम्पूर्ण मन्त्र पर चर्चा वहीं करेंगे। यहाँ हम मन्त्र के इसी अंश पर विचार करते हैं, किन्तु इससे पहले यह जानना आवश्यक है कि इस मन्त्र का देवता इषु है। [इषुः = इषवो वै दिद्यवः (श.ब्रा.५.४.२.२), वीर्यं वाऽइषुः (श.ब्रा.६.५.२.१०)। दिद्यवः = प्रकाशमानाः (म.द.ऋ. भा.६.४६.११)

इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह छन्द रश्मि प्रकाशमान और अति तीक्ष्ण वज्ररूप रश्मियों एवं इनसे समृद्ध सूर्यादि तेजस्वी लोकों में विद्यमान रहती है। यहाँ 'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' में गो शब्द से इन्हीं स्नावा और श्लेष्मा नामक रश्मियों व तरंगों का ग्रहण होता है। इन दोनों रश्मियों से अच्छी प्रकार सन्नद्ध विभिन्न प्रकार के विद्युत् कणों की धाराएँ अच्छी प्रकार प्रेरित होती हुई तीव्र वेग से सूर्यलोक के अन्दर प्रवाहित होती रहती हैं। ये धाराएँ बाण के समान तीक्ष्ण और भेदक शक्तिसम्पन्न होकर अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर गमन करती रहती हैं। इन धाराओं को वज्र भी कहते हैं। ऐसी वज्ररूप धाराओं की स्तुति इस ऋचा में वर्णित है।

यहाँ सभी भाष्यकारों ने गौ, चर्म, स्नायु और श्लेष्मा आदि का रूढ़ अर्थ किया है और इस मन्त्र को बाण की स्तुति का प्रतिपादक बताया है। इनमें से प्रथम मन्त्रांश में गाय की चमड़ी एवं चर्बी के प्रयोग से रथ को सुदृढ़ बनाने की बात कही गई है तथा दूसरे मन्त्रांश में गाय के स्नायु और चर्बी से बने हुए बाण की चर्चा की गई है। इस प्रसङ्ग में हम यह कहना चाहेंगे कि इन पदार्थों का प्रयोग हिंसारहित क्रियाओं पर ही आधारित है। यह अर्थ मिथ्या तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु ऐसा लगता है कि ब्रह्माण्डीय ग्रन्थ वेद, जो सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का आदि मूल है, के साथ यह अर्थ उचित न्याय नहीं करता। इस कारण हमारी दृष्टि में चर्म, श्लेष्मा, स्नायु एवं गौ सभी उन सूक्ष्म पदार्थों के नाम हैं, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। विभिन्न प्रकार के विकिरणों अथवा पृथिवी के विकार विभिन्न प्रकार के धातु आदि पदार्थों के नाना प्रयोगों से उत्तम कोटि के यान सिद्ध करने और इन्हीं विकिरणों एवं अन्य पदार्थों के द्वारा इषु अर्थात् प्रक्षेपक अस्त्रों के निर्माण की चर्चा द्वितीय मन्त्र में की गई है। रामायण और महाभारत में देवों, गन्धर्वों एवं ऋषियों के पास जो विमान और अस्त्र विद्या थी, उसका इन मन्त्रों के रूढ़ अर्थों से कोई मेल नहीं है, जबकि हमारे यौगिक अर्थों से इस प्रकार की दिव्य तकनीक का विकास सम्भव है।

ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत्, ताद्धितम्।
अथ चेन्न गव्या, गमयतीषूनिति॥ ५॥

गौ शब्द की चर्चा करते हुए पुनः लिखते हैं कि 'ज्या' को भी 'गौ' कहते हैं। इस ज्या का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने नौवें अध्याय के सत्रहवें खण्ड में लिखा है— 'ज्या

जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा' अर्थात् ज्या संज्ञक रश्मियाँ पूर्वोक्त इषु संज्ञक वज्ररूपी तीक्ष्ण विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा विद्युत् तरंगों को जयशील बनाती हैं अर्थात् उन्हें अजेय बल प्रदान करती हैं तथा जिनके कारण वे इषु संज्ञक तरंगें उनके साथ टकराने वाले विभिन्न कणों को भेदती अथवा जीर्ण करती हैं एवं उन तरंगों को उत्क्षेपण बल प्रदान करके प्रक्षिप्त करती हैं, वे ज्या कहलाती हैं।

हमारी दृष्टि में जब विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अथवा सूक्ष्म कण स्पेस में गमन करते हैं, तब स्पेस की अङ्गभूत प्राण व उदान रश्मियाँ उनको प्रक्षेपण बल प्रदान करके आगे बढ़ने में सहायता प्रदान करती हैं। इसलिए प्राणोदान रश्मियों के युग्म को भी ज्या कहते हैं। इसी प्रकार प्रकाश के उत्सर्जन की क्रिया में किसी इलेक्ट्रॉन के अन्दर 'अग्ने वीहि हविषा यक्षि देवान्त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः' (ऋ.७.१७.३) यह आर्ची उष्णिक् छन्द रश्मि इलेक्ट्रॉन के अन्दर से फोटोन को धक्का देकर बाहर उत्सर्जित करने में अपनी भूमिका निभाती है। इस कारण यह छन्द रश्मि यहाँ ज्या संज्ञक कहलायेगी। यही छन्द रश्मि पुनः फोटोन को इलेक्ट्रॉन में प्रवेश कराने में भी अपनी भूमिका निभाती है अर्थात् वह फोटोन को जीर्ण भी करती है। इसके साथ ही यह फोटोन के गमन करने में भी सहायक होती है, विशेषकर इलेक्ट्रॉन से अवशोषित व उत्सर्जित होते समय। इस कारण इस रश्मि को भी ज्या कहते हैं। इसके लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' १.२२.३ पठनीय है।

इस सृष्टि में ज्या संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ सापेक्ष होते हैं और अनेक पदार्थ ज्या कहे जा सकते हैं। ये ज्या संज्ञक रश्मियाँ दो कारणों से गौ कही जा सकती हैं, जिनमें से प्रथम कारण है— इन रश्मियों का गौ संज्ञक किसी पदार्थ का विकार होने से। जैसे उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में प्राणोदान रश्मियाँ स्पेस का विकार अर्थात् भाग होती हैं। दूसरे उदाहरण में आर्ची उष्णिक् छन्द रश्मि स्पेस में इलेक्ट्रॉन व फोटोन की विद्यमानता में उत्पन्न होती है। इसलिए यह भी उन्हीं का भाग है और स्पेस अथवा इलेक्ट्रॉन आदि को गौ कहते हैं, इससे इनका विकार भी गौ कहलाता है। कहीं-२ ज्या संज्ञक रश्मियाँ किसी गौ संज्ञक पदार्थ का विकार नहीं होती, तब भी वे गौ इस कारण कहलाती हैं, क्योंकि वे भी इषु संज्ञक रश्मियों वा तरंगों को प्रक्षिप्त करके गति प्रदान करती हैं।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वयः प्र पतान्पूरुषादः।

[ऋ.१०.२७.२२]

वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि। वृक्षो व्रश्चनात् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा।
क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः। नियता मीमयद् गौः शब्दं करोति।
मीमयतिः शब्दकर्मा। ततो वयः प्रपतन्ति। पुरुषानदनाय।
विरिति शकुनिनाम। वेतेर्गतिकर्मणः। अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव।

इसका उदाहरण देते हुए यहाँ ग्रन्थकार ने जिस अर्द्ध ऋचा को उद्धृत किया है, उसका पूर्ण रूप इस प्रकार है—

वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद्गौस्ततो वयः प्र पतान्पूरुषादः।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत्॥ (ऋ.१०.२७.२२)

इस मन्त्र का ऋषि ऐन्द्रः प्राजापत्यो विमदः वासुक्रो वसुकृद्वा, देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् है। [विमदः = विमदेन वै देवा असुरान्विमदन् (कौ.ब्रा.२२.६)। वसुक्रः = इन्द्र उ वै वसुक्रः (शां.आ.१.३)]

इसका तात्पर्य यह है कि यह छन्द रश्मि सूर्यलोक में विद्यमान वज्ररूपी सूक्ष्म रश्मियों से उत्पन्न होती है अथवा विभिन्न तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों से उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म रश्मियों से भी यह छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसका देवता इन्द्र होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं विद्युत् आवेशित तरंगें तीक्ष्ण होती हैं।

आधिदैविक भाष्य—

(वृक्षे, वृक्षे) 'वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो व्रश्चनात् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः' [धनुः = वज्रो वै धनुः (मै.सं.४.४.३), धन्वतेर्गतिकर्मणः वधकर्मणो वा धन्वन्त्यस्माद् इषवः (निरु.९.१६)। वज्रः = वज्रस्त्रिष्टुप् (मै.सं.३.२.१०; श.ब्रा. ३.६.४.२२; काठ.सं.२१.२)] अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न वृक्ष संज्ञक तेजस्वी लोकों में [अन्तरिक्ष में सूर्यादि लोक स्पेस को कर्व करके यत्र-तत्र स्थित होते हैं। इनमें नाना प्रकार

की छेदन-भेदन आदि क्रियाएँ निरन्तर सम्पादित होती रहती हैं। इसके साथ ही विभिन्न पृथ्वी आदि लोक इन्हीं के प्रबल आकर्षण बल में निवास करते और गमन करते हैं, इस कारण इन लोकों को हमने वृक्ष कहा है। इन लोकों में नाना प्रकार की अत्यन्त तीक्ष्ण रश्मियाँ विद्यमान होने से इन्हें भी धनुष वा वज्र कह सकते हैं। ध्यातव्य है कि पूर्वोक्त प्रसङ्ग में स्पेस की अङ्गभूत प्राणापान रश्मियाँ ज्या अर्थात् धनुष की प्रत्यञ्चा के समान कार्य करती हैं। उस समय स्पेस की अङ्गभूत दैवी व याजुषी त्रिष्टुप् का युग्म धनुष अर्थात् ज्या के आधार का कार्य करता है।] (नियता, मीमयत्, गौः) 'नियता मीमयद् गौः शब्दं करोति मीमयतिः शब्दकर्मा' [मीमयत् = 'मीमृ गतौ शब्दे च' धातु से निष्पन्न] पूर्वोक्त गौ की विकाररूप ज्या संज्ञक रश्मियाँ, जिनकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं, नियन्त्रणपूर्वक गतिशील रहती हुई नाना प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करती रहती हैं। (ततः) उसके कारण वे गौ वा ज्या संज्ञक रश्मियाँ (पूरुषादः) 'पुरुषानदनाय' [पुरुषः = इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरिशेते तस्मात् पुरुषः (श.ब्रा.१३.६.२.१), पुरुषो वै यज्ञः (जै.उ.४.२.१)] अन्य पुरुष संज्ञक वायु अर्थात् छन्द व प्राण रश्मियों के मिश्रण का भक्षण करके नाना प्रकार के स्थूल कणों का भक्षण करती हैं वा इन्हें विखण्डित कर देती हैं।

(वयः) 'विरिति शकुनिनाम वेतेर्गतिकर्मणः' [वयः = पक्षिण इव गायत्र्यादीनि छन्दांसि (म.द.य.भा.२.१६), प्राणो वै वयः (ऐ.ब्रा.१.२८)। शकुनिः = शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं शक्नोति नदितुमिति वा शक्नोति तकितुमिति वा सर्वतः शंकरोऽस्त्विति वा शक्नोतेर्वा (निरु.९.३)] गायत्री छन्द रश्मियाँ, जो स्वयं को उठाती हुई और ध्वनि करती हुई शक्तिसम्पन्न होती हैं। इन्हीं वयो रश्मियों को यहाँ इषु भी कह सकते हैं, क्योंकि ये प्रहार करने में विशेष सक्षम होती हैं। ऐसी वे रश्मियाँ (प्र, पतान्) 'प्रपतन्ति' तीव्र वेग से उन कणों पर गिरती हैं। तारों के अन्दर ऐसी क्रियाएँ होती रहती हैं, जहाँ स्थूल कण इन रश्मियों के प्रहार से छिन्न-भिन्न होकर आयन्स में परिवर्तित होते रहते हैं, इसलिए इन रश्मियों को पूरुषाद कहा है। (अथ) और (इदम्, विश्वम्) यह सम्पूर्ण (भुवनम्) सूर्य्यादि तेजस्वी लोक (इन्द्राय) तीव्र विद्युत् आवेशित तरंगों को (सुन्वत्) उत्पन्न करते हुए (च) और (ऋषये) [ऋषिः = अग्निर्ऋषिः (मै.सं.१.६.१)] विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को (शिक्षत्) [शिक्षति = शिक्षति दानकर्मा (निघं.३.२०)] देते अर्थात् उत्सर्जित करते हुए

(भयात) कम्पन करता रहता है।

भावार्थ— विभिन्न तारों में कुछ तीक्ष्ण रश्मि व तरंगें नियन्त्रित वेग से नाना ध्वनियों को उत्पन्न करती हुई स्थूल कणों को छिन्न-भिन्न करके आयन्स में परिवर्तित करती रहती हैं। ये सूर्यादि लोक निरन्तर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा विद्युत् आवेशित तरंगों को उत्सर्जित करते रहते हैं। इस क्रिया को करते समय इन लोकों में कम्पन होता रहता है। उल्लेखनीय है कि ये क्रियाएँ इन लोकों में सतत होती रहती हैं, इस कारण इनमें कम्पन भी सतत होता रहता है। यह छन्द रश्मि इन सब क्रियाओं में अपनी भूमिका निभाती है।

यहाँ इसी 'वी' धातु से बाण का भी ग्रहण होता है।

आदित्योऽपि गौरुच्यते।
उतादः परुषे गवि। [ऋ.६.५६.३]
पर्ववति। भास्वतीत्यौपमन्यवः।
अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्।
आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति।
सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। [यजु.१८.४०]
इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते।
अत्राह गोरमन्वत। [ऋ.१.८४.१५] इति।
तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते॥ ६॥

आदित्य लोक एवं उसकी रश्मियों को भी 'गौः' कहा जाता है। इसके उदाहरण के रूप में 'उतादः परुषे गवि' इस मन्त्रांश को उद्धृत करते हैं। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद्रथीतमः॥ (ऋ.६.५६.३)

इस मन्त्र का ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज, देवता पूषा तथा छन्द विराड् गायत्री है। इसका अर्थ है कि यह छन्द रश्मि सूत्रात्मा वायु रूपी बृहस्पति से उत्पन्न नाना बलों को धारण करने वाली प्राण नामक प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती है। [पूषा = असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.५.२), पशवो वै पूषा (श.ब्रा.१३.१.८.६), अन्नं वै पूषा

(कौ.१२.८)] इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न संयोज्य छन्दादि रश्मियाँ समृद्ध होकर सम्पूर्ण सूर्य को पुष्ट करती हैं अर्थात् उसकी तेजस्विता में वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (उत) और (परुषे) [पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः (निरु.२.६), पर्व पुनः पृणातेः, प्रीणातेर्वा (निरु.१.२०), पृणाति दानकर्मा (निघं.३.२०)] पर्ववान् अर्थात् ऐसे जोड़ों वाले, जो उसके विभिन्न भागों को जोड़े रखने में सहायक होते तथा जिनमें से विभिन्न भागों के मध्य कुछ रश्मि आदि पदार्थों का सतत संचरण होता रहता है, ऐसे पर्वों तथा प्रकाश से युक्त (गवि) सूर्यलोक में (अदः, रथीतमः) [रथः = वज्रो वै रथः (तै.सं.५.४.११.२)] तीक्ष्णतम वज्र रश्मियों से युक्त वे (सूरः, चक्रम्, हिरण्ययम्) तेजोमय प्रेरक विद्युत् धाराओं के चक्र (नि, ऐरयत्) निरन्तर पदार्थ को प्रेरित करते रहते हैं। महर्षि उपमन्यु के शिष्य औपमन्यव ने ही यहाँ सूर्यलोक को पर्वों वाला कहा है। ग्रन्थकार ने उन्हीं के मत को यहाँ ग्रहण किया है।

भावार्थ— सूर्यादि तेजस्वी लोकों में सम्पूर्ण पदार्थ एक जैसी अखण्ड अवस्था में विद्यमान नहीं होता, बल्कि उसमें पदार्थ विभिन्न खण्डों के समुदाय के रूप में होता है, जैसे इस ग्रन्थ के १.२० में पर्वत व मेघ के बारे में ऐसा कहा गया है। सूर्यलोक के ये भाग सन्धियों से जुड़े रहते हैं, जिनमें से कुछ सन्धानक रश्मियों का परस्पर विनिमय होता रहता है और इस विनिमय से सम्पूर्ण पदार्थ एक लोक के रूप में अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। ऐसे उस सूर्यलोक में तीक्ष्णतम रश्मियों से युक्त तेजस्वी विद्युत् धाराओं के चक्र चलते रहते हैं, जो पदार्थ को केन्द्रीय भाग की ओर प्रेरित करते रहते हैं। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से ये क्रियाएँ समृद्ध होती हैं। अब आगे ग्रन्थकार लिखते हैं— 'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम् आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति' अर्थात् इसके अनन्तर भी इस आदित्य की सुषुम्ना नामक एक विशेष प्रकार की रश्मियों से चन्द्रमा प्रकाशित होता है, यह बात इस अगले मन्त्र से जाननी चाहिए। यह चन्द्रमा उसी आदित्य की उस सुषुम्ना नामक रश्मियों के कारण दीप्तिमान् होता है अर्थात् इसमें अपनी दीप्ति नहीं होती। इस विषय में एक वेद मन्त्र इस प्रकार है—

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥ (यजु.१८.४०)

इसका ऋषि देवा, देवता चन्द्रमा तथा छन्द निचृदार्षी जगती है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राथमिक प्राण रश्मियों, विशेषकर प्राणापानव्यान से होती है। इसके दैवत प्रभाव से चन्द्रमा [चन्द्रमाः = सोमो राजा चन्द्रमाः (श.ब्रा.१०.४.२.१), चन्द्रमा वै सोमः (कौ.ब्रा.१६.५, तै.ब्रा.१.४.१०.७)] अर्थात् सोम वा विभिन्न मरुद् रश्मियाँ समृद्ध होती हैं। इसके छान्दस प्रभाव से प्रकाश के उत्सर्जन एवं अवशोषण की प्रक्रिया में वृद्धि होती है।

आधिदैविक भाष्य— (सूर्यरश्मिः) सूर्य की विशेष प्रकार की वे रश्मियाँ (सुषुम्णः) जो सुखदायक होती हैं [सुम्नः = सुखनाम (निघं.३.६), सुषुम्ण ऽइति सुयज्ञिय ऽइत्येतत् (श.ब्रा.९.४.१.९)] तथा जो विशेष रूप से यजनशील होती हैं। वे (चन्द्रमाः) उन ऐसी सूर्य रश्मियों से प्रकाशित होने वाले एवं सुन्दर दिखाई देने वाले चमकीले लोक (गन्धर्वः) उन सूर्य रश्मियों, विशेषकर सुषुम्ण नामक रश्मियों को धारण करने वाले होने से गन्धर्व कहलाते हैं। [गन्धर्वाः = योषित्कामा वै गन्धर्वाः (श.ब्रा.३.२.४.३)] इसकी रश्मियाँ स्त्रीरूप पदार्थों को आकृष्ट करती हैं, किंवा इसकी दीप्ति में संयोग प्रक्रिया में वृद्धि होती है। (तस्य) उस चन्द्रमा की (नक्षत्राणि, अप्सरसः) [नक्षत्रः = नक्षति व्याप्तिकर्मा (निघं. २.१८), तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं यन्न क्षियन्ति (गो.उ.१.८), नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः (निरु. ३.२०)। अप्सरसः = मरीचयोऽप्सरसः (श.ब्रा.९.४.१.८)] किरणें, जो निरन्तर आकाश में व्याप्त होती हुई गति करती हैं अर्थात् इनके फोटोन फैले हुए संगमन करते तथा अपनी गति को कभी खोते नहीं हैं। इसका अर्थ यह है कि इन किरणों की गति सदैव स्थिर रहती है, ऐसी वे किरणें (भेकुरयः, नाम) भेकुरि नाम से प्रसिद्ध हैं। [भेकुरयः = भेकुरयो नामेति भाकुरयो ह नामैते भाँ हि नक्षत्राणि कुर्वन्ति (श.ब्रा.९.४.१.९)] ये सबको प्रकाशित करने वाली होती हैं तथा सुन्दर दिखाई देती हैं।

(सः) वह चन्द्रमा अथवा उसकी किरणें (नः) हमारे अर्थात् इस ऋचा की ऋषिरूप प्राणादि रश्मियों से निर्मित (इदम्, ब्रह्म, क्षत्रम्) ब्रह्म एवं क्षत्र संज्ञक गायत्री व त्रिष्टुप् छन्द रश्मि आदि नाना प्रकार के पदार्थों [इन पदार्थों के विषय में जानने हेतु 'वेदविज्ञान-आलोकः' का ३४ वाँ अध्याय पठनीय है।] को (पातु) धारण करती हैं अर्थात् चन्द्रमा के प्रकाश में ये दोनों प्रकार के पदार्थ विशेष सक्रिय होते हैं। (तस्मै, वाट्) नाना क्रियाओं का वहनकर्त्ता चन्द्रमा इन ब्रह्म व क्षत्र संज्ञक पदार्थों के द्वारा किंवा सूर्य की सुषुम्णा रश्मियों

द्वारा (स्वाहा) अपनी सभी क्रियाएँ उत्तमता से सम्पादित करने में समर्थ होता है। (ताभ्य:, स्वाहा) चन्द्रमा की रश्मियों की नाना क्रियाएँ भी उन्हीं ब्रह्म व क्षत्र संज्ञक रश्मि आदि पदार्थों के द्वारा सुष्ठुरूपेण सम्पन्न होती हैं।

भावार्थ— चन्द्रमा में स्वयं का कोई प्रकाश नहीं होता, बल्कि वह सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है। सूर्य में असंख्य प्रकार की किरणें होती हैं, जिन्हें वर्तमान विज्ञान केवल सात रंगों वाली दृश्य प्रकाश, अवरक्त एवं गामा तरंगें, इनके साथ-२ इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन व न्यूट्रिनो के रूप में ही जानता है। इनमें कई किरणें तीक्ष्ण एवं अधिक ऊर्जा वाली भी होती हैं। इनमें से चन्द्रमा अधिकांश को अपने अन्दर अवशोषित कर लेता है तथा शेष किरणों को परावर्तित कर देता है। ये किरणें हमारे लिए मृदु व सुखद होती हैं, इसी कारण इन्हें सुषुम्ना कहते हैं। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने सूर्य में एक हजार प्रकार की रश्मियों का होना लिखा है, जिनमें विद्यमान एक रश्मि, जिसका नाम सुषुम्ना है, के द्वारा चन्द्रमा का दीप्तिमान् होना लिखा है। महर्षि जैमिनि के कथन—

'सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मय:' (जै.उ.१.१४.३.५)

से ही सम्भवत: पण्डित भगवद्दत्त ने एक हजार रश्मियों का होना ग्रहण किया है। हमारी दृष्टि में यहाँ सहस्र का अर्थ असंख्य अधिक उपयुक्त रहेगा। यद्यपि एक हजार ग्रहण करना भी सम्भव है। इसी प्रकार सुषुम्ना को पण्डित भगवद्दत्त ने एक रश्मि माना है, लेकिन हमारे मत में मृदु व सुखद रश्मियों के समूह को ही यहाँ सुषुम्ना नाम दिया गया प्रतीत होता है, क्योंकि चन्द्रमा के प्रकाश में केवल एक ही प्रकार अर्थात् समान आवृत्ति की ही किरणें नहीं होती। इस कारण हमने मृदुस्पर्श वा सुखद प्रतीत होने वाली रश्मियों के समूह को ही सुषुम्ना माना है। चन्द्रमा इन रश्मियों से युक्त होने के कारण गन्धर्व कहा जाता है।

चन्द्रमा की किरणें स्त्रीरूप कणों वा तरंगों को विशेष आकृष्ट करती हैं। प्राणियों में मादा प्राणियों में कामेच्छा का उदय वा अपेक्षाकृत प्रबलता एवं गर्भधारण वा निषेचन की प्रक्रिया की सम्भावना की प्रबलता चन्द्रमा के प्रकाश में होती है वा नहीं, यह मुझे ज्ञात नहीं, लेकिन कणों व तरंगों की भाँति इनमें भी ऐसा होना चाहिए, ऐसा हमारा मत है। इसका आशय है कि चन्द्रमा की चाँदनी में संयोग की प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक होती है। ये प्रकाश रश्मियाँ सदैव निश्चित गति से ही गमन करती हैं। उसमें न्यूनता वा अधिकता का

होना सम्भव नहीं। हाँ, कभी-२ इसका अपवाद भी देखा जा सकता है। ये किरणें आकाश में फैली हुई गमन करती हैं। चन्द्रमा की किरणें सुन्दर दिखाई देती हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में ब्रह्म व क्षत्र संज्ञक पदार्थ अर्थात् गायत्री व त्रिष्टुप् अथवा प्राण व अपान रश्मियाँ अधिक सक्रिय होती हैं, जो यजन क्रिया को समृद्ध करने में सहायक होती हैं। इनके सक्रिय होने से ही चन्द्रमा की किरणें अपने सभी प्रभावों को उत्तमता से दर्शाती हैं। इस छन्द रश्मि का सृष्टि पर प्रभाव भाष्य व भावार्थ के अनुकूल ही होता है।

यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं— 'सोऽपि गौरुच्यते' अर्थात् यह उपर्युक्त सुषुम्ना रश्मि भी गौ कहलाती है। इस विषय में प्रमाण देते हुए ऋग्वेद को उद्धृत करते हुए लिखा है— 'अत्राह गोरमन्वत' (ऋ.१.८४.१५)। इसकी व्याख्या आगे इसी ग्रन्थ के खण्ड ४.२५ में की जायेगी। सूर्य की सभी प्रकार की रश्मियाँ गौ कहलाती हैं।

* * * * *

सप्तमः खण्डः

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ [ऋ.१.१५४.६]
तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय। यत्र गावो भूरिशृङ्गाः बहुशृङ्गाः। भूरीति बहुनो नामधेयम्। प्रभवतीति सतः। शृङ्गं श्रयतेर्वा। शृणातेर्वा। शम्नातेर्वा। शरणायोद्गतमिति वा। शिरसो निर्गतमिति वा। अयासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं पराध्र्यस्थमवभाति भूरि।

अब इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत ऋचा पर विचार करते हैं—

इसका ऋचा का ऋषि दीर्घतमा, देवता विष्णु तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसका आशय है कि इसकी उत्पत्ति लम्बमान होते हुए एक प्राण विशेष से होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सूर्य की किरणें तीक्ष्ण तेज को प्राप्त करती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (यत्र, भूरिशृङ्गाः, गावः) 'यत्र गावो भूरिशृङ्गाः बहुशृङ्गाः भूरीति

बहुनो नामधेयम् प्रभवतीति सतः शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा' जहाँ अति तीक्ष्ण [शृङ्गम् = शृङ्गाणि ज्वलतोनाम (निघं.१.१७)] ज्वालाओं से युक्त हिंसक अर्थात् पदार्थों का छेदन व भेदन करने में सक्षम किरणें सूर्यलोक में आश्रित होती हैं। यहाँ 'भूरि' से तात्पर्य 'बहुत बड़ी मात्रा में है', ऐसा जानना चाहिए। ये सभी रश्मियाँ भी गौः कहलाती हैं। यहाँ ग्रन्थकार के कथन 'प्रभवतीति सतः' से स्पष्ट है कि ये तीक्ष्ण तरंगें अर्थात् उच्च ऊर्जा वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगें सूर्यलोक में होने वाली अनेक क्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ होती हैं। ये रश्मियाँ बड़े कणों पर प्रहार करके उन्हें आयनों में परिवर्तित कर देती हैं। ये किरणें विभिन्न हानिकारक अथवा प्रतिकर्षक बलयुक्त असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करके शान्त करने में समर्थ होती हैं। वे रश्मियाँ 'शरणाय उद्गतानि' [शरणम् = गृहनाम (निघं.३.४)] नाना प्रकार के कणों को वास = स्थान प्रदान करने के लिए ऊपर की ओर उठती रहती हैं अर्थात् ऊपर की ओर प्रवाहित होती रहती हैं। इसके साथ ही शिरोभाग [गायत्रं हि शिरः (श.ब्रा.८.६.२.६)] अर्थात् गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता वाले पदार्थ से निरन्तर उत्सर्जित होती रहती हैं। (अयासः) 'अयासोऽयनाः' अर्थात् ये तरंगें सदैव गमनशील होती हैं अर्थात् ये कभी विराम को प्राप्त नहीं होतीं। इसके साथ ही ये सम्पूर्ण सूर्यलोक में व्याप्त होती हैं।

(ताः, वाम्, वास्तूनि) 'तानि वां वास्तूनि' उन आने और जाने वाली तरंगों को [वास्तु = अवीर्यं वै वास्तु (श.ब्रा.१.७.३.१७), वसन्ति प्राणिनो यत्र तद् वास्तु गृहं वा (उ.को.१.७०)] सूर्यलोक के अन्दर विभिन्न गृहों, जो न्यूनतर दीप्ति व बल से युक्त होते हैं (गमध्यै) 'गमनाय' को विभिन्न क्षेत्रों में प्रवाहित करने हेतु अर्थात् उनमें सम्यक् गमन करने हेतु (उश्मसि) 'कामयामहे' वे ऋषि रूप दीर्घतमा नामक प्राण रश्मियाँ उन किरणों को आकर्षित करती हैं, जिससे सूर्यलोक में विभिन्न किरणों के गमनागमन की क्रिया निर्बाध रूप से होती रहती है। (अत्र, अह, तत्, उरुगायस्य) 'तत्र तदुरुगायस्य' उन स्थानों में [उरु = बहुनाम (निघं.३.१), गयः = गृहनाम (निघं.३.४), प्राणा वै गयाः (श.ब्रा. १४.८.१५.७)] उस सूर्यलोक में विद्यमान व्यापक प्राणतत्त्व से युक्त क्षेत्र, (वृष्णः) 'विष्णोर्महागतेः' जो अति तीव्रगामी रश्मि व कण आदि पदार्थों से अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न होते हैं, (परमम्, पदम्) 'परार्ध्यस्थम्' अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकाश में स्थित होते हुए

(अव, भाति, भूरि) अत्यन्त चमकते हैं।

भावार्थ— तारे के अन्दर कुछ किरणें अत्यन्त तीक्ष्ण होती हैं, जिनकी छेदन-भेदन क्षमता बहुत अधिक होती है। ये किरणें अणुओं (मोलिक्यूल्स) वा परमाणुओं (एटम्स) को तोड़कर आयनों में परिवर्तित करती हैं। ये किरणें निर्माणाधीन तारों के अन्दर विद्यमान कथित डार्क एनर्जी आदि बाधक पदार्थों को नियन्त्रित वा नष्ट करके तारों के अन्दर होने वाली क्रियाओं को सम्यक् रूप से सम्पन्न कराने में सहायक होती हैं। ये किरणें निरन्तर ऊपर की ओर प्रवाहित होती रहती हैं। ये किरणें तारों के केन्द्रीय भाग में निरन्तर उत्पन्न होती रहती हैं। ये सम्पूर्ण तारे में गमन करती हुई व्याप्त रहती हैं। तारे के जिस भाग में ताप अपेक्षाकृत न्यून होता है, उस भाग में उन किरणों को प्रवाहित करने के लिए दीर्घतमा ऋषि नामक प्राण रश्मियाँ उन्हें आकर्षित करती रहती हैं। इसके कारण उन भागों में भी वे तीक्ष्ण किरणें प्रवाहित होने लगती हैं। इससे धीरे-२ वह क्षेत्र भी उच्च ताप प्राप्त कर लेता है और अन्य किसी क्षेत्र में न्यून ताप की स्थिति बन जाती है। इसे हम इस प्रकार मान सकते हैं कि सूर्य के अन्दर अपेक्षाकृत कम ताप वाले काले धब्बे वाले क्षेत्र अपना स्थान निरन्तर परिवर्तित करते रहते हैं। उस क्षेत्र अर्थात् केन्द्रीय भाग, जिसमें ये किरणें उत्पन्न होती हैं, वह सूर्य का अत्यन्त श्रेष्ठ भाग होता है और उसका ताप भी अन्य भागों की अपेक्षा बहुत अधिक होता है।

इस मन्त्र रूपी छन्द रश्मि के प्रभाव से भाष्य व भावार्थ में दर्शाए गये प्रभाव के उत्पन्न होने में सहयोग मिलता है किंवा इसी छन्द रश्मि के प्रभाव से यह उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रभाव होता है।

पादः पद्यतेः। तन्निधानात्पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि। एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते। तानि चेत्समानकर्माणि समाननिर्वचनानि। नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि।

गत्यर्थक 'पद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके 'पद्यते गम्यते अनेन इति पादः' 'पादः'

शब्द व्युत्पन्न होता है अर्थात् जिससे कोई प्राणी गमन करता है, वह पैर पाद कहलाता है। यह 'पादः' का निर्वचन हुआ। अब यह पाद जहाँ रखा जाता है और उससे जो चिह्न बन जाता है, उसे पद कहते हैं। यह योगरूढ़ार्थ हुआ। अब इसके यौगिकार्थ पर विचार करते हैं और इससे वैदिक छन्द रश्मि के सिद्धान्त को समझने का प्रयास करते हैं—

किसी भी छन्द के पाद को पाद क्यों कहते हैं? इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'पादः पद्यतेः' अर्थात् छन्द रश्मियों के गमन में उस रश्मि के पादों, जो स्वयं अपेक्षाकृत लघु छन्द रश्मि है, की ही मुख्य भूमिका होती है। अब 'पदम्' का निर्वचन करते हुए लिखा— 'तन्निधानात् पदम्' अर्थात् उस पाद संज्ञक लघु छन्द रश्मि को धारण करने से अथवा उनमें धारण किए जाने से नामवाची, क्रियावाची अथवा अव्ययरूप शब्द पद कहलाते हैं। ये भी लघुतर छन्द रश्मि के ही रूप हैं। ये पद रूप रश्मियाँ पाद रूप रश्मियों में नितराम् भरी रहती हैं किंवा ये ही पादरूप रश्मियों का निर्माण करती हैं।

इसके पश्चात् लिखा—'पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः' अर्थात् जिस प्रकार पशु के चार पैर होते हैं, उसी स्वभाव वाले अर्थात् उसी की भाँति किसी छन्द (मन्त्र) वा श्लोक के चतुर्थ भाग को पाद कहते हैं। ऐसा ही व्याख्यान सभी भाष्यकारों ने किया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह आवश्यक नहीं कि सभी छन्दों में कुल चार ही पाद हों, किसी में तीन, किसी में चार से अधिक, तो किसी में एक वा दो भाग भी हो सकते हैं और उन सभी भागों को पाद ही कहते हैं। ऐसी स्थिति में पशु के एक पैर से तुलना कैसे होगी? हमारी दृष्टि में इसका समाधान दो प्रकार से सम्भव है, जिसमें प्रथम यह है कि वेदों में चार पाद वाले मन्त्रों की ही प्रधानता है, अन्य प्रकार के मन्त्रों की संख्या अपेक्षाकृत न्यून होने से पशु के पैरों से तुलना की गयी है। इसके अतिरिक्त अन्य समाधान यह है कि यहाँ पशु का अर्थ छन्द है, जैसा कि आर्षमत है— पशवो वै देवानां छन्दांसि (श.ब्रा.४.४.३.१), पशवो वै छन्दांसि (श.ब्रा.७.५.२.४२), पशवश्छन्दांसि (ऐ.ब्रा.४.२१)।

तब 'पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः' का अर्थ है—

किसी भी छन्द के पाद के स्वभाव के समान प्रभाग अर्थात् उसके एक खण्डरूप पद (शब्द) को भी पाद कहते हैं। ग्रन्थकार ने इसी ग्रन्थ के ५.१७ में 'पदा = पादेन' कहकर पद को पाद कहा है। इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण छन्द रश्मि के अन्दर जो कार्य

पादरूप रश्मियों का होता है, वही कार्य किसी पादरूप रश्मि में पदरूप सूक्ष्म रश्मि का होता है। इसका आशय यह है कि छन्द रश्मि की गति का साधन उसके पाद होते हैं, तब उन पादरूप रश्मियों की गति का साधन उनके पद होते हैं। यहाँ यह निष्कर्ष भी निकलता है कि जिन पद समूहों का सम्मिलित प्रभाव छन्द रश्मि की गति में विशिष्ट भूमिका निभाता है, वह भाग उस छन्द का एक पाद कहलाता है। पादों का विभाजन एक गम्भीर वैज्ञानिक प्रक्रिया है, यदृच्छया नहीं। यही कारण है कि विभिन्न छन्दों में भिन्न-२ संख्या में पदों वा वर्णों का समूह पाद कहलाता है।

अब आगे लिखते हैं— 'प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि' अर्थात् उन पदरूप पादों के समान ही अन्य पदार्थों के भागों को पद वा पाद कहते हैं। श्लोकों के भागों को भी पाद वा पद कहते हैं। यहाँ सभी पदार्थों से तात्पर्य पञ्च महाभूत एवं उनसे निर्मित स्थूल पदार्थ मानना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि जब किसी पदार्थ में गति होती है और गति का तात्पर्य है— किसी भी प्रकार की क्रिया का होना, तब उस पदार्थ के प्रत्येक भाग में वह क्रिया हो रही होती है किंवा प्रत्येक भाग उस क्रिया से प्रभावित होता है। यह प्रभाव अणुओं (मोलिक्यूल्स), परमाणुओं (एटम्स), उपपरमाण्विक कणों (सब-एटॉमिक पार्टिकल्स) और अन्ततः छन्द व प्राण रश्मियों तक होता है, यही ग्रन्थकार अर्थात् महर्षि यास्क का अभिप्राय है।

इसके पश्चात् कहते हैं कि पद व पाद की भाँति अन्य पदार्थों के विषय में भी सन्देह हो सकता है। उनमें जिन-जिन पदार्थों के गुण, कर्म व स्वभाव समान हों, उनका निर्वचन समान प्रकार से करना चाहिए और जिनके गुण, कर्म व स्वभाव भिन्न-२ हों, उनका निर्वचन भिन्न-२ प्रकार से करना चाहिए। निर्वचन अर्थ के अनुसार ही करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि कोई एक ही शब्द पृथक्-२ स्थानों पर एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, तो उसका निर्वचन उन सभी स्थानों पर एक समान ही करना चाहिए और यदि वह शब्द पृथक्-२ स्थानों पर पृथक्-२ अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, तो उस शब्द का निर्वचन भी पृथक्-२ स्थानों पर पृथक्-२ ही होना चाहिए।

इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि।
तत्र निर्ऋतिर्निरमणात्। ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा। सा पृथिव्या सन्दिह्यते।

तयोर्विभागः। तस्यैषा भवति॥ ७॥

ये २१ नाम क्रमशः पृथिवी के वाचक हैं अर्थात् ये सभी पृथिवी अर्थ में पढ़े गए हैं। निघण्टु में ये नाम इस प्रकार दर्शाये गये हैं—

गौः। ग्मा। ज्मा। क्ष्मा। क्षा। क्षमा। क्षोणिः। क्षितिः। अवनिः। उर्वी। पृथ्वी। मही। रिपः। अदितिः। इळा। निर्ऋतिः। भूः। भूमिः। पूषा। गातुः। गोत्रा।

१. गौः — इस पद का निर्वचन स्वयं ग्रन्थकार ने किया है, जिसकी व्याख्या हम कर ही चुके हैं।

अन्य पदों की व्याख्या में डॉ. सुद्युम्नाचार्य एवं विद्यावारिधि आचार्य विजयपाल के निर्वचनों, जो 'निघण्टु-निर्वचनम्' में वर्णित हैं, का आश्रय लेकर उनकी व्याख्या अपनी शैली के आधार पर करेंगे। ध्यातव्य है कि एक ही पदार्थ को अनेक नामों से पुकारना महर्षि यास्क की अज्ञानता नहीं, बल्कि उस पदार्थ के स्वरूप के विस्तृत विज्ञान का परिचायक है। अब हम अन्य बीस पदों की क्रमशः व्याख्या करते हैं—

२. ग्मा — इस पद को भी इन विद्वानों ने 'गम्लृ' धातु से ही व्युत्पन्न मानते हुए वेंकटमाधव को उद्धृत करते हुए लिखा है—

"ग्मा गच्छतेः, गच्छन्ती हीयम्"

अब यहाँ प्रश्न यह है कि 'गौः' व 'ग्मा' दोनों एक ही धातु से व्युत्पन्न हैं, तब एक ही पदार्थ के लिए इन दोनों पदों का प्रयोग क्यों करना पड़ा?

'गौः' पद की व्याख्या की ही जा चुकी है, इस कारण यहाँ 'ग्मा' पद पर ही विचार करते हैं। हमारे मत में 'ग्मा' पद यह दर्शाता है कि वे 'गौः' संज्ञक पृथिव्यादि लोक पूर्वोक्त प्रकार से गमन करते हुए अन्तरिक्ष से अनेक प्रकार के रश्मि आदि पदार्थों को प्राप्त करते जाते हैं। वे पदार्थ सरल मार्ग पर गमन न करके इधर-उधर, ऊपर-नीचे स्पन्दित होते हुए गमन करते समय ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे अपने निकटस्थ अन्तरिक्ष को मापते हुए जा रहे हों अथवा अपनी कक्षा वा मार्ग की मर्य्यादा को निर्धारित करते जा रहे हों। यहाँ 'मा' का यही अक्षर-प्रभाव है।

३. ज्मा — इस पद को 'जमति गतिकर्मा' (निघं.२.१४) एवं 'जमु अदने' तथा 'जनी प्रादुर्भावे' धातुओं से व्युत्पन्न माना है। इससे संकेत मिलता है कि पृथिव्यादि लोक गति करते समय अन्तरिक्ष में विद्यमान निकटवर्ती सूक्ष्म रश्मि वा कण आदि पदार्थों को अवशोषित करते जाते हैं, साथ ही कुछ सूक्ष्म पदार्थों को उत्पन्न करते हुए अन्तरिक्ष में विसर्जित करते जाते हैं।

४. क्ष्मा — यह पद 'क्षि क्षये' एवं 'क्षि हिंसायाम्' धातुओं से व्युत्पन्न माना जा सकता है। इसका आशय है कि ये लोक गमन करते हुए धीरे-२ क्षीण होते चले जाते हैं, उनकी गति में भी निरन्तर न्यूनता आती चली जाती है, भले ही वह नगण्य हो। ये लोक मार्ग में आने वाले असुरादि बाधक पदार्थों को नष्ट करते जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होवे, तो ये लोक गमन कर ही नहीं सकते अथवा इनकी गति तेजी से मन्द होती हुए अल्प काल में ही बन्द हो जावे।

५. क्षा — यह पद भी उपर्युक्त धातुओं से ही व्युत्पन्न माना गया है। इसमें तथा 'क्ष्मा' में भेद यह है कि 'क्ष्मा' पद से यह प्रकट होता है कि असुरादि नाम की उपर्युक्त प्रक्रिया अपने निकटवर्ती क्षेत्र में ही होती है, परन्तु इस 'क्षा' पद से यहाँ प्रकट हो रहा है कि यह प्रक्रिया व्यापक स्तर अर्थात् कक्षा से कुछ दूर तक भी होती है। शेष समानता है।

६. क्षमा — यह पद 'क्षमूष् सहने' धातु से निष्पन्न माना है। इससे संकेत मिलता है कि ये लोक गमन करते समय असुरादि पदार्थों की बहुत बड़ी बाधा को सहन करते हैं। इस बाधा को पार लगाने में कुछ विशेष रश्मियों की भूमिका होती है।

७. क्षोणिः — इसे 'टुक्षु शब्दे' धातु से व्युत्पन्न माना है। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी से कभी-२ विशेष प्रकार की ध्वनि निकलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भूकम्प, ज्वालामुखी विस्फोट आदि की ध्वनि की ओर संकेत है, जिसमें आभ्यन्तर ऊर्जा व लावा आदि पदार्थ भी बाहर निकलता है। 'टुक्षु शब्दे' धातु खाँसने व छींकने आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है। पृथ्वी में से भी कभी-२ ऐसी ही ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं और पदार्थ बहिर्गमन करता है। सम्भव है कि ध्रुव प्रदेशों में चुम्बकीय क्षेत्र की प्रबलता के कारण उन क्षेत्रों से भी आभ्यन्तरस्थ कुछ ऊर्जा निःसृत होकर ध्वनि उत्पन्न करती हो, भले ही उस ध्वनि को हम सुन सकें वा नहीं।

८. क्षितिः — यह पद 'क्षि निवासगत्योः' धातु से व्युत्पन्न माना है। इसका अर्थ है कि ये लोक विभिन्न जड़ पदार्थों व चेतन प्राणियों के निवास व गति के स्थान होते हैं।

९. अवनिः — यह पद 'अव रक्षणगतिकान्ति...' धातु से निष्पन्न माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि ये लोक विभिन्न प्राणियों व वनस्पतियों को संरक्षण देते, उन्हें गति देते, उन्हें भोजनादि पदार्थों से तृप्त व प्रसन्न करते और अपना आश्रय प्रदान करते हैं।

१०. उर्वी — यह पद 'ऊर्णुञ् आच्छादने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे संकेत मिलता है कि ये लोक अपने अन्दर नाना पदार्थों को ढके रहते हैं अर्थात् इनके गर्भ में नाना प्रकार के पदार्थ छिपे रहते हैं। इसके साथ ये लोक स्वयं भी हवा एवं विभिन्न प्रकार के कण आदि पदार्थों से आच्छादित रहते हैं।

११. पृथ्वी — इसे 'प्रथ प्रख्याने' धातु से व्युत्पन्न माना गया है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार वेद में यह धातु विस्तार अर्थ में प्रयुक्त है। हमारे मत में इससे दो रहस्य प्रकट होते हैं। इनमें प्रथम यह है कि जब विशाल आग्नेय पिण्ड का बाहरी भाग घूमता हुआ पृथक् होता है, तब वह बिखर जाता है। इस बिखरे हुए पदार्थ में कई विशाल पिण्ड होते हैं। इसके अतिरिक्त छोटे-२ सहस्रों पिण्ड व धूल जैसे कण भी भारी मात्रा में विद्यमान होते हैं। इसके पश्चात् वे पिण्ड अपने निकटवर्ती छोटे-२ पिण्डों व खगोलीय धूल व गैस को अपनी ओर आकृष्ट करके अपने आकार का विस्तार करते हैं। इसी प्रकार अन्य लोकों के विषय में भी समझें। इसलिए इसे पृथ्वी कहते हैं।

इसका दूसरा अर्थ यह निकलता है कि पूर्व में पृथ्वी जल से ढक गयी थी, फिर धीरे-२ उसके सिकुड़ने के कारण स्थल भाग धीरे-२ बाहर निकलता और अपना विस्तार करता गया। इसलिए इसे पृथ्वी कहा गया है।

१२. मही — यह पद 'मह पूजायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि पृथिव्यादि लोकों का स्थान इस ब्रह्माण्ड में बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ये लोक अन्य सभी लोकों की अपेक्षा सबसे सघन होते हैं। जो जैव विविधता पृथिव्यादि लोकों में पायी जाती है, वह सूर्य्यादि लोकों में नहीं हो सकती। हम मनुष्य लोग अपनी इस पृथ्वी का ही अन्य लोकों की अपेक्षा अधिक उपयोग करते हैं अर्थात् इसी की सर्वाधिक पूजा करते हैं, इस कारण इसे मही कहते हैं।

१३. रिपः — इस पद को 'रेपृ गतौ शब्दे च' धातु से व्युत्पन्न माना है। इससे स्पष्ट है कि ये लोक अन्तरिक्षस्थ नाना पदार्थों के घर्षण आदि प्रतिरोध के कारण ध्वनि उत्पन्न करते हुए गमन करते हैं।

१४. अदितिः — इस पद को नञ् पूर्वक 'दीङ् क्षये' धातु से व्युत्पन्न माना है। इसका अर्थ यह है कि ये लोक आयु भर उस प्रकार से क्षीण नहीं होते, जिस प्रकार सूर्य्यादि लोक होते रहते हैं। सूर्य्यादि लोक तो निरन्तर ऊर्जा उत्सर्जन के कारण अपने द्रव्यमान को ऊर्जा में परिवर्तित करते रहने से अपना द्रव्यमान खोते रहते हैं,[1] वैसा पृथिवी आदि लोकों में नहीं होता। क्षीणता इनमें भी होती है, परन्तु सूर्य्यादि के सापेक्ष अत्यल्प।

१५. इळा — इस पद की व्युत्पत्ति 'ईड स्तुतौ' एवं 'ञिइन्धी दीप्तौ' धातुओं से मानी है। इसका अर्थ है कि यह पृथ्वी एवं इसी श्रेणी के अन्य लोक अप्रकाशित होते हुए भी अव्यक्त प्रकाश को उत्पन्न करते रहते हैं। वस्तुतः इस सृष्टि में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो सर्वथा प्रकाशरहित हो।

१६. निर्ऋतिः — इसका निर्वचन स्वयं ग्रन्थकार ने कर दिया है, जिसकी व्याख्या हम कर चुके हैं।

१७. भूः — इसकी व्युत्पत्ति 'भू सत्तायाम्' धातु से होती है। इससे संकेत मिलता है कि प्रारम्भ में भूलोक विशाल खगोलीय पिण्ड के ऊपरी भाग में विद्यमान रहते हैं। इसके साथ ही इसमें सभी भूत विद्यमान होते हैं और वहाँ से पृथक् होकर दूर चले जाते हैं।

१८. भूमिः — इसकी व्युत्पत्ति भी 'भू सत्तायाम्' धातु से होती है और 'मि' प्रत्यय के होने से संकेत मिलता है कि उपर्युक्त 'भूः' संज्ञक पृथ्वी आदि लोक इतने दूर भी नहीं जाते हैं कि अपने उद्गम से सर्वथा पृथक् होकर पलायन कर जायें। वे उनके अर्थात् निर्माणाधीन सूर्यलोक के निकट ही गति अर्थात् परिक्रमण करते रहते हैं।

१९. पूषा — यह पद 'पुष पुष्टौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। पृथ्वी को पूषा कहने का कारण यह है कि सभी प्राणियों व वनस्पतियों का पोषण इसी से होता है।

---

[1] सूर्य प्रति सेकेण्ड ४० लाख टन द्रव्यमान खो देता है।

२०. गातुः — यह पद 'गा स्तुतौ' धातु से व्युत्पन्न माना है। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस पद को ग्रन्थकार ने वाङ्नामों में भी पढ़ा है। इससे स्पष्ट है कि पृथिव्यादि लोक निरन्तर वाक् रश्मियों को उत्सर्जित करते रहते हैं, इस कारण गातु कहलाते हैं। इस उत्सर्जन के कारण ही ये अव्यक्त दीप्ति व ध्वनियों को उत्पन्न करते हैं।

२१. गोत्रा — यह पद 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे' धातु से व्युत्पन्न माना गया है। यह पद भी यही सिद्ध करता है कि ये लोक अव्यक्त ध्वनियाँ उत्पन्न करते रहते हैं। इसके साथ ही ये ब्रह्माण्ड में दूर-२ तक रमण करते रहते हैं।

इन इक्कीस नामों में से एक नाम 'निर्ऋतिः' है। इसका निर्वचन करते हुए कहा है— 'निरमणात्' अर्थात् यह निरन्तर रमण अर्थात् क्रीड़ा करती हुई गमन करती रहती है। इसके साथ ही इसमें विभिन्न प्राणी भी निरन्तर रमण करते रहते हैं। यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर निरन्तर परिक्रमण तथा अपने अक्ष पर निरन्तर घूर्णन करती रहती है। इसमें कभी विराम नहीं आ पाता। यह पृथिवीवाची एक पद 'निर्ऋतिः' का निर्वचन हुआ।

अब दूसरे अर्थ में दूसरा निर्वचन करते हैं— 'ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः इतरा' अर्थात् दूसरा 'निर्ऋतिः' पद कष्ट-प्राप्ति अर्थ में 'ऋच्छ्' धातु से व्युत्पन्न है। अब यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि इस 'निर्ऋतिः' पद से पृथिवी नामवाची 'निर्ऋतिः' पद का सन्देह हो जाता है। वस्तुतः यह दोनों 'निर्ऋतिः' पदों में अर्थ का भेद है। इस कारण दोनों 'निर्ऋतिः' पद पृथक्-२ पदार्थ के वाचक हैं किंवा पृथक्-२ पदार्थ हैं, ऐसा सन्देह उत्पन्न करने के उदाहरण रूप में एक ऋचा को आगामी खण्ड में प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

= अष्टमः खण्डः =

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥

[ऋ.१.१६४.३२]

बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः। वर्षकर्मेति नैरुक्ताः।
य ईं चकारेति करोतिकिरती सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा। न सोऽस्य वेद मध्यमः।
स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योऽपहितम्। स मातुर्योनौ।
मातान्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन्भूतानि। योनिरन्तरिक्षम्। महानवयवः।
परिवीतो वायुना। अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव। परियुतो भवति।
बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा।

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा, देवता विश्वेदेवा तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इसका आशय है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त लम्बमान प्राण रश्मि विशेष से होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी प्रकार के देव पदार्थ अर्थात् सूक्ष्म कण व तरंगाणु तीव्र तेज व बल से युक्त होते हैं।

यहाँ कहा गया है— 'वर्षकर्मेति नैरुक्ताः' अर्थात् नैरुक्तों के मत में इस मन्त्र का अर्थ वर्षा-सम्बन्धी अर्थात् आधिदैविक होगा, जिसे हम नीचे दर्शा रहे हैं —

१. आधिदैविक भाष्य— (यः, ईम्, चकार) 'य ईं चकारेति करोतिकिरती सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा' [ईम् = उदकनाम (निघं.१.१२)] वह मेघ अथवा इन्द्र अर्थात् मेघस्थ तीव्र विद्युत् मेघस्थ जल अथवा उसकी वृष्टि की विभिन्न क्रियाओं को धारण करता है अथवा उस जल वा मेघ को सर्वत्र बिखेरता है अर्थात् वृष्टि करता है। यहाँ चकार में 'डुकृञ् करणे' तथा 'कृ विक्षेपे' इन दोनों क्रियाओं का सन्देह होता है और वस्तुतः वृष्टि प्रक्रिया में ये दोनों क्रियाएँ होती भी हैं। विद्युत् रूपी इन्द्र ही मेघों में जल को धारण करता है और वही वृष्टि की क्रिया करने में प्रमुख भूमिका निभाता है। ध्यातव्य है कि 'कृञ् करणे' धातु धारण करने में भी प्रयुक्त होती है। इसके साथ ही विद्युत् के कारण ही मेघों व जल का निर्माण भी होता है, जो 'कृञ् करणे' धातु का प्रसिद्ध अर्थ भी है।

(सः, अस्य, न, वेद) 'न सोऽस्य वेद मध्यमः स एवास्य वेद मध्यमः' वह मेघ वा मेघस्थ विद्युत् रूपी इन्द्र [यहाँ इन्द्र तत्त्व एवं मेघ मध्यमस्थानीय देवता कहलाते हैं, क्योंकि ये दोनों ही पदार्थ अन्तरिक्ष में निवास करते हैं।] इस वृष्टि क्रिया एवं उसके विज्ञान को नहीं जानते हैं। वह परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा रूपी इन्द्र ही वृष्टि क्रिया और उसके विज्ञान को

जानता है, क्योंकि वह परमात्मा रूपी इन्द्र मेघ, अन्तरिक्ष एवं इन्द्र आदि सभी पदार्थों के मध्य अर्थात् उनके अन्दर व बाहर सर्वत्र व्याप्त है।

(यः, ईम्, ददर्श) 'यो ददर्शादित्योऽपहितम्' वह परमात्मा रूपी इन्द्र सबके अन्दर विराजमान होता हुआ उन मेघ एवं मेघों के निर्माता विद्युत् रूपी इन्द्र को आदित्य अर्थात् प्राण एवं मास रश्मियों के द्वारा आच्छादित हुआ देखता एवं जानता है, क्योंकि वह परमात्मा मूल रूप से इन सब पदार्थों का निर्माता है। यहाँ 'आदित्य' का अर्थ त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियाँ भी ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऋषियों का कथन है—

त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यः (तां.ब्रा.४.६.२३)
जगती छन्द ऽआदित्यो देवता श्रोणी (श.ब्रा.१०.३.२.६)

इसका तात्पर्य यह है कि मेघों के निर्माण एवं वृष्टि प्रक्रिया में त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियों तथा स्वयं सूर्य की किरणों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है और इन सबको परमात्मा रूपी इन्द्र ही सम्पूर्ण रूप से जानता है। (सः, तस्मात्) इस कारण से वे मेघ अथवा उनमें स्थित इन्द्र तत्त्व (हिरुक्, इत्, नु, मातुः, योनौ, परिवीतः, अन्तः) 'मातुर्योनौ मातान्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन्भूतानि योनिरन्तरिक्षम् महानवयवः परिवीतो वायुना अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव परियुतो भवति' दोनों ही वृष्टि क्रिया को करते हुए भी उसके गूढ़ तत्त्व से अनजान अर्थात् उससे पृथक् रहते हुए अन्तरिक्ष रूपी माता के विशाल भाग विशेष में वायु अर्थात् विभिन्न प्रकार की छन्द एवं प्राण रश्मियों से आच्छादित होकर विद्यमान रहते हैं। स्त्री की योनि को भी इसी कारण योनि कहते हैं, क्योंकि यह भी मांसपेशियों व स्नायुओं से आच्छादित रहती है। (बहुप्रजाः) वे मेघ विद्युत् रूपी इन्द्र से ताड़ित होकर अनेक प्रकार की धाराओं रूपी प्रजा को उत्पन्न करने वाले होते हैं। ऐसे वे मेघ (निर्ऋतिम्, आ, विवेश) 'भूमिमापद्यते' पृथ्वी लोक को प्राप्त होते हैं अर्थात् मेघों से जलधाराएँ पृथ्वी पर सब ओर से बरसती हैं। यहाँ 'निर्ऋति' के दूसरे अर्थ का ग्रहण किया गया है।

भावार्थ— अन्तरिक्ष में स्थित नाना प्रकार के मेघ एवं उनमें विद्यमान विद्युत् विशाल जलराशि को धारण करती है, इसके साथ ही विद्युत् एवं त्रिष्टुप् तथा जगती छन्द रश्मियों द्वारा सूर्य के प्रकाश के सहयोग से बादलों का निर्माण होता है एवं इन्हीं की सहायता से वर्षा भी होती है। ये मेघ अथवा विद्युत् इन बादलों को बनाते भी हैं और बरसाते भी हैं,

परन्तु वृष्टि के गूढ़ विज्ञान को वे नहीं जानते वा जान सकते, क्योंकि वे जड़ पदार्थ हैं। उधर इन सब पदार्थों को रचने वाला ईश्वर इन जड़ पदार्थों को अपनी क्रियाओं को करने के लिए समुचित बल भी प्रदान करता है और उन क्रियाओं को सम्पूर्णता से जानता भी है। ये मेघ और विद्युत् आकाश के भाग विशेष में वायु तत्त्व अर्थात् कथित वैक्यूम एवं डार्क एनर्जी से आच्छादित होकर विद्यमान रहते हैं। वे मेघ विद्युत् एवं कथित वैक्यूम एवं डार्क एनर्जी के द्वारा छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वी पर बरसते हैं। ध्यातव्य है कि बादलों के बरसने में विद्युत् चुम्बकीय बलों की विशेष भूमिका रहती है और उन बलों को उत्पन्न करने एवं उनसे नाना प्रकार की क्रियाओं को कराने में वायु तत्त्व की भी भूमिका रहती है।

२. आधिदैविक भाष्य— (यः) जो विशाल खगोलीय मेघ (ईम्) नाना प्रकार के [ईम् = जलं पृथिवीं च (म.द.ऋ.भा.१.४.७), सर्वां क्रियाम् (म.द.ऋ.भा.१.१६४.३२)] आपः एवं पार्थिव अणुओं के साथ-२ सर्वत्र सभी प्रकार अथवा अनेक प्रकार की क्रियाओं व बलों को (चकार) धारण करता है अथवा इन पदार्थों को सम्पूर्ण क्षेत्र में बिखेरता वा फैलाता रहता है। इसका अर्थ यह है कि उस सम्पूर्ण मेघ में पदार्थ इतस्ततः गमनागमन करता रहता है और उसमें नाना प्रकार से विक्षोभ होता रहता है। यहाँ 'कृञ् करणे' एवं 'कृ विक्षेपे' दोनों क्रियाओं का प्रयोग माना जा सकता है। उस समय उस मेघ में पदार्थ के अणु तीव्रतया इधर से उधर जाते रहते हैं। (सः, अस्य, न, वेद) उस समय वे मध्यमस्थानी वायु आदि पदार्थ उस विशाल खगोलीय मेघ को विशेष प्रकाशित नहीं कर रहे होते हैं, जिससे उस विशाल खगोलीय मेघ की सत्ता प्रसिद्ध नहीं हो पाती है अर्थात् वह दर्शनीय नहीं हो पाता है। उस विशाल खगोलीय मेघ, जिसके अन्दर अनेक लघु मेघ समाविष्ट हुए होते हैं, का मध्य भाग ही उस विशाल मेघ को प्रकाशित वा प्रसिद्ध करता है। इसका अर्थ है कि जैसे-२ वह विशाल मेघ घनीभूत होता चला जाता है, वैसे-२ उसका मध्य भाग अधिक संतप्त होकर सम्पूर्ण खगोलीय मेघ को प्रकाशित वा प्रसिद्ध करता चला जाता है। (यः, ईम्, ददर्श) जब यह संघनन और अधिक होता है, तब वह उस मेघ के मध्य भाग में शेष भाग से आच्छादित हुआ आदित्य लोक के रूप में प्रकट होता है। (हिरुक्, इत्, नु, सः, तस्मात्) इस कारण वह आदित्य लोक अन्य विशाल भाग से पृथक् (मातुः, योनौ, परिवीतः, अन्तः) आकाश तत्त्व रूपी माता अथवा आकाशस्थ नाना सूक्ष्म अणुओं, जिनसे सम्पूर्ण मेघ की उत्पत्ति होती है, से सब ओर से आच्छादित होता है। इसका अर्थ है कि

उस विशाल मेघ व उसके केन्द्रीय भाग में निर्मित हो रहे आदित्य लोक के मध्य कुछ अवकाश सा हो जाता है और उस अवकाश में भी आकाश तत्त्व का पृथक् व संघनित वा सम्पीडित रूप और साथ में आकाशस्थ नाना प्रकार की वायु रश्मियों का आच्छादन रहता है। इस पृथक्करण के कारण ही ऊपरी भाग पृथक् होकर कालान्तर में ग्रहादि लोकों का जन्म होता है। (बहुप्रजा:, निर्ऋतिम्, आ, विवेश) इसी बात को यहाँ स्पष्ट किया है कि उस मेघ के बाहरी भाग के पृथक्करण से अनेक प्रकार की प्रजाओं को जन्म देने वाले पृथिव्यादि लोक प्रकट होते हैं।

इस छन्द रश्मि का प्रभाव उसके अर्थ के अनुकूल ही इस प्रक्रिया में होता है।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने भाष्य में लिखा है—

"तै.आ.१.९.४-५ में सप्त पर्जन्य लिखे हैं— १. वराहव: २. स्वतपस: ३. विद्युन्महस: ४. धूपय: ५. श्वापय: ६. गृहमेधा: ७. अशनि विद्विश:। पर्जन्य मध्यम स्थानी है। पर्जन्य के इन सात रूपों का अध्ययन अपेक्षित है। पर्जन्यों से मरुतों के साहाय्य से मेघ आदि बनते हैं और सूर्य रश्मियों के द्वारा वर्षा होती है। इसीलिए मैत्रायणी संहिता में कहा है—

अग्निर्वा इतो वृष्टिम् ईट्टे। मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति। तां सूर्यो रश्मिभिर्वर्षति। एते वै वृष्ट्या: प्रदातार:। (२.४.८)"

तै.आ.१.९.८ में इसका वर्णन इस प्रकार है— 'वराहवस्स्वतपस: विद्युन्मयसो धूपय: श्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते ये चेमेऽशिमिविद्विष: पर्जन्यास्सप्त पृथिवीमभि वर्षन्ति'। अब हम इस पर विचार करते हैं कि अन्तरिक्ष में पाए जाने वाले इन सात प्रकार के मेघों का स्वरूप क्या है और इनके ये नाम क्यों हैं? इन पर क्रमश: विचार करते हैं—

१. वराहव: — [वरम् = सर्वं वै वर: (श.ब्रा.२.२.१.४)। वराहु: = माध्यमिका देवगणा वराहव उच्यन्ते (निरु.५.४)] वह मेघ जो अन्तरिक्ष में स्थित सभी प्रकार के कणों एवं जलवाष्प कणों को आकर्षित करके निर्मित होता और बढ़ता है और जिसमें नाना प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, वह 'वराहु' कहलाता है।

२. स्वतपस: — जो मेघ अपने अन्दर ऊष्मा को स्वयमेव उत्पन्न करते हैं, ऐसे मेघों को

'स्वतपस्' कहते हैं।

३. विद्युन्महसः — तै.आ. में 'विद्युन्मयस' पाठ है, जिसे भाष्यकार भट्टभास्कर ने 'विद्युन्महस' माना है और ऐसा ही पाठ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने स्वीकारा है। जिन मेघों में अधिक मात्रा में विद्युत् धाराएँ प्रवाहित होती हैं तथा उनमें विद्युत् अधिक मात्रा में चमकती रहती है, ऐसे मेघ 'विद्युन्महस' कहलाते हैं।

४. धूपयः — वे मेघ जो विशेष चमकीले होते हैं, उन्हें 'धूपय' कहते हैं।

५. श्वापयः — 'श्वापयः' का भाष्य करते हुए आचार्य भट्टभास्कर ने लिखा है— 'आशु-सर्वव्यापिनः आशुशब्दस्य अक्षरयोः स्थानविनिमयः आद्यक्षरलोपो वा पूर्ववदिकारप्रत्ययः'। इसका आशय यह है कि इस प्रकार के मेघ अन्तरिक्ष में शीघ्रता से फैलने वाले होते हैं और दूर-दूर तक व्याप्त होते हैं।

६. गृहमेधाः — [गृहाः = गृहाः कस्मात्। गृह्णन्तीति सताम् (निरु.३.१३)] ऐसे मेघ, जो अन्य छोटे-२ मेघों को अपनी ओर आकर्षित करके अपने में समाहित कर लेते हैं, वे 'गृहमेधा' नामक मेघ कहलाते हैं।

७. अशनि विद्विषः = अशिमिविद्विषः — यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने 'अशनि विद्विषः' ऐसा पाठ दिया है। हमारी दृष्टि में 'अशिमिविद्विषः' पाठ ही उपर्युक्त है। [यहाँ 'शिमि' शब्द 'शिमी' के स्थान पर छान्दस प्रयोग प्रतीत होता है और 'शिमी' के विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'शिमीति कर्मनाम शमयतेर्वा शक्नोतेर्वा' (निरु.५.१२), शिमी कर्मनाम (निघं.२.१)] ये इस प्रकार के मेघ उन मेघों, जो कम क्रियाशील होते हैं, को छिन्न-भिन्न करके अथवा दूर हटाकर विशेष क्रियाशील मेघों को और भी अधिक क्रियाशील बनाकर वृष्टि कराने में सहयोग करते हैं।

इस प्रकार ये सात प्रकार के मेघ इस पृथ्वी पर जल की वर्षा करते हैं। इस वृष्टि प्रक्रिया में और बादल बनने की प्रक्रिया में सूर्य की रश्मियों का भी योगदान अनिवार्य रूप से रहता है।

आध्यात्मिक अर्थ— (यः) जो जीव (ईम्) [ईम् = ईम् उदकनाम (निघं.१.१२), सर्वां क्रियाम् (म.द.ऋ.भा.१.१६४.३२), प्राप्तं वस्तु (म.द.ऋ.भा.६.१७.२), पदपूरणः (निरु.१.९)]

गर्भाधान क्रिया अथवा किसी प्राप्तव्य अथवा प्राप्त वस्तु को (चकार) यहाँ 'चकार' क्रियापद 'डुकृञ् करणे' तथा 'कृ विक्षेपे' इन दोनों ही धातुओं से निष्पन्न हो सकता है। इस कारण से इस पद में दोनों ही धातुओं के सन्देह की चर्चा की गई है। इनमें से प्रथम अर्थ लेने का तात्पर्य गर्भाधान क्रिया को करना अथवा किसी वस्तु को धारण करना है। 'कृ विक्षेपे' धातु के ग्रहण का तात्पर्य भी गर्भाधान क्रिया अथवा किसी वस्तु को बिखेरना है। (सः, अस्य, न, वेद) यहाँ निरुक्तकार 'मध्यमः' पद और जोड़ते हैं। इसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त क्रियाओं में 'मध्यमः' अर्थात् 'क्रियासु मध्ये भवम्' अर्थात् क्रियासम्पन्न होने में साधन अथवा माध्यम का कार्य करने वाला जीव इस क्रिया अथवा उसके फल अर्थात् गर्भ एवं अन्य प्राप्त वस्तु के मूलतत्त्व को नहीं जानता। गर्भ का निर्माण कैसे होता है? उसका स्वरूप क्या होता है? उसमें कोई जीवात्मा कहाँ से आया है? कैसे संस्कार लेकर आया है? कितने दिनों के लिए आया है? यह सब ज्ञान गर्भाधान करने वाले पुरुष एवं गर्भधारण करने वाली माता को नहीं होता है। इसी प्रकार जो कोई पुरुष अपने पुरुषार्थ से किसी वस्तु को प्राप्त करता है अथवा किसी वस्तु अथवा वस्तुओं को किसी को देता अथवा बिखरता है, उस वस्तु का प्राप्तकर्त्ता अथवा दाता सम्पूर्ण रूप से उस वस्तु को नहीं जानता अर्थात् उस वस्तु के स्वरूप को गम्भीरता से नहीं जानता, भले ही वह इसका व्यवहार में उपयोग कर रहा होता है।

(यः, ईम्, ददर्श) यहाँ ग्रन्थकार लिखते हैं— 'स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योऽप-हितम्' अर्थात् उस गर्भ अथवा किसी वस्तु के गूढ़ तत्त्व को वही जीव जान सकता है, जो गर्भ के अन्दर स्थित जीवात्मा को आदित्य अर्थात् प्राणादि पदार्थों से आच्छादित होता हुआ अपने योगबल के द्वारा देखने में समर्थ होता है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु के स्वरूप को वही व्यक्ति गम्भीरता से समझ सकता है, जो उस वस्तु को आदित्य अर्थात् विभिन्न प्राणादि रश्मियों से निर्मित वा आच्छादित होते हुए अनुभव कर लेता है। (तस्मात्, हिरुक्, इत्, नु) वह पूर्वोक्त जीव जो गर्भ के अन्दर स्थित होता है, वह गर्भाधानकर्त्ता पिता से पृथक् रहता हुआ माता के गर्भाशय के अन्दर ही स्थित होता है। [हिरुक् = पृथक् (म.द.भा.), हिरुक् निर्णीतान्तर्हितनाम (निघं.३.२५)] यहाँ इन प्रमाणों के आधार पर ही 'हिरुक्' शब्द के दोनों अर्थों को ग्रहण किया है। (सः) वह गर्भतत्त्व के ज्ञान से अनभिज्ञ पूर्वोक्त जीव (मातुः, योनौ, अन्तः) माता के गर्भाशय में (परिवीतः) मांस एवं स्नायु आदि

से आच्छादित एवं जरायु से ढका हुआ स्थित होता है और उचित समय पर जन्म लेता है। (बहुप्रजा:) वह बार-२ जन्म लेने वाला जीवात्मा अथवा कर्मानुसार विविध योनियों में जन्म लेने वाला जीवात्मा (निर्ऋतिम्, आ, विवेश) [यहाँ निर्ऋति पद से दो अर्थों का सन्देह होता है, जिसमें पहला अर्थ है— 'कृच्छ्रम्' अर्थात् कष्ट] कष्ट को प्राप्त होता है अर्थात् वह जन्म और मरण के चक्र का दु:ख भोगता ही रहता है। इस विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है—

बहुप्रजा: कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजका:

अर्थात् यह शरीरसम्बन्धी आध्यात्मिक अर्थ परिव्राजकों के मत के अनुसार किया है।

शाकपूणि: सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानानीति।
तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ।
विविदिषाणि त्वेति। सास्मा एतामृचमादिदेश, एषा मद्देवतेति॥ ८॥

यहाँ ग्रन्थकार मन्त्रों के देवता ज्ञान की दुष्करता का निरूपण करते हुए आलंकारिक भाषा में लिखते हैं—

महर्षि शाकपूणि, जो ग्रन्थकार के पूर्ववर्ती किसी अन्य निरुक्त शास्त्र के रचयिता थे, ने एक बार निश्चय किया कि मैं सभी वेदमन्त्रों के देवताओं को जानूँ। वे अनेक मन्त्रों के अर्थ पर अपने योगबल से विचार करते रहे और उनके देवताओं के स्वरूप को स्पष्टत: अनुभव करते रहे। किसी मन्त्र की देवता स्त्रीलिङ्ग, तो किसी की पुल्लिङ्ग है, ऐसा जाना। तभी उनके मस्तिष्क में एक ऐसा वेदमन्त्र उपस्थित हुआ, जिसकी देवता न पुल्लिङ्ग थी और न स्त्रीलिङ्ग, बल्कि वह उभयलिङ्गी देवता थी। वे महर्षि उस उभयलिङ्गी देवता को नहीं जान सके अर्थात् उन्हें उस मन्त्र की देवता का स्पष्ट बोध नहीं हो रहा था। तब उन्होंने उस मन्त्र की देवता से ही पूछा— 'कि मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ, मुझे अपना परिचय दीजिए'। तब वह देवता प्रकट हुई और वह ऋचा महर्षि के मस्तिष्क में बार-२ प्रकट होती हुई अनुभव होने लगी। उस समय उस ऋचा की देवता ने महर्षि शाकपूणि से कहा कि यह मेरी देवता वाली ऋचा है अर्थात् इस ऋचा की देवता मैं हूँ। इस प्रकार का वर्णन आलंकारिक ही मानना चाहिए, क्योंकि ऋचाएँ मनुष्य के साथ संवाद नहीं करती।

वस्तुतः इसका आशय यह है कि महर्षि शाकपूणि वेदमन्त्रों के विभिन्न देवताओं के विज्ञान पर मनन कर रहे होंगे और उन्होंने उन सभी देवताओं को पुल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग रूप में अनुभव किया होगा, तब उनके मन में उभयलिङ्गी देवता के स्वरूप का भी अनुभव हुआ होगा। उस देवता की कौन सी ऋचा है, इस पर वे चिन्तन कर रहे होंगे, तभी उनके मस्तिष्क में उस देवता की ऋचा का भान हुआ होगा, जिसे यहाँ देवता द्वारा ऋचा के उपदेश के रूप में प्रस्तुत किया गया है और सम्पूर्ण घटना को देवता एवं महर्षि शाकपूणि के मध्य संवाद का रूप दिया गया है।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥

[ऋ.१.१६४.२९]

अयं स शब्दायते येन गौरभिप्रवृत्ता मिमाति। मायुं शब्दं करोति।
मायुमिवादित्यमिति वा। वागेषा माध्यमिका। ध्वंसने मेघेऽधिश्रिता।
सा चित्तिभिः कर्मभिर्नीचैः निकरोति मर्त्यम् विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम्।
वव्रिरिति रूपनाम। वृणोतीति सतः।
वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते॥ ९ ॥

अब हम उस ऋचा पर विचार करते हैं—

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥ [ऋ.१.१६४.२९]

इस ऋचा का ऋषि दीर्घतमा, देवता विश्वेदेवा एवं छन्द निचृज्जगती है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त लम्बमान एवं विस्तृत प्राण रश्मि विशेष से

होती है। इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से विभिन्न सूक्ष्म कणों और तरंगाणुओं में भारी हलचल होती है और उनके उत्सर्जन और अवशोषण की प्रक्रिया तीक्ष्णतापूर्वक होने लगती है।

आधिदैविक भाष्य— (अयम्, सः, शिङ्क्ते) 'अयं स शब्दायते' अर्थात् यह वह मेघ नाना प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करता है अर्थात् उस मेघ में विद्युत् गर्जन आदि अनेक प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। यह शब्द 'शिजि अव्यक्ते शब्दे' धातु से निष्पन्न होता है, जिससे यह संकेत मिलता है कि मेघों के अन्दर तड़ित् विद्युत् की तीव्र गर्जना के साथ-२ घण्टियों के टनटनाने जैसी अनेक सूक्ष्म और स्थूल ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। (येन, गौः, अभीवृता) 'येन गौरभिप्रवृत्ता' जिस मेघ से वाक् तत्त्व अर्थात् नाना प्रकार की छन्द रश्मियाँ असंख्य मात्रा में 'अभिवृता' अर्थात् सब ओर से सक्रिय एवं आच्छादित रहती हैं अर्थात् वे छन्द रश्मियाँ मेघों के अन्दर बड़ी मात्रा में विद्यमान होती हैं। यद्यपि छन्दादि रश्मियाँ न केवल मेघों के अन्दर, अपितु उनके बाहर भी सर्वत्र व्याप्त होती हैं और उन्हीं से ही न केवल मेघ, अपितु सभी प्रकार के जड़ पदार्थों की उत्पत्ति होती है। पुनरपि यहाँ उन्हीं छन्द रश्मियों की चर्चा की गई है, जो मेघों के अन्दर व्याप्त हैं।

(मिमाति, मायुम्) 'मिमाति मायुं शब्दं करोति' पूर्वोक्त नाना प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करती रहती हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि मेघों के अन्दर विद्यमान छन्दादि रश्मियाँ ही अन्य ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करती हैं, जबकि अन्य छन्द रश्मियाँ ऐसा नहीं कर पाती। यहाँ ग्रन्थकार ने लिखा है— 'मायुमिवादित्यमिति वा' अर्थात् यहाँ ग्रन्थकार 'मायुम्' पद से आदित्य अर्थात् सूर्य का ग्रहण करके उसके साथ उपमार्थक 'इव' पद को मिलाकर 'आदित्यं इव' ऐसा अर्थ ग्रहण करते हैं। इसका आशय यह है कि मेघों के अन्दर ऐसी ही सूक्ष्म और तीव्र ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, जैसी कि सूर्य के अन्दर विद्यमान प्लाज्मा अवस्था के मेघों के अन्दर उत्पन्न होती रहती हैं। यहाँ मेघस्थ वाक् तत्त्व को माध्यमिका वाणी कहा है। ग्रन्थकार ने वाक् तत्त्व को मध्यमस्थानी देवता कहा है। (इसके लिए ११वाँ अध्याय देखें) इसका आशय यह है कि छन्द रश्मियाँ अन्तरिक्ष अर्थात् स्पेस में विद्यमान रहती और उसी में गमनागमन आदि क्रियाएँ करती रहती हैं। ध्यातव्य है कि स्पेस भी सूक्ष्म वाक् तत्त्व अर्थात् लघु छन्द रश्मियों से निर्मित है। इस कारण यहाँ जिन छन्द रश्मियों की चर्चा की जा रही है, वे याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से बड़ी छन्द रश्मियाँ ही

समझनी चाहिए। इसका एक अन्य अर्थ हमें यह भी प्रतीत होता है कि मेघों में विद्यमान छन्द रश्मियाँ परा व पश्यन्ती के अतिरिक्त मध्यमा वाणी के रूप में भी होती हैं और यह मध्यमा वाणी ही वैखरी वाणी के रूप में हमें सुनाई देती है।

(ध्वसनौ, अधिश्रिता) 'ध्वंसने मेघेऽधिश्रिता' [ध्वसनौ = अधऊर्ध्वमध्यपतनार्थे परिधौ (म.द.भा.)] वह माध्यमिका किंवा मध्यमा वाणी नीचे गिरते हुए अर्थात् वर्षा करते हुए मेघों की परिधि के अन्दर ही आश्रित होती है। यहाँ 'अधि' उपसर्ग ऊपर एवं मध्य दोनों ही अर्थों में ग्राह्य है। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मेघों की परिधि के निकट मध्यमा वाक् एवं विद्युत् आवेश की मात्रा अपेक्षाकृत कुछ अधिक होनी चााहिए। (सा, चित्तिभिः) 'कर्मभिः' अर्थात् वह माध्यमिका वाणी अपनी तीव्र श्रेणीबद्ध क्रियाओं के द्वारा (मर्त्यम्) [मर्त्यम् = अनात्मा हि मर्त्यः (श.ब्रा.२.२.२.८)] मेघ में स्थित जल के अणुओं और उनमें मिश्रित अन्य सूक्ष्म कणों को (हि, नि, चकार) 'नीचैः नि करोति' अर्थात् निश्चय से छिन्न-भिन्न करके नीचे की ओर गिरा देती है। (विद्युत्, भवन्ती, प्रति, वव्रिमौहत) 'विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम् वव्रिरिति रूपनाम वृणोतीति सतः' अर्थात् वह माध्यमिका वाणी अर्थात् वे स्थूल छन्द रश्मियाँ विद्युत् का रूप धारण करती हुई अपनी तीव्र ज्योति के द्वारा मेघस्थ जलादि पदार्थ एवं स्वयं अपने रूप को छुपा लेती हैं अथवा ढक लेती हैं। हम यह जानते हैं कि जिस समय मेघों में विद्युत् चमकती है, उस समय मेघस्थ पदार्थ का स्वरूप तिरोहित हो जाता है अर्थात् छिप जाता है। यहाँ ग्रन्थकार इतना और लिखते हैं— 'वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते' अर्थात् वह माध्यमिका वाक् तत्त्व मेघों से वर्षा कराके पृथिवी को जल से आच्छादित कर देता है और फिर पृथिवी पर भरे हुए जल को वाष्पीकरण क्रिया के द्वारा पुनः आकर्षित करके मेघों का निर्माण करता है। इससे संकेत मिलता है कि वृष्टि कर्म में जिन छन्द रश्मियों की भूमिका होती है, वे ही छन्द रश्मियाँ वाष्पीकरण क्रिया के द्वारा मेघों के निर्माण में भी अपनी भूमिका निभाती हैं। इस क्रिया में सूर्य की किरणों की भूमिका सर्वविदित है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि महर्षि शाकपूणि के मस्तिष्क में जो उभयलिङ्गी देवता प्रकट हुई, वह देवता कौनसी थी? वेद संहिता में इसकी देवता 'विश्वेदेवा' लिखा है। इस मन्त्र पर विचार करने से हमें दो देवताओं का स्पष्ट बोध होता है, जिसमें से एक देवता 'मेघ' है, जो पुल्लिङ्ग है। ऋचा में इसके लिए 'अयम्' एवं 'सः'

दो पुल्लिङ्गवाची सर्वनामों का प्रयोग किया गया है। दूसरी देवता 'वाक्' है, जिसके लिए 'सा' इस स्त्रीलिङ्गवाची सर्वनाम का प्रयोग किया गया है और इसी के लिए 'गौः' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इस कारण यह ऋचा उभयलिङ्गी देवता वाली सिद्ध होती है, जिसके दो देवता हैं— एक पुल्लिङ्ग और एक स्त्रीलिङ्ग।

* * * * *

दशमः खण्डः

हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। हिरण्यं कस्मात्।
ह्रियत आयम्यमानमिति वा। ह्रियते जनाज्जनमिति वा।
हितरमणं भवतीति वा। हृदयरमणं भवतीति वा। हर्यतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणः।

हिरण्य के लिए पन्द्रह नाम आगे दर्शाए गए हैं। यहाँ हिरण्य स्वर्ण धातु को कहा गया है। अब 'हिरण्यम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

'हिरण्यं कस्मात् ह्रियते आयम्यमानमिति वा' अर्थात् स्वर्ण धातु को हिरण्य इस कारण कहते हैं, क्योंकि वह खींचने पर अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक लम्बाई तक खींचा जा सकता है और यदि उसका पत्र बनाने का प्रयास करें, तो उसका विस्तार अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक होता है और उसका पत्र अन्य धातुओं के पत्र की अपेक्षा अधिक पतला भी होता है। आर्ष ग्रन्थों में 'हिरण्यम्' नाम स्वर्ण धातु के अतिरिक्त अन्य कुछ पदार्थों का भी है। जैसा कि अनेक तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने कहा है— तेजो वै हिरण्यम् (तै.ब्रा.१.८.९.१), ज्योतिर्वै हिरण्यम् (तां.ब्रा.६.६.१०), देवानां वाऽएतद्रूपं यद्धिरण्यम् (श.ब्रा.१२.८.१.१५)। इन आर्ष वचनों से यह संकेत मिलता है कि इस सृष्टि में विभिन्न कण एवं प्रकाशाणु भी हिरण्यरूप होते हैं अर्थात् वे भी किसी बल के प्रभाव से अपने आकार को बदल सकते हैं अर्थात् उनका आकार विभिन्न बल रश्मियों के क्षेत्रों में से गुजरने पर परिवर्तित होता रहता है। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि इस सृष्टि का कोई भी कण, फोटोन अथवा लोक कभी भी पूर्णतः गोलाकार नहीं हो सकता। यहाँ उद्धृत शतपथ ब्राह्मण के वचन में 'देव' शब्द का अर्थ 'कोई भी दृश्य पदार्थ', ऐसा ग्रहण

करना चाहिए।

इसके आगे ग्रन्थकार फिर 'हिरण्यम्' का निर्वचन करते हैं— 'ह्रियते जनाज्जनमिति वा' अर्थात् यह स्वर्ण एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास ले जाया जाता है अर्थात् मनुष्य लोग स्वर्ण का विनिमय करते रहते हैं। उधर इस सृष्टि के जड़ पदार्थों पर विचार करें, तो जन [जनेषु = यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा (ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)। जनाः = मनुष्याः प्राणा वा (म.द.य.भा.२५.२३)] का अर्थ विभिन्न प्राण रश्मियाँ, कण व प्रकाशाणु एवं लोक सिद्ध होता है। यह शब्द 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से निष्पन्न होने के कारण ये लोक आदि सभी पदार्थ जन कहलाते हैं। इसलिए इन पदार्थों के मध्य जिन सूक्ष्म पदार्थों का विनिमय होता है, वे सभी हिरण्य कहलाते हैं। विभिन्न लोक-लोकान्तरों के मध्य नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों और रश्मियों का विनिमय होता रहता है, इस कारण वे सभी कण हिरण्य कहलाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न कणों व तरंगाणुओं के मध्य भी विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों का विनिमय होता है, इसलिए वे प्राण और छन्द रश्मियाँ भी हिरण्य कहलाती हैं। इन विभिन्न प्राण रश्मियों के मध्य सूक्ष्म वाक् रश्मियों ('ओम्' आदि) का विनिमय होता रहता है, इस कारण ये रश्मियाँ भी हिरण्य कहलाती हैं।

इन सभी हिरण्य संज्ञक पदार्थों पर विचार करें, तो यह संकेत मिलता है कि न केवल कण एवं क्वाण्टा, अपितु प्राण और छन्द रश्मियाँ भी किसी बल के कारण अपना आकार और प्रभाव क्षेत्र परिवर्तित कर लेती हैं, जैसा कि पूर्व के निर्वचन में दर्शाया गया है।

इसके पश्चात् निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'हितरमणं भवतीति वा' अर्थात् सोना (स्वर्ण) स्वास्थ्य के लिए हितकारी एवं धारण करने में रमणीय अर्थात् सुन्दर प्रतीत होता है, इसलिए स्वर्ण को हिरण्य कहते हैं। सृष्टि के अन्य पदार्थों के सन्दर्भ में विचार करें, तो [हितम् = प्राणो वै हितं प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितः (श.ब्रा.६.१.२.१४)] जो पदार्थ प्राण रश्मियों में अथवा प्राण रश्मियों के द्वारा निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं अर्थात् नाना प्रकार की क्रियाएँ करने में समर्थ होते हैं, वे सभी कण, तरंगाणु व लोक हिरण्य कहलाते हैं।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'हृदयरमणं भवतीति वा' अर्थात् जो हृदय के लिए औषधिरूप में हितकारी होता है, उस स्वर्ण को हिरण्य कहते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में भी स्वर्ण को हृद्य कहा है अर्थात् यह हृदय के लिए बलकारक और स्वास्थ्यवर्धक होता है। उधर सृष्टि के अन्य पदार्थों की दृष्टि से विचार करें, तो [हृदयम् = असौ वाऽआदित्यो हृदयम् (श.ब्रा.९.१.२.४०), प्राणो वै हृदयमतो ह्ययमूर्ध्वः प्राणः सञ्चरति (श.ब्रा.३.८.३.१५)] जो पदार्थ विभिन्न प्राण रश्मियों अथवा आदित्य लोकों में रमण करते हैं एवं आदित्य लोकों की विभिन्न क्रियाओं के सम्पादन में सहयोगी होते हैं, वे सभी अणु आदि पदार्थ हिरण्य कहलाते हैं।

अब अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखा है— 'हर्यतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणः' अर्थात् इच्छार्थक 'हृञ्' धातु से भी हिरण्य पद निष्पन्न होता है, क्योंकि सभी लोग स्वर्ण धातु को पाने की इच्छा करते हैं अर्थात् पृथिवी पर विद्यमान विभिन्न धातुओं में से इस धातु को ही सबसे अधिक प्राप्त करने योग्य माना जाता है, इस कारण भी स्वर्ण धातु को हिरण्य कहते हैं। उधर सृष्टि के सूक्ष्म पदार्थों में कण, फोटोन एवं प्राणादि पदार्थ सदैव एक-दूसरे को आकर्षित करते रहते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहते हैं, इस कारण वे सभी हिरण्य कहलाते हैं।

ध्यातव्य है कि स्वर्ण के पन्द्रह नामों में से केवल हिरण्य पद का ही निर्वचन किया गया है, अन्य नामों का नहीं। इस कारण हमने भी केवल हिरण्य पद पर ही विचार किया है। वैसे भी आधिदैविक पक्ष में स्वर्ण के स्वरूप का विशेष ज्ञान विशेष महत्त्व का नहीं है। निघण्टु में स्वर्ण के पन्द्रह नाम इस प्रकार दिये हैं—

हेम। चन्द्रम्। रुक्मम्। अयः। हिरण्यम्। पेशः। कृशनम्। लोहम्। कनकम्। काञ्चनम्। भर्म्म। अमृतम्। मरुत्। दत्रम्। जातरूपम्।

अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश। अन्तरिक्षं कस्मात्। अन्तरा क्षान्तं भवति। अन्तरेमे इति वा। शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा।

अब आगे अन्तरिक्ष के सोलह नाम दर्शाते हैं। निघण्टु में ये सोलह नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

अम्बरम्। वियत्। व्योम। बर्हिः। धन्व। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आपः। पृथिवी। भूः। स्वयम्भूः। अध्वा। पुष्करम्। सगरः। समुद्रः। अध्वरम्।

यहाँ 'अन्तरिक्षम्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अन्तरिक्षं कस्मात् अन्तरा क्षान्तं भवति अन्तरा इमे इति वा'। यहाँ सभी भाष्यकारों जैसे पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर, आचार्य भगीरथ शास्त्री, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, आचार्य विश्वेश्वर एवं मुकुन्द झा शर्मा ने इसके भाष्य में 'अन्तरा' का अर्थ 'द्यु एवं पृथ्वी लोक के मध्य में' ऐसा किया है, जबकि यहाँ द्युलोक और पृथ्वी लोक का कोई संकेत नहीं है। इन सभी ने 'अन्तरा इमे इति' के भाष्य में भी ऐसा किया है, जो स्पष्टतः पुनरुक्ति दोष है। यदि अन्तरा का अर्थ केवल 'द्युलोक के मध्य में' ऐसा करें, तब भी यहाँ 'द्युलोक' का ग्रहण निरुक्त के पाठ के अनुसार सम्भव नहीं है और यदि 'द्युलोक' का अध्याहार करें, तब भी उचित नहीं, क्योंकि 'क्षान्तम्' का अर्थ 'पृथ्वी के अन्त तक' करना निरर्थक प्रतीत होता है और इसकी सङ्गति 'द्युलोक के मध्य' के साथ समीचीन प्रतीत नहीं होती। इस कारण हमें ये सभी अर्थ उचित प्रतीत नहीं होते। इन भाष्यकारों में से मुकुन्द झा शर्मा ने स्कन्दस्वामी को उद्धृत करते हुए 'अन्तरा' पद का भाष्य इस प्रकार लिखा है—

''स्कन्दस्वामिनस्तु अन्तरा मध्ये सर्वभूतानां क्षान्तं शान्तं निष्क्रियं वा, शान्तमव्यूहं विष्टम्भस्थानात्मकत्वाहित्येवमाहुः॥''

यहाँ हमें यह भाष्य ही उचित प्रतीत होता है और हमें भी यही स्वीकार्य है। इसमें अन्तरिक्ष के कई गुणों का प्रकाश किया गया है, जो इस प्रकार है—

१. यह सभी भूतों अर्थात् पृथ्वी, आपः, अग्नि एवं वायु अर्थात् सभी मोलिक्यूल्स, एटम्स, आयन्स, फोटोन्स एवं वैक्यूम एनर्जी तथा डार्क एनर्जी आदि सभी पदार्थों में विद्यमान रहता है और उन पदार्थों में रहता हुआ क्षान्त अर्थात् सहिष्णु बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि इन पदार्थों की अपेक्षा उसकी प्रतिक्रिया अत्यन्त अल्प होती है।

२. अन्तरिक्ष इन पदार्थों के अन्दर रहता हुआ शान्त रहता है अर्थात् वह क्रिया-प्रतिक्रिया से प्रायः रहित होता है।

३. यह उन पदार्थों के मध्य में अव्यूह प्रकृति वाला होता है अर्थात् यह उन पदार्थों पर

अपना चिह्न नहीं छोड़ता है। इस बात की पुष्टि महर्षि गौतम ने भी अपने न्यायदर्शन में की है— 'अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि' (न्या.द.४.२.२२) अर्थात् यह विभिन्न पदार्थों को विशेष रूप से चिह्नित न करने वाला, विशेष अवरोध न करके सबको मार्ग प्रदान करने वाला तथा सबमें व्याप्त रहने वाला है।

४. यह सभी पदार्थों को गतिशील रहने हेतु अवकाश प्रदान करता है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोषः' में 'स्कभि (स्कम्भ्) प्रतिबन्धे' धातु के अर्थ हरकत करना एवं रोकना दोनों ही किए हैं। इससे अन्तरिक्ष हरकत करने अर्थात् गतिशील रहने के लिए अवकाश प्रदान करने वाला कहा है। यहाँ प्रश्न यह है कि इस धातु का अर्थ रोकना भी है, तब क्या अन्तरिक्ष गति को रोकने में भी अपनी भूमिका निभाता है? हाँ, ऐसा भी होता है। जब यह विशेष संघनित अथवा विरल होता है, तो उसमें से गुजरने वाले सूक्ष्म पदार्थों के मार्ग प्रभावित होते हैं।

इसके आगे 'अन्तरेमे' में 'इमे' पद द्युलोक और पृथ्वी लोक के युग्म का वाचक है। इससे ग्रन्थकार कहना चाहते हैं कि अन्तरिक्ष (स्पेस) विभिन्न कणों और तरंगाणुओं अथवा पृथ्वी आदि अप्रकाशित लोकों एवं सूर्य आदि तारों के मध्य में भी विद्यमान होता है। यहाँ ग्रन्थकार यह दर्शाना चाहते हैं कि जहाँ पृथ्वी, आपः, अग्नि और वायु महाभूत विद्यमान नहीं हैं, वहाँ भी अन्तरिक्ष विद्यमान होता है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा'। इसका अर्थ यह है कि अन्तरिक्ष सभी प्रणियों के शरीर में अविनाशी रूप में विद्यमान रहता है अर्थात् जब किसी प्राणी की मृत्यु होती है, तो सम्पूर्ण शरीर क्षीण होकर अपने कारण पदार्थ में लीन हो जाता है, परन्तु अन्तरिक्ष (स्पेस) न तो क्षीण होता है और न अपने कारण रूप पदार्थ में लीन होता है।

तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते। समुद्रः कस्मात्। समुद्रवन्त्यस्मादापः। समभिद्रवन्त्येनमापः। सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि। समुदको भवति। समुनत्तीति वा। तयोर्विभागः।

पूर्वोक्त अन्तरिक्ष के सोलह नामों में से एक नाम समुद्र भी दिया गया है। इधर

पृथ्वी पर विद्यमान सागरों को भी समुद्र कहा जाता है। इस कारण 'समुद्रः' पद से यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि अन्तरिक्षवाची समुद्र कौनसा है? इस सन्देह का निवारण अपनी ऊहा और तर्क के द्वारा प्रकरण के ज्ञान से ही सम्भव है।

समुद्र शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि समुद्र क्यों कहते हैं? क्योंकि 'आपः' अर्थात् सूक्ष्म तन्मात्राएँ, जिन्हें वर्तमान विज्ञान की भाषा में विभिन्न सूक्ष्म कण वा तरंग अथवा जलवाष्प कह सकते हैं, जिसमें ऊर्ध्वगमन करते रहते हैं अथवा उत्कृष्ट गति करते रहते हैं, ऐसा आकाश समुद्र कहलाता है। हम जानते हैं कि आकाश (स्पेस) में विभिन्न सूक्ष्म कण व तरंग आदि पदार्थ सर्वत्र व्याप्त रहकर इधर-उधर गमनागमन करते रहते हैं, उधर पृथिवीस्थ सागरों से वाष्प बना हुआ जल भी ऊपर उठकर आकाश में ऊर्ध्वगमन करके यत्र-तत्र गमनागमन करता रहता है। आकाश (स्पेस) नामक पदार्थ समुद्र क्यों कहलाता है, यह इसका निर्वचन हुआ। [आपः = आपो वै प्राणाः (श.ब्रा.३.८.२.४), प्राणो ह्यापः (जै.उ.३.२.५.९), प्राणा वा आपः (तै.ब्रा.३.२.५.२, तां.ब्रा.९.९.४)] यहाँ हम 'आपः' का अर्थ विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियाँ भी ग्रहण कर सकते हैं। वे प्राण रश्मियाँ अन्तरिक्ष (स्पेस) में सर्वत्र व्याप्त रहती व गमन करती रहती हैं। इसके साथ ही आकाश की एक तन्मात्रा (यूनिट) से प्राण व अपान रश्मियों का युग्म निरन्तर बाहर की ओर (ऊर्ध्व की ओर) स्पन्दित होता रहता है, इस कारण स्पेस भी समुद्र कहलाता है।

अब आगे लिखते हैं— 'समभिद्रवन्त्येनमापः' अर्थात् जिसकी ओर अच्छी प्रकार से आपः दौड़ते रहते हैं अथवा जिसके अन्दर सब ओर से आपः अर्थात् विभिन्न तन्मात्राएँ, जिन्हें वर्तमान में कण और तरंग कह सकते हैं, प्रवाहित होती रहती हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्राणादि रश्मियाँ स्पेस अर्थात् आकाश की ओर गमन करती हुई उसे आकृष्ट करती हैं। यह प्रक्रिया दो पिण्डों अथवा कणों के पारस्परिक आकर्षण की प्रक्रिया में स्पष्ट जानी जा सकती है। इसके लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है। इस प्रकार 'समुद्र' शब्द आकाश तत्त्व के लिए जानना चाहिए। उधर पृथ्वी पर स्थित सागरों-महासागरों के अन्दर भी जल की धाराएँ इधर-उधर बहती रहती हैं तथा पृथ्वी पर स्थित विभिन्न नदियाँ भी सागरों की ओर बहती हैं, इस कारण सागरों को भी समुद्र कहा जाता है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि'। इसका तात्पर्य यह

है कि इसमें पृथ्वी, आपः, अग्नि और वायु महाभूत अर्थात् विभिन्न प्रकार के अणु (मोलिक्यूल्स), परमाणु (एटम्स), आयन्स, कथित मूलकण, प्रकाशाणु (फोटोन्स) एवं विभिन्न प्राण व छन्द रश्मि आदि पदार्थ स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं। इस कारण आकाश तत्त्व को समुद्र कहा गया है। यहाँ 'मुद्' धातु के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि आकाश के अन्दर सभी पदार्थ बिना किसी बाधा के विचरण करने में समर्थ होते हैं। वे इसके अन्दर स्वयं को प्रायः मुक्त अवस्था में अनुभव करते हैं। इसके साथ ही विभिन्न आकाशचारी प्राणी आकाश में प्रसन्नतापूर्वक स्वच्छन्द विचरण करते हैं। उधर पृथ्वी पर स्थित सागरों और महासागरों में जलचर प्राणी भी प्रसन्नतापूर्वक विचरण करते हैं। इसलिए सागरों को भी समुद्र कहा जाता है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार ने कहा— 'समुदको भवति समुनत्तीति वा' अर्थात् समुद्र में उदक नामक पदार्थ सम्यक् रूपेण भरा रहता है। यहाँ उदक उस पदार्थ को कहा जाता है, जो अपने सम्पर्क में आये किसी भी पदार्थ को अपनी वृष्टि अथवा संगति द्वारा अपने साथ संश्लिष्ट कर लेता है। जैसे जलरूपी उदक किसी पदार्थ को भिगोकर गीला कर देता है, उसी प्रकार जो पदार्थ अपने सम्पर्क में आए पदार्थों के निकटवर्ती पृष्ठ पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं, वे उदक कहलाते हैं। इस आकाश में विद्यमान विभिन्न प्रकार के आपः [आपः = उदकनाम (निघं.१.१२)] अर्थात् पूर्वोक्त कण, तरंगाणु तथा प्राण व छन्दादि रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों के ऊपर मानो अपनी वृष्टि करते हुए उन्हें गीला करते रहते हैं अर्थात् उन पर अपना प्रभाव सतत छोड़ते रहते हैं। ध्यातव्य है कि इस प्रकार के प्रभाव के बिना उनका किसी भी अन्य पदार्थ से कोई भी सम्बन्ध नहीं रह पायेगा। इस कारण आकाश को समुद्र कहा जाता है। उधर पृथिवी पर स्थित सागरों और महासागरों में प्रचुर मात्रा में जल भरा रहता है और वह जल सभी जलचर प्राणियों को निरन्तर गीला करता रहता है। इस कारण सागरों को भी समुद्र कहते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जल केवल जलचर प्राणियों को ही गीला नहीं करता, अपितु जो भी पदार्थ जल के सम्पर्क में आता है, वह उन सब पदार्थों को ही गीला करता है।

यहाँ भी हम आवश्यक होने पर डॉ. सुद्युम्नाचार्य कृत 'निघण्टु-निर्वचनम्' का सहयोग ले रहे हैं—

१. **अम्बरम्** — इस पद को 'अबि शब्दे' धातु से व्युत्पन्न माना है। इसका अर्थ है कि इसी में शब्द उत्पन्न वा विद्यमान होता है। इसीलिए कहा है— 'आकाशदेशः शब्दः'।

ध्यातव्य है कि यह शब्द वाणी के मध्यमा व वैखरी का रूप है। परा एवं पश्यन्ती वाक् की उत्पत्ति आकाश तत्त्व की उत्त्पत्ति से भी पूर्व हो जाती है। हाँ, इतना अवश्य है कि मध्यमा व वैखरी वाणी के लिए जिस आकाश तत्त्व की अनिवार्यता बतायी जा रही है, वह महाभूत आकाश होता है। उधर परा व पश्यन्ती के लिए अवकाशरूप आकाश की अनिवार्यता होती है, महाभूत आकाश की नहीं। अवकाशरूप आकाश के अभाव में इस सम्पूर्ण सृष्टि में कोई भी कम्पन कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता।

२. **वियत्** — इस पद को 'यमु उपरमे' धातु से व्युत्पन्न माना है। इससे संकेत मिलता है कि आकाश तत्त्व अपने अन्दर से कण, तरंग वा लोक आदि पदार्थों को बिना किसी प्रतिरोध के जाने देता है अर्थात् उन्हें निर्बाध मार्ग प्रदान करता है।

३. **व्योम** — यह पद वि पूर्वक 'अव रक्षणगतिकान्ति...' धातु से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ यह है कि आकाश तत्त्व विशेष रूप से सभी पदार्थों का रक्षक, आच्छादक, संश्लेषक तथा उनमें व्याप्त होता है। आकाश तत्त्व के आच्छादन के कारण विभिन्न पदार्थों का आकार बनने में सहयोग मिलता है। जब दो पदार्थों का संयोग होता है, तब उन पदार्थों के परिधि भाग में विद्यमान आकाश रश्मियाँ भी संश्लेषक का कार्य करती हैं। आकाश उन पदार्थों के भीतर व बाहर व्याप्त भी होता है। जब किसी पदार्थ का विखण्डन होता है, तब भी आकाश रश्मियों की भूमिका होती है। किसी पदार्थ के चमकने के लिए उससे प्रकाशाणु (फोटोन) उत्सर्जित वा परावर्तित होने में भी आकाश की भूमिका होती है।

४. **बर्हिः** — यह पद 'बृहि वृद्धौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य चारों महाभूतों की अपेक्षा इसका विस्तार बहुत अधिक है। जहाँ कोई महाभूत विद्यमान नहीं होता, आकाश वहाँ भी विद्यमान हो सकता है। इसके साथ जब कोई दो वा दो से अधिक पदार्थ परस्पर दूर जा रहे हों, तब उसमें आकाश भी क्रियाशील रहता है।

५. **धन्व** — यह पद 'धवि गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि आकाश तत्त्व की इकाइयाँ स्वस्थान पर निरन्तर घूर्णन करती रहती हैं। इसके साथ ही इन इकाइयों से बाहर की ओर स्पन्दित होने वाली प्राणापान रश्मियाँ विभिन्न सूक्ष्म तरंगों व रश्मियों को

गतिशील बनाए रखने में भी सहयोग करती हैं।

६. अन्तरिक्षम् — इसकी व्याख्या कर चुके हैं।

७. आकाशम् — यह पद आङ्पूर्वक 'काशृ दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि सभी प्रकाशित लोक, कण वा तरंग इस आकाश में ही सब ओर विद्यमान रहते हैं। इसके साथ ही आकाश तत्त्व में स्वयं अपनी दीप्ति भी होती है, क्योंकि आकाश स्वयं विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियों से निर्मित होता है।

८. आपः — यह पद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह तत्त्व इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त होता है। इससे अधिक व्यापक अन्य कोई पदार्थ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में नहीं है और जो पदार्थ आकाश तत्त्व से भी व्यापक हैं, वे इस ब्रह्माण्ड से बाहर भी हैं, जहाँ आकाश महाभूत भी नहीं है। इस कारण हमने ब्रह्माण्ड की सीमा में आकाश तत्त्व को सबसे अधिक व्यापक कहा है।

९. पृथिवी — यह पद 'प्रथ प्रख्याने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ सहसा सर्वत्र एक साथ उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि यह धीरे-२ फैलता हुआ उत्पन्न होता है। इस कारण इसे पृथिवी कहा गया है।

१०. भूः — यह पद 'भू सत्तायाम्' धातु से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ यह है कि यह तत्त्व अन्य महाभूतों की अपेक्षा नित्य होता है तथा अन्य सभी महाभूत इसके अन्दर ही ठहरे वा विद्यमान रहते और इसी में उत्पन्न भी होते हैं। उधर अवकाश रूप आकाश तो निरपेक्ष नित्य है ही।

११. स्वयम्भूः — इसका अर्थ यह है कि यह किसी अन्य महाभूत से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि यह स्वयं अन्य महाभूतों के बिना ही उत्पन्न होता है। उधर अवकाशरूप आकाश तो निरपेक्ष रूप से स्वयम्भू होता ही है। इसका एक अर्थ यह भी है कि आकाश महाभूत स्वयं अर्थात् अनायास बिना किसी भारी चेष्टा वा विक्षोभ के उत्पन्न हो जाता है, जबकि अन्य महाभूतों की उत्पत्ति के समय अधिक क्रियाशीलता व समय की आवश्यकता होती है।

१२. अध्वा — ऋषि दयानन्द ने इसकी व्युत्पत्ति उणादि-कोष भाष्य में इस प्रकार की है— 'अत्ति भक्षयतीति अध्वा' (उ.को.४.११७)। इसका अर्थ यह है कि किन्हीं दो पदार्थों

के संयोग के समय उत्पन्न विभिन्न रश्मियों को पदार्थों के बाहरी भाग में विद्यमान आकाश तत्त्व ही अवशोषित करता है। इसके साथ ही विभिन्न छन्दादि रश्मियों से जब कुछ अंश पृथक् होकर रिस जाता है अथवा असुरादि पदार्थ छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाता है, तब ये सब पदार्थ आकाश में ही विलीन हो जाते हैं।

१३. पुष्करम् — यह पद 'पुष पुष्टौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे संकेत मिलता है कि आकाश में विद्यमान सूक्ष्म रश्मियाँ, जो स्वतन्त्र विचरण करती हैं तथा आकाश की किसी इकाई का अवयव नहीं होती, आकाश में गमन करते हुए सूक्ष्म कणों, तरंगों व बड़ी रश्मियों को पोषण देने का कार्य करती हैं। ये सभी पदार्थ निरन्तर आकाश से कुछ सूक्ष्म रश्मियों का आदान-प्रदान करते रहते हैं।

१४. सगरः — इस पद की व्युत्पत्ति सहपूर्वक 'गॄ निगरणे' धातु से मानी गयी है। इससे यह सिद्ध होता है कि आकाश में गमन कर रहीं बड़ी छन्द रश्मियों, तरंगों व कणों से रिसी हुई छोटी-२ रश्मियों को आकाश तत्त्व निगल लेता है। प्रलय काल में आकाश सभी महाभूतों को निगलकर अपने में लीन कर लेता है।

१५. समुद्रः — पूर्व में व्याख्यात।

१६. अध्वरम् — 'अध्वानं मार्गं राति ददाति स अध्वरम्' अर्थात् जो सभी महाभूतों को आवागमन के लिए सुगम मार्ग प्रदान करता है, उसे अध्वर कहते हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार का कथन है— 'अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः' (निरु.१.८) अर्थात् आकाश सब पदार्थों के साथ संगत रहता है और सबको परस्पर संगत करने में सहयोगी होता है। इसके साथ ही यह इसमें से गमन करने वालों के साथ प्रतिरोधक व्यवहार नहीं करता, इस कारण आकाश को अध्वर कहते हैं।

'तयोर्विभागः' अर्थात् इन दोनों ही प्रकार के समुद्रों का पृथक्-२ स्पष्ट ज्ञान अपने तर्क और ऊहा से ही सम्पन्न होता है।

तत्रेतिहासमाचक्षते-देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणाः।

अधर्मस्त्वया चरितः। ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्। तस्मात्ते देवो न वर्षतीति। स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः। पुरोहितस्तेऽसानि। याजयानि च त्वेति। तस्यैतद्वर्षकामसूक्तम्। तस्यैषा भवति॥ १०॥

यहाँ पूर्वोक्त समुद्र नामक पदार्थों की व्याख्या करने वाले अथवा उनसे सम्बन्धित एक नित्य इतिहास (आख्यान) को प्रस्तुत करते हैं। ध्यातव्य है कि नित्य इतिहास उन घटनाओं अथवा प्रक्रियाओं का शृंखलाबद्ध विवरण होता है, जो स्थूल दृष्टि से देखने पर किसी मानवीय इतिहास के समान प्रतीत होता है। वस्तुतः वेदादि शास्त्रों में वर्णित विभिन्न घटनाओं में दर्शाये विभिन्न आधिदैविक पदार्थों के नामों से अनेक मनुष्यों ने अपने नाम रख लिये थे। इस बात की पुष्टि भगवान् मनु के निम्नलिखित वचन से भी होती है—

सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ (मनुस्मृति १.२१)

इस वचन से स्पष्ट है कि मनुष्य ने भाषा एवं विभिन्न कर्त्तव्यों का ज्ञान वेद से ही प्राप्त किया। जैसे यदि आज कोई रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में श्रीराम, लक्ष्मण, अर्जुन एवं भीम आदि नामों का उल्लेख देखकर अपना नाम श्रीराम आदि रख लेता है, तो इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि वह रामायण में वर्णित मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम हो गया। इसी प्रकार वेद एवं ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में सृष्टि के पदार्थों के नामों को देखकर प्राचीन ऋषि आदि महापुरुषों ने अपने नाम रख लिये, तब इसका अर्थ यह नहीं है कि वेद में किसी मनुष्य का इतिहास है। हमारे मत में ब्राह्मण ग्रन्थों, जो वेद के व्याख्यान ग्रन्थ कहे जाते हैं, में भी अपवाद के अतिरिक्त कोई मानवीय इतिहास नहीं है। निरुक्त भाष्यकार पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने भाष्य में इस विषय की विस्तृत विवेचना की है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''ईसाई यहूदी ग्रन्थकार संस्कृत के इतिहास शब्द का अंग्रेजी अनुवाद लेजेंड करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं। उत्तर स्पष्ट है। यदि वे इतिहास को हिस्ट्री मान लें, तो प्राचीन भारतीय इतिहास का उनका कल्पित किया हुआ ढाँचा सर्वथा नष्ट हो जाए। इसलिए ये चालाक लेखक अधिकांश स्थानों में इतिहास का अंग्रेजी में लेजेंड अनुवाद करते हैं। पर

प्रस्तुत स्थान में ईसाई-यहूदी संस्कार ग्रहण करने वाला राजवाड़े लिखता है— The RK refers to an actual historical facts अर्थात् इस ऋक् में कही गई घटना एक वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य है। वस्तुतः राजवाड़े ने बिना सोचे समझे यह लेख किया है।

देखिए, ऐतिहासिक शन्तनु का मूल नाम महाभिष था। इसका अधिक स्पष्टीकरण भागवत पुराण ९.२२ से होता है— प्राङ् महाभिषसंज्ञितः। उसने शन्तनु नाम वेद से लेकर ग्रहण किया था। शन्तनु-भ्राता देवापि का आर्ष्टिषेण विशेषण भी उत्तर काल में मान लिया गया। स्कन्द लिखता है— स च किल च्यवननामापरनाम्नि ऋष्टिषेणे ब्रह्मचर्यमुवास। च्यवन का अपर नाम ऋष्टिषेण हुआ। यह क्यों हुआ, इसका कारण भी स्पष्ट है।

यदि यह वर्षा सूक्त, जैसा ईसाई-यहूदी लेखक कल्पना करते हैं, देवापि का बनाया होता, तो देवापि इसके मन्त्रों में शन्तनु पद रखता ही न। वह इसके स्थान में महाभिष शब्द रखता। और भी, वह अपना नाम आर्ष्टिषेण न कहकर च्यवन कहता। अतः इतना निश्चित है कि यह सूक्त देवापि और शन्तनु से पहले विद्यमान था। फलतः दोनों के नाम अथवा नाम-विशेषण उत्तर काल में मन्त्रों से लेकर रखे गए।

अपरञ्च, वेद-विषयक इतिहासों का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए निरुक्त-प्रदर्शित ऐतिहासिक मत के आधारभूत सिद्धान्त को जानना अत्यन्त आवश्यक है। यास्क मुनि ने महती कृपा करके इस विषय को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है— ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। १०.१०॥ अर्थात् ऋषि की, दृष्टार्थ वाले की [अपने दृष्ट अर्थ में] प्रीति होती है, आख्यान से मिली हुई। यास्क के इस स्पष्टीकरण के अनुसार ऋषि का देखा हुआ अर्थ एक पृथक् वस्तु है और आख्यान उससे सर्वथा पृथक् एक अन्य वस्तु है। दोनों वस्तुओं को जोड़कर वेदार्थ का ऐतिहासिक पक्ष बना। इसी के फलस्वरूप मन्त्रगत घटना के साथ इतिहास का भी थोड़ा सा सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए विद्वानों ने महाभिष को शन्तनु नाम दे दिया।

आख्यान सर्वथा पृथक् हैं, इस सत्यता का एक अकाट्य प्रमाण है। वह है— ऐतिहासिक घटनाओं के साथ वेदमन्त्रों में वर्णित घटनाओं का कभी भी पूर्ण सामंजस्य न होना। प्रस्तुत घटना में भी मन्त्रगत देवापि आर्ष्टिषेण अर्थात् ऋष्टिषेण का पुत्र है। इतिहास में देवापि का पिता प्रतीप = प्रतिप = पर्यश्रवाः है। उसका एक अन्य नाम ऋष्टिषेण भी था,

यह कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता। इस कठिनाई को देखकर ही प्राचीन आचार्यों ने देवापि के गुरु च्यवन का अपर नाम ऋष्टिषेण मान लिया और उसे ही देवापि का पिता माना। इसीलिए बृहद्देवता ७.१५६ में लिखा है कि क्षत्रिय देवापिऋष्टिषेणसुतोऽभवत्।

इतिहास के अनुसार देवापि विकलाङ्ग होने के कारण राजा न बन सका। उसके राजा बनने में प्रजाएँ बाधक थीं। महाभिष का इसमें कोई दोष न था।

अब यदि कहो कि देवापि के पिता का नाम ऋष्टिषेण था, तो इसका प्रमाण इतिहास से देना होगा। यदि कहो मन्त्र में देवापि आर्ष्टिषेण है, तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि विवाद मन्त्र की बात के ऐतिहासिक होने पर है और जब यह सिद्ध करना है कि मन्त्र की बात ऐतिहासिक है, तो इसका पोषक प्रमाण इतिहास से ढूँढकर लाना पड़ेगा। अन्यथा मन्त्र की बात को ऐतिहासिक घटना सिद्ध करने के लिए मन्त्र का ही प्रमाण साध्य-सम हेत्वाभास होगा।

आर्ष्टिषेण देवापि जो ऋषि है, वह निस्सन्देह आधिदैविक है। इसीलिए विद्वान् दुर्गाचार्य ने नैरुक्त पक्ष में इस घटना का सर्वथा आधिदैविक अर्थ किया है। ऋग्वेद के इसी वर्षकाम सूक्त के मन्त्र ८ में आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे पाठ है। इसमें मनुष्यः पद भी इसके आधिदैविक अर्थ का पोषक है। वेद में भ्राजदृष्टयः (ऋ.१.३१.१), ऋष्टिविद्युत् (ऋ.१.१६८.५) आदि मरुतों के विशेषण हैं। इन मरुतों के अनेक भेद ही नर, मनुष्य और विश आदि कहे जाते हैं।

इस सूक्त में वर्णित वर्षा और सामान्यतया भी वर्षा का सम्बन्ध मरुतों से है।

पं. राजाराम ने लिखा है— ऐतिहासिक पक्ष में यह दोष स्पष्ट आता है कि देवापि ही इस सूक्त का द्रष्टा ऋषि, अपना निर्देश प्रथम पुरुष से और भूतकाल से कैसे करता है, इसका यथाकथंचित् यह समाधान दुर्गाचार्य ने लिखा है कि जैसे इस कल्प में देवापि और शन्तनु हुए, वैसे इससे पूर्वकल्प में भी हुए, उसके अभिप्राय से देवापि का यह वचन है। इति।

एक और भी अति स्पष्ट सत्य है। भारतीय इतिहास से प्रमाणित है कि मन्त्रगत घटनाओं के आधार पर इतिहास में वर्णित पुरुषों ने बहुधा अपने नाम और विशेषण बदल

लिए। सुप्रसिद्ध देवासुर संग्राम को ही कोई वेदों में वर्णित देवासुर संग्राम न समझ ले, इस भ्रान्ति के निवारणार्थ ही शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है— तस्मादाहुः नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिद-मन्वाख्याने त्वद् उद्यत इतिहासे त्वत् (श.ब्रा.११.१.६.९)।

वेद के इतिहास कैसे हैं, इसका अतिस्पष्ट ज्ञान ऋ.१.५४.६ पर स्कन्दभाष्य में उद्धृत एक इतिहास से होता है। यथा—

अत्रेतिहासमाचक्षते। संग्रामेऽसुराः सूर्यस्य रथं भङ्क्तुमैच्छन्। अश्वं चापहर्तुम्। ताविन्द्रो रक्षितवान्। इति।

यह संग्राम अन्तरिक्ष में हुआ। उसमें सूर्य के रथ और एतश अश्व की रक्षा इन्द्र ने की। ये सब आधिदैविक हैं।

इतिहास और वेद के कथनों के इन सूक्ष्म भेदों को पूर्ण न समझकर ही राजवाड़े आदि ने बहुत व्यर्थ लेख किया है और दाशराज्ञ संग्राम के विषय में तो कई ईसाई-यहूदी लेखकों ने वृथा कागज काले किए हैं।''

पण्डित भगवद्दत्त द्वारा यह भाष्य सन् १९६४ में किया गया था। इस भाष्य से पश्चिमी तथाकथित विद्वानों की आँखों से अज्ञान का पर्दा तो नहीं उठ सका, बल्कि भारतीय विद्वान् भी इसका पूर्ण लाभ नहीं ले सके। निरुक्त के विद्वान् भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर ने इस प्रकरण में निरुक्तकार का आशय न समझकर वेद में अनित्य अर्थात् मानवीय इतिहास को नकारते हुए भी महर्षि यास्क की कठोर आलोचना की है। उनकी दृष्टि में इस प्रसङ्ग में महर्षि यास्क ने वेदों में मानवीय इतिहास को स्वीकार किया है। यहाँ वस्तुतः आचार्य विश्वेश्वर स्वयं भ्रान्त हो गये हैं और वे ऐसा समझने लगे हैं कि वेद के विषय में केवल वे ही निर्भ्रान्त हैं और महर्षि यास्क से अधिक महाविद्वान् हैं। यह आचार्य विश्वेश्वर की भ्रान्ति भी है और अहंकार भी है।

हम आचार्य विश्वेश्वर के कुछ वाक्यों को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''यह प्रकरण निरुक्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। यास्क ने इस प्रकरण की इतिहास-परक व्याख्या की है। यास्क की इस ऐतिहासिक व्याख्या ने इस प्रकरण को और भी अधिक विवादग्रस्त एवं विवेचनीय विषय बना दिया है।

उनका प्रयोजन इन मन्त्रों के भीतर एक ऐतिहासिक उपाख्यान के साथ सम्बन्ध दिखलाना है। मन्त्रों के शब्दों को देखने से साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसके भीतर सचमुच एक ऐतिहासिक उपाख्यान की चर्चा की जा रही है, किन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है। इन मन्त्रों के भीतर देवापि और शन्तनु नामक किन्हीं राजाओं या ऋषियों की कथा खोजना वेद के गौरव के नितान्त प्रतिकूल है। फिर यदि यास्क जैसे विद्वान् ऐसा करने लगे, तब तो 'बारी खेत खाय तौ उपाय कहा करिये' वाली कहावत चरितार्थ होने लगेगी।

यास्क प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में (पृष्ठ ८१) 'तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।' इस स्थल पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके हैं। किन्तु खेद की बात है कि वे अपने उस लेख को यहाँ आकर भूल गये हैं और मन्त्रों में आए हुए 'देवापि', 'शन्तनु' आदि शब्दों को वे किसी विशेष व्यक्ति के वाचक रूढ़ शब्द के रूप में ले बैठे हैं। उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया कि यह स्वयं अपने सिद्धान्त के विपरीत, वेदों के गौरव को ध्वस्त करने वाला और अनर्थजनक कार्य है।''

आचार्य विश्वेश्वर के इन कथनों से इस शास्त्र की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है। जब वैदिक पदों की यौगिकता एवं उनके निर्वचनों के विज्ञान का प्रतिपादक यह ग्रन्थ ही सन्देह के घेरे में खड़ा कर दिया जाए, तब आचार्य विश्वेश्वर सदृश विद्वानों के कहने से वेदों को अपौरुषेय तथा वैदिक पदों के निर्वचनों एवं यौगिकता के विज्ञान पर कौन विश्वास करेगा? अब हम इस विषय को विराम देते हुए इस उपर्युक्त आख्यान अर्थात् नित्य इतिहास पर चर्चा करते हैं—

यहाँ 'देवापिः' पद देव+आपिः इन दो पदों के समास से बनता है— 'देवानां आपि इति देवापिः'। यहाँ 'आपिः' पद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से 'वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनि-वाशिवादिवारिभ्य इञ्' (उ.को.४.१२६) से उणादि इञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। इस प्रकार देवापि एक विशेष प्रकार का विद्युत् अग्नि है, जिसमें नाना प्रकार के देव पदार्थ अर्थात् प्राण व मरुद् रश्मियाँ व्याप्त रहती हैं। यहाँ देवापि को 'आर्ष्टिषेण' कहा है। इसका अर्थ यह है कि यह विद्युत् प्राण, अपान एवं व्यान नामक ऋषिरूप मरुद् रश्मियों व सूत्रात्मा वायु नामक ऋषिरूप रश्मि का ऐसा बन्धन है, जो धनञ्जय रूप ऋषि रश्मि के द्वारा अत्यन्त वेगवती होती है। इस प्रकार की विद्युत् ही देवापि-आर्ष्टिषेण कहलाती है।

अब 'शन्तनु' पद पर विचार करते हैं। इस विषय में आगे स्वयं ग्रन्थकार ने लिखा है— 'शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा' (निरु.२.१२) [तनुः = आत्मा वै तनूः (श.ब्रा.६.७.२.६)] अर्थात् वे तरंगें, जिनमें आत्मा अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सम्यक् नियन्त्रित वा शिथिल होती हैं, उन्हें शन्तनु कहते हैं। ये देवापि एवं शन्तनु दोनों परस्पर भ्राता के समान व्यवहार करते हैं। भ्राता पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः' (निरु.४.२६) अर्थात् जो पदार्थ एक-दूसरे का पोषण करने वाले और उनके विभिन्न कर्मों में एक-दूसरे का सहयोग करने वाले होते हैं, वे भ्राता कहलाते हैं। यहाँ हमें देवापि नामक विद्युत् अग्नि तृतीय भ्राता तथा शन्तनु नामक तरंगें वायुरूप मध्यम भ्राता प्रतीत होती हैं। इन दोनों को ही कुरु नामक पदार्थ से उत्पन्न माना गया है। 'कुरुः' पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि कोष के भाष्य में लिखा है— यः करोति येन वा स कुरुः (उ.को.१.२४)। इस विषय में मद्रचित 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ ७.३०.१ में लिखा है—

"यहाँ इस प्रसङ्ग में प्राण व छन्दादि रश्मियाँ ही 'कुरु' कहलाती हैं, क्योंकि सर्ग प्रक्रिया के सभी कार्यों की कर्त्री वा कारण ये ही होती हैं। कोई पूर्वाग्रही विद्वान् 'कुरु' शब्द से ऐतिहासिक कुरु राजा का ही ग्रहण करे, तो हम उसके भ्रम निवारण के लिए महर्षि जैमिनी को उद्धृत करते हैं— 'अप्येतर्हि वसिष्ठाः कुरुष्वग्रयाश्चैव मुख्याश्च मन्यन्ते' (जै.ब्रा.२.२१७)। इस प्रमाण से यह सिद्ध है कि वसिष्ठ अर्थात् प्राण रश्मियाँ ही कुरु हैं। यहाँ कोई महानुभाव 'वसिष्ठ' शब्द से ऐतिहासिक महर्षि वसिष्ठ का ग्रहण करे, तो उन्हें कुरुवंशी कदापि सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस कारण यहाँ प्राण तत्त्व का नाम ही कुरु व वसिष्ठ है। अपि च यहाँ वसिष्ठ बहुवचन में उद्धृत होने से भी किसी ऐतिहासिक ऋषि वसिष्ठ का ग्रहण करना सम्भव नहीं है।"

इस प्रकार देवापि एवं शन्तनु दोनों ही पदार्थ क्रमशः अग्नि और वायु के विशेष रूप हैं, जो प्राण और छन्द रश्मियों के विशेष संयोग से उत्पन्न हुए हैं। यहाँ शन्तनु को कनीयान् कहा है। इसका अर्थ यह है कि शन्तनु नामक सूक्ष्म तरंगें अल्प मात्रा में होती हैं और देवापि नामक तरंगें विशाल मात्रा में होती हैं। ये अल्प मात्रा में विद्यमान शन्तनु नामक सूक्ष्म तरंगें स्वयं अभिषिक्त होने लगती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये तरंगें अपेक्षाकृत

अधिक क्रियाशील होने लगती हैं। उनकी क्रियाशीलता से देवापि नामक विद्युत् तरंगें अधिक तापयुक्त होने लगती हैं। शन्तनु नामक तरंगों के इस उत्कर्ष के रहते बारह दिव्य वर्ष अर्थात् १२×३६० = ४३२० वर्ष तक विभिन्न कणों, विशेषकर धनावेशित कणों में वृषा शक्ति उत्पन्न नहीं हो पाती है अर्थात् वे कण ऋणावेशित कणों के साथ संयुक्त होने में असमर्थ रहते हैं। इसके साथ ही छन्द रश्मि स्तर पर भी रश्मियों के संघनन से कणों और प्रकाशाणुओं की रचना भी बाधित होने लगती है। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ अधिक विक्षुब्ध होने लगता है।

अब यहाँ ग्रन्थकार अपनी शैली में लिखते हैं कि तब ब्राह्मणों ने शन्तनु से कहा कि 'तुमने अधर्म का आचरण किया है, क्योंकि तुम अपने ज्येष्ठ भ्राता का उल्लङ्घन करके अभिषिक्त हो गए हो।' इसका भाव यह है कि शन्तनु और देवापि नामक पदार्थों के सापेक्ष ब्राह्मण नामक पदार्थों के द्वारा ग्रन्थकार कहला रहे हैं कि शन्तनु नामक तरंगें, जो सूत्रात्मा वायु रश्मियों के शिथिल रूप से सम्पन्न होती हैं, अल्प धारणा शक्ति (होल्डिंग पावर) वाली होने के कारण विभिन्न कणों के संयोजन एवं रश्मियों के संघनन की क्रिया बाधित होती है अथवा यह क्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो पाती है। इस समय शन्तनु नामक तरंगें व्यापक क्षेत्र में विद्यमान देवापि नामक विद्युत् तरंगों का अतिक्रमण करके सभी कणों को अपने प्रभाव में लेने लगती हैं। इससे वे उपर्युक्त कण वृषा शक्तिसम्पन्न नहीं हो पाते हैं। इस प्रकार की स्थिति ४३२० वर्ष तक बनी रहती है। हम यहाँ ब्राह्मण के विषय में कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं— ब्रह्म वै ब्राह्मणः (श.ब्रा.१३.१.५.३, तै.ब्रा.३.९.१४.२), ब्रह्म वै गायत्री (मै.सं.४.७.३, ऐ.ब्रा.४.११), ब्रह्मैता व्याहृतयः (तै.सं.१.६.१०.२)। इन वचनों से व्याहृति रश्मियाँ एवं गायत्री छन्द रश्मियाँ ही ब्राह्मण संज्ञक पदार्थ कहलाते हैं। ये पदार्थ ही शन्तनु संज्ञक पदार्थों को प्रेरित करते हैं। तदुपरान्त उनसे प्रेरित शन्तनु नामक तरंगें देवापि नामक विद्युत् तरंगों को उत्तेजित व प्रेरित करने का प्रयास करती हैं।

इसके पश्चात् पुनः ग्रन्थकार ने अपनी बात मानवीय संवाद की शैली में कही है, जिसका आशय यह है कि देवापि नामक विद्युत् तरंगें शन्तनु नामक तरंगों को अपने साथ सम्मुख दिशा से अर्थात् जिस दिशा में उनकी गति होती है, उसी दिशा से धारण करने लगती हैं। इसके साथ ही वे शन्तनु नामक तरंगों को परस्पर सङ्गत भी करने लगती हैं। उस समय देवापि नामक विद्युत् तरंगें कुछ छन्द रश्मियों के समूह को उत्पन्न करने लगती

हैं। उस समूह को वर्षकाम सूक्त कहते हैं। इस सूक्त की सभी छन्द रश्मियाँ विभिन्न कणों में वृषा गुण उत्पन्न करती हैं। इसी सूक्त की यह ऋचा प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि॥ [ऋ.१०.९८.५]
आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः। इषितसेनस्येति वा। सेना सेश्वरा। समानगतिर्वा। पुत्रः पुरु त्रायते। निपरणाद्वा। पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा। होत्रमृषिर्निषीदन्। ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनाँस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम्। [तै.आ.२.९] इति विज्ञायते। देवापिर्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च। देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिं। चिकित्वाँश्चेतनवान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्। उत्तर उद्धततरो भवति। अधरोऽधोरः। अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा।

उन पूर्वोक्त देवापि नामक तरंगों से जो छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, उनमें से एक छन्द रश्मि यहाँ उद्धृत की गई है। इस मन्त्र का ऋषि आर्ष्टिषेण देवापि, देवता देवाः तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इसका आशय यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त आर्ष्टिषेण देवापि नामक विशेष प्रकार की तरंगों से होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् दृश्य कण तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (आर्ष्टिषेणः) 'आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः इषितसेनस्येति वा सेना सेश्वरा समानगतिर्वा पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा' अर्थात् ऋष्टिषेण का पुत्र अथवा उससे उत्पन्न पदार्थ आर्ष्टिषेण कहलाता है। इसके साथ ही

इषितसेन अर्थात् जिसकी सेना प्रेरित होकर आगे बढ़ रही हो, उसका पुत्र अथवा उससे उत्पन्न पदार्थ भी आर्ष्टिषेण कहलाता है। अब सेना शब्द का निर्वचन करते हुए कहा कि जो किसी नियन्त्रक व्यक्ति वा पदार्थ के नियन्त्रण में रहकर समान गति और समान उद्देश्य को लेकर चलती है, वह सेना कहलाती है।

ऋषि दयानन्द ने उणादि कोष ३.१० की व्याख्या में सेना पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'सिनोति बध्नाति शत्रूनिति सेना' अर्थात् जो शत्रुओं को अथवा हानिकारक तरंग आदि पदार्थों को बाँधती वा नियन्त्रित करती है, वह सेना कहलाती है। 'पुत्रः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— जो अपने माता-पिता की बहुत प्रकार से रक्षा करता है, वह उनका नितान्त अर्थात् सम्पूर्ण रूप से पालन करता है। इसके साथ ही वह पुम् अर्थात् नरक से बचाता है, इसलिए भी उसे पुत्र कहते हैं। 'नरक' का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने पूर्व में १.११ में लिखा है— 'नरकं नि अरकं नीचैर्गमनम् नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्य-स्तीति वा' अर्थात् नीचे जाना अथवा जिसमें रमण करने योग्य स्थान नहीं हो अथवा कम स्थान हो, वह नरक कहलाता है।

इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि तीव्र वेगवती ऋषिरूप प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण रश्मियाँ, विशेषकर प्राण, अपान, व्यान, धनञ्जय एवं सूत्रात्मा के नियन्त्रित और सङ्गत स्वरूप वाली तरंगें, जो विभिन्न बाधक असुरादि रश्मियों को नियन्त्रित करतीं तथा अन्य छन्दादि रश्मियों वा सूक्ष्म कणों को संघनित करके विभिन्न कणों का निर्माण करती हैं। इसके साथ ही वे विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों की विभिन्न क्रियाओं को समृद्ध करने में सहायक होती हैं, उन ऐसी रश्मियों को ही आर्ष्टिषेण कहा जाता है। ऐसी आर्ष्टिषेण तरंगें ऋषि रूप होती हैं अर्थात् वे भी प्राण, अपान, व्यान आदि रश्मियों के समान तीव्र वेगवती होती हैं।

(ऋषिः) 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः' जो रश्मियाँ सूक्ष्म आकर्षण बल से युक्त होती हैं, वे ऋषि कहलाती हैं। महर्षि औपमन्यव को उद्धृत करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि जो रश्मियाँ विभिन्न स्तोम समूह [स्तोम = प्राणा वै स्तोमाः (श.ब्रा. ८.४.१.३), अन्नं वै स्तोमाः (श.ब्रा.९.३.३.६)] को अपनी ओर आकर्षित करने के स्वभाव से युक्त होती हैं, वे ऋषि कहलाती हैं। ध्यातव्य है कि 'दृशिर्' धातु को ऋषि

दयानन्द ने इच्छा करने के अर्थ में भी ग्रहण किया है। [देखें— म.द.ऋ.भा.१.२४.१] इस प्रकार वे आर्ष्टिषेण रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्राण संज्ञक रश्मियों एवं संयोज्य कणों को अपनी ओर आकृष्ट करती रहती हैं। यहाँ 'ऋषि' पद का निर्वचन करते हुए पुनः कहा—

'तद्यदेनाँस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम् इति विज्ञायते।'

[स्वयम्भूः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), तपन्ति = पाचयन्ति (निरु.२.२२)] अर्थात् पूर्वोक्त तरंगें जब परिपक्व अवस्था में होती हैं, उस समय व्यापक आकाश तत्त्व उनकी ओर स्वयं आकृष्ट होता चला आता है, इस कारण उन रश्मियों को ऋषि कहते हैं, ऐसा महर्षि तित्तिर का वचन है। ऐसी वे रश्मियाँ वा तरंगें (होत्रम्, निषीदन्) होता के रूप में इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान होती हैं। 'होता' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— होतारं ह्वातारम् (निरु.७.१५) अर्थात् जो बुलाने वाला होता है, वह होता कहलाता है। जड़ जगत् में जो पदार्थ अन्य पदार्थों को दूर-दूर से आकृष्ट करके अपने साथ संयुक्त करने वाले होते हैं, वे होता कहलाते हैं। यहाँ आर्ष्टिषेण नामक तरंगों को होता कहते हैं।

(देवापिः) 'देवापिर्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च' जिन तरंगों में विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् प्राथमिक प्राण रश्मियाँ व्याप्त होती हैं एवं जो तरंगें सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ में व्याप्त होती हैं अथवा जो विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करती एवं नाना प्रकार के पदार्थों के संयोग-वियोग का कारण बनती हैं, वे तरंगें देवापि कहलाती हैं। ये देवापि और आर्ष्टिषेण दोनों एक ही प्रकार के पदार्थ के नाम हैं।

(देवसुमतिम्) 'देवानां कल्याणीं मतिम्' [मतिः = प्रजा वै मतयः (तै.आ.५.६.८), वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.ब्रा.८.१.२.७)। कल्याणम् = कल्याणं कमनीयं भवति (निरु.२.३)] विभिन्न देव पदार्थों अर्थात् प्राणादि रश्मियों से उत्पन्न कमनीय कणों और तरंगों को (चिकित्वान्) 'चेतनवान्' विशेष उत्तेजित व प्रकाशित करती हैं। (सः, उत्तरस्मात्, अधरम्, समुद्रम्) 'स उत्तरस्मादधरं समुद्रम् उत्तर उद्धततरो भवति अधरोऽधोरः अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा' वह आर्ष्टिषेण देवापि तरंग वा तरंगें ऊपर की ओर उठे हुए समुद्र अर्थात् आकाश से नीचे की ओर अर्थात् पृथिवी आदि लोकों पर स्थित

अचल सागरों रूपी समुद्र पर (अपः, दिव्याः) आकाश में विद्यमान मेघों के जल की (वर्ष्या, अभि, असृजत्) सब ओर से वृष्टि कराता है। इसका तात्पर्य यह है कि वृष्टि प्रक्रिया में इन आर्ष्टिषेण देवापि ऋषि रूप तरंगों की महती भूमिका होती है।

यह ध्यातव्य है कि यहाँ ग्रन्थकार ने आकाश रूपी समुद्र को उद्धततर कहा है, इससे आकाश की उत्पत्ति के विषय में एक रहस्योद्घाटन होता है। वह यह है कि जब सूक्ष्म रश्मियों [जिनके विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ पठनीय है] से आकाश तत्त्व बनने लगता है, उस समय उसकी उत्पत्ति सर्वत्र एक साथ नहीं होती, बल्कि धीरे-२ स्थान-२ पर होते हुए सर्वत्र हो जाती है। इस प्रक्रिया में विभिन्न स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो आकाश फूलता हुआ-सा उत्पन्न हो रहा हो। वस्तुतः वह आकाश का फूलना नहीं, बल्कि धीरे-२ उसकी उत्पत्ति के क्षेत्र का विस्तार होना है। यह भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक केन्द्रबिन्दु से प्रारम्भ नहीं होता, बल्कि अनेक बिन्दुओं से यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यहाँ महर्षि यास्क के निर्वचन की गम्भीर वैज्ञानिकता का सुन्दर दिग्दर्शन है।

अब पृथिव्यादि लोकों पर स्थित सागरों रूपी समुद्रों के विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'अधरोऽधोरः अधो न धावति इति ऊर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा'। यह भी ग्रन्थकार की सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि का उदाहरण है। जब पृथिव्यादि लोकों पर सागरों-महासागरों की उत्पत्ति होती है, उस समय उन ग्रहों में सिकुड़ने की प्रक्रिया होती है, इससे इन लोकों के धरातल पर गहरे गड्ढे बन जाते हैं, ये ही सागरों-महासागरों का रूप धारण कर लेते हैं। ये गड्ढे इधर-उधर गति नहीं करते अर्थात् स्थानान्तरित नहीं होते, बल्कि अचल रहते हैं और न ही ये इन लोकों के धरातल से ऊँचे हो सकते हैं, बल्कि नीचे ही रहते हैं।

भावार्थ— कुछ ऋषि रश्मियाँ प्राणापानादि रश्मियों को भी नियन्त्रित करके विभिन्न छन्द रश्मियों को संघनित करके कणों के निर्माण में सहायक होती हैं। ऋषि रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मि समूहों को आकर्षित करती हैं। ऋषि रश्मियाँ जब किन्हीं तरंगों को परिपक्व कर देती हैं, तब आकाशतत्त्व स्वयं ही उनकी ओर आकृष्ट होता चला जाता है। देवापि तरंगें नाना पदार्थों के संयोग-वियोग का कारण बनती हैं और उन्हें प्रकाशित भी करती हैं। इन रश्मियों का पृथिवी पर बादलों से वर्षा कराने में भी सहयोग होता है। यहाँ उस वृष्टि

का विशेष रूप से वर्णन है, जो पृथिवी की उत्पत्ति के समय एवं सागरों की उत्पत्ति से पूर्व हो रही थी। आकाशतत्त्व की उत्पत्ति सर्वत्र एक साथ नहीं होती, बल्कि फैलते हुए होती है, परन्तु वर्तमान विज्ञान द्वारा प्रचारित स्पेस इंफ्लेशन से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। पृथिवी पर जल वृष्टि होने से इसके सिकुड़ने की एवं सागरों की उत्पत्ति प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

आधिभौतिक भाष्य— (आर्ष्टिषेणः) वह राजा जिसकी अनुशासित सेना शत्रुओं को बाँधने में समर्थ होवे, वह अपनी प्रजा का बहुत प्रकार से रक्षण करता है। वह निश्चयपूर्वक सम्पूर्ण प्रजा का पालन करता हुआ तीनों प्रकार के दुःखों से प्रजा को बचाता है। (देवापिः, ऋषिः) ऐसा राजा मन्त्रद्रष्टा योगी होता है, जो विभिन्न दिव्य गुणों से युक्त होता है। (होत्रम्, निषीदन्) वह राजा राष्ट्र की वेदी पर होता के रूप में विराजमान रहता है अर्थात् वह अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक स्वार्थों की बलि देकर भी सम्पूर्ण राष्ट्र की रक्षा में तत्पर रहता है। [होता = क्षत्रं वै होता (ऐ.ब्रा.६.२१)] वह होतारूप राजा क्षात्र धर्म का पालन करता हुआ दुष्ट पुरुषों को न्यायपूर्वक कठोर दण्ड देता है। (देवसुमतिम्) वह राजा आप्त विद्वानों की हितकारिणी बुद्धि को (चिकित्वान्) जानता और प्राप्त करता हुआ महाविद्वान् होता है। (सः) वह राजा (उत्तरस्मात्) उच्च पदस्थ राज्याधिकारियों, धनवानों, विद्वानों एवं बलवान् पुरुषों से लेकर (अधरम्, समुद्रम्) [समुद्रः = पुरुषो वै समुद्रः (जै.उ.३.३५.५), समुद्द्रवन्ति कामुका यस्मिन् व्यवहारे सः (म.द.य.भा.१३.१६)] निचले स्तर अर्थात् अविद्वान्, निर्धन व दुर्बल लोगों अर्थात् राष्ट्र के सभी नागरिकों के नाना प्रकार के व्यवहारों के प्रति (दिव्याः, अपः) दिव्य ज्ञान और कर्मों की (वर्ष्या, अभि, असृजत्) सब ओर से वृष्टि करता है अर्थात् वह राष्ट्र के सभी नागरिकों के लिए धर्म और विद्या की वृद्धि के उपाय करता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (आर्ष्टिषेणः) आत्मा एवं सात्त्विकी बुद्धि से नियन्त्रित इन्द्रियों की सेना जिसकी होवे, ऐसे योगी पुरुष के (देवापिः, ऋषिः) अन्तःकरण में दिव्य ज्ञान और विचार का प्रकाश व्याप्त होता है। ऐसा योगी पुरुष वेद की ऋचाओं का साक्षात् करता हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है। (होत्रम्, निषीदन्) ऐसा योगी होतृरूप उस परमात्मा में विराजमान होता है। ऋग्वेद ६.९.४ में भी उस ब्रह्म के विषय में कहा है— 'अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं'। जब योगी परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है, उस समय

उसकी ऋतम्भरा बुद्धि में वेदरूपी ब्रह्म स्वयं प्रकाशित होने लगता है अर्थात् वेद की ऋचाओं का अर्थ स्वयं उसके सम्मुख उपस्थित होने लगता है। इसका कारण यह है कि वह योगी (देवसुमतिम्, चिकित्वान्) दिव्य प्रज्ञा बुद्धि को प्राप्त कर लेता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योगदर्शन में लिखा है— तज्जयात्प्रज्ञालोक: (यो.द.३.५)। इसका भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने लिखा है—'तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञया भवत्यालोको यथा यथा संयम: स्थिरपदो भवति तथा तथेश्वरप्रसादात्समाधिप्रज्ञा विशारदीभवति' अर्थात् उस संयम के जय होने से समाधि से उत्पन्न हुई बुद्धि का प्रकाश होता है। जैसे-जैसे संयम स्थिरता को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे ईश्वर कृपा से समाधिविषयिणी बुद्धि प्रकाश करने वाली होती है। (स:) वह योगी (उत्तरस्मात्, अधरम्, समुद्रम्) [समुद्र: = मनो वै समुद्र: (श.ब्रा.७.५.२.५२), वाग्वै समुद्रो मन: समुद्रस्य चक्षु: (तां.ब्रा.६.४.७)] समाधि अवस्था में पवित्र हुए अन्त:करण और इन्द्रियों से सामान्य अथवा निम्न अवस्था को प्राप्त अन्त:करण और इन्द्रियों की ओर (दिव्या:, अप:) दिव्यता और पवित्रता (वर्ष्या, अभि, असृजत्) की सब ओर से वृष्टि करने लगता है अर्थात् वह योगी लौकिक व्यवहारों में भी सदैव विवेक और पवित्रता का ही व्यवहार करता है।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ११॥

अर्थात् अधिक निर्वचन के लिए अगली ऋचा को आगामी खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

द्वादश: खण्ड:

यद्देवापि: शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृत: कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥

[ऋ.१०.९८.७]

शन्तनु:। शं तनोऽस्त्विति वा। शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा।

पुरोहितः पुरः एनं दधति। होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत्। देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनम्। रराणो रातिरभ्यस्तः। बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्। सोऽस्मै वाचमयच्छत्। बृहदुपव्याख्यातम्॥ १२॥

इस मन्त्र का ऋषि भी आर्ष्टिषेण देवापि, देवता देवाः एवं छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् है। ऋषि और देवता के विषय में पूर्ववत् समझें। इसका छान्दस प्रभाव भी लगभग पूर्ववत् होता है।

आधिदैविक भाष्य— (यत्, देवापिः, पुरोहितः) 'पुरोहितः पुरः एनं दधति' जब देवापि नामक तरंगें, जिनके विषय में पूर्व मन्त्र में लिखा जा चुका है, पुरोहित रूप अर्थात् शन्तनु संज्ञक पदार्थ को अपने सम्मुख धारण व संयुक्त कर लेती हैं। (शन्तनवे) 'शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा' [तनुः = आत्मा वै तनूः (श.ब्रा.६.७.२.६)] अर्थात् जिसमें सूत्रात्मा वायु शिथिल और विस्तृत रूप में विद्यमान हो एवं जिसमें सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सरलतापूर्वक फैली हुई होती हैं, वे रश्मि वा तरंगें शन्तनु कहलाती हैं। ऐसी उन शन्तनु नामक तरंगों के लिए (होत्राय, वृतः) जो होता कर्म के लिए वरण की जाती हैं अर्थात् उन तरंगों का विभिन्न पदार्थों के संयोग-वियोग आदि की प्रक्रिया में विनिमय होता रहता है, ऐसी उन तरंगों के लिए वे देवापि तरंगें (कृपयन्) 'कृपायमाणः' [कृपा = कृपतेर्वा (निरु.६.८), कल्पते अर्चतिकर्मा (निघं.२.१४), कृप् धातोर्वा क्विप् प्रत्यये तृतीया] शन्तनु नामक तरंगों को सामर्थ्यवान् एवं प्रकाशमान बनाती हुई (अदीधेत्) 'अन्वध्यायत्' [यहाँ 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु का अर्थ ध्यान करने के साथ-साथ तेज प्रदान करना भी है। इसके प्रमाणरूप में हम 'ध्यामा' शब्द की व्युत्पत्ति उद्धृत करते हैं— 'ध्यायते स ध्यामा, परिमाणं तेजो वा' (उ.को.४.१५२)] उन्हीं की ओर केन्द्रीभूत होकर उन्हें तीक्ष्ण बनाती हैं। (देवश्रुतम्) 'देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति' विभिन्न देव कण अर्थात् प्रकाशित कण वा तरंगें जिसकी ओर आकृष्ट होती हुई गमन करती हैं, उससे (वृष्टिवनिम्) 'वृष्टियाचिनम्' [वृष्टिः = दुष्टानां शक्तिबन्धिका शक्तिः (म.द.ऋ.भा. १.१५२.७), वृष्टिः (प्रजापतिः) तम् (पाप्मानम्) अवृश्चत् यदवृश्चत् तस्माद् वृष्टिः (तै.ब्रा. ३.१०.९.१), वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं सम्प्रयच्छति (ऐ.ब्रा.२.४१)] ऐसी विद्युत् तरंगों, जो अनिष्ट असुरादि रश्मियों को नष्ट करती हैं, को मिलाने में

(रराणः) 'रराणो रातिरभ्यस्तः' सहायता प्रदान करती हैं। [यहाँ 'रा' धातु को द्वित्व हुआ है।] ऐसी क्रियाओं में (बृहस्पतिः) 'बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्' [बृहस्पतिः = एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः (श.ब्रा.१४.४.१.२२), अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत् (जै.उ. २.२.५)] प्राणापान रश्मियाँ (अस्मै) उन देवापि नामक तरंगों पर (वाचम्, अयच्छत्) 'ओम्' नामक सूक्ष्म रश्मियों का सिञ्चन करती हैं।

भावार्थ— पूर्वोक्त देवापि तरंगें शन्तनु नामक तरंगों, जिनमें सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सरलतापूर्वक फैली हुई होती हैं, के लिए सामर्थ्य व तेज प्रदान करती हैं। इससे वे तरंगें तीक्ष्ण होने लगती हैं। प्राणापान रश्मियाँ देवापि तरंगों पर 'ओम्' रश्मियों का सिंचन करती रहती हैं। इस कारण विद्युत् तरंगें अनिष्ट असुरादि रश्मियों को नष्ट करती हैं।

आधिभौतिक भाष्य— (यत्) जब (देवापिः) ऐसा राजा, जो दिव्य गुणों से युक्त होता है, (पुरोहितः) राष्ट्र की प्रजा को सदैव अपने सम्मुख मानकर उसका पालन और रक्षण करता है। (शन्तनवे) वह राजा अपने राष्ट्र में शान्ति और कल्याण के विस्तार के लिए (होत्राय, वृतः) होतारूप आसन के लिए प्रजा द्वारा वरण किया जाता है अर्थात् राजा राष्ट्ररूपी यज्ञवेदी पर होतारूप में विराजमान होता है। ऐसा होता रूप राजा (कृपयन्, अदीधेत्) प्रजा पर कृपा करता हुआ एवं उसे समृद्ध और सशक्त बनाता हुआ निरन्तर उसके हित का चिन्तन करता है। (बृहस्पतिः) उधर बृहस्पति अर्थात् ब्रह्मा के रूप में आसीन वेदवेत्ता राजगुरु (अस्मै) उस राजा को (वाचम्, अयच्छत्) निरन्तर वेद विद्या का उपदेश करता है, (देवश्रुतम्, वृष्टिवनिम्, रराणः) बृहस्पति रूप राजगुरु विद्वान् लोग जिसके अनुशासन में चलते हैं और जिससे [वृष्टिः = वृष्टिर्वै विश्वधाया (तै.ब्रा.३.२.३. २)] सम्पूर्ण राष्ट्र के पालन और पोषण की याचना वा कामना करते हैं, ऐसे राजा को निरन्तर ज्ञान देता रहता है अर्थात् उच्च कोटि के वेदवेत्ता विद्वान् के मार्गदर्शन में ही किसी राष्ट्र का राजा अपने राज्य में सुख, शान्ति और समृद्धि की स्थापना कर पाता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (यत्) जो (देवापिः, पुरोहितः) दिव्य गुणों से युक्त योगी पुरुष सदैव अपने सम्मुख परमात्मा को अनुभव करता है। (शन्तनवे, होत्राय, वृतः) अपने आत्मा को परम शान्ति प्रदान करने के लिए एवं अपनी सभी वासनाओं का ब्रह्म में हवन करने के लिए उसका वरण करता है। (कृपयन्, अदीधेत्) वह अपने अन्तःकरण में

तत्त्वज्ञान का प्रकाश करते हुए और उसे सबल बनाते हुए निरन्तर ब्रह्म का चिन्तन करता है। (बृहस्पतिः) वेद वाणी का स्वामी वह ब्रह्म (अस्मै) इस योगी को (वाचम्, अयच्छत्) [वाचम् = वाग्वै भर्गः (श.ब्रा.१२.३.४.१०), वागेव भर्गः (गो.पू.५.१५)] सम्पूर्ण पाप का नाश करने वाला तेज प्रदान करता है अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार से उस योगी के सभी संस्कार दग्धबीज हो जाते हैं। (देवश्रुतम्, वृष्टिवनिम्, रराणः) ऐसे दग्धबीज योगी की वाणी को विद्वान् लोग भी श्रद्धापूर्वक सुनते हैं और वे उस योगी से ज्ञान की वृष्टि की कामना करते हैं। ऐसे जिज्ञासुओं को वह योगी निरन्तर ज्ञान प्रदान करता रहता है।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च।
यानि त्वस्य प्राधान्येनोपरिष्टात्तानि व्याख्यास्यामः। आदित्यः कस्मात्।
आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासेति वा।
अदितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयोगं त्वस्य। एतदार्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक्।
सूर्यमादितेयम्। [ऋ.१०.८८.११]
अदितेः पुत्रम् एवमन्यासामपि देवतानामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति।
तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगस्यांशस्येति।

द्युलोक और आदित्य दोनों के छः समान नाम हैं, जो निघण्टु में इस प्रकार वर्णित हैं— 'स्वः। पृश्निः। नाकः। गौः। विष्टपम्। नभः'। इस आदित्य के जो मुख्य नाम हैं, उनकी व्याख्या आगे अध्याय बारह में करेंगे। अब 'आदित्यः' पद का निर्वचन करते हैं— 'आदत्ते रसान्'। [रसः = उदकनाम (निघं.१.१२), वाङ्नाम (निघं.१.११), अन्ननाम (निरु.२.७), रसो वाऽआपः (श.ब्रा.३.३.३.१८)] इस निर्वचन से निम्नलिखित रहस्यों का उद्घाटन हो रहा है—

१. आदित्य अर्थात् सूर्यलोक बाहरी अन्तरिक्ष से विभिन्न छन्दादि रश्मियों तथा सूक्ष्म कणों को ग्रहण करता रहता है।

२. सूर्यादि लोकों का केन्द्रीय भाग बाहरी भाग से संलयनीय कणों एवं विभिन्न छन्द व प्राण आदि रश्मियों को ग्रहण करता है। इस बात का संकेत ऋग्वेद से भी मिलता है— 'हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति' (ऋ.१.१६४.४७) अर्थात् हरणशील रश्मियाँ प्राण रश्मियों से आच्छादित होकर अथवा सूक्ष्म कणों को आच्छादित करते हुए सूर्यलोक में निरन्तर गिरती रहती हैं।

३. सूर्य से आने वाली किरणें आकाश से सूक्ष्म प्राण एवं मरुद् रश्मियों को कुछ अंशों तक ग्रहण करती हैं। ध्यातव्य है कि वे किरणें कुछ रश्मियों का विसर्जन भी करती हैं, परन्तु विसर्जन का संकेत इस निर्वचन में नहीं है।

४. सूर्य की किरणें जल का वाष्पन करके वाष्प को ग्रहण कर ऊपर ले जाती हैं। इसी कारण सूर्य की किरणें जल को सुखाती हैं।

अब आदित्य का अगला निर्वचन करते हैं— 'आदत्ते भासं ज्योतिषाम्' [ज्योतिः = अयं वै (भू) लोको ज्योतिः (काठ.सं.३३.३, ऐ.ब्रा.४.१५, जै.ब्रा.२.३१७), इदमेवान्तरिक्षं ज्योतिः (जै.ब्रा.२.१६६), एतद् वै ज्योतिरुत्तमं य एष (सूर्यः) तपति (जै.ब्रा.२.६८)] इसका अर्थ यह है कि विभिन्न ग्रह आदि लोकों एवं सुदूर तारों अथवा गैलेक्सी के केन्द्र से उत्सर्जित सूक्ष्म प्रकाश किरणों एवं आकाश में उत्पन्न होने वाली किरणों को भी सूर्यलोक ग्रहण करता रहता है।

यहाँ ग्रह आदि लोकों से उत्पन्न होने वाली किरणों की चर्चा की गई है। प्रायः हम इन्हें अप्रकाशित लोक कहते हैं, पुनरपि कोई भी लोक सर्वथा प्रकाशहीन नहीं होता, बल्कि वे भी निरन्तर सूक्ष्म प्रकाश की किरणें उत्सर्जित करते रहते हैं, ऐसा यहाँ संकेत है। ये किरणें सूर्य द्वारा आकृष्ट होकर वहाँ तक पहुँचती हैं। इसके पश्चात् लेखक लिखते हैं— 'आदीप्तो भासेति वा' अर्थात् वह आदित्य लोक सब ओर से प्रकाशित होता है, इस कारण भी उसे आदित्य कहा जाता है।

अब अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखा— 'अदितेः पुत्र इति वा' अर्थात् आदित्य

लोक (सूर्यलोक) अदिति का पुत्र कहलाता है, क्योंकि यह अदिति से उत्पन्न होता है। [अदितिः = पृथिवीनाम (निघं.१.१), पृथिव्यदितिः (काठ.सं.२४.४, काठ.सं.२४.६), आकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.५.४२.१), वाग्वाऽअदितिः (श.ब्रा.६.५.२.२०), वाङ्नाम (निघं. १.११)] इसका तात्पर्य यह है कि सूर्यलोक आकाश तत्त्व द्वारा वाक् तत्त्व अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियों के संघनन से उत्पन्न अग्नि के परमाणुओं एवं सूक्ष्म कणों के मेल से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सूर्य की रश्मियाँ भी आकाश द्वारा छन्द व प्राण रश्मियों के संघनन से सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न होती हैं। इस कारण से सूर्यलोक को अदिति का पुत्र कहा जाता है। यहाँ पुत्र का अर्थ यदि ग्रन्थकार की दृष्टि से ही ग्रहण करें, तब सूर्यलोक पृथ्वी आदि लोकों एवं पार्थिव परमाणुओं का रक्षक सिद्ध होता है। इसका आशय यह है कि सूर्यलोक अपने आकर्षण बल के द्वारा पृथ्वी आदि ग्रहों को थामकर उनकी रक्षा करता है, वहीं पृथ्वी आदि लोकों में विद्यमान सभी प्राणियों और वनस्पतियों के जीवन की रक्षा भी करता है।

आदित्य का अदिति-पुत्र के रूप में प्रयोग बहुत विरल है और वह भी सूक्तभाक् के रूप में ही। इस विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है—

''आगे 'सूक्तभाक्' और 'हविर्भाक्' दो प्रकार के देवताओं का प्रतिपादन किया गया है। जिस देवता के नाम से यज्ञ में आहुति दी जाती है, वह 'हविर्भाक्' देवता कहलाता है और जिसकी मन्त्रों से आहुति न देकर केवल पाठमात्र के द्वारा स्तुति होती है, उसको 'सूक्तभाक्' देवता कहते हैं। 'आदित्य' का अदिति-पुत्र के रूप में केवल 'सूक्तभाक्' देवता की तरह प्रयोग हुआ है और वह भी कम, यह अभिप्राय है।''

आर्चाभ्याम्नाय के विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर लिखते हैं—

''कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास जी के चार प्रधान शिष्यों में से चरक-वैशम्पायन एक था। वह याजुष-शाखा का प्रवक्ता था। इस चरक-वैशम्पायन के नौ शिष्यों में से ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य, तीन मध्यम देशवासी थे। ऋचाभ-प्रोक्त आम्नाय आर्चाभ्याम्नाय था। उस में अदिति पुत्र = आदितेय सूर्य सूक्तभाक् था। दुर्गवृत्ति के मुद्रित पाठों के अनुसार ऋग्वेद ही आर्चाभ्याम्नाय है। पर इस स्थान पर वृत्ति के उपलब्ध कोशों के पाठ बहुत अस्त-व्यस्त हो गए हैं। अतः निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि मूल पाठ क्या था।

याजुष शाखाओं में सूक्त विभाग था, यह विचारणीय है। कपिष्ठल कठ संहिता में अष्टक विभाग है, अतः सम्भव है कि किन्हीं याजुष शाखाओं में सूक्त विभाग भी हो।''

सारांश यह है कि सूर्य को अदिति पुत्र बहुत कम स्थानों पर ही कहा गया है। इसके प्रयोग का एक उदाहरण ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है— 'सूर्यमादितेयम्' (ऋ.१०.८८.११) यहाँ आदित्य को अदिति का पुत्र कहा गया है। अब आगे ग्रन्थकार लिखते हैं कि इस प्रकार दूसरे देवताओं की भी आदित्य के रूप में स्तुति की गई है। इसका एक उदाहरण हमें ऋग्वेद में मिलता है—

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥ (ऋ.२.२७.१)

इस मन्त्र में मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष और अंश इन सभी देवताओं की आदित्य के समान स्तुति की गई है।

अथापि मित्रावरुणयोः।
आदित्या दानुनस्पती॥ (ऋ.१.१३६.३)
दानपती।
अथापि मित्रस्यैकस्य।
प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन। (ऋ.३.५९.२)
इत्यपि निगमो भवति।
अथापि वरुणस्यैकस्य।
अथा वयमादित्य व्रते तव। (ऋ.१.२४.१५)
व्रतमिति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः। इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव। वृणोतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते। यदावृणोति शरीरम्॥ १३॥

जिस प्रकार पूर्व में कई देवताओं की स्तुति आदित्य नाम से की गई है, उसी प्रकार के कुछ उदाहरण दर्शाते हुए यहाँ कहते हैं कि मित्र और वरुण के युग्म की स्तुति भी आदित्य नाम से की गई है। इसके उदाहरण के रूप में ऋचा के एक अंश को यहाँ उद्धृत

किया गया है— 'आदित्या दानुनस्पती'। यह पूरी ऋचा इस प्रकार है—

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे जागृवांसा दिवेदिवे।
ज्योतिष्मत्क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती।
मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः॥ (ऋ.१.१३६.३)

इस ऋचा का देवता मित्रावरुण है, जिसकी स्तुति यहाँ आदित्य के रूप में की गई है। यहाँ 'दानुनस्पती' का अर्थ स्वयं ग्रन्थकार ने 'दानपती' किया है अर्थात् दान का पालन और रक्षण करने वाला कहा है। इसका एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है— 'ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती। सचेते अनवह्वरम्॥' (ऋ.२.४१.६)

यहाँ भी 'मित्रावरुण' इस युग्म को आदित्य के रूप में दर्शाया है। इन दोनों ही मन्त्रों में मित्र और वरुण के युग्म को 'दानुनस्पती' कहा है। इसका आशय यह है कि मित्र और वरुण अर्थात् प्राण एवं अपान अथवा प्राण एवं उदान रश्मियों के युग्म विभिन्न प्रकार की संयोगादि क्रियाओं का पालन और रक्षण करने वाले होते हैं। इनमें से प्रथम मन्त्र परुच्छेप ऋषि से उत्पन्न होता है। यहाँ परुच्छेप ऋषि का तात्पर्य उन रश्मियों से है, जिनकी प्रत्येक सन्धि विशेष उत्पादन सामर्थ्य से युक्त होती है। इसका छन्द स्वराडत्यष्टिः होने से इस ऋचा का प्रभाव अति तीव्र एवं व्यापक होता है। उधर दूसरे मन्त्र का ऋषि गृत्समद अर्थात् प्राणापान का युग्म है तथा इसका छन्द गायत्री है। इस कारण इसका प्रभाव पूर्व मन्त्र की अपेक्षा कम तीक्ष्ण होता है। ये दोनों ही मन्त्र मित्रावरुण को आदित्य के रूप में दर्शाते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार का प्रयोजन इन मन्त्रों की व्याख्या करना नहीं है, बल्कि केवल यही दर्शाना है कि मित्र और वरुण अर्थात् प्राण एवं अपान आदित्य के रूप में भी व्यवहार करते हैं। इस कारण हम भी यहाँ इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या करना आवश्यक नहीं समझते।

अब पुनः दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जहाँ मित्र नामक पदार्थ को आदित्य के रूप में स्तुत किया गया है—

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन। (ऋ.३.५९.२)

यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥ (ऋ.३.५९.२)

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। [विश्वामित्रः = वाग्वै विश्वामित्रः (कौ.१०.५), वाक् = वागित्यन्तरिक्षम् (जै.उ.४.२२.११), गायत्री वाक् (मै.सं.४.३.१), वाग्वा अनुष्टुप् (ऐ.ब्रा.१.२८)] अर्थात् इसकी उत्पत्ति आकाश में विद्यमान अथवा आकाश की अंशभूत गायत्री एवं अनुष्टुप् रश्मियों से होती है तथा इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका प्रभाव तीव्र तेज और बल उत्पन्न करने वाला होता है।

आधिदैविक भाष्य— (यः, मर्तः) जो रश्मियाँ प्राण रश्मियों से विहीन होती हैं, (मित्र, ते, आदित्य) उन्हें अविनाशी एवं संयोजक गुणों से युक्त प्राण रश्मियाँ (व्रतेन, प्र, शिक्षति) अपने कर्मों से बल प्रदान करती हैं किंवा वे उन मर्त संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होने लगती हैं, जिससे (प्रयस्वान्, अस्तु) वे प्राणविहीन रश्मियाँ, जो पहले सक्रिय किंवा विशेष सक्रिय नहीं थीं, वे सक्रिय हो उठती हैं अथवा मनुष्य संज्ञक कण, जो अनियमित गति वाले एवं अल्प दीप्ति वाले होते हैं, वे प्राण रश्मियों के सहयोग से तीव्र गति और दीप्ति से युक्त होने लगते हैं। (सः) वह अर्थात् वे (त्वा, ऊतः) तुम्हारे अर्थात् प्राण रश्मियों के द्वारा रक्षित वा संयुक्त पदार्थ (न, हन्यते) किसी असुरादि पदार्थ के द्वारा नष्ट नहीं हो सकता है और (न, जीयते) न उसे असुरादि रश्मियाँ जीत सकती हैं अर्थात् वे उन रश्मि आदि पदार्थों को अपने नियन्त्रण में भी नहीं ले सकती हैं (न, एनम्) और न उन पदार्थों को (अन्तितः, अंहः, अश्नोति) पाप संज्ञक पदार्थ अर्थात् जो रश्मि आदि पदार्थ अन्य रश्मि आदि पदार्थों की गति को अस्त-व्यस्त कर देते हैं, वे भी समीप से उन पदार्थों को व्याप्त नहीं कर पाते हैं अर्थात् प्रभावित नहीं कर पाते हैं। (न, दूरात्) न ही वे पाप संज्ञक पदार्थ दूर से ही उन पदार्थों को प्रभावित कर पाते हैं अर्थात् जिन रश्मियों के साथ प्राण रश्मियाँ संयुक्त रहती हैं, उन्हें असुर पदार्थ अर्थात् कथित डार्क एनर्जी प्रभावित नहीं कर सकती है। इस रश्मि का प्रभाव इसके अर्थ के अनुसार इस सृष्टि में सर्वत्र देखा जा सकता है।

आधिभौतिक भाष्य— (यः, मर्तः) [मर्तः = मनुष्यनाम (निघं.२.३)] जो मनुष्य

(प्रयस्वान्, अस्तु) सतत प्रयत्न करता है और जो (मित्र, आदित्य) सम्पूर्ण प्रजा के लिए हितकारी और वेदादि ज्ञान से प्रकाशित राजा अथवा विद्वान् (ते) आपके अर्थात् उस राजा अथवा विद्वान् के (व्रतेन) [व्रतम् = कर्मनाम (निघं.२.१)] शासन वा उपदेश आदि कर्मों के द्वारा (प्र, शिक्षति) विशेष रूप से शिक्षा प्राप्त करता और अनुशासन में रहता है, (सः) ऐसा मनुष्य (त्वा, ऊतः) तुम अर्थात् उस राजा अथवा विद्वान् के द्वारा पालित एवं रक्षित होकर (न, हन्यते) न तो किसी दुष्ट व्यक्ति वा दुर्गुणों द्वारा मारा जाता है और (न, जीयते) न किसी शत्रु वा पापकर्म द्वारा जीता जा सकता है। (एनम्) ऐसे मनुष्य को (अंहः, न, अश्नोति, अन्तितः) निकट से भी कोई पाप कर्म अथवा पापी मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता है और (न, दूरात्) न दूरस्थ पापी मनुष्य वा उसका पापकर्म ही उसे प्राप्त कर सकता है। इसका आशय यह है कि धर्मात्मा व विद्वान् राजा वा विद्वान् से संरक्षित मनुष्य न तो पापी हो सकता है और न वह किसी पापी की कुसंगति में फँस सकता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (यः, मर्तः) जो मनुष्य (प्रयस्वान्, अस्तु) योग पथ पर प्रयत्न करता है। (मित्र, आदित्य) सब जीवों का मित्र अविनाशी परमेश्वर (ते) आपके अर्थात् परमात्मा के (व्रतेन) नियमों के पालन अर्थात् यम-नियमादि योगाङ्गों के आचरण के द्वारा (प्र, शिक्षति) अच्छी प्रकार योग की शिक्षा प्राप्त करता है अर्थात् धारणा, ध्यान व समाधि का ज्ञान व साक्षात्कार प्राप्त करता है। (सः) ऐसा योगसाधक (त्वा, ऊतः) आप अर्थात् परमेश्वर द्वारा रक्षित अथवा उस परब्रह्म का साक्षात्कर्त्ता (न, हन्यते) मृत्यु के भय को प्राप्त नहीं होता है और (न, जीयते) न अविद्यादि दोषों के द्वारा जीता जा सकता है। (एनम्) ऐसे योगी पुरुष को (अंहः, अन्तितः, न, अश्नोति) निकटता से कोई भी पाप प्राप्त नहीं कर सकता है और (न, दूरात्) न दूरस्थ पाप ही उसे स्पर्श कर सकता है अर्थात् वह पुरुष सदैव निष्पाप ही रहता है।

तदनन्तर वरुण देवता की एक ऋचा के अंश को उद्धृत किया है— 'अथा वयमादित्य व्रते तव' (ऋ.१.२४.१५)। यहाँ वरुण देवता की आदित्य देवता के समान स्तुति की गयी है, जबकि पूर्व में मित्र एवं वरुण के युग्म की आदित्य के रूप में स्तुति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया था। यहाँ 'व्रतम्' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

व्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव वृणोतीति सतः अन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्।

(पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य रा.ला.क.ट्र. संस्करण का पाठ)

अन्य संस्करणों में यह पाठ इस प्रकार है—

व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः। इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव। निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते। यदावृणोति शरीरम्।

हमें द्वितीय पाठ अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है। यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं— क्रियाशीलता को ही व्रत कहते हैं वा इसका कारण यह है कि क्रियाशीलता से प्रत्येक मनुष्य आच्छादित है अर्थात् क्रियाशीलता से विहीन अर्थात् निष्क्रिय आलसी व्यक्ति मनुष्यपन से रहित है। कर्मविहीन मनुष्य को वेद जीने का भी अधिकार नहीं देता है— 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (यजु.४०.२) अर्थात् हे मनुष्य! तू इस संसार में शुभ कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा कर। वस्तुतः इस सृष्टि में कर्म के बिना कोई प्राणी रह भी नहीं सकता है। इसी बात को भगवान् मनु ने इस प्रकार कहा है—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ (मनु.१.१२३)

अर्थात् बिना क्रिया के कुछ भी व्यापार सम्भव नहीं है। यहाँ तक कि जीवित रहना भी बिना कर्म के सर्वथा असम्भव ही है। इसी कारण यहाँ कहा है कि कर्म सबको आच्छादित किए हुए रहता है किंवा शुभाशुभ कर्म फल के रूप में जीवमात्र को सदैव आच्छादित किए हुए रहता है, इसी कारण कर्म को व्रत कहते हैं। यह पद 'वृञ् आच्छादने' धातु से व्युत्पन्न होता है, ऐसा ही यहाँ संकेत है।

अब 'व्रतम्' का उपर्युक्त दूसरा निर्वचन करते हुए कहते हैं कि निवृत्ति-कर्म को व्रत कहते हैं अर्थात् जो कर्म निवृत्ति मार्ग अर्थात् यम-नियमादि मोक्षमार्ग पर चलाने वाले होते हैं, उन्हें व्रत कहा जाता है। ऐसे कर्मों को व्रत क्यों कहा जाता है? इसका कारण यह है कि ऐसे कर्म पापाचरण से रोकते हैं। इसके साथ ही यह व्रत मनुष्य को मोक्षप्रदायक कर्मों से आच्छादित करता है, इस कारण भी व्रत कहलाता है।

तदनन्तर अन्न को व्रत कहा है। इसका कारण यह है कि अन्न रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र वा रज आदि के रूप में परिणत होकर सम्पूर्ण शरीर को आच्छादित कर लेता है।

अब हम 'व्रतम्' पद के विषय में आधिदैविक रूप से विचार करते हैं—

व्रत कर्म को कहते हैं, क्योंकि कर्म ही सबको आच्छादित किए हुए रहता है। हम जानते हैं कि इस सृष्टि में सूक्ष्मतम से लेकर विशालतम पदार्थ तक सभी निरन्तर क्रियाशील वा गतिशील हैं, कुछ भी स्थिर नहीं है। इसी कारण इस सृष्टि को जगत् वा संसार कहते हैं। सूक्ष्मतम रश्मियों से लेकर विशालतम तारे व गैलेक्सी-समूह तक सभी निरन्तर नाना प्रकार की गतियाँ कर रहे हैं। इस प्रकार कर्म केवल मनुष्य वा प्राणियों के अस्तित्व के लिए ही अनिवार्य नहीं है, अपितु सभी जड़ पदार्थों के अस्तित्व के लिए भी क्रियाशीलता का होना अनिवार्य है। इस कारण संसार का प्रत्येक पदार्थ व्रती बनकर ही अपने अस्तित्व में है। जिस दिन यह व्रत कर्म बन्द हो जायेगा, सम्पूर्ण सृष्टि का प्रलय हो जायेगा। वस्तुतः गति ही जीवन है और स्थिरता ही मृत्यु है। कार्यरूप जगत् कर्म का ही परिणाम है और कारणावस्था में पदार्थों का लीन होना गति वा क्रिया के अवसान का ही परिणाम है।

अब निवृत्ति कर्म को व्रत कहने पर विचार करते हैं। 'निवृत्ति' शब्द का अर्थ है— मुक्त होना अथवा अपनी पूर्व अवस्था में लौटना। यहाँ मुक्त होने से तात्पर्य यह है कि सूक्ष्मतम रश्मि वा कणों से लेकर विशालतम लोक-लोकान्तर तक सभी पदार्थ जो किसी भी बल से बँधे हुए हों, वे मुक्त होकर अपनी सहज अथवा पूर्व अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं। जैसे ही वह बल का बन्धन शिथिल होता है, वैसे ही वे अपने साथ संयुक्त पदार्थ से दूर हट जाते हैं अथवा कोई अन्य बड़ा बल उनको खींच ले जाता है। पदार्थ का यह स्वभाव इस सृष्टि के अस्तित्व के संचालन के लिए ईश्वर की अनिवार्य व्यवस्था है। यदि ऐसा न हो, तो सृष्टि में संयोग और वियोग का सम्पूर्ण व्यापार बन्द होकर सृष्टि ही समाप्त हो जाए। पदार्थों का इस प्रकार का स्वभाव उनको अनिष्ट कर्मों से एवं सृष्टि में अनिष्ट घटनाओं के घटने से रोकता है। विद्युत् प्रवाह, प्रकाश का उत्सर्जन और अवशोषण, विभिन्न प्रकार की रासायनिक क्रियाएँ, ऊष्मा का संचालन आदि क्रियाएँ

इस निवृत्ति कर्म के ज्वलन्त उदाहरण हैं, जिन्हें भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी भली प्रकार समझ सकते हैं।

इसके पश्चात् अन्त में अन्न को व्रत कहने पर विचार करेंगे। जड़ जगत् में जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ द्वारा अवशोषित कर लिया जाए, तो उस अवशोषित पदार्थ को अवशोषक पदार्थ का अन्न कहते हैं अथवा प्रत्येक संयोजनीय पदार्थ अन्न कहलाता है। इस अन्न के विषय में ग्रन्थकार का कहना है कि अन्न शरीर को सर्वविध आच्छादित करता है। 'शरीरम्' पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'शीर्य्यते हिंस्यत इति शरीरम्' (उ.को.४.३१)। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस विषय में लिखा है— 'अथ यत्सर्वमस्मिन्न-श्रयन्त तस्मादु शरीरम्' (श.ब्रा.६.१.१.४)। इसका आशय यह है कि जो भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से संयुक्त हुआ होता है, वह पदार्थ उसके बाहरी क्षेत्र में संयुक्त होकर उसी के आश्रय में रहता है, जो किसी बल के द्वारा वापिस उस स्थान से पृथक् भी किया जा सकता है, वह शरीर कहलाता है।

यह 'व्रतम्' पद के निर्वचन की व्याख्या हुई। अब ग्रन्थकार ने इसके उदाहरण रूप में जो मन्त्रांश प्रस्तुत किया है, उसको पूर्ण रूप में हम उद्धृत करते हैं —

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ (ऋ.१.२४.१५)

इस मन्त्र का ऋषि आजीगर्ति शुनःशेप, देवता वरुण एवं छन्द त्रिष्टुप् है। इसका तात्पर्य यह है कि यह छन्द रश्मि आजीगर्ति अर्थात् अजीगर्त से उत्पन्न शुनःशेप नामक ऋषि रश्मियों से उत्पन्न होती है। अजीगर्त नामक रश्मियों, जिनके गमनागमन के लिए विभिन्न ऋतु रश्मियाँ सुन्दर वाहन का कार्य करती हैं, से उत्पन्न शुनःशेप ऋषि रश्मियाँ मध्यम बल व विस्तार से युक्त होती हैं। ये रश्मियाँ प्रजनन-उत्पादन क्षमता से विशेष सम्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ जब किसी अन्य रश्मि आदि पदार्थ से संयुक्त होती हैं, उस समय अपना तेज व बल उस रश्मि को प्रदान करके स्वयं शान्त जैसी हो जाती हैं। ये रश्मियाँ अन्य रश्मि से संयुक्त होते समय उन्हें स्पर्श मात्र करके अपना बल उसमें संचरित कर देती हैं। इन रश्मियों के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का ३३ वाँ अध्याय पठनीय है।

इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से [वरुणः = यः प्राणः स वरुणः (गो.उ.४.११), अपानो वरुणः (श.ब्रा.८.४.२.६), व्यानो वरुणः (श.ब्रा.१२.९.१.१६), वरुणः सोऽग्निः (श.ब्रा.५.२.४.१३)] प्राण, अपान और व्यान रश्मियाँ अधिक बलवती होकर अग्नि को विशेष रूप से प्रदीप्त करती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (वरुण) वह प्राण, अपान और व्यान आदि का संयुक्त रूप, जो दृढ बन्धन बल उत्पन्न करने वाला होता है, (अस्मत्) हमसे अर्थात् इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली उपर्युक्त शुनःशेप रश्मियुक्त पदार्थों के (अव, अधमम्) निचले, (मध्यमम्) मध्य एवं (उत्, उत्तमम्) ऊपरी भाग में विद्यमान (पाशम्) असुरादि रश्मियों के बन्धन को [यहाँ इन रश्मियों के तीन प्रकार के बन्धन कहे गए हैं, जो असुर रश्मियों अर्थात् कथित डार्क एनर्जी के विविध रूपों से उत्पन्न होने वाले अनिष्ट प्रभाव हैं। इस विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' पठनीय है।] (वि, श्रथाय) शिथिल करता है, जिससे विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया तीव्र होती है। (अथ, आदित्य) इसके अनन्तर वह अविनाशी वरुणरूप रश्मि समूह (तव) तेरे अर्थात् वरुण रश्मियुक्त पदार्थ के (व्रते) विभिन्न कर्मों में स्थित होकर (अनागसः) असुर आदि बाधक पदार्थ से रहित होकर अर्थात् उसके बन्धनों से मुक्त होकर (अदितये) [अदितिः = इयं (पृथ्वी) वा अदितिः (मै.सं.१.१०.२०), अदितिर्हि गौः (श.ब्रा.२.३.४.३४)] पार्थिव परमाणुओं अर्थात् मोलिक्यूल्स, अन्य सूक्ष्म कणों के संयोजन वा निर्माण एवं प्रकाशाणुओं की उत्पत्ति प्रक्रिया के लिए (वयम्, स्याम) ये ऋषि रश्मियाँ समर्थ होती हैं अर्थात् इन प्रक्रियाओं में शुनःशेप नामक रश्मियों की जो भूमिका होती है, वह निर्विघ्न पूर्ण करने में इस छन्द रश्मि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।

यहाँ वरुण देवता की आदित्य रूप में स्तुति की गई है। इस कारण इस मन्त्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भावार्थ— जो पदार्थ प्राणापानव्यान रश्मियों से जिस मात्रा में युक्त होते हैं, उनकी यजनशीलता उतनी ही अधिक तीव्र होती है। ऐसे पदार्थों पर असुरादि पदार्थों (तथाकथित डार्क एनर्जी) का कोई बाधक प्रभाव नहीं होता।

आध्यात्मिक भाष्य— इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य ऋषि दयानन्द कृत ही पर्याप्त है,

इसलिए हम उसी भाष्य को यहाँ अक्षरशः उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (उत्) अपि (उत्तमम्) उत्कृष्टं दृढम् (वरुण) स्वीकर्त्तुमहेश्वर (पाशम्) बन्धनम् (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (अव) क्रियार्थे (अधमम्) निकृष्टम् (वि) विशेषार्थे (मध्यमम्) उत्तमाधमयोर्मध्यस्थम् (श्रथाय) शिथिली कुरु। अत्र छन्दसि शायजपि। अष्टा.३.१.८४। अनेन शायजादेशः। (अथ) अनन्तरार्थे। अत्र निपातस्य च इति दीर्घः। (वयम्) मनुष्यादयः प्राणिनः (आदित्य) विनाशरहित (व्रते) सत्याचरणादावाचरिते सति (तव) सत्योपदेष्टुस्सर्वगुरोः (अनागसः) अविद्यमान आगोऽपराधो येषां ते (अदितये) अखण्डितसुखाय (स्याम) भवेम।

भावार्थः — य ईश्वराज्ञां यथावत्पालयन्ति ते पवित्रास्सन्तः सर्वेभ्यो दुःखबन्धनेभ्यः पृथग्भूत्वा नित्यं सुखं प्राप्नुवन्ति नेतर इति।

पदार्थ— हे (वरुण) स्वीकार करने योग्य ईश्वर! आप (अस्मत्) हम लोगों से (अधमम्) निकृष्ट (मध्यमम्) मध्यम अर्थात् निकृष्ट से कुछ विशेष (उत्) और (उत्तमम्) अति दृढ़ अत्यन्त दुःख देने वाले (पाशम्) बन्धन को (व्यवश्रथाय) अच्छे प्रकार नष्ट कीजिये (अथ) इसके अनन्तर हे (आदित्य) विनाशरहित जगदीश्वर! (तव) उपदेश करने वाले सबके गुरु आपके (व्रते) सत्याचरण रूपी व्रत को करके (अनागसः) निरपराधी होके हम लोग (अदितये) अखण्ड अर्थात् विनाशरहित सुख के लिये (स्याम) नियत होवें।

भावार्थ— जो ईश्वर की आज्ञा का यथावत् नित्य पालन करते हैं, वे ही पवित्र और सब दुःख बन्धनों से अलग होकर सुखों को निरन्तर प्राप्त होते हैं।"

आधिभौतिक भाष्य— (वरुण) विद्वान् सभासदों द्वारा स्वीकार करने योग्य हे पुरुषश्रेष्ठ राजन्! (अस्मत्) हम सब राष्ट्र निवासियों के (अव, अधमम्, मध्यमम्, उत्, उत्तमम्) निकृष्ट, मध्यम और उत्तम अर्थात् लघु, मध्यम एवं तीव्र अपराधों वा पापों के (पाशम्) बन्धन को अथवा इन पापों से ग्रस्त दुष्ट मनुष्यों अथवा कम हानिकारक, मध्यम स्तर के हानिकारक और तीव्र हिंसक वा हानिकारक प्राणियों के बन्धन को अथवा उनसे प्राप्त दुःख को (वि, श्रयाय) अच्छी प्रकार से नष्ट कीजिए अथवा उत्तम राजा इन दुःखों और पापों से अपनी प्रजा को बचाता है। (अथ) इसके अनन्तर (आदित्य) ज्ञान और गुणों के प्रकाशक हे राजन्! (तव) हम प्रजाजन आपके (व्रते) सदाचरण एवं आपके द्वारा निर्मित

राष्ट्र के विधान के अनुसार आचरण करते हुए (अनागसः) निष्पाप होकर (अदितये) राष्ट्र की अखण्डता और सभी राष्ट्रवासियों के अखण्ड सुख के लिए (वयम्, स्याम) सदैव तत्पर वा समर्थ होवें अथवा इस प्रकार के विद्वान् और धर्मात्मा राजा के शासन में सभी प्रजाजन निष्पाप होकर सम्पूर्ण राष्ट्र को सुखी करने में समर्थ होते हैं।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

स्वरादित्यो भवति। सु अरणः। सु ईरणः। स्वृतो रसान्। स्वृतो भासं ज्योतिषाम्। स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता।

आदित्य अर्थात् सूर्यलोक को 'स्वः' भी कहते हैं। 'स्वः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सु अरणः' अर्थात् सूर्यलोक अच्छी प्रकार गमन करता है। सूर्य की दो प्रकार की गतियों को वर्तमान विज्ञान भी स्वीकार करता है।

१. सूर्य अपने अक्ष पर घूर्णन करता है। यह अपने अक्ष पर २४ दिन में एक चक्कर लगाता है। सूर्य की यह घूर्णन गति अपने अक्ष पर १.९९७ कि.मी./से. (परिधि लगभग ४.३७७ मिलियन कि.मी.) होती है।

२. सूर्य की दूसरी गति उसका गैलेक्सी के केन्द्र का परिक्रमण करना है, जो २२.५-२५.० करोड़ वर्ष में एक परिक्रमा पूरी करता है। सूर्य यह परिक्रमा करते समय एक लहरदार गति करता है।

इसके अतिरिक्त सूर्य दोनों ध्रुवों की दिशा में निरन्तर संकुचन और प्रसारण के रूप में स्पन्दन करता रहता है। इस प्रकार सूर्य की इन सभी गतियों को दृष्टिगत रखकर ही ग्रन्थकार ने सूर्य को सुन्दर गमन करने वाला अर्थात् 'स्वः' कहा है।

तदुपरान्त 'स्वः' का अगला निर्वचन करते हुए लिखा है— 'सु ईरणः'। यहाँ ईरणः पद 'ईर क्षेपे' एवं 'ईर गतौ कम्पने च' धातुओं से निष्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि स्वः संज्ञक सूर्यलोक निरन्तर कम्पन करता हुआ तथा विभिन्न प्रकार की विकिरणों को

अपने अन्दर से अन्तरिक्ष में सब ओर फेंकता हुआ एवं सभी ग्रहादि लोकों को अपने आकर्षण बल के द्वारा प्रेरित करता हुआ निरन्तर गतिशील रहता है।

अब 'स्वः' पद का तीसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'स्वृतो रसान्'। यहाँ 'स्वृतः' का अर्थ है— सु+ऋतः अर्थात् अच्छी प्रकार गया हुआ अथवा पहुँचा हुआ। इसका अर्थ यह है कि सूर्य की रश्मियाँ सर्वत्र पहुँचकर जल का शोषण करती हैं। सूर्य के ऊपर स्पन्दित होती हुई विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ सुदूर अन्तरिक्ष से आती हुई विभिन्न तरंगों एवं कणों को आकर्षित करती रहती हैं। इन सभी पदार्थों में सूर्य अपनी रश्मियों वा तरंगों एवं बलों से व्याप्त रहता है।

तदनन्तर पुनः 'स्वः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'स्वृतो भासं ज्योतिषाम्' अर्थात् सूर्यलोक सभी प्रकार की ज्योतियों, जैसे विभिन्न ग्रह एवं उपग्रह आदि लोकों, अन्तरिक्ष एवं विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की दीप्ति का कारण है। यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि सूर्यलोक अपने प्रकाश के द्वारा इन सभी को प्रकाशित करता है। यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि सूर्य अपनी ही किरणों के प्रकाश का कारण कैसे कहा जा सकता है, जबकि वह स्वयं इन किरणों के कारण ही प्रकाशित है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि इस प्रकरण में [स्वः = देवा वै स्वः (श.ब्रा.१.९.३.१४)] स्वः का अर्थ देव अर्थात् विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियाँ मानना चाहिए और सूर्यलोक भी इन रश्मियों का बहुत विशाल भण्डार है, इस कारण स्वः अथवा आदित्य को सभी ज्योतियों का कारण कहा है।

अगला निर्वचन करते हुए पुनः लिखते हैं— 'स्वृतो भासेति वा' अर्थात् सूर्यलोक प्रकाश से आच्छादित होता है। वर्तमान विज्ञान सूर्य का तापमान लगभग ६००० के. और सूर्य पर पाए जाने वाले धब्बों का ताप लगभग ३८०० के. मानता है। सूर्य पर जिन क्षेत्रों को काले धब्बों के रूप में जाना जाता है, वे वस्तुतः काले अर्थात् अन्धकारमय नहीं होते हैं, बल्कि यह शब्द केवल अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कुछ कम तापमान होने के कारण प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः पृथ्वी के सापेक्ष ३८०० के. भी बहुत अधिक तापमान है, इसलिए सूर्यलोक को सब ओर से प्रकाश से आच्छादित ही कहा गया है।

ये सभी गुण 'द्यौः' शब्द से भी प्रकाशित होते हैं, ऐसा ग्रन्थकार का मत है।

ध्यातव्य है कि 'स्वः' पद 'द्यौः' के लिए भी प्रयुक्त होता है। उस 'द्यौः' के भी निर्वचन इसी प्रकार समझने चाहिए।

पृश्निरादित्यो भवति। प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः। संस्प्रष्टा रसान्। संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्। संस्पृष्टो भासेति वा। अथ द्यौः। संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च।

आदित्य अर्थात् सूर्य का एक नाम 'पृश्नि' भी है। अब इस 'पृश्नि' पद के निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

१. 'प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः' अर्थात् नैरुक्तों के मत में सूर्य को पृश्नि इस कारण कहते हैं, क्योंकि इस सूर्य को विभिन्न प्रकार के रंग अच्छी प्रकार व्याप्त किए हुए रहते हैं। हम सभी जानते हैं कि सूर्य के प्रकाश में सात रंग होते हैं— बैंगनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल। वस्तुतः यह वर्गीकरण स्थूल रूप में है, जबकि सूक्ष्म रूप से विचारें तो इन सभी रंगों के भी अनेक स्तर होते हैं। इस प्रकार सूर्य में अनेक रंग होते हैं, ऐसा मानना चाहिए। इस सृष्टि में सभी प्रकार के रंग विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के कारण ही होते हैं, ऐसा माना जाता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के रंग का कारण विभिन्न छन्द रश्मियाँ होती हैं, जो प्रकाश की किरणों को उत्पन्न भी करती हैं और उन्हें रंग भी प्रदान करती हैं। इस विषय में छन्दशास्त्र के प्रणेता आचार्य पिङ्गल ने लिखा है— 'सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः'। इसका अर्थ यह है कि गायत्री छन्द रश्मियों का रंग श्वेत, उष्णिक् छन्द रश्मियों का रंग सारङ्ग अर्थात् रंग-बिरंगा, अनुष्टुप् का लाल मिश्रित भूरा, बृहती का काला, पंक्ति का नीला, त्रिष्टुप् का लाल एवं जगती का गौर रंग होता है। निश्चित ही इस वर्गीकरण का वर्तमान वर्गीकरण से कुछ भेद अवश्य है, परन्तु इतना निश्चित है कि पृथक्-पृथक् रंगों का कारण पृथक्-पृथक् छन्द रश्मियाँ होती हैं और ये सभी छन्द रश्मियाँ सूर्य आदि लोकों में उपादान रूप में सदैव विद्यमान रहती हैं।

२. अब पृश्नि का अगला निर्वचन करते हैं— 'संस्प्रष्टा रसान्' अर्थात् सूर्य एवं सूर्य की रश्मियाँ विभिन्न सूक्ष्म कणों अथवा जल आदि के अणुओं को अच्छी प्रकार स्पर्श करने वाली होती हैं। यहाँ स्पर्श करने का अर्थ केवल छूना मात्र नहीं ग्रहण करना चाहिए,

अपितु सूर्य की किरणें विभिन्न कणों का निकटता से आलिङ्गन करती हुई उन्हें अपने साथ बाँध लेती हैं किंवा सूर्य की किरणें उन कणों के अन्दर प्रविष्ट होकर उन्हें अपने साथ मिला लेती हैं।

३. तदनन्तर अगला निर्वचन करते हुए लिखा— 'संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्' अर्थात् सूर्य की किरणें पूर्वोक्त विभिन्न ज्योतियों को भी अच्छी प्रकार स्पर्श करती हैं अर्थात् ये किरणें पृथिव्यादि लोकों से उत्पन्न होने वाली किरणों तथा आकाश में गमन करने वाली तरंगों, जो सुदूर लोकों से आती हैं, से टकराकर क्षणिक अध्यारोपण (सुपरपोजिशन) की स्थिति उत्पन्न करती हैं। स्मरण रहे कि ब्रह्माण्ड में सभी लोक और प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण निरन्तर दृश्य वा अदृश्य प्रकाश को उत्सर्जित, परावर्तित अथवा अपवर्तित करता रहता है। ऐसी किरणें जब सूर्य से आने वाली किरणों के सम्पर्क में आती हैं, तब क्षणिक अध्यारोपण की स्थिति उत्पन्न होती है।

४. अब अगला निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'संस्पृष्टो भासेति वा' अर्थात् आदित्य लोक प्रकाश की तरंगों से अच्छी प्रकार बँधा होता है अर्थात् उसके सब ओर प्रकाश ही प्रकाश होता है।

इसके पश्चात् लिखते हैं कि 'द्यौः' को भी 'पृश्नि' कहते हैं और इस द्यौरूप पृश्नि का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च' [द्यौः = असौ (द्यौः) गौः (जै.ब्रा.२.४३९)]

यहाँ ग्रन्थकार पृश्नि शब्द से द्युलोक का ग्रहण करते हैं और फिर द्युलोक के विषय में लिखते हैं अर्थात् द्युवाची पृश्नि शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि ये द्युलोक प्रकाश और विद्युत् रश्मियों से अच्छी प्रकार आच्छादित अथवा बँधे हुए होते हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि द्युलोक किसे कहते हैं? महर्षि जैमिनी के उपर्युक्त वचन से गौ अर्थात् सूर्य को भी द्यौ कहा जा सकता है, क्योंकि गौ शब्द का अर्थ आदित्य लोक भी है। जैसा कि आगे ग्रन्थकार ने लिखा है— 'गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे'। परन्तु ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के दैवत काण्ड में आदित्य लोक को द्युस्थानी कहा है। इसका अर्थ यह है कि द्युलोक आदित्य लोक की अपेक्षा बहुत बड़ा लोक होता है, जिसमें आदित्य लोक स्थित होता है। इस कारण यहाँ द्युलोक का अर्थ सूर्य नहीं हो सकता।

महर्षि जैमिनी के उपर्युक्त वचन से वह लोक, जिसमें विभिन्न प्रकार की रश्मि व तरंगों का बहुत अधिक बाहुल्य हो, उसे द्युलोक कहा जायेगा। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि वह लोक आदित्य लोक ही हो।

इस विषय में हमारा मत यह है कि किसी भी आकाशगंगा के केन्द्ररूप विशाल तारे के बाहर का वह सुदूर तक फैला क्षेत्र, जिसमें कोई लोक आदि परिक्रमा नहीं कर रहे होते हैं तथा जिसमें विभिन्न रश्मि और तरंगों से भरे हुए सत्रह पृथक्-२ क्षेत्र विद्यमान होते हैं। ये क्षेत्र सम्मिलित रूप से उस आकाशगंगा के अन्दर विद्यमान करोड़ों तारों को केन्द्र के साथ बाँधे रखते हैं। इन सत्रह क्षेत्रों वाला विशाल क्षेत्र ही द्युलोक कहलाता है, जिसके गर्भ में अर्थात् केन्द्र में वह केन्द्रीय विशाल तारा विद्यमान होता है। इसी प्रकार प्रत्येक तारे के चारों ओर विद्यमान वह विशाल क्षेत्र, जिसमें कोई ग्रह परिक्रमा नहीं कर रहा होता है, भी विभिन्न रश्मियों और तरंगों से भरा हुआ होता है, उस क्षेत्र को लघु द्युलोक कह सकते हैं। यहाँ इन्हीं दोनों द्युलोकों को पृश्नि कहा गया है। इसके विषय में प्रकाश और विद्युत् तरंगों से आच्छादित बताने के अतिरिक्त उन्हें पुण्यकृत् आत्माओं से आच्छादित भी कहा है। उधर एक अन्य ऋषि ने भी कहा है—

पुण्यं कर्म सुकृतस्य लोकः (तै.ब्रा.३.३.१०.२)।

इस सबका तात्पर्य यही है कि जो जीवात्मा विशेष पुण्य कर्म करने वाले होते हैं, वे इन्हीं लोकों में निवास करते हैं। इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर लिखते हैं—

"द्यौः में मुक्त जीव अव्याहत गति से विचरते हैं। वहाँ न भय है, न मृत्यु, न जरा, न भूख-प्यास और न शोक। पृथिवी पर सुख-विशेष स्वर्ग है और द्यौः में जन्म-मरण के बन्धन से हटकर रहना स्वर्ग है। ये पुण्यकृत् आत्माएँ रश्मियों आदि के आश्रय से मर्त्य लोक से निकल कर सुख में जाते हैं।"

यहाँ पण्डित भगवद्दत्त जी का आशय यह है कि द्युलोकों में मुक्त आत्मा निवास करते हैं। यह हमें उचित प्रतीत नहीं होता। यदि द्युलोक का अर्थ ज्ञान और आनन्द के प्रकाश के धाम परमेश्वर का सानिध्य मानें, तब तो मुक्तात्माओं का द्युलोक में निवास मानना उचित है, परन्तु इस प्रकरण में जहाँ जड़ लोकों की ही चर्चा चल रही है, वहाँ

इसका अर्थ परमधाम परमात्मा ग्रहण करना तर्कसङ्गत नहीं है और दूसरा कारण यह भी है कि सूर्यादि लोकों के निवास स्थान द्युलोकों में यदि मुक्तात्माओं का निवास स्थान मानें, तो वे मुक्त आत्मा एक सीमित क्षेत्र में बँधकर रह जायेंगे। जबकि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

''**प्रश्न**— क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थ विशेष है? क्या वह किसी एक ही जगह में है वा सब जगह में?

उत्तर— नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं।''

उधर ऋषि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश के नौवें समुल्लास में भी लिखते हैं—

''वह मुक्त जीव अनन्त, व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सब में घूमता है।''

यहाँ ऋषि दयानन्द का कथन अधिक तर्कसङ्गत और प्रामाणिक है। तब प्रश्न यह उठता है कि फिर द्युलोक में रहने वाले प्राणी किस श्रेणी के होते हैं? इस विषय में हमारा मत यह है कि वे प्राणी न तो पार्थिव शरीर वाले होते हैं और न मोक्ष प्राप्त आत्मा होते हैं, बल्कि इन दोनों के मध्य देवयोनि के प्राणी होते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने 'द्यौः' के विषय में लिखा है— 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्' (श.ब्रा.१४.३.२.८)। यहाँ देव शब्द का अर्थ विभिन्न प्राण एवं प्रकाश आदि रश्मियाँ भी सम्भव है और देवयोनि के प्राणी भी। यहाँ देवयोनि के प्राणी के विषय में कोई व्यक्ति विवाद भी कर सकता है। मैं उन्हें आर्य विद्वान् डॉ. जयदत्त उप्रेती की पुस्तक 'देवार्थ-प्रकाश' का अध्ययन करने का परामर्श दूँगा। उन्होंने इस विषय में अनेक आर्ष ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए अनेक प्रकार की योनियों की विस्तार से चर्चा की है। फिर भी हम उनके द्वारा उद्धृत दो वचनों को यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं। ये वचन इस प्रकार हैं—

पातञ्जल योगदर्शन कैवल्यपाद के सूत्र ३३ 'क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः' के भाष्य में श्री व्यासदेव जी ने भी लिखा है—

"...तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनुद्दिश्य श्रेयसी, देवानृषीशँचाधिकृत्य नेति..."

इसका तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यजाति अच्छी है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार विभाग करके दिया जाना चाहिये कि पशुओं की तुलना में तो अच्छी है, परन्तु देवों और ऋषियों की तुलना में अच्छी नहीं है। इस कथन से यह ध्वनित होता है कि देवों की और ऋषियों की जाति (योनि) मनुष्यों की अपेक्षा उत्तम ही नहीं, अपितु भिन्न भी है।'

योगदर्शन २.१२ 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः' इस सूत्र के व्यास-भाष्य में कहा गया है— '...यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः ...।' इससे ज्ञात होता है कि देवयोनि भी अवश्य होती है, वह मनुष्य योनि से भिन्न है और धर्माचरण से मनुष्य देवयोनि को प्राप्त होता है।" (उद्धृत— देवार्थ-प्रकाश, पृ.सं.१४५-१४६)

इस प्रकार द्युलोक रूपी पृश्नि ऐसी ही योनियों की निवास स्थान होती है।

नाक आदित्यो भवति। [नेता रसानाम्।] नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणयः।
अथ द्यौः। कमिति सुखनाम। तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत।
न वा अमुं लोकं जग्मुषे किं च नाकम्॥ [काठ.सं.२१.२]
न वा अमुं लोकं गतवते किं च नासुखम्। पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति।

आदित्य अर्थात् सूर्यलोक को 'नाकः' भी कहते हैं। इस 'नाकः' पद का निर्वचन करते हुए कहा— 'नेता रसानाम्'। इसका अर्थ यह है कि आदित्य लोक अपने साथ विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म विद्युत् कणों एवं विभिन्न प्रकार की छन्दादि रश्मियों को लेकर गमन करते हैं। कुछ रश्मियाँ आदित्य लोक के परिक्रमण पथ पर आगे-२ गमन करती हुई कक्षाओं के मार्ग को निरापद बनाती हैं एवं कुछ छन्दादि रश्मियाँ परिक्रमण पथ पर पीछे-२ गमन करती हैं। आदित्य लोक के अपने अक्ष पर घूर्णन करते समय भी कुछ रश्मियाँ एवं विद्युत् कणों की तरंगें साथ-२ घूर्णन करती हैं, इस कारण आदित्य लोक को 'नाकः' कहते हैं।

अब दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'नेता भासाम्'। इसका अर्थ यह है कि यह अपनी प्रकाश रश्मियों को सुदूर अन्तरिक्ष और लोकों में निरन्तर पहुँचाता रहता है। इसके साथ ही यह प्रकाश रश्मियों को अपने साथ सदैव लिए रहता है, उनसे सदैव युक्त रहता है।

अगला निर्वचन करते हुए लिखा— 'ज्योतिषां प्रणयः'। इसका तात्पर्य यह है कि आदित्य लोकों के अन्दर विभिन्न विद्युत् कणों का परस्पर मिलन होकर स्थूल कणों का निर्माण होता है। जैसा कि वर्तमान वैज्ञानिक मानते हैं कि हमारे सूर्य में हाइड्रोजन आयन मिलकर हीलियम के आयनों का निर्माण करते हैं और बड़े तारों में हीलियम आदि के आयन भी परस्पर मिलकर अग्रिम पंक्ति के आयनों का निर्माण करते हैं। हमारा मत यह भी है कि इस ब्रह्माण्ड में कुछ ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ प्रकाशाणु मिलकर सूक्ष्म कणों का निर्माण करते हैं, ऐसे क्षेत्रों को भी आदित्य लोक और नाकः कहा गया है।

इसके अनन्तर कहा कि द्युलोक को भी 'नाक' कहते हैं। यह 'नाक' शब्द न+अ+कम् से मिलकर बना है। [कम् = सुखनाम (निघं.३.६), अन्नम् (निरु.६.३५), प्राणो वाव कः (जै.उ.४.२३.४), सुखम् वै कम् (गो.उ.६.३)] इसके दो अर्थ हैं—

१. इन लोकों में ऐसा कभी नहीं होता, जब इनमें विभिन्न प्राण रश्मियों एवं सूक्ष्म संयोज्य कणों का अभाव हो जाए। इस कारण द्युलोक को नाक कहते हैं। द्युलोक किसे कहते हैं? यह हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका कारण यह है कि प्राण अथवा संयोज्य कणों के अभाव में कभी भी प्रकाश उत्पन्न नहीं हो सकता।

२. द्युलोक में रहने वाली देवयोनियों को किसी प्रकार का दुःख नहीं होता अर्थात् जब तक वे आत्मा इस योनि में रहते हैं, तब तक वे सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त रहते हैं। यह निश्चित ही मोक्ष के समान प्रतीत होता है, परन्तु भेद यह है कि ये मुक्तात्माओं की भाँति सर्वत्र विचरण नहीं कर सकते। फिर भी इनका विचरण स्थान भी हम मनुष्यों की अपेक्षा बहुत विस्तृत होता है। इसके साथ ही मोक्ष की अवधि ऋषि दयानन्द के अनुसार ३६ हजार बार सृष्टि एवं ३६ हजार बार प्रलय के समय के बराबर है, जबकि देवयोनि की इतनी आयु सम्भव नहीं, प्रलय में तो इनका शरीर रहेगा ही नहीं। इसके साथ ही इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं में सुख वा आनन्द की मात्रा एवं स्तर में भी निश्चित ही भेद होता है।

आक्षेप— यहाँ आपने 'नाक:' शब्द का अर्थ देवयोनि का लोक ग्रहण किया है, परन्तु ऋषि दयानन्द ने 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी' (यजु.३२.६) के भाष्य में मोक्ष ग्रहण किया है। इस कारण आपका देवयोनि अर्थ ग्रहण करना ऋषि दयानन्द की मान्यता के विपरीत है। वस्तुत: देवयोनि कोई ऐसी योनि नहीं होती, जिनके लिए पृथक् लोक विद्यमान हो।

समाधान— हमने पृथक् से देवयोनि के विषय में आर्ष प्रमाण प्रस्तुत कर दिये हैं। फिर ऐसी हठधर्मिता उचित नहीं है। एक ही शब्द का विभिन्न सन्दर्भों में भिन्न-२ अर्थ हो सकता है। ऐसा अर्थ सर्वत्र देखा जा सकता है। स्वयं ऋषि दयानन्द ने भी ऐसा किया है। हम यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे— उन्होंने 'नाकम्' पद का अर्थ अविद्यमान-दु:खमन्तरिक्षम् (म.द.ऋ.भा.५.१.१), अविद्यमानदु:खं भोगम् (म.द.य.भा.९.१०), अवि-द्यमानदु:खमाकाशम् (म.द.य.भा.१५.२४) और बहुसुखम् (म.द.ऋ.भा.१.६८.५) आदि किया है।

इस प्रकरण में 'नाक:' पद द्युलोक का विशेषण है और इसी ग्रन्थ में आदित्य लोक को द्युस्थानी माना है। इस कारण द्युलोक और उसके पर्यायवाची 'नाक:' पद का अर्थ मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्ष किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है, बल्कि यह आत्मा की अवस्था विशेष का नाम है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी 'नाक:' को एक लोक विशेष मानते हुए लिखा है— संवत्सरो वाव नाक: (श.ब्रा.८.४.१.२४)। उधर अन्य दो ऋषियों ने कहा है—

स नाको नाम दिवि रक्षोहाग्नि: (मै.सं.४.१.९; काठ.सं.३१.७)।

इस कारण यहाँ 'नाक:' पद का अर्थ देवलोक ही मानना चाहिए। इस लोक के विषय में ग्रन्थकार ने काठक संहिता को उद्धृत करते हुए लिखा है—

न वा अमुं लोकं जग्मुषे किं च नाकम्। (काठ.सं.२१.२)

अर्थात् इस लोक को प्राप्त करने वाले जीवात्मा किसी भी प्रकार के दु:ख को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि पुण्य कर्मों को करने के कारण ही वे इस लोक को प्राप्त होते हैं।

गौरादित्यो भवति। गमयति रसान्। गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौ:। यत्पृथिव्या अधिदूरं गता भवति। यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति।

आदित्य अर्थात् सूर्यलोक को 'गौः' भी कहते हैं। आदित्य को 'गौः' क्यों कहते हैं? इसका उत्तर देने के लिए 'गौः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'गमयति रसान्' अर्थात् वह विभिन्न रसों को अर्थात् विभिन्न प्रकार की छन्द आदि रश्मियों एवं सूक्ष्म विद्युत् कणों को लेकर चलता है। इसके साथ ही इससे उत्पन्न होने वाली किरणें जल को वाष्प बनाकर ऊपर ले जाती हैं। यद्यपि आदित्य लोक के इन गुणों की चर्चा पूर्व में भी की गई है, परन्तु आदित्य के जितने भी नाम हैं, उन सबसे भी इसी प्रकार के अर्थ प्रकाशित होते हैं, ऐसा दर्शाना ही ग्रन्थकार का लक्ष्य है।

अब अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'गच्छत्यन्तरिक्षे' अर्थात् आदित्य लोक अन्तरिक्ष में निरन्तर गमन करता रहता है। आदित्य की गतियों के विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं।

अब द्युलोक को भी 'गौः' कहते हैं, इसका कारण बताते हुए लिखते हैं— 'यत्पृथिव्या अधिदूरं गता भवति' अर्थात् यह पृथिवी लोक से अत्यन्त दूर गया हुआ होता है। हम पूर्व में यह लिख चुके हैं कि विभिन्न तारों एवं आकाशगंगा के विशाल तारों को घेरने वाला वह विशाल अन्तरिक्ष, जिसमें अतिशय मात्रा में नाना प्रकार की तरंगें और रश्मियाँ भरी रहती हैं, उस क्षेत्र को द्युलोक कहते हैं। [पृथिवी = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] यहाँ द्यौरूपी गौ का उपर्युक्त निर्वचन यह अर्थ भी प्रकाशित करता है कि सूर्यलोक एवं आकाशगंगा के केन्द्रीय विशाल तारे के बाहर जो अन्तरिक्ष है, उसके ऊपर द्युलोक की सीमा अत्यन्त दूर तक हुई होती है। इस कारण भी द्युलोक को गौ कहते हैं।

अब 'गौः' शब्द का अगला निर्वचन करते हुए पुनः लिखते हैं— 'यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति' अर्थात् इस द्युलोक में विद्यमान विभिन्न प्रकार के सत्रह क्षेत्रों में पाई जाने वाली रश्मियों और तरंगों द्वारा आकर्षित होते हुए सम्पूर्ण सौरमण्डल अथवा सम्पूर्ण आकाशगंगा में विद्यमान करोड़ों तारे अपने-२ परिक्रमण मार्ग में निरापद गमन करते हैं अर्थात् द्युलोक ही करोड़ों लोकों की कक्षाओं और उनमें परिक्रमण कर रहे लोकों की गतियों का नियमन करता है।

वर्तमान भौतिकी इस सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए केवल गुरुत्वाकर्षण बल को उत्तरदायी मानती है, परन्तु वह उस विशाल गुरुत्वाकर्षण एवं उसके क्रियाविज्ञान के विषय

में बहुत कम जानती है। पाठक आकाशगंगा के व्यवस्थापन को जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ का अठारहवाँ अध्याय पढ़ सकते हैं।

विष्टबादित्यो भवति। आविष्टो रसान्। आविष्टो भासं ज्योतिषाम्। आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौः। आविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च।

अब आदित्य लोक का एक और नाम बतलाते हैं, वह नाम है— विष्टप्। 'विष्टप्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'आविष्टो रसान्' अर्थात् आदित्य लोक अपनी किरणों के द्वारा जल के अणुओं में व्याप्त हो जाता है और उनमें व्याप्त होकर उन्हें अन्तरिक्ष में उठा ले जाता है। आदित्य की किरणें जब किसी विद्युत् कण, इलेक्ट्रॉन आदि पर गिरती हैं, तो उसके अन्दर पूरी तरह प्रविष्ट हो जाती हैं और कभी-२ उन्हें उठाकर परमाणुओं (एटम्स) से पृथक् कर देती हैं।[2] इसके अतिरिक्त कुछ प्रकाशाणु जब विशेष प्रकार की छन्द रश्मियों के सघन क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं, तो विशेष प्रकार के सूक्ष्म कणों में परिवर्तित हो जाते हैं।[3]

अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'आविष्टो भासं ज्योतिषाम्' अर्थात् सूर्य का प्रकाश उसके परिवार में विद्यमान सभी ग्रह-उपग्रह आदि में प्रविष्ट होकर उनकी दीप्ति का कारण बनता है। [ज्योतिः = इदमेवान्तरिक्षं ज्योतिः (जै.ब्रा.२.१६६)] इसके साथ ही सूर्य की किरणें आकाश में विद्यमान सभी सूक्ष्म कणों की दीप्ति में भी प्रविष्ट होती हैं किंवा आकाश की दीप्ति में सूर्य की किरणों की ही दीप्ति विद्यमान होती है।[4]

पुनः अगला निर्वचन करते हुए लिखा— 'आविष्टो भासेति वा' अर्थात् सूर्यलोक उपर्युक्त सभी पदार्थों के अन्दर अपनी दीप्ति के द्वारा ही प्रविष्ट वा विद्यमान होता है। यदि सूर्य में दीप्ति न हो, तो उसकी विद्यमानता निरर्थक ही मानी जायेगी।

अब ग्रन्थकार लिखते हैं— द्युलोक भी 'विष्टप्' कहलाता है। इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि यह क्षेत्र ज्योतियों अर्थात् विभिन्न प्रकार की तरंगों, प्राण एवं छन्दादि

---

[2] Photoelectric effect
[3] Pair production
[4] Scattering

रश्मियों एवं सूक्ष्म विद्युत् कणों से भरा हुआ रहता है। इसके साथ ही इस क्षेत्र में पुण्य आत्मा देवयोनि धारण करके रहते हैं। इन दोनों ही कारणों से द्युलोक भी 'विष्टप्' कहलाता है।

नभ आदित्यो भवति। नेता रसानाम्। नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः। न न भातीति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता॥ १४॥

अब ग्रन्थकार आदित्य लोक का एक नाम और दर्शाते हैं, वह नाम है— नभ। 'नभ' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'नेता रसानाम्' अर्थात् आदित्य लोक अपने सब ओर विभिन्न प्रकार के रसों को ले जाने वाला होता है। हमारा सूर्यलोक प्रकाश आदि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के अतिरिक्त प्रोटोन्स, इलेक्ट्रॉन्स, गामा एवं न्यूट्रॉन आदि किरणों को भी अन्तरिक्ष में दूर-२ तक बिखेरता है अर्थात् पहुँचाता है, इसलिए यह रसों का नेता कहलाता है।

अब अगला निर्वचन करते हुए लिखा— 'नेता भासाम्' अर्थात् सब दिशाओं में अपने प्रकाश को पहुँचाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि सूर्य का प्रकाश कहीं पहुँचे और कहीं नहीं पहुँचे, यदि कोई अवरोध न हो तो। इसके साथ ही सूर्य के प्रकाश की तीव्रता अन्तरिक्ष के प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः समान होती है।

पुनः अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ज्योतिषां प्रणयः' अर्थात् यह अपनी ज्योति से प्रकाशित होने वाले विभिन्न ग्रह-उपग्रह आदि लोकों को अपने आकर्षण बल की रश्मियों के द्वारा बाँधकर अच्छी प्रकार गमन कराता है। यह उन सभी पिण्डों को एक साथ बाँधे भी रखता है। इसके साथ ही इसकी किरणें विभिन्न मोलिक्यूल्स और आयन्स से क्रिया करके उन्हें नाना प्रकार की रासायनिक संयोग प्रक्रियाओं के लिए प्रेरित करती हैं। यदि सूर्य न हो, तब पृथ्वी आदि लोकों पर होने वाली नाना प्रकार की रासायनिक एवं भूगर्भीय क्रियाएँ बाधित हो जायेंगी। इसी प्रकार वनस्पति एवं जीवों के शरीरों में होने वाली क्रियाएँ भी सूर्य के अभाव में अस्त-व्यस्त हो जायेंगी।

अब अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः'।

इसका भाष्य करते हुए मुकुन्द झा शर्मा ने लिखा है—

''अथवा। भासानः सन् भनस्ततश्च नभ इत्युक्तो विपर्ययेण। तथा च भासनशब्दस्य ह्रस्वत्वं सकाराकारलोपः। भकारनकारयोश्च स्थानविपर्ययः सिंह इतिवत्।''

अर्थात् यह नभ शब्द भासन शब्द से ही व्युत्पन्न हुआ है। भासन को भसन होकर और उसके सकार का लोप होकर भन, पुनः यह उल्टा होकर नभ शब्द व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ चमकने वाला ही होता है।

प्रश्न— 'नभः' पद 'णह बन्धने' धातु से भी व्युत्पन्न हो सकता है, फिर ग्रन्थकार ने इस सरल व्युत्पत्ति को छोड़कर क्लिष्ट व्युत्पत्तियों का आश्रय क्यों लिया है?

उत्तर— 'णह बन्धने' धातु से 'नभः' पद व्युत्पन्न अवश्य हो सकता है, परन्तु इस 'नभः' पद से सूर्यादि तारों का सम्पूर्ण स्वरूप विदित नहीं हो सकता। यह 'नभः' पद सूर्यलोक को अपने मण्डल के सभी ग्रहों एवं उपग्रहों को अपने आकर्षण से बाँधने वाला तो सिद्ध कर देगा, परन्तु ग्रह आदि लोकों को गति व प्रकाश प्रदान करने वाला, रासायनिक क्रियाओं को उत्पन्न वा समृद्ध करने वाला सिद्ध नहीं कर पाएगा। इसी कारण ग्रन्थकार ने 'नभः' पद की व्युत्पत्ति में 'णीञ् प्रापणे' एवं 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' के अतिरिक्त 'भा दीप्तौ' इन तीन धातुओं से ही निर्वचन दर्शाए हैं, इनमें 'भा दीप्तौ' से निर्वचन आगे किया जा रहा है। जो अर्थ 'णह बन्धने' धातु से प्राप्त हो सकता है, वह 'णीञ् प्रापणे' धातु से भी प्राप्त हो जाता है। इस कारण ग्रन्थकार ने 'णह बन्धने' धातु से निर्वचन करना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि बन्धन और गति ये दोनों अर्थ साथ-२ इस धातु से प्राप्त नहीं हो सकते।

अब 'नभः' पद का अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'न न भातीति वा' अर्थात् जो प्रकाशित न होवे, ऐसा कभी नहीं हो सकता, वह आदित्य लोक 'नभः' कहलाता है अर्थात् सूर्यलोक सदैव प्रकाश उत्पन्न करेगा ही और जब उसका ईन्धन समाप्त हो जाएगा, तब उसकी आदित्य वा नभ संज्ञा भी नहीं रहेगी। उस समय वह एक अप्रकाशित पिण्ड के रूप में बदल जाएगा अथवा नष्ट हो जाएगा। इसी कारण यहाँ उसे अवश्य एवं सदैव प्रकाशित रहने वाला बताया है।

इसी प्रकार द्युलोक को भी 'नभः' कहा है। यहाँ द्युलोक वाची नभः पद के निर्वचन आदित्यलोक वाची नभः पद के निर्वचनों के समान ही समझने चाहिये। इसके अतिरिक्त इतना और समझना चाहिए कि द्युलोक में विभिन्न लोकों के अतिरिक्त देवयोनियों वाले आत्मा भी गमन करते और बसते हैं।

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश। रश्मिर्यमनात्।
तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः।

वेद में रश्मियों के १५ नाम मिलते हैं, इन्हें निघण्टु में इस प्रकार दर्शाया गया है—

खेदयः। किरणाः। गावः। रश्मयः। अभीशवः। दीधितयः। गभस्तयः। वनम्। उस्राः। वसवः। मरीचिपाः। मयूखाः। सप्तऋषयः। साध्याः। सुपर्णाः।

उधर ऋग्वेद एवं अन्य आर्ष ग्रन्थों में सूर्य को १००० रश्मियों वाला कहा है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने ग्रन्थ वेदविद्यानिदर्शन में निम्न वचनों को उद्धृत किया है—

१. युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश (ऋ.६.४७.१८)
२. सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः (जै.उ.१.४४.५)
३. यस्य रश्मिसहस्रेषु (महाभारत शान्तिपर्व ३७२.३)

ग्रन्थकार ने यहाँ रश्मियों के नाम नहीं दर्शाए हैं, परन्तु निघण्टु में इनको उपर्युक्तानुसार दर्शाया गया है। निघण्टुकार ने भी सहस्र रश्मियों के स्थान पर केवल १५ रश्मियों के ही नाम दिए हैं। शेष रश्मियों में से एक 'सुषुम्ण' नामक रश्मि की चर्चा पूर्व में की गई है। हम इन १५ रश्मियों पर अपने ढंग से विचार करते हैं। इन १५ प्रकार की रश्मियों में से 'वनम्' नामक रश्मि को एकवचनान्त दर्शाया गया है, शेष सभी नाम बहुवचन में हैं। इसका अर्थ यह है कि यह 'वनम्' नामक रश्मि एकाकी गमन करती है और अन्य रश्मियाँ

समूह में गमन करती हैं। सर्वप्रथम ग्रन्थकार 'रश्मि' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रश्मिर्यमनात्' अर्थात् रश्मि उस पदार्थ को कहते हैं, जो किसी पदार्थ को नियन्त्रित करने का कार्य करता है। यहाँ ग्रन्थकार का कहना है कि १५ रश्मियों में से प्रथम ५ नाम खेदयः, किरणाः, गावः, रश्मयः एवं अभीशवः हैं। ये पाँचों नाम सूर्य की किरणों के साथ-२ घोड़े को नियन्त्रित करने वाली रस्सी के भी होते हैं। अब हम क्रम से सूर्य की इन रश्मियों पर विचार करते हैं—

१. खेदयः — खेदि शब्द 'खिद परिघाते' धातु से निष्पन्न होता है। ये रश्मियाँ सूक्ष्म कण आदि पदार्थों को खींचने, रोकने और उन पर प्रहार करने वाले गुणों से युक्त होती हैं अर्थात् इन रश्मियों में ये तीन गुण विशेष रूप से पाए जाते हैं।

२. किरणाः — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने 'उणादिकोष-भाष्य' में लिखा है— किरति विक्षिपति (उ.को.२.८२) अर्थात् ये सूक्ष्म पदार्थों को बिखेरने व फैलाने का कार्य करने में सहयोगी होती हैं अर्थात् ये पदार्थ के सूक्ष्म कणों का विखण्डन करने में सक्षम होती हैं।

३. गावः — इसकी व्युत्पत्ति ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार की है— गच्छति यो यत्र यया वा (उ.को.२.६८) अर्थात् जो किरणें सूक्ष्म कणों में प्रविष्ट होकर उन्हें उठाकर ले जाती हैं अर्थात् उनकी ऊर्जा को बढ़ा देती हैं।

४. रश्मयः — इसका निर्वचन स्वयं ग्रन्थकार ने ऊपर किया है। इसके अतिरिक्त ऋषि दयानन्द ने 'उणादिकोष-भाष्य' में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है— अश्नुते व्याप्नोति (उ.को.४.४७) अर्थात् ये रश्मियाँ सूक्ष्म कणों में व्याप्त होकर उन्हें नियन्त्रित भी करती हैं।

५. अभीशवः — इनके विषय में स्वयं ग्रन्थकार ने आगे लिखा है— अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि (निरु.३.९) अर्थात् ये रश्मियाँ सूक्ष्म कणों में व्याप्त होकर उन्हें नाना प्रकार की क्रियाओं को करने के लिए प्रेरित करती हैं अर्थात् इनके कारण वे कण विशेष सक्रिय हो उठते हैं।

६. दीधितयः — इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— दीधितिं विधानम् (निरु.३.४) अर्थात् वे रश्मियाँ जो अन्य रश्मियों को क्रमपूर्वक आगे ले जाने में सहायक होती हैं। ये

रश्मियाँ कुछ छन्द रश्मियों का समूह हैं, जिनका वर्णन 'वेदविज्ञान-आलोक:' १.२२.२ में किया गया है।

७. गभस्तय: — [गभ: = विड् वै गभ: (तै.ब्रा.३.९.७.३, श.ब्रा.१३.२.९.६), गभस्ती = पाणी वै गभस्ती (श.ब्रा.४.१.१.९), तस्य (इन्द्रस्य) हस्तौ गभस्ती (काठ.सं.२७.१), विड् = अन्नम् विट् (तै.सं.३.५.७.२)] ये ऐसी रश्मियाँ होती हैं, जो विभिन्न संयोज्य कणों में विक्षोभ उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार ये किरणें संयोग एवं वियोग दोनों में उपयोगी होती हैं।

८. वनम् — यह पद 'वन शब्दे संभक्तौ' धातु से निष्पन्न होता है। ये रश्मियाँ पदार्थों का विभाजन करती हुई सूक्ष्म ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करती हैं। ये रश्मि समूह में गमन नहीं करतीं।

९. उस्रा: — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने 'उणादिकोष' में लिखा है— वसतीति उस्रा (उ.को.२.१३) अर्थात् सूर्य की किरणें विभिन्न प्राणियों को बसाने वाली होती हैं अर्थात् इनके अभाव में प्राणियों का जीवन सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त ये किरणें रासायनिक क्रिया के द्वारा नाना प्रकार के पदार्थों, जो जीवन के लिए अनिवार्य होते हैं, का निर्माण करती हैं अर्थात् जीवन की उत्पत्ति में इनका अनिवार्य योगदान रहता है।

१०. वसव: — इसकी व्याख्या करते हुए स्वयं ग्रन्थकार ने आगे लिखा है— वसव आदित्यरश्मयो विवासनात् तस्माद् द्युस्थाना: (निरु.१२.४१) अर्थात् जो किरणें किसी-२ पदार्थ के अन्दर प्रविष्ट होकर उसके कुछ कणों को बाहर निकालकर फेंक देती हैं, वे 'वसव:' कहलाती हैं। इन किरणों का स्थान द्युलोक दर्शाने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये किरणें उसी लोक में विद्यमान रहती हैं एवं देवयोनियों के निवास हेतु अनुकूलता प्रदान करने में सहायक होती हैं।

११. मरीचिपा: — [मरीचिपा: = मरीचि इत्युपपदे पा रक्षणे (अदा.) धातो: क: (वै.को.), प्राणा वै देवा मरीचिपा: (काठ.सं.२७.१, क.सं.४२.१), मरीचि: = एता वाऽआप: स्वराजो यन्मरीचय: (श.५.३.४.२१)] अर्थात् विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियाँ, जो प्रकाशाणुओं के साथ प्रवाहित होती हुई और उनकी रक्षा करती हुई आती हैं, वे ही 'मरीचिपा:' कहलाती हैं।

१२. मयूखाः — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द 'उणादिकोष-भाष्य' में लिखते हैं— मिमीते मान्यहेतुर्भवतीति मयूखः (उ.को.५.२५) अर्थात् जो तरंगें किन्हीं कणों से टकराकर उनको ढक लेती हैं अर्थात् वे बिखरकर उस कण के बाहरी क्षेत्र में फैल जाती हैं, वे 'मयूखाः' कहलाती हैं। हम जानते हैं कि सूर्य की किरणें जब किसी पदार्थ से टकराती हैं, तो उनके फोटोन्स, इलेक्ट्रॉन द्वारा अवशोषित होकर सम्पूर्ण इलेक्ट्रॉन में समा जाते हैं। उल्लेखनीय है कि एक इलेक्ट्रॉन से एक समय में केवल एक ही प्रकाशाणु (फोटोन) टकराता है। इधर ये मयूख तरंगों के प्रकाशाणु टकराकर किसी कण में पूरी तरह व्याप्त न होकर उसके पृष्ठभाग में ही फैल जाते हैं। यह अन्य प्रकाशाणुओं से भेद है।

१३. सप्तऋषयः — इसके विषय में स्वयं ग्रन्थकार ने लिखा है— 'रश्मय आदित्ये सप्त' (निरु.१२.३७)। हमारी दृष्टि में दृश्य प्रकाश के सात रंगों की किरणें ही 'सप्तऋषिः' कहलाती हैं।

१४. साध्याः — इस विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं— छन्दांसि वै साध्या देवास्तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निमयजन्त ते स्वर्ग लोकमायन् (ऐ.ब्रा.१.१६)। इससे यह संकेत मिलता है कि सूर्यादि तारों से गायत्री आदि छन्द रश्मियाँ भी समूह रूप में गमन करती हुई अन्तरिक्ष में दूर-२ तक जाती हैं, उन छन्द रश्मियों के समूहों को ही यहाँ 'साध्याः' कहा है, क्योंकि ये रश्मियाँ विभिन्न क्रियाओं को सिद्ध व पूर्ण करने वाली होती हैं।

१५. सुपर्णाः — प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण रश्मियाँ ही 'सुपर्णाः' कहलाती हैं। इसलिए कहा है— 'प्राणो वै सुपर्णः' (शां.आ.१.८)। ये प्राथमिक प्राण रश्मियाँ भी सूर्यलोक से अन्तरिक्ष में निरन्तर गमन करती रहती हैं।

इस प्रकार ये १५ प्रकार की रश्मियाँ सूर्यादि लोकों से निरन्तर उत्पन्न होती हैं।

दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। दिशः कस्मात्। दिशतेः। आसदनात्। अपि वाभ्यशनात्। तत्र काष्ठा इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्य नाम भवति। काष्ठा दिशो भवन्ति। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। काष्ठा उपदिशो भवन्ति। इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। आदित्योऽपि काष्ठोच्यते। क्रान्त्वा स्थितो भवति। आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते। क्रान्त्वा स्थितो भवति।

आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। इति स्थावराणाम्॥ १५॥

दिशाओं के ८ नाम हैं, जिनको निघण्टु में इस प्रकार दर्शाया गया है—

आताः। आशाः। उपराः। आष्ठाः। काष्ठाः। व्योम। ककुभः। हरितः।

अब दिशा क्यों कहते हैं, इसको निर्वचन द्वारा दर्शाते हुए लिखते हैं— 'दिशतेः आसदनात् अपि वाभ्यशनात्' अर्थात् दिशा शब्द तीन अर्थों को दर्शाता है।

१. जो किसी स्थान व वस्तु की ओर संकेत करती है अथवा जिससे किसी स्थान व वस्तु की स्थिति का बोध होता है, वह दिशा कहलाती है।

२. जिसमें कुछ विशेष प्रकार की छन्दादि रश्मियों की बहुलता होती है और वह बहुलता किसी लोक वा कण के अति निकटस्थ आकाश तत्त्व में होती है।

३. अथवा जो छन्दादि रश्मियाँ किसी पदार्थ को सब ओर से घेरने वाली होती हैं, वे दिशा कहलाती हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि दिशा काल्पनिक नहीं है, बल्कि यह एक वास्तविक पदार्थ होता है। विभिन्न लोकों वा कणों के अपने अक्ष पर घूर्णन में यह पदार्थ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आचार्य विश्वेश्वर ने इन तीनों निर्वचनों की व्युत्पत्ति क्रमशः इस प्रकार की है—

''दिश्' धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'दिक्'। आङ्पूर्वक 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'सद' का विपर्यय 'दस' से 'दिक्'। अश्+क्विप् = दश् 'दिक्''।

दिशा के ८ नामों में एक नाम काष्ठा भी है, जो दिशा के साथ-२ कुछ अन्य पदार्थों का भी वाचक है। इसकी चर्चा करने से पहले दिशा को काष्ठा क्यों कहते हैं, यह दर्शाते हुए लिखते हैं— 'क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति काष्ठा उपदिशो भवन्ति इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति'। इसका अर्थ यह है कि दिशाएँ प्रत्येक पदार्थ का अतिक्रमण करके अर्थात् उसे आच्छादित करके अवस्थित रहती हैं। किसी पदार्थ के पृष्ठ का कोई भी भाग ऐसा नहीं होता, जहाँ दिशावाची पदार्थ विद्यमान न हो। उपदिशा भी काष्ठा कहलाती हैं, क्योंकि ये एक-दूसरी दिशा को घेरकर और परस्पर अति निकटता से संयुक्त होकर स्थित

होती हैं। जैसे— आग्नेयी नामक उपदिशा में दक्षिण एवं पूर्व दिशावाची तत्त्व वा रश्मियाँ अति निकटता से मिली हुई होती हैं।

दिशाओं को काष्ठा कहने के पश्चात् ग्रन्थकार आदित्य लोक को भी काष्ठा नाम देते हैं और इस काष्ठा पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'क्रान्त्वा स्थितो भवति' अर्थात् अपनी विशाल कक्षा में गमन करता हुआ स्थित होता है अर्थात् यह लोक आकाशगंगा के केन्द्र में स्थित अति विशाल लोक का चक्कर लगाता हुआ निश्चित कक्षा में ही स्थिरतापूर्वक गमन करता रहता है, कभी भी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता। यह ८,२८,००० कि.मी./घण्टा की गति से अपनी कक्षा में गमन करता है।

ध्यान रहे कि आदित्यवाची काष्ठा पद के वे अन्य निर्वचन जो दिशावाची काष्ठा पद के लिए दर्शाए हैं, यहाँ मान्य नहीं होंगे। यहाँ केवल यही एक निर्वचन मान्य है।

अब आजि के अन्त को भी 'काष्ठा' कहा गया है। [आजिः = संग्रामनाम (निघं.२.१७)] अर्थात् संग्राम भूमि के अन्तिम सिरे को भी काष्ठा कहते हैं। इसका निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'क्रान्त्वा स्थितो भवति' अर्थात् संग्राम भूमि का अन्तिम सिरा सम्पूर्ण सेना का अतिक्रमण करके स्थित होता है अथवा शत्रु दल का अतिक्रमण करके अर्थात् उसे परास्त करके युद्ध का अन्त होता है, इस कारण युद्ध का अन्त अथवा युद्ध भूमि का अन्तिम सिरा काष्ठा कहलाता है।

अब काष्ठा शब्द के अगले और अन्तिम वाचक के विषय में लिखते हुए कहते हैं कि 'आपः' भी काष्ठा कहलाते हैं। यहाँ 'आपः' के कई अर्थ सम्भव हैं, जैसे— जल, सूक्ष्म विद्युत् कण एवं प्राण आदि रश्मियाँ। इनको काष्ठा क्यों कहते हैं, इसका कारण बताते हुए लिखते हैं— 'क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति' अर्थात् ये सभी अपने मार्गों पर स्थिरतापूर्वक गमन करते रहते हैं अर्थात् अपने लक्ष्य की दिशा में सतत गमन करते रहते हैं। जैसे पृथिवी पर स्थित सभी नदियों का जल निरन्तर समुद्र की ओर गमन करता रहता है और समुद्र में जाकर फैल जाता है, इसी प्रकार विभिन्न सूक्ष्म कण किसी लोक से निकलकर गमन करते हुए किसी अन्य लोक में जाकर ठहर जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्राण आदि रश्मियाँ संघनित होती हुई कणों वा लोकों के रूप में ठहर जाती हैं। यह निर्वचन स्थावर आपः के विषय में है अर्थात् जो आपः कहीं ठहरे हुए होते हैं अथवा गमन

करते हुए कहीं ठहर जाते हैं, उनको यहाँ काष्ठा कहा है। यद्यपि सूर्यादि को गमन करते हुए भी काष्ठा कहा है, जबकि आपः संज्ञक इन पदार्थों को स्थिरता व ठहराव होने पर ही काष्ठा कहा गया है।

यहाँ एक ही पद से दो प्रकार का अर्थ क्यों निकल रहा है? यह प्रश्न हो सकता है। इस विषय में हमारा मत यह है कि सूर्यादि लोकों का मार्ग गमन करते हुए भी स्थिर ही होता है, जबकि आपः संज्ञक इन पदार्थों का मार्ग गमन करते हुए सदैव स्थिर व निश्चित नहीं होता। इसलिए गमन करते हुए इन पदार्थों की काष्ठा संज्ञा नहीं हो सकती। इस कारण इनके साथ स्थावर होने की अनिवार्यता दर्शायी है अर्थात् उनके ठहराव होने पर ही उनकी काष्ठा संज्ञा कही गई है। यह भी एक तथ्य है कि सृष्टि में कोई भी पदार्थ पूर्ण रूप से स्थावर नहीं है, वह केवल हमारी दृष्टि से ही स्थावर दिखाई देता है और उसी दृष्टि को यहाँ दृष्टिगत रखा है।

'निघण्टु-निर्वचनम्' पुस्तक के आधार पर दिशावाची अन्य नामों पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. आताः — यह पद आङ्पूर्वक 'अत सातत्यगमने' अथवा आङ्पूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु से व्युत्पन्न माना गया है। इसका आशय है कि ये रश्मियाँ किसी पदार्थ के ऊपर फैली हुई उसे घूर्णन आदि गति प्रदान करने में सहायक होती हैं।

२. आशाः — यह पद आङ्पूर्वक 'शद्लृ शातने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसकी व्याख्या इसी ग्रन्थ के ६.१ में द्रष्टव्य है।

३. उपराः — यह पद उपपूर्वक 'रमु क्रीडायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि दिग् रश्मियाँ किसी पदार्थ की बाहरी सीमा के निकट सतत रमण करती हुई वहीं रहती हैं।

४. आष्ठाः — यह पद आङ्पूर्वक 'स्था गतिनिवृत्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि ये रश्मियाँ किसी पदार्थ के सब ओर स्पन्दित होती हुई डटी रहती हैं अर्थात् उस पदार्थ से पृथक् नहीं होती हैं।

५. काष्ठाः — पूर्व में व्याख्यात।

६. व्योम — इस पद की व्याख्या पूर्व में व्याख्यात अन्तरिक्ष नामों के अन्तर्गत की गयी है। आकाश व दिशा के गुणों में पर्याप्त समानता है। भेद केवल इतना है कि आकाश सर्वत्र समान गुण व संरचना वाला होता है, जबकि दिग् रूपी पदार्थ कई प्रकार का होता है, जिनकी संरचना व गुणों में कुछ भेद होता है।

७. ककुभः — यह पद 'कम्' पूर्वक 'स्कुम्भु प्रतिबन्धे' सौत्र धातु [स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भु-स्कुम्भु ... (अष्टा.३.१.८२)] से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ निकटस्थ संयोज्य कणों को आकर्षित करके रोकती हैं अर्थात् दो वा दो से अधिक कणों के संयुक्त रूप को ये रश्मियाँ ही कण रूप में रखती हैं। उसके अवयवरूप सभी कणों को थामने में ये सहयोग करती हैं।

८. हरितः — यह पद 'हृञ् हरणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ अन्य रश्मि आदि पदार्थों का हरण करने वाली होती हैं।

* * * * *

षोडशः खण्डः

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

[ऋ.१.३२.१०]

अतिष्ठन्तीनाम्। अनिविशमानानाम्। इत्यस्थावराणाम्।
काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। मेघः। शरीरं शृणातेः। शम्नातेर्वा। वृत्रस्य।
निण्यं निर्णामम्। विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमस्तनोतेः।
आशयत् आशेतेः। इन्द्रशत्रुः। इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा।
तस्मात् इन्द्रशत्रुः।

इस मन्त्र का ऋषि आंगिरस हिरणस्तूप, देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् है। [हिरणस्तूपः = हिरणस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपः हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा स्तूपः स्त्यायतेः संघातः

(निरु.१०.३३)। आंगिरसः = अङ्गानां हि रसः प्राणो वाऽअङ्गानां रसः (श.ब्रा.१४.४.१.२१), अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः (ऐ.ब्रा.६.३४)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि की सुनहरे रंग की किरणों से अथवा किरणों में होती है। इन किरणों में प्राण रश्मियों की विशेष प्रचुरता होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युत् तरंगें तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज और बल से युक्त होती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (अतिष्ठन्तीनाम्) कभी न ठहरने वाले अर्थात् सतत गतिशील रहने वाले (अनिवेशनानाम्) 'अनिविशमानानाम्' अर्थात् जो सतत गमन करते हुए किसी पदार्थ में प्रविष्ट भी नहीं होते हैं अर्थात् जिनका किसी एक स्थान में ठहराव नहीं होता है। इन पदार्थों के विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं— 'इत्यस्थावराणाम्' अर्थात् ऐसे अस्थिर स्वभाव वाले (काष्ठानाम्) पूर्वोक्त आपः अर्थात् जल अथवा सूक्ष्म कणों के (मध्ये, निहितम्, शरीरम्) 'मेघः शरीरम् शृणातेः शम्नातेर्वा' मध्य स्थित शरीर, जो इन्द्र तत्त्व द्वारा किंवा तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों के द्वारा छिन्न-भिन्न किया जाता है और इन्द्र तत्त्व द्वारा ही वृष्टि कराके अथवा उसे खण्ड-२ करके दुर्बल बनाते हुए शान्त किया जाता है, वह मेघ शरीर कहलाता है। यह मेघ दो प्रकार का हो सकता है, जिसमें से एक वह मेघ है, जिसको सभी बादलों के रूप में जानते हैं और जो जलों का भण्डार होता है। तीव्र विद्युत् तरंगें ऐसे मेघों को छिन्न-भिन्न करके वर्षा कराती हैं, इसलिए इस बादल रूपी मेघ को भी शरीररूपी मेघ कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के मेघ वे होते हैं, जो विभिन्न सूक्ष्म कण, कॉस्मिक डस्ट आदि से बने होते हैं। इन मेघों से सूर्य एवं ग्रह आदि लोकों का निर्माण होता है। इसमें भी तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों की भेदक भूमिका होती है। इन दोनों प्रकार के मेघों के अतिरिक्त एक मेघ असुर पदार्थों का होता है, जो विभिन्न लोकों को धारण करने में और कहीं-कहीं उनका विस्फोट करने में सहायक होता है।

(वृत्रस्य) यहाँ वृत्र किसे कहते हैं, इस विषय में स्वयं ग्रन्थकार अगले खण्ड में लिखते हैं— 'वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा यदवृणोत्तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्त्तत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्धत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते'। इसका अर्थ यह है कि मेघ को वृत्र इस कारण कहते हैं, क्योंकि यह आकाश को ढक लेता है अथवा असुर पदार्थ का विशाल मेघ लोकों को ढक लेता है। इसके साथ उसे वृत्र इस कारण भी कहते हैं, क्योंकि यह निरन्तर गतियुक्त रहता है। [यहाँ 'वृतु वर्तने' धातु का प्रयोग गति अर्थ में

किया गया है। ग्रन्थकार ने इस धातु को निघण्टु में गति अर्थ में ही पढ़ा है।] बादलों में निरन्तर गति होती रहती है। इसके साथ ही लोकों को आच्छादित करने वाले विशाल आसुर मेघ (अप्रकाशित एवं अदृश्य प्रकाश) में भी निरन्तर गति होती रहती है। पुनः कहा कि बादल रूपी मेघ नामक वृत्र जब उत्पन्न हो रहा होता है, तब वह निरन्तर बढ़ता रहता है। उधर असुर पदार्थ का मेघ भी निरन्तर बढ़ने वाला होता है। इस कारण दोनों प्रकार के मेघों को वृत्र कहते हैं। ऐसे उस मेघ के (निण्यम्) 'निर्णामम्' [निण्यम् = निर्णीतान्तर्हितनाम (निघं.३.२५)] अन्तर्गत (विचरन्ति, आपः) 'विजानन्ति आपः' आपः वा जल सर्वत्र विचरण करते रहते हैं किंवा कॉस्मिक मेघों में सूक्ष्म कण एवं प्राणादि रश्मियाँ नाना प्रकार के संयोगों को सम्पादित करने हेतु एक-दूसरे को युग्म बनाने के लिए खोजते हुए विचरण करते रहते हैं। (दीर्घम्) 'दीर्घं द्राघतेः' वे मेघ निरन्तर सामर्थ्यवान् होने के साथ-२ (तमः) 'तमस्तनोतेः' विस्तृत भी होते रहते हैं अथवा जैसे-२ मेघों का विस्तार होता है, वैसे-२ वे प्रबल भी होते जाते हैं।

(आशयत्) 'आशयत् आशेतेः' अर्थात् वे मेघ आकाश के विस्तृत अन्धकार में सो जाते हैं अर्थात् फैल जाते हैं। उधर आसुर मेघ विभिन्न लोकों को आच्छादित कर लेते हैं। इसी बात को महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार कहा है—

वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ
सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम। (श.ब्रा.१.१.३.४)

(इन्द्रशत्रुः) 'इन्द्रशत्रुः इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मात् इन्द्रशत्रुः' उस वृत्र रूपी मेघ को 'इन्द्रशत्रुः' कहते हैं अर्थात् इन्द्र है शत्रु जिसका, वह इन्द्रशत्रु कहलाता है, क्योंकि इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें बादलों को भी छिन्न-भिन्न करके वर्षा कराके शान्त व नष्ट करती हैं और ऐसी ही तीक्ष्ण तरंगें बाधक आसुर मेघों को छिन्न-भिन्न करके नष्ट करती हैं, इसलिए इन दोनों ही प्रकार के मेघों को इन्द्रशत्रु कहा जाता है।

भावार्थ— पृथिवीमण्डल पर जलीय मेघ तथा आकाश में खगोलीय मेघ निरन्तर गमन करते रहते हैं। उधर मेघ भी लोकों को ढकने हेतु गतिशील रहते हैं। ये सभी मेघ छिन्न-भिन्न हो जाने वाले होते हैं। ये मेघ न केवल आकाश में गमन करते हैं, अपितु उन मेघों के अन्दर जो पदार्थ है, वह पदार्थ भी उन मेघों में निरन्तर गतिशील रहता है। आसुर मेघ

बढ़ता वा फैलता हुआ उत्पन्न होता है, उसी प्रकार दूसरे मेघ भी इसी प्रकार उत्पन्न होते रहते हैं। कॉस्मिक मेघों में निरन्तर यजन क्रियाएँ चलती रहती हैं। तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें सभी प्रकार के मेघों को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। इन मेघों से नाना सृजन प्रक्रियाएँ सम्पन्न करने में तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों की विशेष भूमिका होती है।

ऋषि दयानन्द ने इसका आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ अक्षरशः उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (अतिष्ठन्तीनाम्) चलन्तीनामपाम् (अनिवेशनानाम्) अविद्यमानं निवेशन-मेकत्रस्थानं यासां तासाम् (काष्ठानाम्) काश्यन्ते प्रकाश्यन्ते यासु ता दिशः। काष्ठा इति दिङ्नामसु पठितम्। निघं.१.६। अत्र हनिकुषिनी०। उ.२.२ इति क्थन् प्रत्ययः। (मध्ये) अन्तः (निहितम्) स्थापितम् (शरीरम्) शीर्यते हिंस्यते यत्तत् (वृत्रस्य) मेघस्य (निण्यम्) निश्चितान्तर्हितम्। निण्यमिति निर्णीतान्तर्हितनामसु पठितम्। निघं.३.२५। (वि)(चरन्ति) विविधतया गच्छन्त्यागच्छन्ति (अपः) जलानि (दीर्घम्) महान्तम् (तमः) अन्धकारम् (आ) समन्तात् (अशयत्) शेते। बहुलं छन्दसि इति शपो लुङ् न। (इन्द्रशत्रुः) इन्द्रः शत्रुर्यस्य स मेघः यास्कमुनिरेवमिमं मन्त्रं व्याचष्टे। अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः। शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेस्तमस्तनोतेराशयदाशेतेरिन्द्रशत्रुरिन्द्रो शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुस्तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः। निरु.२.१६।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। सभापतेर्योग्यमस्ति यथाऽयं मेघोऽन्तरिक्षस्था-स्वप्सु सूक्ष्मत्वान्न दृश्यते पुनर्यदा घनाकारो वृष्टिद्वारा जलसमुदायरूपो भवति तदा दृष्टि-पथमागच्छति। परन्तु या इमा आप एकं क्षणमपि स्थितिं न लभन्ते किन्तु सर्वदैवोपर्यधो गच्छन्त्यागच्छन्ति च याश्च वृत्रस्य शरीरं वर्तन्ते ता अन्तरिक्षे स्थिता अतिसूक्ष्मा नैव दृश्यन्ते। तथा महाबलान् शत्रून् सूक्ष्मबलान् कृत्वा वशं नयेत्।

पदार्थ— हे सभा स्वामिन्! तुम को चाहिये कि जिस (वृत्रस्य) मेघ के (अनिवेशनानाम्) जिनको स्थिरता नहीं होती (अतिष्ठन्तीनाम्) जो सदा बहने वाले हैं, उन जलों के बीच (निण्यम्) निश्चय करके स्थिर (शरीरम्) जिसका छेदन होता है ऐसा शरीर है वह (काष्ठानाम्) सब दिशाओं के बीच (निहितम्) स्थित होता है। तथा जिसके शरीर रूप

(अप:) जल (दीर्घम्) बड़े (तम:) अन्धकार रूप घटाओं में (विचरन्ति) इधर-उधर जाते हैं वह (इन्द्रशत्रु:) मेघ उन जलों में इकट्ठा वा अलग-अलग छोटा-छोटा बद्दल रूप होके (आशयत्) सोता है। वैसे ही प्रजा के द्रोही शत्रुओं को उनके सहायियों के सहित बाँध के सब दिशाओं में सुलाना चाहिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। सभापति को योग्य है कि जैसे यह मेघ अन्तरिक्ष में ठहराने वाले जलों में सूक्ष्मपन से नहीं दीखता फिर जब घन के आकार वर्षा के द्वारा जल का समुदाय रूप होता है, तब वह देखने में आता है और जैसे ये जल एक क्षणभर भी स्थिति को नहीं पाते हैं, किन्तु सब काल में ऊपर जाना वा नीचे आना इस प्रकार घूमते ही रहते हैं और जो मेघ के शरीर रूप हैं, वे अन्तरिक्ष में रहते हुए अति सूक्ष्म होने से नहीं दीख पड़ते वैसे बड़े-बड़े बल वाले शत्रुओं को भी अल्प बल वाले करके वशीभूत किया करे।''

आध्यात्मिक भाष्य— (अतिष्ठन्तीनाम्, अनिवेशनानाम्) सदैव गतिशील, चञ्चल किसी के चित्त में सदैव स्थिर वा विद्यमान न रहने वाली (काष्ठानाम्) [काष्ठा = संग्रामनाम (म.द.य.भा.१७.९५)] विभिन्न दिशाओं और जीवन के संग्रामतुल्य व्यवहारों के (मध्ये, निहितम्) मध्य में स्थित (वृत्रस्य, शरीरम्) [वृत्र: = पाप्मा वै वृत्र: (श.ब्रा.११.१.५.७)] पाप वृत्तियों के आश्रयरूप शरीर और (निण्यम्) उसमें अन्तर्निहित (आप:) [आप: = आपो वै प्राणा: (श.ब्रा.३.८.२.४), अप: कर्मनाम (निघं.२.१)] नाना प्रकार के प्राण एवं कर्म (विचरन्ति) विविध प्रकार के व्यवहार करते हैं। (इन्द्रशत्रु:) जो इन्द्र अर्थात् ब्रह्म की साधना को अपना शत्रु मानते हैं, वे पापी लोग (दीर्घम्, तम:) व्यापक एवं गहरे अन्धकार में (आ, अशयत्) सब ओर सोए रहते हैं अर्थात् जो पापी जन निरन्तर पाप वृत्तियों में रमण करते हुए योगमार्ग के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे अज्ञान से आवृत्त भोग योनियों में जन्म लेते हैं। इसलिए यजुर्वेद में भी कहा है—

असुर्य्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृता:।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना:॥ (यजुर्वेद ४०.३)

तत्को वृत्र:। मेघ इति नैरुक्ता:। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका:।

अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार। तस्मिन्हते प्रस्यन्दिर आपः। तदभिवादिनी एषा ऋग्भवति॥ १६॥

यहाँ प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं कि जिस वृत्र की ऊपर चर्चा की गई है, वह वृत्र किसे कहा जाता है? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि नैरुक्तों की दृष्टि में 'मेघ' अर्थात् बादल को ही वृत्र कहते हैं एवं ऐतिहासिकों अर्थात् वेद में नित्य इतिहास के द्वारा सृष्टि प्रक्रिया की व्याख्या करने वाले 'त्वाष्टा असुर' को वृत्र कहते हैं। अब बादलों से वर्षा होने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि बादलों में विद्यमान जल के कणों या अणुओं वा आयन्स रूपी आपः जब सूर्य से आने वाली विशेष प्रकार की किरणों वा रश्मियों के साथ मिश्रित होकर नाना प्रकार की पूर्वोक्त क्रियाएँ करते हैं, तब वर्षा होने लगती है। उस वर्षा की प्रक्रिया को युद्ध की उपमा दी गई है, जिसमें इन्द्र अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् और वृत्र अर्थात् मेघ का युद्ध होता है।

मेघ और वृत्र पद की भाँति ही 'अहि' पद से युक्त भी वेद मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों के वचन पाए जाते हैं। अहि पद मेघवाची है, उसी प्रकार वृत्र पद भी मेघवाची है। जब मेघों का निर्माण होता है, उस समय मेघ निरन्तर जलवाष्पों को अपने साथ मिलाते हुए बढ़ते जाते हैं और वे बढ़ते हुए मेघ जल के स्रोतों को रोक लेते हैं अर्थात् बादल बनते-२ साथ-साथ बरसते नहीं हैं। यदि ऐसा होता, तो बादलों का निर्माण ही नहीं होता, क्योंकि समुद्र में वाष्प बनते ही साथ-२ बरसती जाती और भूभाग पर कभी वर्षा नहीं होती। जब विशाल एवं परिपक्व मेघों पर इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् का प्रहार होता है, तब जल के रुके स्रोत टूटकर वर्षा कराने लगते हैं। यह नैरुक्तों की व्याख्या है।

अब ऐतिहासिकों की व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं— ऐतिहासिक पक्ष के मानने वाले अर्थात् वेद में सृष्टि प्रक्रिया को आख्यान की शैली में समझाने वाले 'वृत्र' का अर्थ 'त्वाष्टा असुर' करते हैं। यह त्वाष्टा नामक असुर कोई अनित्य इतिहास अर्थात् मानवीय इतिहास का अङ्ग नहीं है, बल्कि यह पदार्थ की एक अवस्था विशेष का नाम है। [त्वाष्ट्रः = त्वाष्ट्राणि वै रूपाणि (श.ब्रा.२.२.३.४), त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत् (तै.ब्रा.३.८.

११.२), त्वष्टा वै पशूनां रूपाणां विकर्त्ता (तां.ब्रा.९.१०.३), त्वष्टा वै रूपाणामीशे (तै.ब्रा. १.४.७.१), त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे (श.ब्रा.५.४.५.८), रेत:सिक्तिर्वै त्वाष्ट्र: (कौ.१९.६)। असुर: = मेघनाम (निघं.१.१०), प्रकाशाऽऽवरको मेघ: (म.द.ऋ.भा.५.४२.१)]

यहाँ 'वृत्र' का ऐतिहासिक अर्थ है— 'त्वाष्टा' नामक असुर अर्थात् ऐसा अन्धकार युक्त कॉस्मिक मेघ, जिसमें पशु अर्थात् विभिन्न प्रकार के छन्दों व प्राणों एवं नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों में परस्पर संयोग की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगती है तथा उससे विविध रूप-रंगों की उत्पत्ति होने लगती है। धीरे-२ यह प्रक्रिया सम्पूर्ण कॉस्मिक मेघ में व्याप्त होकर उस मेघ पर शासन करने लगती है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार ने कहा है कि आप: एवं ज्योति अर्थात् अग्नि एवं सोम नामक पदार्थों में परस्पर भारी संघर्षण व संयोग होने लगता है। इसी संघर्षण को ही युद्ध की उपमा दी है। इसी प्रकार वेद व ब्राह्मण ग्रन्थों में वृत्र के स्थान पर 'अहि' पद भी अनेकत्र मिलता है। वह वृत्र अर्थात् त्वाष्टासुर, जो अन्धकारमय विशाल मेघ के रूप में उत्पन्न होता है, अपने आसपास स्थित सूक्ष्म पदार्थ को अपने अन्दर समेटकर अपना आकार बढ़ाने लगता है। इसके साथ अपने अन्दर विद्यमान पदार्थ को अपने अन्दर रोके रहता है अर्थात् वह पदार्थ बाहर नहीं आने पाता। इस विशाल मेघ पर जब इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों का प्रहार हुआ था अथवा होता है। उस समय उस मेघ में विद्यमान विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण बाहर की ओर रिसने लगते हैं, जिससे वह मेघ बिखरकर अनेक लोकों के रूप में परिवर्तित होने लगता है। इसी अभिप्राय को दर्शाने वाली एक ऋचा को ग्रन्थकार अगले खण्ड में प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

= सप्तदश: खण्ड: =

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आप: पणिनेव गाव:।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥ [ऋ.१.३२.११]
दासपत्नीर्दासाधिपत्न्य:। दासो दस्यते:। उपदासयति कर्माणि।

अहिगोपा अतिष्ठन्। अहिना गुप्ताः। अहिरयनात्। एत्यन्तरिक्षे।
अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव। निर्ह्रसितोपसर्गः। आहन्तीति।
निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग्भवति। पणिः पणनात्।
वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति।
बिभर्तेः। वृत्रं जघ्निवान्। अपववार तत्। वृत्रो वृणोतेर्वा। वर्ततेर्वा। वर्धतेर्वा।
यदवृणोत्तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते।
यदवर्त्तत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते।
यदवर्धत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते॥ १७॥

यहाँ पूर्वोक्त अभिप्राय को दर्शाने वाली इस ऋचा पर विचार करते हैं—

इस ऋचा का ऋषि, देवता और छन्द पूर्व ऋचा के समान है। इस कारण इसके उत्पत्तिकर्त्ता ऋषि, दैवत एवं छान्दस प्रभाव पूर्वोक्त समझें।

आधिदैविक भाष्य— (दासपत्नीः) 'दासाधिपत्न्यः दासो दस्यतेः उपदासयति कर्माणि [दासानां पत्नी दासपत्नीः 'दासः' पद के विषय में ऋषि दयानन्द लिखते हैं— 'दंसयति दशति पश्यति वा स दासः, सेवकः शूद्रो वा'। यह 'दशि भासार्थः, भाषार्थो वा' धातु से व्युत्पन्न होता है।] दास अर्थात् जिन कॉस्मिक मेघों अथवा तारों की क्रियाएँ क्षीण हो रही हों अथवा जो तारे तीव्र रूप से चमकते हुए नाना प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करते हों, उन दोनों के ही आपः अर्थात् सूक्ष्म कण एवं प्राणादि पदार्थ रक्षक होते हैं। क्षीण होते हुए कॉस्मिक मेघों अथवा तारों को जब किसी अन्य स्रोत से ईन्धन रूपी पदार्थ (आपः) प्राप्त हो जाता है वा होने लगता है, तब वे कॉस्मिक मेघ अथवा तारे पुनः सक्रिय होने लगते हैं। उधर जब बरसते हुए मेघों में जल की मात्रा क्षीण होने लगती है, तब वे शान्त होने लगते हैं। उस समय यदि उन्हें अन्य मेघों से जल की पर्याप्त आपूर्ति हो जाती है, तब वे पुनः बरसने लगते हैं। इसलिये सूक्ष्म संलयनीय अथवा संयोजनीय कणों एवं जलवाष्प को दासपत्नी कहा गया है।

(अहिगोपा, अतिष्ठन्) 'अहिगोपा अतिष्ठन् अहिना गुप्ताः अहिः अयनात् एति अन्तरिक्षे अयमपीतरो अहिरेतस्मादेव निर्ह्रसित उपसर्ग आहन्तीति' इसका आशय यह है कि

कॉस्मिक मेघों एवं सूर्यादि तारों में विद्यमान वे आपः अर्थात् सूक्ष्म कण रूप पदार्थ उन तारों एवं कॉस्मिक मेघों के द्वारा ही सुरक्षित रहते हैं अर्थात् वे बाहर आकर बिखर नहीं जाते हैं। इसी प्रकार जल के मेघों में जलवाष्प के अणु सुरक्षित रहते हैं, वे उन बादलों से बाहर निकलकर बिखरते नहीं हैं। यदि ये सब पदार्थ बिखर सकते, तो किसी भी लोक का कोई अस्तित्व नहीं रह पाता, यहाँ तक कि उनका निर्माण भी नहीं हो पाता। इसी प्रकार जल के मेघ भी नहीं बन पाते अथवा बनते ही बिखर जाते, जिससे वर्षा की प्रक्रिया ही नहीं होती।

यहाँ 'अहिः' पद का निर्वचन करते हुए कहा है कि जो अन्तरिक्ष में निरन्तर गमन करता रहता है, इसी कारण कॉस्मिक मेघ, सूर्यादि तारे एवं बादल 'अहिः' कहलाते हैं। यह दूसरा 'अहिः' सर्प भी इसी कारण 'अहिः' कहलाता है, क्योंकि वह भी गमन करता रहता है अथवा आङ्पूर्वक हन् धातु से भी 'अहिः' पद व्युत्पन्न हो सकता है।

यहाँ 'आङिश्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च' (उ.को.४.१३९) से 'इण्' प्रत्यय एवं 'आ' उपसर्ग को ह्रस्व आदेश होकर 'अहिः' पद व्युत्पन्न होता है। विभिन्न प्रकार की तरंगें वा रश्मियाँ भी 'अहिः' कहलाती हैं, क्योंकि वे भी अन्तरिक्ष में गमन करती हैं, इसलिए ग्रन्थकार ने 'अहिः' पद को गोनामों में पढ़ा है।

(निरुद्धाः, आपः, पाणिना, इव, गावः) यहाँ ग्रन्थकार आपः अर्थात् विभिन्न कणों अथवा जल के पूर्वोक्त स्थानों में रुकने को एक उपमा देते हुए समझाते हैं— 'निरुद्धाः आपः पणिनेव गावः पणिर्वणिक् भवति पणिः पणनात् वणिक् पण्यं नेनेक्ति'। यहाँ सभी भाष्यकारों ने 'पणिः' पद का अर्थ व्यापारी ही ग्रहण किया है। उपमा की दृष्टि से ऐसा अर्थ भी ग्रहण भी किया जा सकता है कि जैसे एक व्यापारी पशुपालक अपने बाड़े में गौओं को रोके रखता है, वैसे ही बादल पानी को एवं कॉस्मिक मेघ अथवा तारे विभिन्न प्रकार के आयन्स आदि कणों को रोकते हैं। इस उपमा के साथ ही हमें यहाँ एक गम्भीर अर्थ भी प्रकट होता दिखाई दे रहा है। यहाँ 'पणिः' पद का अर्थ केवल व्यापारी ही ग्रहण करना उचित नहीं है। 'पणिः' पद 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' धातु से निष्पन्न हुआ है, क्योंकि स्तुति का अर्थ प्रकाश करना भी है। ऋषि दयानन्द ने अनेकत्र इस धातु का यह अर्थ भी ग्रहण किया है। उदाहरणतः —

स्तुहि = प्रकाशय (म.द.ऋ.भा.१.१२.७)

स्तूपम् = किरणसमूहम् (म.द.ऋ.भा.१.२४.७)

उधर एक अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि का कथन है— यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभि-रिध्यमानः (क.सं.४७.११)। इस वचन से यह स्पष्ट होता है कि पणि पद कुछ ऐसी रश्मियों का वाचक है, जो सूर्यादि लोकों के परिधि भाग में अग्नि के परमाणुओं को विशेष रूप से रोकने में सहायक होती हैं। वर्तमान वैज्ञानिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि सूर्य के बाहरी भाग के कोरोना नामक क्षेत्र में तापमान उसके अन्दर वाले क्षेत्र से भी बहुत अधिक होता है। इसका कारण सम्भवतः वर्तमान वैज्ञानिकों के लिए अभी रहस्य ही बना हुआ है। हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' में इसके कारण का कुछ संकेत किया है। यहाँ उसका कुछ उद्घाटन प्रतीत होता है। ये पणि नामक रश्मियाँ कौन सी हो सकती हैं, इस विषय में हमारा मत यह है कि त्रिष्टुप् एवं गायत्री का बृहती के साथ उपर्युक्त मिश्रण पणि कहला सकता है। यह मिश्रण ही इस कोरोना जैसे किसी क्षेत्र में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को अधिक मात्रा में रोक सकता है और इन्हीं के मिश्रण को वणिक् भी कहते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'पणेरिज्यादेश्च वः' (उ.को.२.७१) से 'पण्' धातु से 'इजि' प्रत्यय होकर पकार को वकार आदेश होकर मानी है। ये पणि नामक रश्मियाँ अपने क्षेत्र में से गुजरने वाली तरंगों को शुद्ध करती हैं। इससे संकेत मिलता है कि सूर्य के अन्दर कोरोना नामक क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ एक छलनी का काम करता है, जो सूर्य के आभ्यन्तर भाग से आने वाली अनेक तरंगों को बाहर की ओर उत्सर्जित नहीं होने देता है। ऐसा लगता है कि कोरोना परमात्मा की विचित्र रचना है, जो अनेक अति हानिकारक विकिरणों को पृथिवी आदि लोक पर आने से रोक देता है और जो कुछ हानिकारक विकिरण आ भी जाते हैं, वे पृथिवी के ओजोन मण्डल में रुक जाते हैं।

(अपाम्) विभिन्न सूक्ष्म कणों अथवा जलों का (यत्) जो (बिलम्, अपिहितम्) 'बिलं भरं भवति बिभर्तेः' अर्थात् 'बिल' उस क्षेत्र को कहते हैं, जो अपने अन्दर रखे हुए पदार्थ का धारण और पोषण करता है। बादलों के अन्दर भी जलों का धारण और पोषण होता है और कॉस्मिक मेघ तथा सूर्य आदि लोकों के अन्दर भी विभिन्न आयन्स आदि कणों का धारण और पोषण होता है, इसलिए कॉस्मिक मेघों, तारों और बादलों को बिल कहते हैं।

ये सभी अपने अन्दर पदार्थ को ढके रहते हैं। (आसीत्) इनमें कॉस्मिक मेघ, जिनसे विभिन्न लोकों की उत्पत्ति हुई है, प्रारम्भ में पूर्वोक्त रश्मियों के मिश्रण से ढके हुए थे। अब यदि अन्य कोई कॉस्मिक मेघ ब्रह्माण्ड में हो, तो वे भी इसी पदार्थ के मिश्रण से ढके हुए होंगे।

(वृत्रम्) उन ऐसे मेघों को इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें (जघन्वान्) 'जघ्निवान्' नष्ट करती हैं और (तत्) वह मेघ वा बादल (अप, ववार) उस बाहरी परिधि, जो अन्दर के पदार्थ को रोके रखती है, को तोड़ देता है अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों से ही कॉस्मिक मेघ टूटकर अनेक लोकों का निर्माण करता है। इसी प्रकार की तरंगों के द्वारा बादलों से वर्षा होती है और इन्हीं तरंगों के द्वारा सूर्यादि लोकों के अन्दर विस्फोट होते रहते हैं, जिससे अनेक प्रकार के वे विकिरण, जो सामान्य अवस्था में बाहर नहीं आते, वे भी आ जाते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'वृत्रम्' पद का विस्तृत निर्वचन किया है, जिसकी व्याख्या हम पूर्व ऋचा की व्याख्या करते समय कर चुके हैं।

भावार्थ— विभिन्न प्राण वा सूक्ष्म कण क्षीण होते तारों एवं तीव्र चमकते व ध्वनि करते हुए तारों के रक्षक होते हैं। जब ऐसे तारों को ईंधन रूप पदार्थ अन्य स्रोतों से भी प्राप्त हो सकता है, तब वे तारे पुनः सक्रिय होने लगते हैं। उधर जलीय मेघों में जब जल की मात्रा कम हो जाती है, तब वे भी शान्त होने लगते हैं। उस समय जब उनका अन्य बादलों से सम्पर्क हो जाता है, तब वे बादल पुनः जल बरसाने लगते हैं। सभी प्रकार के मेघों में विद्यमान पदार्थ मेघों के अन्दर सुरक्षित रहता है। सूर्यादि लोकों के परिधि भाग में कुछ ऐसी रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, जो पदार्थ को उन लोकों से बाहर नहीं निकलने देतीं। ये रश्मियाँ त्रिष्टुप्, गायत्री व बृहती का मिश्रण होती हैं। सूर्य के कोरोना नामक बाहरी भाग में इन रश्मियों की ही प्रधानता होती है। यह भाग छलनी का कार्य करता है, जो कुछ तरंगों को बाहर आने देता है और कुछ तरंगों को अन्दर रोके रहता है। जब इन मेघों को तोड़ना होता है, तब तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों का प्रहार होता है। कॉस्मिक मेघ पर हुए उसी प्रहार से उसके बिखरने से नाना लोकों की उत्पत्ति होती है।

ऋषि दयानन्द ने इस ऋचा का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (दासपत्नीः) दास आश्रयदाता पतिर्यासां ताः। अत्र सुपां सुलुग् इति पूर्वसवर्णा-

देशः। (अहिगोपाः) अहिना मेघेन गोपा गुप्ता आच्छादिताः (अतिष्ठन्) तिष्ठन्ति। अत्र वर्त्तमाने लङ्। (निरुद्धाः) संरोधं प्रापिताः (आपः) जलानि (पणिनेव) गोपालेन वणिग्जने-नेव (गावः) पशवः (अपाम्) जलानाम् (बिलम्) गर्त्तम् (अपिहितम्) आच्छादितम् (यत्) पूर्वोक्तम् (आसीत्) अस्ति। अत्र वर्त्तमाने लङ् (वृत्रम्) सूर्यप्रकाशावरकं मेघम् (जघन्वान्) हन्ति। अत्र वर्त्तमाने लिट्। (अप) दूरीकरणे (तत्) द्वारम् (ववार) वृणोत्युद्घाटयति। अत्र वर्त्तमाने लिट्। यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे—

दासपत्नीर्दासाधिपत्न्यो दासो दस्यतेरुपदासयति कर्म्माण्यहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः अहिरयनादेत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति निरुद्धा आपः पणि-नेव गावः। पणिर्वणिग्भवति। पणिः पणनाद्वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेर्वृत्रं जघ्निवानपववार। निरु.२.१७ ।

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। यथा गोपालः स्वकीया गाः स्वाभीष्टे स्थाने निरुणद्धि पुनर्द्वारं चोद्घाट्य मोचयति यथा वृत्रेण मेघेन स्वकीयमण्डलेऽपां द्वारमावृत्य ता वशं नीयन्ते यथा सूर्यस्तं मेघं ताडयति तज्जलद्वारमपावृत्यापो विमोचयति तथैव राजपुरुषैः शत्रून्निरुध्य सततं प्रजाः पालनीयाः।

पदार्थ— हे सभापते! (पणिनेव) गाय आदि पशुओं के पालने और (गावः) गौओं को यथायोग्य स्थानों में रोकने वाले के समान (दासपत्नीः) अति बल देने वाला मेघ जिनका पति के समान और (अहिगोपाः) रक्षा करने वाला है वे (निरुद्धाः) रोके हुए (आपः) जल (अतिष्ठन्) स्थित होते हैं उन (अपाम्) जलों का (यत्) जो (बिलम्) गर्त अर्थात् एक गढ़े के समान स्थान (अपिहितम्) ढांप सा रक्खा (आसीत्) है उस (वृत्रम्) मेघ को सूर्य (जघन्वान्) मारता है मारकर (तत्) उस जल की (अपववार) रुकावट तोड़ देता है वैसे आप शत्रुओं को दुष्टाचार से रोक के न्याय अर्थात् धर्ममार्ग को प्रकाशित रखिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं। जैसे गोपाल अपनी गौओं को अपने अनुकूल स्थानों में रोके रखता और फिर उस स्थान का दरवाजा खोल के निकाल देता है और जैसे मेघ अपने मण्डल में जलों का द्वार रोक के उन जलों को वश में रखता है, वैसे सूर्य उस मेघ को ताड़ना देता और उस जल की रुकावट को तोड़ के अच्छे प्रकार उसे बरसाता है, वैसे ही राजपुरुषों को चाहिये कि शत्रुओं को रोककर प्रजा का

यथायोग्य पालन किया करें।''

आध्यात्मिक भाष्य— (पणिना, इव, गावः) पशुपालक वैश्य अपनी गौओं को बाड़े में नियन्त्रित रखता है, उसी प्रकार (दासपत्नीः) [दासति दानकर्मा (निघं.३.२०)] नाना प्रकार के दानादि गुण जिनके पालक हैं तथा (अहिगोपाः) सर्वव्यापक परमात्मा जिनका रक्षक है [अहिः = समस्तविद्यासु व्यापनशीलः ईश्वरः (म.द.य.भा.५.३३)] वे (आपः) प्राण (निरुद्धाः, अतिष्ठन्) जब निरुद्ध किए जाते हैं अर्थात् जब प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है अर्थात् जब प्राण को वश में किया जाता है और (यत्) जो (अपाम्) उन प्राणों का (बिलम्) भरण-पोषण करने वाले सूक्ष्म प्राण, मनस्तत्त्व अथवा परब्रह्म में (अपिहितम्, आसीत्) ढक दिया जाता है अर्थात् प्राण व मनस्तत्त्व को परब्रह्म में लीन कर दिया जाता है, उस समय (वृत्रम्) नाना प्रकार के पाप व अविद्यादि दोष (जघन्वान्) नष्ट हो जाते हैं और उन्हें मार कर (तत्) परमानन्द रस की (अप, ववार) रुकावट समाप्त हो जाती है अर्थात् प्राण व मन को वश में रखने वाला व्यक्ति परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

* * * * *

= अष्टादशः खण्डः =

रात्रिनामान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः। रात्रिः कस्मात्। प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि। उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति। रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः। प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः।

निघण्टु में अगले २३ नाम रात्रि के हैं। वे २३ नाम इस प्रकार हैं—

श्यावी। क्षपा। शर्वरी। अक्तुः। ऊर्म्या। राम्या। यम्या। नम्या। दोषा। नक्ता। तमः। रजः। असिक्नी। पयस्वती। तमस्वती। घृताची। शिरिणा। मोकी। शोकी। ऊधः। पयः। हिमा। वस्वी।

'रात्रिः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि' अर्थात् जिसमें रात्रिचर प्राणी अच्छी प्रकार विचरण करते हुए आनन्दित होते हैं। यह

सर्वविदित है कि रात्रि में विचरण करने वाले पशु-पक्षी एवं कीट-पतङ्ग आदि प्राणी दिन में प्रायः अपने स्थानों में छुपे हुए रहते हैं। यदि वे किसी प्रकार अपने स्थानों, गुफाओं अथवा बिलों में से बाहर आ भी जायें, तो वे बहुत असहज, शिथिल और भयभीत से प्रतीत होते हैं और रात्रि होते ही वे सभी प्राणी सक्रिय और निर्भय होकर निर्बाध विचरण करने लगते हैं, इसी कारण इस समयावधि को रात्रि कहते हैं।

अब रात्रि पद का अगला निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उपरमयति इतराणि ध्रुवीकरोति'। इसका अर्थ यह है कि जो प्राणी रात्रिचर नहीं होते अर्थात् दिवाचर होते हैं, रात्रि उन्हें विश्राम प्रदान करती है। वे प्राणी रात्रि में शिथिल और शान्त होकर स्थिरतापूर्वक सोए रहते हैं। यदि उन्हें किसी कारण रात्रि में जागने को विवश किया जाए, तो वे पूर्ण सक्रिय और निर्भय होकर कार्य करने में सक्षम नहीं होते और रात्रि जागरण उनके स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक होता है। भले ही वे दिन में विश्राम करें, फिर भी उनका रात्रि जागरण सुखद नहीं हो पाता। उनके लिए रात्रि में विश्राम करना ही सुखद होता है। इसलिए भी इस काल को रात्रि कहते हैं।

अब अगला निर्वचन करते हुए फिर लिखते हैं— 'रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्ते अस्यामवश्यायाः' अर्थात् रात्रि पद देने अर्थ में प्रयुक्त 'रा' धातु से निष्पन्न होता है। इसी समय अवश्याय अर्थात् ओस, कोहरा, पाला आदि गिरता है अर्थात् वह रात्रिकाल में ही प्रदान किया जाता है, इस कारण भी इस काल को रात्रिकाल कहते हैं। यद्यपि अति शीतकाल में नमी वाले प्रदेशों में दिन में भी कोहरा, ओस आदि गिरते रहते हैं और कभी-२ महीने भर तक सूर्य दिखाई नहीं देता। पुनरपि यह सत्य है कि ओस आदि गिरने की प्रक्रिया रात्रि में ही प्रारम्भ होती है और दिन में यह धीरे-२ कम ही होती है, अधिक नहीं।

यहाँ किसी भी भाष्यकार ने सभी नामों की व्याख्या नहीं की है। ग्रन्थकार ने यहाँ जिस पद का निर्वचन किया है, उस निर्वचन की ही अपने-२ ढंग से विभिन्न भाष्यकारों ने व्याख्या करने का प्रयास किया है। हम यहाँ निघण्टु में वर्णित रात्रि नामवाची सभी २३ पदों की क्रमशः व्याख्या करने का प्रयास करते हैं—

१. श्यावी — यह पद 'श्यैङ् गतौ (भ्वा.) धातोर्बाहु. औणा. वन' से निष्पन्न होता है। इस पद का अर्थ ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य ३.५५.११ में 'अन्धकाररूपा' एवं

१.७१.१ में 'अल्पकृष्णवर्णा' किया है अर्थात् जिस अवस्था में से प्रकाश गमन कर गया हो अर्थात् जिसमें बहुत कम प्रकाश हो, वह अवस्था 'श्यावी' कहलाती है।

२. क्षपा — यह पद 'क्षप प्रेरणे' धातु से निष्पन्न होता है। क्षपा उस अवस्था का नाम है, जो विभिन्न दिवाचरों को सोने के लिए तथा रात्रिचरों को कर्म करने के लिए प्रेरित करती है।

३. शर्वरी — इस पद की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द ने अपने 'उणादि-कोष भाष्य' में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है— शृणाति हिनस्ति प्रकाशमिति शर्वरी (उ.को. २.१२३) अर्थात् जिस अवस्था में प्रकाश नष्ट हो जाता है, उस अवस्था को 'शर्वरी' कहते हैं।

४. अक्तुः — यह पद 'अञ्जू (अञ्ज्) व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' धातु से निष्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि वह अवस्था, जो स्पष्ट रूप में प्रकट होती है तथा विभिन्न रात्रिचर प्राणियों को प्रकट करती है। मृक्षणकर्म (मृक्ष संघाते), इस अवस्था में विभिन्न दिवाचर प्राणियों की गतिविधियों का सम्यक् रूप से संहार हो जाता है अर्थात् वे गतिविधियाँ शान्त हो जाती हैं। जिस अवस्था में कान्ति अर्थात् प्राणियों एवं विभिन्न सूक्ष्म कणों में पारस्परिक संयोग की इच्छा अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है और इसके कारण वे प्राणी अथवा कण सक्रिय हो उठते हैं, उस अवस्था को अक्तु कहते हैं।

५. ऊर्म्या — ऊर्मियों में स्थित अवस्था को ऊर्म्या कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो अवस्था प्रत्येक पदार्थ को अन्धकार आदि से आच्छादित करती है एवं नियत समय पर प्राप्त होती है, उस अवस्था को 'ऊर्म्या' कहते हैं। यहाँ ऊर्मिः पद 'ऋ गतौ' एवं 'ऊर्णुञ् आच्छादने' धातुओं से निष्पन्न मानना चाहिए।

६. राम्या — यह उस अवस्था का नाम है, जिसमें रात्रिचर प्राणी आनन्दपूर्वक रमण करते हैं।

७. यम्या — यह पद 'यम उपरमे' धातु से निष्पन्न होता है। इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है— या सर्वान् प्राणिनो निद्रया नियच्छति सा यम्या रात्रिः (म.द. ऋ.भा.३.५५.११) अर्थात् जो अवस्था सभी दिवाचरों को निद्रा के वशीभूत करके नियन्त्रित

करती है, उसे 'यम्या' कहते हैं।

८. नम्या — यह पद 'नम प्रह्वत्वे शब्दे च' धातु से निष्पन्न होता है। वह अवस्था, जिसमें विभिन्न दिवाचर प्राणी निद्रा के वशीभूत होकर झुकते हुए चले जाते हैं और पृथ्वी का आश्रय लेकर सो जाते हैं एवं विभिन्न रात्रिचर प्राणी नाना प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करने लगते हैं, उस अवस्था को 'नम्या' कहा जाता है।

९. दोषा — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने 'उणादि-कोष' के भाष्य में लिखा है— दुष्यतीति दोषा (उ.को.४.१७६) अर्थात् जो विभिन्न पदार्थों के स्वरूप एवं क्रियाओं में विकार पैदा कर देती है, उस अवस्था का नाम 'दोषा' है।

१०. नक्ता — इसका निर्वचन करते हुए स्वयं ग्रन्थकार ने लिखा है— अनक्ति भूतान्यव-श्यायेन (निरु.८.१०)। इसका अर्थ यह है कि यह सभी प्राणियों को ओस, कोहरा आदि से गीला करती है। यद्यपि शीतकाल में ओस, कोहरा आदि दिन में भी देखा जाता है, परन्तु रात्रि को सदैव ही इसकी अधिकता रहती है, इस कारण इसे नक्ता कहते हैं। इसके साथ ही नक्ता का निर्वचन न+अक्ता किया है अर्थात् जहाँ विभिन्न वर्णों वा रंगों का स्पष्ट रूप दिखाई नहीं देता, उस रात्रि को 'नक्ता' कहते हैं।

११. तमः — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— तमस्तनोतेः (निरु.२.१६)। उधर अन्य ऋषियों ने कहा— कृष्णमिव हि तमः (तां.ब्रा.६.६.१०), कृष्णं वै तमः (श.ब्रा.५.३.२.२)। इसका आशय यह है कि रात्रि में काले रंग का अन्धकार सब ओर फैल जाता है, इसलिए रात्रि को 'तमः' कहते हैं।

१२. रजः — यह पद 'रञ्ज रागे' धातु से निष्पन्न होता है। इस कारण जो सभी पदार्थों को अपने कृष्ण वर्ण से रंग देती है एवं विभिन्न दिवाचर प्राणियों को मोहित व भ्रान्त कर देती है, वह रात्रि 'रजः' कहलाती है।

१३. असिक्नी — इस पद का निर्वचन करते हुए स्वयं ग्रन्थकार ने लिखा है— 'असिक्नी अशुक्ला असिता सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम्' अर्थात् जहाँ श्वेत वर्ण अथवा कोई अन्य वर्ण भी विद्यमान नहीं होता, उस रात्रि को 'असिक्नी' कहते हैं।

१४. पयस्वती — इसमें आर्द्रता अपेक्षाकृत अधिक होती है, इस कारण रात्रि को

'पयस्वती' कहते हैं।

१५. तमस्वती — रात्रि अन्धकार से परिपूर्ण होने के कारण 'तमस्वती' कहलाती है।

१६. घृताची — [घृतम् = उदकनाम (निघं.१.१२)] जिसमें विभिन्न वनस्पतियाँ जल को अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्राप्त करती हैं, इस कारण रात्रि को 'घृताची' कहते हैं। रात्रि में वाष्पन क्रिया मन्द होती है एवं ओस आदि के द्वारा जलसेचन क्रिया अधिक होती है। इस कारण जलवाष्प की अधिकता रात्रि में बनी रहती है अथवा होती है।

१७. शिरिणा — यह पद 'शॄ हिंसायाम्' धातु से निष्पन्न होता है। इसमें विभिन्न दिवाचर प्राणियों की गतिविधियाँ समाप्त हो जाती हैं, इस कारण रात्रि को 'शिरिणा' कहते हैं।

१८. मोकी — यह पद 'मुर्वी बन्धने' धातु से 'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्' (उ.को.३.४१) से बहुल करके 'कक्' प्रत्यय और उकार को गुण आदेश होकर निष्पन्न होता है। 'मूर्वति बध्नाति सा मोकी' अर्थात् जो दिवाचर प्राणियों को निद्रा में बाँधती है, वह रात्रि 'मोकी' कहाती है। अथवा यह पद 'मुच्लृ मोचने' धातु से इसी प्रकार कक् प्रत्यय व गुण होकर तथा चकार को ककार होकर निष्पन्न होता है। इसका आशय यह है कि यह रात्रि सभी नक्तंचर प्राणियों को मुक्त करके स्वछन्द विचरण का अवसर प्रदान करती है।

१९. शोकी — अपने अन्धकार तथा तमोगुण के प्राबल्य के द्वारा विभिन्न दिवाचरों की दशा को शोचनीय बनाने के कारण रात्रि को 'शोकी' कहते हैं।

२०. ऊधः — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने अपने उणादि-कोष भाष्य में लिखा है— वहति यत् इति ऊधः (उ.को.४.१९४) अर्थात् रात्रि निरन्तर नियमानुसार बहती रहती है अर्थात् उसके आवागमन का प्रवाह निरन्तर बना रहता है। इसके साथ ही रात्रि की अवस्था भी स्थिर न होकर सतत प्रवहमान एवं परिवर्तमान होती है, इस कारण रात्रि को 'ऊधः' कहते हैं।

२१. पयः — [पीयते तत् पयः (उ.को.४.१९१), पयः उदकनाम (निघं.१.१२), अन्ननाम (निघं.२.७)] जिसमें जल एवं संयोज्य कणों की प्रबलता होती है तथा जो रात्रि सभी दिवाचरों की प्रवृत्तियों का पान कर लेती अर्थात् उन्हें विराम देती है, उसे 'पयः' कहते हैं।

२२. हिमा — रात्रि दिन की अपेक्षा अधिक शीतल होती है, इस कारण इसे 'हिमा' कहते

हैं।

२३. वस्वी — इस पद की व्युत्पत्ति 'वस स्नेहच्छेदापहरणेषु' धातु से मानी जा सकती है। रात्रि सभी दिवाचरों के सभी कर्मों का अपहरण कर लेती है, इस कारण रात्रि को वस्वी भी कहते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य ५.४१.६ में 'वस्वी' का अर्थ 'बहुपदार्थयुक्ता' किया है। वस्तुतः रात्रि सभी पदार्थों को अपने में लीन किए रहती है, इस कारण भी वह 'वस्वी' कहाती है।

यहाँ हमने रात्रि नाम वाले सभी तेईस पदों की संक्षिप्त व्याख्या की है। इन पदों की व्याख्या अधिक विस्तृत भी हो सकती है। इन सभी पदों का सृष्टि प्रक्रिया पर सर्वदा समान प्रभाव नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो वेद में एक ही पदार्थ के पृथक्-२ अनेक नाम नहीं होते। पूर्व में हमने किरणों के नाम वाले सभी पदों की भी इसी प्रकार व्याख्या की है। हमने यह व्याख्या उदाहरण के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की। आगे आने वाले उषा आदि नामवाची विभिन्न पदों की व्याख्या हम नहीं करेंगे, क्योंकि इससे ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ जायेगा। जब ग्रन्थकार ने स्वयं यहाँ किसी पदार्थ के नामवाची पदों की मात्र संख्या ही बतायी है, उनके नाम भी निघण्टु में ही दिये हैं, यहाँ नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ हम सबकी व्याख्या करना आवश्यक नहीं समझते। हम वैसे ही इस ग्रन्थ में दिए अनेक मन्त्रांशों के स्थान पर सम्पूर्ण मन्त्र को उद्धृत करके उसका प्रायः तीन प्रकार का भाष्य कर रहे हैं, जबकि ग्रन्थकार ने भी ऐसा नहीं किया। हमारे इस कार्य से ही ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जायेगा, तब सभी पदों की व्याख्या करके हम इसे और विस्तार नहीं देना चाहते। विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ को पढ़कर स्वयं ही किसी भी पद का अर्थ करने में सक्षम हो ही जायेंगे, ऐसा विश्वास है। हाँ, वे पद जिनकी व्याख्या आधिदैविक दृष्टि से हमें विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत होगी, हम उनकी व्याख्या करने का प्रयास अवश्य करेंगे।

उषो नामान्युत्तराणि षोडश। उषाः कस्मात्। उच्छतीति सत्याः। रात्रेरपरः कालः। तस्यैषा भवति॥ १८॥

निघण्टु में इसके आगे उषा के १६ नाम दिए गए हैं। अब उषा का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उषाः कस्मात् उच्छतीति सत्याः रात्रेरपरः कालः'। उषावाची सोलह नाम

निघण्टु में इस प्रकार दिये गये हैं—

विभावरी। सूनरी। भास्वती। ओदती। चित्रामघा। अर्जुनी। वाजिनी। वाजिनीवती। सुम्नावरी। अहना। द्योतना। श्वेत्या। अरुषी। सूनृता। सूनृतावती। सूनृतावरी।

उषा नाम क्यों पड़ा? इस विषय में 'उषा' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उच्छतीति सत्याः रात्रेरपरः कालः' अर्थात् उषा रात्रि के अन्धकार को समाप्त करती वा त्यागती है, इस कारण उषा कहलाती है। इसलिए रात्रि के उत्तर काल को उषा कहते हैं। इससे सम्बधित एक ऋचा अग्रिम खण्ड में उद्धृत की गयी है।

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥

[ऋ.१.११३.१]

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रम्। प्रकेतनं प्रज्ञाततमम्। अजनिष्ट। विभूततमम्। यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्य। एवं रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानम्। स्त्रीयोनिरभियुत एनां गर्भः। तस्यैषापरा भवति॥ १९॥

अब हम इस ऋचा पर विचार करते हैं—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥ (ऋ.१.११३.१)

इस ऋचा की उत्पत्ति आङ्गिरस कुत्स ऋषि से होती है अर्थात् [प्राणो वाऽअङ्गिरा (श.ब्रा.६.५.२.३), अङ्गिरा उ ह्यग्निः (श.ब्रा.१.४.१.२५] जब विभिन्न प्राण रश्मियाँ अग्नि तत्त्व का निर्माण करती हैं, तब उस अग्नि तत्त्व के वज्र रूप से अथवा उस अग्नि तत्त्व में

इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता उषा है, इस कारण इसके दैवत प्रभाव से अन्धकार दूर होकर प्रकाश की लालिमा प्रकट होने लगती है। इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण तेज और बल उत्पन्न होते हैं।

आधिदैविक भाष्य— (ज्योतिषाम्) विभिन्न प्रकार की ज्योतियों में (इदम्, श्रेष्ठम्, ज्योतिः) इस छन्द रश्मि के द्वारा उत्पन्न प्रकाश प्रत्यक्ष और श्रेष्ठ होता है अर्थात् यह प्रकाश दृश्य एवं श्रेष्ठ तरंगों के रूप में (आगात्) 'आगमत्' इस ब्रह्माण्ड में सब ओर से व्याप्त होने लगता है अर्थात् यह प्रकाश व्यापक क्षेत्र में उत्पन्न होता है और यह छन्द रश्मि भी उसी क्षेत्र में उत्पन्न व स्पन्दित होती है। यहाँ 'आ' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु का प्रयोग यह भी दर्शाता है कि इस छन्द रश्मि के स्पन्दित होते ही प्रकाश तुरन्त प्रकट हो जाता है। (चित्रः) वह प्रकाश अद्‌भुत अर्थात् जो इससे पूर्व उत्पन्न नहीं हुआ था, ऐसे स्वरूप वाला होता है। इस कारण यह आश्चर्यजनक होता है।

(प्रकेतः) 'प्रकेतनं प्रज्ञाततमम्' इस छन्द रश्मि से उत्पन्न प्रकाश सबसे अधिक जानने योग्य होता है अर्थात् इससे पूर्व उत्पन्न प्रकाश की अपेक्षा यह प्रकाश अधिक प्रखर और स्पष्ट होता है, ऐसा वह प्रकाश (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है किंवा इस छन्द रश्मि के उत्पन्न होने के साथ ही प्रकट होने लगता है। (विभ्वा) 'विभूततमम्' अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा के द्वारा (यथा, प्रसूता, रात्रिः) जिस प्रकार रात्रि की उत्पत्ति होती है। वह रात्रि रूप अन्धकार (सवितुः) 'आदित्यस्य' सूर्य के (सवायँ) 'प्रसवाय' उत्पन्न होने के लिए अथवा उत्पन्न होने पर अन्य स्थान पर चला जाता है एवं जहाँ पहले अन्धकार था, उस स्थान को त्याग देता है। जब सूर्य की उत्पत्ति होती है, तब उसके उत्पन्न होने के साथ ही पदार्थ की अन्धकार अवस्था समाप्त हो जाती है।

(एवा) इसी प्रकार (रात्रि, उषसे, योनिम्, आरैक्) 'रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानम्' उषा काल के उत्पन्न होने पर अन्धकार रूपी रात्रि उस स्थान को छोड़ देती है अर्थात् उस स्थान से अन्धकार समाप्त हो जाता है। यहाँ योनि का अर्थ 'स्थान' जानना चाहिए, ऐसा ग्रन्थकार का मत है। अब इसके आगे ग्रन्थकार लिखते हैं— 'स्त्रीयोनिः अभियुत एनां गर्भः' अर्थात् स्त्री योनि भी योनि कहलाती है, क्योंकि इसमें गर्भ मिला हुआ होता है और प्रसव के समय यह गर्भ के लिए स्थान प्रदान करती है।

आध्यात्मिक भाष्य— (ज्योतिषाम्, इदम्, श्रेष्ठम्, ज्योतिः) इन्द्रिय, मन आदि के प्रकाश की अपेक्षा ईश्वर अथवा आत्मा के साक्षात्कार से उत्पन्न ज्योति सबसे श्रेष्ठ (आगात्) व्यापक रूप से प्राप्त होती है। वह ब्रह्म व आत्मज्योति (विभ्वा, चित्रः, प्रकेतः, अजनिष्ट) अपने महान् ऐश्वर्य एवं विज्ञान की दृष्टि से अद्‌भुत रूप में उत्पन्न होती है। इसी को वेद में अन्यत्र कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

अर्थात् वह ब्रह्म अत्यन्त प्रकाशस्वरूप होता है अर्थात् जिस प्रकार प्रकाश के उत्पन्न होने पर किसी व्यक्ति को सभी पदार्थों का यथावत् बोध होता है, उसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर ऐसा प्रकाश उत्पन्न होता है कि जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड यथावत् जाना हुआ सा प्रतीत होता है। (यथा, प्रसूता, रात्रिः) जिस प्रकार उत्पन्न हुई रात्रि (सवितुः, सवायँ) सूर्य के उदय होने पर अपना स्थान छोड़ देती है। (एवा) इसी प्रकार (रात्रिः) रात्रिरूपी अज्ञानान्धकार [रात्रिः = तमः पाप्मा रात्रिः (कौ.ब्रा.१७.६)] एवं पापान्धकार (उषसे) आत्म वा ब्रह्म ज्योति के लिए (योनिम्, आरैक्) स्थान छोड़ देते हैं अर्थात् आत्मज्ञान वा ब्रह्मज्ञान होने पर अज्ञान और पाप का अन्धकार मिट जाता है और चित्त वा आत्मा में निर्मल ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है।

आधिभौतिक भाष्य— (ज्योतिषाम्) [ज्योतिः = न्यायप्रकाशः (तु.म.द.य.भा.१३.३९), सत्यविद्योपदेशप्रकाशः (तु.म.द.य.भा.३८.१६)] न्याय व्यवस्था के विभिन्न केन्द्रों में एवं ज्ञान के विभिन्न लौकिक स्रोतों में (इदम्, श्रेष्ठम्, ज्योतिः, आगात्) ब्रह्मवेत्ता एवं शौर्यवान् राजा की न्याय व्यवस्था एवं ब्रह्मवेत्ता आचार्य द्वारा प्रदत्त वेदज्ञान श्रेष्ठ होते हैं और ये न्याय एवं ज्ञान सार्वत्रिक एवं सर्वहितकारी होते हैं। (विभ्वा, चित्रः, प्रकेतः, अजनिष्ट) ये न्याययुक्त शासन तथा वेदज्ञान निर्मल, स्पष्ट और सबके लिए जानने योग्य होते हैं, क्योंकि ये सर्वव्यापक परमात्मा की प्रेरणा से ब्रह्मनिष्ठ राजा और ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के आत्मा में प्रकट होते हैं। (यथा, रात्रिः, प्रसूता, सवितुः, सवायँ) जिस प्रकार उत्पन्न हुई रात्रि सूर्य के उदय होने पर अपना स्थान छोड़ देती है, (एवा) इसी प्रकार (रात्रिः, उषसे, योनिम्, आरैक्) अन्यायजनित शोषण, अभाव, हिंसा आदि दुरित एवं अज्ञानजनित नाना प्रकार के दोष रूप रात्रि अर्थात् अन्याय एवं अज्ञान का अन्धकार ब्रह्मनिष्ठ राजा के न्याययुक्त शासन

एवं योगी गुरु के सदुपदेशों के लिए अपना स्थान छोड़ देते हैं अर्थात् ये सभी दुरित वेदज्ञान पर आधारित न्याय एवं विद्या व्यवस्था के द्वारा दूर हो जाते हैं।

उषा के लिए एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत करेंगे।

* * * * *

= विंशः खण्डः =

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥

[ऋ.१.११३.२]

रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा। रुशदिति वर्णनाम। रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः।
सूर्यमस्या वत्समाह। साहचर्यात्। रसहरणाद्वा। रुशती श्वेत्यागात्।
श्वेत्या श्वेततेः। अरिचत्कृष्णा सदनान्यस्याः। कृष्णवर्णा रात्रिः।
कृष्णं कृष्यतेः। निकृष्टो वर्णः। अथैने संस्तौति।
समानबन्धू समानबन्धने। अमृते अमरणधर्माणौ।
अनूची अनूच्यौ इति इतीतरेतरमभिप्रेत्य। द्यावा वर्णं चरतः। ते एव द्यावौ।
द्योतनात्। अपि वा द्यावा चरतः। तया सह चरत इति स्यात्।
[आमिनाने] आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे।

सर्वप्रथम हम इस मन्त्र पर विचार करते हैं। इस मन्त्र का ऋषि और देवता पूर्ववत् समझें। इसका छन्द स्वराट् पंक्ति होने से इसके छान्दस प्रभाव से प्रकाश उत्पन्न होने के साथ-2 संगमन की क्रिया तीव्र होती है।

आधिदैविक भाष्य— (रुशद्वत्सा) 'रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्यात् रसहरणाद्वा' यहाँ उषा को 'सूर्यवत्सा' कहा है अर्थात् सूर्य जिसका पुत्र हो, उसे उषा कहा गया है। सामान्य रूप से हम यह जानते हैं कि उषा

का प्रकाश सूर्योदय के साथ ही सूर्य से उत्पन्न होता है, तब उषा को सूर्य की पुत्री कहा जाना चाहिए, न कि सूर्य को उषा का पुत्र। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सूर्यवत्सा का अर्थ सूर्य की पुत्री क्यों न ग्रहण किया जाए? ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं कह दिया— 'सूर्यमस्या वत्समाह' अर्थात् सूर्य जिसका पुत्र कहा जाता है। यह कौनसी उषा है, जिससे सूर्य उत्पन्न होता है, क्योंकि उषाकाल की किरणें तो स्वयं सूर्य से उत्पन्न होती हैं। तब उषा कोई अन्य पदार्थ ही है, जिससे सूर्यादि तारे उत्पन्न होते हैं। इस उषा के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ३.३३ एवं ३.३४ को पढ़ना चाहिए, जहाँ उषा उन तरंगों का नाम है, जिनमें विद्युत्, प्रकाश एवं ऊष्मा का सम्मिश्रण होता है। यहाँ भी उषा को रुशद्वत्सा कहा गया है और 'रुशत्' वर्ण अर्थात् रंग को कहा गया है, जो रंग जाज्वल्यमान होते हैं अर्थात् उनमें रंगों के साथ ऊष्मा भी होती है। यहाँ सूर्य को उषा का वत्स अर्थात् पुत्र क्यों कहा गया है? इसका कारण बताते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि सूर्य उषा का सहचर होता है अर्थात् सूर्य के उत्पन्न होने के पश्चात् भी उसमें विद्युत्, प्रकाश एवं ऊष्मा आदि तरंगें विद्यमान होती हैं और उससे उत्सर्जित भी होती हैं। इसके साथ ही कॉस्मिक मेघ के उषा रूप चमकीले भाग से निर्मित हुए अथवा निर्माणाधीन तारे निरन्तर रस तन्मात्राओं अर्थात् आयन्स को ग्रहण करते रहते हैं। इन दोनों कारणों से सूर्य को उषा का पुत्र कहा है। लोक में भी शिशु पुत्र सदैव माता के साथ रहता है और उसका दूध भी पीता रहता है। ऐसा ही सूर्य और उषा के लिए भी समझना चाहिए।

(रुशती, श्वेत्या) 'श्वेत्या श्वेततेः' वह रक्तवर्ण उषा नामक पदार्थ श्वेतवर्ण वाला होकर (आ, अगात्) सर्वतः व्याप्त हो जाता है अर्थात् सूर्य्यादि तारों की ऊष्मा बढ़ने लगती है। (कृष्णा) 'कृष्णवर्णा रात्रिः' अर्थात् रात्रिरूपी अन्धकार। यहाँ ग्रन्थकार का कथन है— 'कृष्णं कृष्यतेः निकृष्टो वर्णः' अर्थात् जिसे खींचकर किसी अन्य वर्ण द्वारा निकाला वा नष्ट कर दिया जाता है। उषा नामक पदार्थ का रक्त वा श्वेतवर्ण इसे उस क्षेत्र से निकाल देता वा नष्ट कर देता है, इस कारण रात्रि को कृष्णा कहते हैं।

(अस्याः, उ) इस उषा नामक पदार्थ के (सदनानि) स्थानों को (आ, अरैक्) 'अरिचत्' पूर्ण रूप से किंवा सब ओर से रात्रि रूपी अन्धकार छोड़ देता है। अब ग्रन्थकार का कथन है— 'अथैने संस्तौति' अर्थात् अब यह ऋचा उषा एवं रात्रि दोनों की साथ-२ स्तुति करती है कि वे दोनों (समानबन्धू) 'समानबन्धू समानबन्धने' उषा व रात्रि समान बन्धन वाली

होकर परस्पर बँधी हुई हैं। एक आती है, तो दूसरी चली जाती है। ऐसा कभी नहीं होता कि एक साथ दोनों का भाव अथवा अभाव हो जाये। (अमृते) 'अमृते अमरणधर्माणौ' अर्थात् प्रवाहरूप से अनादि [ऋषि दयानन्द] वस्तुतः इन्हें अमरणधर्मा नहीं कहा जा सकता, इसी कारण ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में इन्हें प्रवाहरूप में नित्य कहा है। (अनूची) 'अनूची अनूच्यौ इति इतरेतरमभिप्रेत्य' ये दोनों एक-दूसरे का अनुगमन करती हुई आती-जाती रहती हैं।

(द्यावा, वर्णम्, चरतः) 'ते एव द्यावौ द्योतनात् अपि वा द्यावा चरतः तया सह चरत इति स्यात्' वे उषा व रात्रि द्यौरूप होकर अर्थात् क्रमशः अपने-२ वर्ण श्वेत व कृष्ण रूप होकर विचरण करती हैं अर्थात् दोनों अपने-२ प्रकाश को व्यक्त करती हैं। ध्यातव्य है कि कृष्ण रंग रंगों का अभाव नहीं, बल्कि स्वयं एक रंग होता है। उसी को लक्ष्य करके दोनों को द्योतन करने वाली कहा है। काला रंग रात्रि को दर्शाता है। अब दूसरा विकल्प यह है कि द्यावा में तृतीया विभक्ति मानकर कहा है कि वे उषा व रात्रि दोनों ही अपने-२ वर्ण के साथ विचरण करती हैं। (आमिनाने) 'आमिनाने आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे' [आमिमाने = परस्परं प्रक्षिपन्तौ पदार्थाविव (म.द.भा.)] अर्थात् वे उषा एवं रात्रि दोनों एक-दूसरे के शरीर के ऊपर स्वयं को फेंकती हुई सी गमन करती रहती हैं। इसका आशय है कि जब उषा प्रकट होती है, तब उससे पूर्व अन्धकार रूप रात्रि अकस्मात् ही वहाँ से दूर नहीं होती है, बल्कि उषा का प्रकाश अन्धकार अर्थात् कृष्णवर्ण पदार्थ के ऊपर गिरता है, तभी वह अन्धकार वहाँ से हटता है। इसी प्रकार जब रात्रि का आगमन होता है, तब वह कृष्णवर्ण उषा वर्णयुक्त पदार्थ के ऊपर गिरता है, तभी उषा का प्रकाश वहाँ से हटता है।

भावार्थ— कॉस्मिक मेघ के रक्तवर्णीय चमकीले भाग में सूर्य्य की उत्पत्ति होती है, जो निरन्तर अपने चारों ओर से आयन्स को ग्रहण करते हुए अपना आकार बढ़ाता रहता है। कालान्तर में वह रक्तवर्णीय भाग श्वेतवर्णीय होने लगता है और उसका तापमान बढ़ने लगता है। इससे काला वर्ण समाप्त होने लगता है। इतने पर भी प्रत्येक तारे में कृष्ण वर्ण का भी अस्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य विद्यमान होता है। यह ध्यातव्य है कि कृष्ण वर्ण रंगों का अभाव मात्र नहीं, अपितु यह स्वयं एक स्वतन्त्र रंग भी होता है। बृहती छन्द रश्मियों का वर्ण आचार्य पिङ्गल ने काला ही बताया है। प्रकाश के रंगों के काले रंग पर

गिरने से काला रंग दूर होने लगता है। इसी प्रकार रात्रि के आगमन पर काला रंग दिन के प्रकाश को दूर करने लगता है। यह विषय आधुनिक भौतिकी के लिए चिन्तनीय है। कृष्णवर्ण कहाँ से आता है, यह भी चिन्तनीय है।

आध्यात्मिक भाष्य— (रुशद्वत्सा) [वत्सः = मन एव वत्सः (श.ब्रा.११.३.१.१)] शुद्ध मन है जिसका, वह निर्मल प्रवृत्ति (रुशती) विवेकख्याति रूपा (श्वेत्या) [टुओश्वि गतिवृद्ध्योः] निरन्तर प्रवृद्धमान होती हुई (आ, अगात्) सम्पूर्ण अन्तःकरण में सर्वतः व्याप्त हो जाती है। (अस्याः, उ) इस विवेकख्याति के (सदनानि) स्थानों अर्थात् अन्तःकरण का (कृष्णा) अज्ञान व पाप का अन्धकार (आ, अरैक्) सब ओर से अर्थात् पूर्ण रूप से दूर हो जाता है, हट जाता है अर्थात् विवेक के उत्पन्न होते ही अन्तःकरण के सब पाप व अज्ञान मिट जाते हैं।

(समानबन्धू) यह विवेक एवं अविवेक एक-दूसरे से दिन व रात्रि की भाँति बँधे रहते हैं। कभी आत्मा में विवेक का जागरण होता है, तो कभी अविवेक आकर घेर लेता है। (अमृते) जीवात्मा के साथ विवेक व अविवेक का चक्र अनादिकाल से बँधा हुआ है। विवेक से जीव मोक्ष को पाता है और अविवेक से जीव बन्धन में आ जाता है। (अनूची) ये विवेक एवं अविवेक दोनों ही एक-दूसरे का अनुगमन करते रहते हैं। इस कारण मनुष्य को चाहिए कि विवेक ज्ञान होने पर भी सदैव सावधान रहे कि कहीं उसे अविवेक न दबा ले। ध्यातव्य है कि यहाँ विवेक व अविवेक का सम्बन्ध दिन व रात्रि की भाँति नियमित नहीं है, बल्कि यह जीव के पुरुषार्थ पर निर्भर है, परन्तु मोक्ष व बन्धन अवश्य ही दिन व रात्रि की भाँति प्रवाह से अनादि हैं।

(द्यावा, वर्णम्, चरतः) ये विवेक एवं अविवेक दोनों ही पृथक्-२ क्रीड़ा करते हुए अर्थात् पृथक्-२ व्यवहारों को करते हुए जीवात्मा द्वारा वरण किये जाते हुए चलते रहते हैं अथवा ये दोनों सद् व्यवहार एवं असद् व्यवहार के साथ प्रवर्तमान रहते हैं। (आमिनाने) ये दोनों एक-दूसरे पर प्रक्षिप्त होकर जीव के अन्तःकरण में परस्पर द्वन्द्व युद्ध करते रहते हैं, जिसमें कभी विवेक प्रबल होता है, तो कभी अविवेक। विवेक के आने पर अविवेक समाप्त हो जाता है और अविवेक के आते ही विवेक समाप्त हो जाता है।

आधिभौतिक भाष्य— (रुशद्वत्सा) न्यायरूपी प्रकाश को उत्पन्न करने वाली राजव्यवस्था

(रुशती, श्वेत्या) पारदर्शी एवं स्वच्छ नीतियुक्त होकर (आ, अगात्) सम्पूर्ण राष्ट्र में स्थापित होती है। (अस्याः, उ) इस पारदर्शी न्याय व्यवस्था के निर्मित होने से उसके (सदनानि) स्थानों अर्थात् राष्ट्र के सभी भागों में पूर्व में व्याप्त हुई (कृष्णा, आ, अरैक्) अन्यायरूपी अन्धकार से उत्पन्न अव्यवस्था दूर हो जाती है।

(समानबन्धू, अमृते, अनूची) न्याय और अन्याय रूपी नीतियाँ परस्पर एक-दूसरे से बँधी रहती हैं। न्याय की नीति हटते ही राष्ट्र में अन्याय प्रारम्भ हो जाता है और न्याय के आते ही अन्याय समाप्त हो जाता है। ये दोनों प्रकार की नीतियाँ किसी भी राष्ट्र के जीवन काल में प्रवाहरूप में चलती हुई एक के बाद दूसरी आती रहती हैं।

(द्यावा, वर्णम्, चरतः) वे दोनों प्रकार की नीतियाँ राष्ट्र में नाना प्रकार से क्रीड़ा करती हुई तथा नागरिकों को प्रभावित करती हुई विचरण करती हैं। (आमिनाने) ये दोनों प्रकार की व्यवस्थाएँ एक-दूसरे के ऊपर प्रहार करती हुई निरन्तर युद्धरत रहती हैं, जिसमें कभी न्याय प्रबल होता है, तो कभी अन्याय।

अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश। अहः कस्मात्। उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति वैश्वानरीयायामृचि॥ २०॥

निघण्टु में अगले १२ नाम दिन के वाचक दिए गए हैं। ये १२ नाम इस प्रकार हैं—

वस्तोः। द्युः। भानुः। वासरम्। स्वसराणि। घ्रंसः। घर्मः। घृणः। दिनम्। दिवा। दिवेदिवे। द्यविद्यवि।

दिन को 'अहः' क्यों कहते हैं? इसका निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि इसमें विभिन्न प्रकार के कर्म किए जाते हैं। सभी दिवाचर प्राणी दिन के समय ही कर्मों को करते हैं। सूर्योदय होते ही ये सभी प्राणी नाना प्रकार के कर्मों को करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। यहाँ प्रस्तुत ऋचा वैश्वानर देवता वाली है, परन्तु इसमें 'अहः' का प्रयोग गौण रूप से हुआ है। वस्तुतः इसका प्रधान देवता वैश्वानर ही है।

* * * * *

= एकविंशः खण्डः =

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥ [ऋ.६.९.१]
अहश्च कृष्णं रात्रिः। शुक्लं चाहरर्जुनम्। विवर्तेते रजसी।
वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। वैश्वानरो जायमान इवोद्यन्नादित्यः।
सर्वेषां ज्योतिषां राजा। अवाहन्नग्निर्ज्योतिषा तमांसि।

अब हम इस ऋचा पर विचार करते हैं—

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥ (ऋ.६.९.१)

इस ऋचा का ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण नामक प्राथमिक प्राणों से होती है। इसका देवता वैश्वानर होने के कारण इसके दैवत प्रभाव से [वैश्वानरः = वैश्वानरः कस्मात् विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा अपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः तस्यैषा भवति (निरु.७.२१)] विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियों रूपी नरों का वाहक वैश्वानर अग्नि किंवा प्राथमिक प्राण रश्मियाँ विशेष सक्रिय होती हैं। इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से वे रश्मियाँ विशेष रूप से रक्तवर्ण के साथ प्रकाशित होती हुई तीक्ष्ण बलों को उत्पन्न करती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (अहः, च, कृष्णम्) 'अहश्च कृष्णं रात्रिः' अर्थात् एक अहः कृष्ण अर्थात् रात्रि रूप है। (अहः, अर्जुनम्, च) 'शुक्लं चाहरर्जुनम्' अर्थात् दूसरा 'अहः' शुक्ल रूप होता है। यहाँ स्पष्ट है कि 'अहः' पद दिन और रात दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। (विवर्तेते, रजसी, वेद्याभिः) वे दिन एवं रात रजस् रूप होते हैं अर्थात् वे पदार्थ जगत् को क्रमशः शुक्ल एवं कृष्ण रंग से रंगने वाले होते हैं अर्थात् दिन में सभी पदार्थों के रंग एवं रूपों का शुद्ध रूप भासता है तथा रात्रि को सभी के रंग और रूप अन्धकार में विलीन हो जाते हैं, इस कारण इन दोनों को रजस् कहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार का कथन है— 'वेद्याभि-

वेंदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः' अर्थात् ये दिन एवं रात जानने योग्य व्यवहारों के द्वारा चक्रवत् वर्तन्ते अर्थात् आते-जाते रहते हैं। यहाँ जानने योग्य प्रवृत्ति का अर्थ यह है कि दिन और रात दोनों के अस्तित्व एवं व्यवहार को न केवल मनुष्य, अपितु पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि भी सहजता से जानते हैं। यहाँ 'विद्' धातु का अर्थ जानने के साथ-२ लाभ भी ग्रहण करना चाहिए। इस कारण यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि दिन एवं रात अपनी-२ प्रवृत्तियों के द्वारा दिवाचर एवं निशाचर प्राणियों को नाना प्रकार के सुखों का लाभ प्राप्त कराते हैं। यदि दिन न होवे, तो कोई भी दिवाचर प्राणी कभी सुख को प्राप्त न हो सके और यदि रात्रि न होवे, तो कोई भी निशाचर प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकता। (अग्निः, वैश्वानरः) प्राथमिक प्राणसमूह रूप प्राणतत्त्व अथवा वैश्वानर नामक अग्नि (जायमानः, न, राजा) 'जायमान इवोद्यन्नादित्यः सर्वेषां ज्योतिषां राजा' जो सभी भूतों में नित्य निवास करता है, उसी प्रकार प्रकट व सक्रिय होता है, जिस प्रकार सभी लोकों को तेज प्रदान करने वाला सूर्य उदय होता है एवं उदय होकर (अव, अतिरत्, ज्योतिषा, तमांसि) 'अवाहन्नग्निर्ज्योतिषा तमांसि' अपने प्रकाश से अन्धकार का उल्लंघन करता है अर्थात् अन्धकार को दूर करता है। यहाँ विद्युत् को ही वैश्वानर अग्नि समझना चाहिए।

यहाँ प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रात और दिन की चर्चा करते हुए इस मन्त्र में वैश्वानर अग्नि अर्थात् विद्युत् और प्राणतत्त्व की चर्चा कैसे आ गई?

इसके उत्तर में हमारा यह मत है कि बिना विद्युत् और प्राणतत्त्व के दिन-रात का होना और उनकी प्रवृत्तियों का होना सम्भव नहीं है। इसी कारण मित्रावरुण को अहोरात्र कहा है— अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ (तां.ब्रा.२५.१०.१०) और मित्रावरुण के लिए कहा— प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां.ब्रा.६.१०.५, तै.ब्रा.३.३.६.९)। उधर वैश्वानर को विद्युत् मानें, तो इसके भी दो रूप होते हैं, जिन्हें वर्तमान विज्ञान धनात्मक और ऋणात्मक मानता है और वैदिक विज्ञान अग्नि और सोम तत्त्व की प्रधानता वाले पदार्थों की चर्चा करता है। हम जानते हैं कि पृथिवी के अपने अक्ष पर घूर्णन से तथा प्रकाश के उत्सर्जन और अवशोषण से अथवा श्वेत और कृष्ण वर्ण की तरंगों के कारण दिन और रात का अस्तित्व और व्यवहार होता है। इसी कारण दिन और रात के प्रकरण में वैश्वानर की चर्चा की गई है।

अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि वैश्वानर की उपमा सूर्य से क्यों की गयी है?

इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि जिस प्रकार सूर्य उदय होते ही अन्धकार को मिटाता है, उसी प्रकार वैश्वानर अग्नि वा प्राणतत्त्व उत्पन्न होते ही निष्क्रियता को समाप्त कर देते हैं। इस छन्द रश्मि का सृष्टि पर प्रभाव इसके अर्थ के अनुसार ही होता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (अहः, च, कृष्णम्) जीवन में कुछ दिन अज्ञान और दुःख रूपी अन्धकार लाने वाले होते हैं, (अहः, अर्जुनम्, च) तो कभी ज्ञान के प्रकाश और सुख-वैभव के दिन भी आते हैं। इसी प्रकार किसी योगसाधक के अन्तःकरण में पवित्र एवं अपवित्र दोनों ही प्रकार के भाव आ सकते हैं। (विवर्तेते, रजसी, वेद्याभिः) ये दोनों ही प्रकार के भाव मनुष्य को अपने रंग में रंगते हुए चक्र की भाँति आते-जाते रहते हैं और मनुष्य के व्यवहार और विचारों को प्रभावित करते रहते हैं। (वैश्वानरः, अग्निः, जायमानः) भूत मात्र के अन्दर विराजमान वैश्वानर अग्नि रूपी परमात्मा का जब किसी योगसाधक के द्वारा साक्षात्कार किया जाता है अथवा जब मनुष्य ईश्वरार्पित होकर सांसारिक व्यवहारों को करता है, तब योगसाधक वा कर्मयोगी (न, राजा) विभिन्न ज्योतियों के कारण रूप सूर्यलोक की भाँति (अव, अतिरत्, ज्योतिषा, तमांसि) अपने ज्ञान और कर्म रूपी प्रकाश से सभी दुर्गुणों और दुःखों के अन्धकार को पार कर जाता है अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाला योगी परमानन्द को प्राप्त करता है और ईश्वरार्पित कर्मयोगी संसार से दुःखों का नाश करने में प्रवृत्त होता है।

आधिभौतिक भाष्य— (अहः, च, कृष्णम्) [अहः = ब्रह्मणो वै रूपमहः क्षत्रस्य रात्रिः (तै.ब्रा.३.९.१४.३)। अहनी = रात्रिदिने (म.द.ऋ.भा.१.१२३.७)] किसी राष्ट्र में ब्रह्मवेत्ता राजा अपराधियों को कृष्णरूप होकर दण्डित करता है अर्थात् उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। (अहः, अर्जुनम्, च) एवं उस राष्ट्र का ब्राह्मण अर्थात् शिक्षक वर्ग शुद्ध चरित्र वाला एवं वेदविद्या के प्रकाश के लिए निरन्तर उद्योगरत रहता है। (विवर्तेते, रजसी, वेद्याभिः) ऐसे क्षत्रिय और ब्राह्मण अर्थात् शासक एवं शिक्षक दोनों ही अपने-२ आदर्श व्यवहारों से प्रजा को प्रसन्न रखते हैं। (वैश्वानरः, अग्निः, जायमानः) ऐसे ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अपने कार्यों में प्रवृत्त होते ही वैश्वानर अग्नि रूप होकर अर्थात् राष्ट्र के नागरिकों में अपने न्याय विधान अथवा विद्या के प्रकाश के रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं। (न, राजा) वे दोनों ज्योतियों के प्रकाशक आदित्य लोक की भाँति (अव, अतिरत्, ज्योतिषा, तमांसि) अपने न्याय और विद्या के प्रकाश के द्वारा अन्याय एवं अज्ञानरूपी अन्धकार और उनसे उत्पन्न नाना प्रकार

के दु:खों को दूर करने में समर्थ होते हैं।

मेघनामान्युत्तराणि त्रिंशत्। मेघः कस्मात्। मेहतीति सतः।
आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः।
उपर उपलो मेघो भवति। उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि।
उपरता आप इति वा। तेषामेषा भवति॥ २१॥

निघण्टु में मेघ के अगले ३० नाम हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

अद्रिः। ग्रावा। गोत्रः। बलः। अश्नः। पुरुभोजाः। बलिशानः। अश्मा। पर्वतः। गिरिः। वज्रः। चरुः। वराहः। शम्बरः। रौहिणः। रैवतः। फलिगः। उपरः। उपलः। चमसः। अहिः। अभ्रम्। वलाहकः। मेघः। दृतिः। ओदनः। वृषन्धिः। वृत्रः। असुरः। कोशः।

मेघ क्यों कहते हैं? इसका निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'मेहतीति सतः' अर्थात् मेघ जल का सिंचन करते हैं, इस कारण इन्हें मेघ कहा जाता है। इसके आगे कहा है कि उपर और उपल तक कुल १९ नाम मेघवाची भी हैं और पर्वतवाची भी हैं। यहाँ 'आङ्' का प्रयोग अभिविधि में हुआ है। यहाँ 'उपलः' के पश्चात् 'चमसः' से 'कोशः' तक सभी ग्यारह नाम केवल मेघवाची हैं, पर्वतवाची नहीं।

यहाँ 'उपर' और 'उपल' दोनों पदों का समान प्रकार से निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उपर उपलो मेघो भवति उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि उपरता आप इति वा'। उपर एवं उपल दोनों पद मेघवाची भी हैं। इनको उपर एवं उपल इसलिए कहते हैं, क्योंकि इनमें अभ्र नामक सूक्ष्म मेघ एवं आपः अर्थात् जल से भरे हुए मेघ विचरण करते हैं अथवा ठहरे हुए होते हैं अथवा आकर रुकते हैं। 'अभ्र' के विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त-भाष्य में लिखा है—

''अभ्राणि- अग्निः से धूम और धूम से अभ्र उत्पन्न होते हैं। यथा- अग्नेर्वै धूमो जायते धूमाद् अभ्रम् अभ्राद् वृष्टिः। (श.ब्रा.५.३.५.१७) यह अभ्र आपः का भस्म है। यथा- अभ्रं वा अपां भस्म। (श.ब्रा.७.५.२.४८) धूम = भाप है। उसके पश्चात् अभ्र की दशा है। यह अभ्र मेघ की पूर्व दशा है। क्यों, अभ्र शब्द इसका स्वयं उत्तर है— 'न भ्रश्यन्ति यतश्चापस्तदभ्रं कवयो विदुः'। (ब्र.पुराण, पूर्व भाग, २२.२९ उत्तरार्ध) अभ्र वह

दशा है, जब आपः बिन्दु नीचे नहीं गिरते। इनके विचरने का स्थान अभ्र स्थान है। (ब्र.पुराण, पूर्व भाग २२.२४ उत्तरार्ध) इन अभ्रों में वायु के समुदीर्ण से जब बिन्दुओं का मेहन होता है, वह मेघ दशा होती है। 'मेहनाच्च मिहेर्धातोः मेघत्वं व्यञ्जयन्ति हि' (ब्र.पुराण, पूर्व भाग, २२.२९ पूर्वार्ध)।''

इसका संक्षिप्त सार यह है कि 'अभ्र' मेघों की अति सूक्ष्म अवस्था है और 'आपः' वह अवस्था है, जब मेघ वर्षा करने के लिए तैयार हो जाते हैं। यहाँ 'मेघ' शब्द का अर्थ केवल बादल ही नहीं है, अपितु कॉस्मिक मेघ एवं सूक्ष्म कणों का निर्माण करने वाले प्राण और छन्दादि रश्मियों के मेघों का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए एवं उन्हें भी उपर एवं उपल मानना चाहिए।

हम यहाँ निघण्टु में वर्णित मेघ नामवाची ३० पदों की क्रमशः व्याख्या करने का प्रयास करते हैं, इसमें हमने 'निघण्टु-निर्वचनम्' का सहयोग लिया है—

१. अद्रिः — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं— योऽत्ति अदन्ति यत्रेति वा स अद्रिः (उ.को.४.६६)। इससे सिद्ध है कि मेघ, चाहे वे जलीय मेघ हों वा खगोलीय मेघ, सभी अपने निकटवर्ती सूक्ष्म पदार्थों को निरन्तर अवशोषित करते रहते हैं। इसके साथ ही उन मेघों के अन्दर भी सूक्ष्म पदार्थों के परस्पर संयोग-वियोग की प्रक्रिया चलती रहती है।

२. ग्रावा — इस पद की व्याख्या आगे खण्ड ९.८ में की जायेगी।

३. गोत्रः — यह पद 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे' धातु से व्युत्पन्न है। इससे स्पष्ट है कि जलीय मेघ एवं विशाल खगोलीय मेघ दोनों के ही अन्दर नाना प्रकार के घोष उत्पन्न होते रहते हैं। जलीय मेघों के अन्दर होने वाली तीव्र गर्जना से हम भली-भाँति परिचित हैं। इसी प्रकार खगोलीय मेघों के अन्दर भी पदार्थ के परस्पर संघर्षण से भयानक घोष उत्पन्न होते रहते हैं, जिनके सम्मुख तड़ित् की गर्जना कुछ भी नहीं है।

४. बलः/वलः — इसकी व्याख्या आगे खण्ड ६.२ में करेंगे।

५. अश्नः — इस पद की व्युत्पत्ति 'अश भोजने' धातु से होती है। इसका अर्थ 'अद्रिः' की भाँति समझें। इसके साथ ही इस पद की व्युत्पत्ति 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से भी सम्भव

है। इसका अर्थ है कि मेघों के निर्माण की प्रक्रिया एक लघु आकार से प्रारम्भ होती है, वे धीरे-२ विस्तार को प्राप्त करके विशाल आकार को प्राप्त करने लगते हैं।

६. पुरुभोजाः — इसका अर्थ यह है कि जलीय मेघ विशाल स्तर पर जलवाष्प का भक्षण करते हैं अर्थात् उसे एकत्र कर मेघ रूप धारण करते हैं, तदुपरान्त वृष्टि करके विभिन्न प्राणियों व वनस्पतियों का पालन करते हैं। इसी प्रकार विशाल कॉस्मिक मेघ विशाल स्तर पर सूक्ष्म पदार्थ के संघनन से आकार को प्राप्त करके अपने गर्भ में नाना प्रकार के नाना लोकों का पालन करते हैं, जो कालान्तर में पृथक् होकर अन्तरिक्ष में प्रकट हो जाते हैं।

७. बलिशानः/वलिशानः — इसकी व्युत्पत्ति डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इस प्रकार की है—

सवृण्वन्नीष्टे दुभिक्षादेर्मनुष्यादीन् रक्षितुम् वलीशान इति।

इस पद में उन्होंने 'वल संवरणे' एवं 'ईश ऐश्वर्ये' दो धातुओं का होना माना है। इससे संकेत मिलता है कि दोनों प्रकार के मेघ विशाल पदार्थ समूह को आच्छादित वा ग्रहण करके निरन्तर गमनशील होते हैं। वे उस विशाल पदार्थ राशि को न केवल आच्छादित करते हैं, अपितु वे उस सम्पूर्ण पदार्थ पर अपने नियन्त्रक बल द्वारा शासन करते हैं।

८. अश्मा — इस पद की व्युत्पत्ति 'अशूङ् व्याप्तौ संघाते च' धातु से होती है। इसका अर्थ है कि ये दोनों ही प्रकार के मेघ विशाल परिमाण में पदार्थ के संघात से उत्पन्न होते हैं। इसके साथ ही इनके अन्दर भी व्यापक स्तर पर नाना प्रकार के संघर्षण होते रहते हैं।

९. पर्वतः — इसकी व्याख्या हम पूर्व में खण्ड १.२० में कर चुके हैं।

१०. गिरिः — इसकी व्याख्या भी खण्ड १.२० में द्रष्टव्य है।

११. व्रजः — इसकी व्याख्या खण्ड ६.२ में की जायेगी।

१२. चरुः — इसकी व्याख्या खण्ड ६.११ में की जायेगी।

१३. वराहः — इसकी व्याख्या खण्ड ५.४ में की जायेगी।

१४. शम्बरः — मेघ के अतिरिक्त यह पद निघं.१.१२ में उदकनाम एवं निघं.२.९ में

बलनाम में भी पढ़ा गया है। यह पद शम् पूर्वक 'वृञ् वरणे' धातु से व्युत्पन्न होता है, जहाँ वकार को बकार हो गया है। इसका अर्थ है कि जिसमें नाना प्रकार के आपः परमाणु सहजतया आकर्षण बल द्वारा परस्पर बँधे रहते हैं, इस कारण ये दोनों प्रकार के मेघ शम्ब कहलाते हैं।

१५. रौहिणम् — यह पद 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि दोनों ही प्रकार के मेघ प्रारम्भ में बीजरूप में अर्थात् सूक्ष्मरूप में जन्म लेते और शनैः-२ विशाल रूप में प्रकट होते हैं। इसके साथ ही ये अनेक पदार्थों को जन्म देते हैं। जलीय मेघ विभिन्न प्राणियों व वनस्पतियों तथा खगोलीय मेघ विभिन्न लोकों व पिण्डों को जन्म देते हैं।

१६. रैवतः — [रेवती = रेवत्य आपः (श.ब्रा.१.२.२.२), वज्रो वै रेवती (काठ.सं.१०.१०), पशवो वै रैवत्यः (तां.ब्रा.१३.१०.११)] 'रैवतः' पद दर्शाता है कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के मेघ विभिन्न आपः परमाणुओं (जल अथवा आयन्स) तथा विभिन्न छन्द, प्राण व मरुत् रश्मियों से निर्मित होते हैं। इन दोनों में ही नाना प्रकार की तीक्ष्ण वज्र रश्मियों का घोर गर्जन व प्रहार होता रहता है।

१७. फलिगः — यह पद 'फल निष्पत्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि ये खगोलीय मेघ नाना प्रकार के लोकों व पिण्डों को जन्म देने वाले होते हैं और कोई भी मेघ सदा स्थिर नहीं रहता। जलीय मेघ कभी न कभी वर्षा व ओस में परिवर्तित हो जाता है, वैसे ही कॉस्मिक मेघ भी कभी न कभी लोकों में परिवर्तित हो जाता है।

१८.-१९. उपरः एवं **उपलः** — इन दोनों ही पदों की व्याख्या की जा चुकी है।

२०. चमसः — इसकी व्याख्या खण्ड १०.१२ में की जायेगी।

२१. अहिः — इसकी व्याख्या खण्ड २.१७ में द्रष्टव्य है।

२२. अभ्रम् — डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने इस पद की व्युत्पत्ति निम्नानुसार मानी है— 'अभ्रन्त्यन्तरिक्षे', 'आपो रातीति', 'न भ्रंस्यन्त्यस्मादापो वर्षा समपादन्यत्रेति वा'। इन सबका आशय है कि दोनों ही प्रकार के मेघ सदैव आकाश में भ्रमण करते रहते हैं। वे जल अथवा विभिन्न तन्मात्राओं के भण्डार होते हैं तथा जिनमें से वर्षा अथवा लोकनिर्माण की प्रक्रिया

के अतिरिक्त जल अथवा विभिन्न तन्मात्राएँ बाहर नहीं रिसती हैं।

२३. वलाहकः — डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने इसमें वर्णव्यत्यय से वराह के स्थान पर वलाह मानकर संज्ञा अर्थ में कन् प्रत्यय माना है। 'वराहः' पद के विषय में आगे खण्ड ५.४ में लिखेंगे।

२४. मेघः — यह पद 'मिह सेचने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि जलीय मेघ वृष्टि के द्वारा पृथिवी को सींचते हैं तथा विशाल खगोलीय मेघ विभिन्न लोकों की उत्पत्ति करने के उपरान्त भी सूक्ष्म कणों की उन लोकों पर निरन्तर वृष्टि करते रहते हैं।

२५. दृतिः — यह पद 'दॄ विदारणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि इन दोनों ही प्रकार के मेघों को इन्द्र तत्त्व ही विदीर्ण करके वृष्टि कराता वा लोकों का निर्माण करता है।

२६. ओदनः — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए उणादि कोष २.७७ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'उनत्त्यार्द्रीभवतीति ओदनः' अर्थात् जो वृष्टि क्रिया द्वारा भूमि वा लोकों को गीला करता है, उसे ओदन (मेघ) कहते हैं। दोनों मेघों में ऐसा कर्म देखा जाता है।

२७. वृषन्धिः — इसका अर्थ है कि दोनों प्रकार के मेघ 'वृषा' अर्थात् महान् बलशाली इन्द्र तत्त्व अथवा इन्द्र के साथ विशाल सूर्य्यादि लोकों को धारण करने वाले होते हैं।

२८. वृत्रः — इस पद की व्याख्या हम खण्ड २.१६ में कर चुके हैं।

२९. असुरः — यह पद 'असु क्षेपणे' धातु से 'असेरुरन्' (उ.को.१.४२) से उरन् प्रत्यय करके व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि जलीय मेघ अपनी वृष्टि द्वारा भूमि से ताप को निकाल कर फेंक देता है अथवा मेघ जलों को निकाल-२ कर भूमि पर फेंकता है, इस कारण उसे असुर कहते हैं। उधर खगोलीय मेघ अपने अन्दर पल रहे विभिन्न लोकों को निकालकर अन्तरिक्ष में फेंकते हैं, इस कारण वे मेघ भी असुर कहलाते हैं।

३०. कोशः — यह पद 'क्रुश आह्वाने रोदने च' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसमें रेफ का लोप छान्दस प्रयोग है। इसका अर्थ है कि दोनों ही प्रकार के मेघ अन्य लघु मेघों को आकर्षित करते तथा निरन्तर गर्जना करने वाले होते हैं।

'उपर' नामक मेघ की ऋचा अगले खण्ड में उद्धृत की जायेगी।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥ [ऋ.१०.२७.२३]
देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनाम।
प्रतमो भवति। कृन्तत्रमन्तरिक्षं। विकर्तनं मेघानाम्।
विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः।
पर्जन्यो वायुरादित्यः। शीतोष्णवर्षैरोषधीः पाचयन्ति।
अनूपा अनुवपन्ति लोकान्त्स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव।
अनूप्यत उदकेन। अपि वान्वाबिति स्यात्। यथा प्रागिति।
तस्यानूप इति स्यात्। यथा प्राचीनमिति। द्वा बृबूकम्। वहतः पुरीषम्।
वाय्वादित्या उदकम्। बृबूकमित्युदकनाम। ब्रवीतेर्वा शब्दकर्मणः।
भ्रंशतेर्वा। पुरीषं पृणातेः। पूरयतेर्वा॥ २२॥

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥ (ऋ.१०.२७.२३)

इस मन्त्र का ऋषि ऐन्द्रः प्राजापत्यो विमदः वासुक्रो वसुकृद्वा है। [वसुक्रः = इन्द्र उ वै वसुक्रः (शां.आ.१.३), ब्रह्म वै वसुक्रः (ऐ.आ.१.२.२)] अर्थात् विशेष रूप से क्रियाशील सूक्ष्म प्राण विशेष से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इन्द्र तत्त्व तीव्र तेज एवं बल से युक्त होता है।

आधिदैविक भाष्य— (देवानाम्, माने) 'देवानां निर्माणे' देवों के निर्माण की प्रक्रिया में अर्थात् दृश्य पदार्थ (मैटर एवं एनर्जी) के निर्माण की प्रक्रिया में (प्रथमा, अतिष्ठन्)

'प्रथमा अतिष्ठन् माध्यमिका देवगणाः प्रथम इति मुख्यनाम प्रतमो भवति' माध्यमिक देवगण सर्वोच्च भूमिका के रूप में विद्यमान रहते हैं। माध्यमिक देवगणों की चर्चा ग्रन्थकार ने दसवें और ग्यारहवें अध्याय में की है। इनमें वायु देवता को प्रथम उत्पन्न बताया गया है। यद्यपि यहाँ सभी माध्यमिक देवगणों को प्रथम अर्थात् प्रतम कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि इन पदार्थों की भूमिका दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में मुख्य होती है, परन्तु उनमें भी सबसे मुख्य भूमिका वायु तत्त्व की होती है। वायु तत्त्व को आधुनिक विज्ञान की भाषा में वैक्यूम एनर्जी कह सकते हैं। इसी के अन्तर्गत सभी प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते और निवास करते हैं। (कृन्तत्रात्, एषाम्, उपराः, उदायन्) 'कृन्तत्रम् अन्तरिक्षं विकर्तनं मेघानाम् विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते' यहाँ अन्तरिक्ष का निर्वचन करके एक गम्भीर विज्ञान को दर्शाया गया है। 'विकर्तनं मेघानाम्' से यहाँ दो अर्थों का प्रकाश सम्भव है—

१. अन्तरिक्ष (स्पेस) मेघरूप पदार्थ समूह को छिन्न-भिन्न करने में एवं पदार्थ को सम्पीडित करके मेघरूप प्रदान करने में सहायक होता है। इस विषय के संकेत अनेकत्र उपलब्ध होते हैं। जैसे— अन्तरिक्षेणेमे लोकास्संतताः (काठ.सं.१२.४) अर्थात् अन्तरिक्ष विभिन्न लोकों (सूक्ष्म कण अथवा विशाल आकाशीय पिण्ड) को उत्पन्न करके फैलाता है। 'युनज्मि वायुमन्तरिक्षेण ते सह' (तै.सं.३.१.६.१-२) अर्थात् वायु तत्त्व (वैक्यूम एनर्जी) स्पेस से जुड़ा रहता है।

२. 'अन्तरिक्षं वा अन्तर्यामः' अर्थात् अन्तरिक्ष (स्पेस) में 'अन्तर्याम' नामक सूक्ष्म बल कार्य करता है। इन वचनों से यह स्पष्ट है कि अन्तरिक्ष, जो सूक्ष्म रश्मियों से निर्मित होता है, वह सूक्ष्म बल से युक्त होता है। जब विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों के संघनन से सूक्ष्म कण और प्रकाशाणुओं के बनने की प्रक्रिया हो रही होती है, तब आकाश की सूक्ष्म रश्मियाँ भी उनका संघनन करके सूक्ष्म कणों और प्रकाशाणुओं के निर्माण में सहायक होती हैं। अन्तरिक्ष (स्पेस) की रश्मियों में विशेष प्रकार का बल होता है, जिसे 'अन्तर्याम' कहते हैं। इसी बात को कहा है— अन्तरिक्षं वा अन्तर्यामः (मै.सं.४.५.६, काठ.सं.२७.२, क.सं.४२.२)।

इसी कारण यहाँ ग्रन्थकार ने अन्तरिक्ष के द्वारा मेघों के कटने की बात कही है और

यह कर्तन एवं रश्मियों के सम्पीडन की प्रक्रिया अन्तरिक्ष में ही होती है, इस कारण भी अन्तरिक्ष को 'कृन्तत्रम्' कहते हैं। यह ऐसा अन्तरिक्ष विभिन्न रश्मि समूहों से उत्पन्न या निर्मित सूक्ष्म मेघों को छिन्न-भिन्न करके सूक्ष्म तन्मात्रारूपी उदकों को उत्पन्न करता है। (त्रयः, तपन्ति, पृथिवीम्, अनूपाः) 'त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः पर्जन्यो वायुरादित्यः शीतोष्णवर्षैरोषधीः पाचयन्ति' इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न पार्थिव परमाणुओं एवं आकाशतत्त्व को [पृथ्वी = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] तीन पदार्थ तपाते हैं। यहाँ तपाने का तात्पर्य पचाना अर्थात् परिपक्व करना है। अब वे तीन अनूप संज्ञक पदार्थ कौन-२ से हैं, इसकी चर्चा करते हैं। ये पदार्थ हैं— पर्जन्य, वायु एवं आदित्य। अब हम इन पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. पर्जन्यः — इसके विषय में तत्त्ववेत्ता महर्षियों ने कहा है—

उदाने पर्जन्यम् (प्रजापतिरावेशयत्) (शां.आ.११.१), पर्जन्यो वा अपामायतनम्... आपो वै पर्जन्यस्याऽऽयतनम् (तै.आ.१.२२.६), सुक्षितिः सुभूतिर्भद्रकृत् सुवर्वान् पर्जन्यो गन्धर्वस्तस्य विद्युतोऽप्सरसो रुचः (तै.सं.३.४.७.२)।

यहाँ पर्जन्य नामक पदार्थ के उदान नामक सूक्ष्म प्राण में प्रविष्ट होने की चर्चा से स्पष्ट है कि यह पर्जन्य बादल नहीं, बल्कि प्राण व व्यान रश्मि है। ये दोनों रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों के आवास स्थान हैं तथा ये सबको अच्छी प्रकार बसाने वाले होने तथा अच्छी प्रकार से नियन्त्रण सामर्थ्य से युक्त होने से सुक्षिति व सुभूति कहाती हैं। इसके साथ ही ये विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं का भद्र करने वाले तथा 'स्वः' व्याहृति रश्मियों से युक्त होते हैं तथा विभिन्न किरणों वा वाग् रश्मियों के धारणकर्त्ता तथा विद्युत् रश्मियों के प्रकाश रूप होते हैं। पर्जन्य के विषय में ग्रन्थकार ने कहा है— पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा परो जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम् (निरु.१०.१०) अर्थात् यह विभिन्न क्रियाओं को तृप्त करने वाला, श्रेष्ठ नियन्त्रक, श्रेष्ठ उत्पादक एवं विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों का अर्जन करने वाला होता है। ये सभी लक्षण प्राण व व्यान के युग्म में पूर्णतः घटते हैं।

२. वायुः — वायु का तात्पर्य है— विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों का मिश्रण। इसे वर्तमान भौतिकी की भाषा में वैक्यूम एनर्जी कह सकते हैं, जो इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र भरी हुई है।

इसी से संघनित होकर प्रकाशाणुओं एवं विभिन्न मूल कणों की उत्पत्ति होती है। इसी को महर्षि तित्तिर ने कहा है— वायोरग्निः (तै.आ.८.१)।

३. आदित्यः — [आदित्याः = द्वादश मासाः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१४.३), सर्वे मासाः (तु.म.द.ऋ.भा.७.४४.१)] बारह मास रश्मियों एवं प्रकाश वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को आदित्य कहते हैं।

ये तीनों पदार्थ क्रमशः शीत, उष्ण एवं वर्षा द्वारा पृथिवी को परिपक्व करते हैं। अब यह विचार करते हैं कि पर्जन्यादि पदार्थों का शीत आदि से क्या सम्बन्ध है? इसके लिए इन पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. शीत — यह शब्द 'श्यैङ् गतौ' धातु से निष्पन्न होता है। इसके अर्थ आप्टे कोषकार ने शीतल, सुस्त व जमा हुआ आदि दिये हैं। इससे संकेत मिलता है कि पर्जन्य का शीत से साक्षात् सम्बन्ध है और पर्जन्य का शीत से सम्बन्ध बताने का आशय यह है कि प्राण एवं व्यान रश्मियाँ उदान के साथ मिलकर किसी भी पदार्थ को संघनित करने में प्राथमिक भूमिका निभाती हैं। इसके साथ ही यह प्राण युग्म उदान के साथ मिलकर ऊर्ध्व बल उत्पन्न करता है, जिससे विभिन्न कण किसी बल के विपरीत भी कार्य करने में सक्षम हो जाते हैं, यही पर्जन्य का शीत के द्वारा पृथिवी को परिपक्व करना कहा गया है।

२. उष्ण — वायु तत्त्व की उत्पत्ति के पश्चात् अग्नि तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। इसके साथ ही वायु तत्त्व अर्थात् विभिन्न प्राण एवं छन्द रश्मियों के मिश्रीभूत होने पर ही इस ब्रह्माण्ड में अपेक्षाकृत उष्णता उत्पन्न होने लगती है। इसका आशय यह है कि प्रकाशाणुओं एवं मूलकणों की उत्पत्ति के पूर्व भी वायु तत्त्व में किञ्चित् उष्णता होती है, भले ही वह उष्णता अत्यन्त अल्प क्यों न हो। इस उष्णता का भी प्रकाशाणुओं एवं विभिन्न मूलकणों की उत्पत्ति में अनिवार्य योगदान होता है।

३. वर्षा — आदित्य संज्ञक मास रश्मियाँ अपनी वृष्टि के द्वारा विभिन्न पार्थिव कणों के निर्माण में संयोजक का कार्य करती हैं। मास संज्ञक रश्मियों के विषय में ऋषियों ने कहा है— मासा वै रश्मयः (तां.ब्रा.१४.१२.९), मासा हवींषि (श.ब्रा.११.२.७.३), मासाः सन्धानानि (तै.सं.७.५.२५.१)। इस कारण ही आदित्य संज्ञक मास रश्मियाँ अपनी वृष्टि के द्वारा वायु तत्त्व को संघनित करके सूक्ष्म कणों के निर्माण में अपनी भूमिका निभाती हैं।

यहाँ पृथिवी और ओषधि दोनों समानार्थक शब्द हैं। ओषधि के विषय में ऋषियों ने कहा है— ओषधयो वा अग्नेर्भागधेयम् (तै.सं.५.१.५.९), अग्नेर्वा एषा तनूः यदोषधयः (तै.ब्रा.३.२.५.७)।

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि मूलकणों को ही नहीं, अपितु पार्थिव परमाणुओं अर्थात् मोलिक्यूल्स को भी ओषधि कहते हैं, क्योंकि इनमें अग्नि तत्त्व का निवास होता है और इनके निर्माण में उपर्युक्त तीनों पदार्थों पर्जन्य, वायु एवं आदित्य की ही भूमिका होती है।

इन तीनों पदार्थों को यहाँ 'अनूप' कहा है। इस विषय में ग्रन्थकार निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अनूपा अनुवपन्ति लोकान्त्स्वेन स्वेन कर्मणा अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव अनूप्यत उदकेन' इसका अर्थ यह है कि ये पर्जन्य आदि तीनों पदार्थ अनूप इस कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये पदार्थ विभिन्न लोकों को अपने-२ कर्मों के द्वारा नाना प्रकार से निर्मित करते हैं और इस निर्माण में वे नाना प्रकार की छेदन आदि क्रियाएँ भी करते हैं। इस सृष्टि का कोई भी लोक इन अनूप संज्ञक तीनों पदार्थों के बिना निर्मित नहीं हो सकता। अब अनूप का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि ये पदार्थ विभिन्न लोकों को इस प्रकार सींचते रहते हैं, जैसे जल पृथिवी आदि को सींचता है। इस सृष्टि में विभिन्न लोक प्राण-उदान-व्यान, वायु तत्त्व (वैक्यूम एनर्जी), मास रश्मियाँ अथवा प्रकाशाणुओं के द्वारा निर्मित भी होते हैं और उनकी इन लोकों पर सतत वृष्टि भी होती रहती है अथवा वे इनसे सदैव संतृप्त रहते हैं, इस कारण इन्हें अनूप कहते हैं। इसके पश्चात् 'अनूप' पद का पुनः निर्वचन करते हुए लिखा है— 'अपि वान्वाबिति स्यात् यथा प्रागिति तस्यानूप इति स्यात् यथा प्राचीनमिति'। इसका भाष्य करते हुए मुकुन्द झा शर्मा ने लिखा है—

"अथवा इति— एवमन्यथा स्यात् अनुपूर्वात् आप्नोतेः अन्वाप्यतेऽसावुदकेनेति अन्वाप्। यथा-पुरस्तादञ्चतीति प्राक् इति। तस्य अन्वाबित्येतस्य सतः अनूप इत्येष शब्दः स्यात् यथा-प्राचीनमिति। प्रागित्येवं सतः प्राचीनम्। अत्र 'विभाषाऽञ्चेरदिक् स्त्रियां' (अष्टा.५.४.८) इति स्वार्थे खः। 'खस्येनः' (अष्टा.७.१.२) इह तु आप्नोतेराकारस्योत्वं स्वार्थे चाकारः पृषोदरादित्वात्।"

अर्थात् 'अनु' पूर्वक 'आप्लृ' धातु से 'अन्वाप्' शब्द सिद्ध होता है, जैसे 'प्र' उपसर्ग पूर्वक

'अञ्चू' धातु से क्विप् प्रत्यय होकर 'प्राक्' शब्द सिद्ध होता है। उसी प्रकार अन्वाप् शब्द से 'अनूप' हो जाता है, जैसे प्राक् शब्द से 'प्राचीन' हो जाता है। यहाँ अन्वाप् और अनूप दोनों में अनु उपसर्ग एवं आप्लृ व्याप्तौ धातु का प्रयोग है, यह दोनों में समानता है, उसी प्रकार प्राक् एवं प्राचीन दोनों शब्दों में 'प्र' उपसर्ग एवं 'अञ्चू' धातु का प्रयोग है।

(द्वा, बृबूकम्) 'वाय्वादित्या उदकम् बृबूकमित्युदकनाम ब्रवीतेर्वा शब्दकर्मणः भ्रंशतेर्वा' इसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त तीन अनूप संज्ञक पदार्थों में से दो पदार्थ- वायु तत्त्व एवं प्रकाशाणु अर्थात् वायु एवं अग्नि तत्त्व उदक संज्ञक पदार्थों को अर्थात् विभिन्न परमाणुओं (एटम्स) और आयन्स को (वहतः, पुरीषम्) 'पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा' वहन करते रहते हैं। यहाँ उदक (जल तत्त्व) को 'बृबूक' इस कारण कहा है, क्योंकि आयन्स और परमाणु (एटम) किसी बल द्वारा आकर्षित होकर तुरन्त उसकी ओर गिर पड़ते हैं और ऐसा करते हुए उनमें से सूक्ष्म ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। इनको यहाँ 'पुरीष' भी कहा है, क्योंकि ये आयन्स और परमाणु (एटम) जिस कण से संयोग करते हैं, उसे तृप्त और पूर्ण कर देते हैं अर्थात् उसको अधिक सन्तुलित कर देते हैं। 'पुरीषम्' पद के विषय में अन्यत्र इस प्रकार कहा है— ऐन्द्रं हि पुरीषम् (श.ब्रा.८.७.३.७), अन्नं पुरीषम् (श.ब्रा.८.१.४.५) अर्थात् ये उदक संज्ञक परमाणु और आयन विद्युत् बलों से युक्त होकर सदैव संयोज्य स्वभाव के होते हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में विभिन्न मूल कणों व प्रकाशाणुओं के निर्माण की प्रक्रिया में वायु तत्त्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सभी कण व प्रकाशाणु वायु तत्त्व द्वारा तथा वायु तत्त्व में ही उत्पन्न होते हैं। आकाशतत्त्व मेघरूप पदार्थ समूह को छिन्न-भिन्न करने एवं बिखरे पदार्थ को सम्पीडित करने में सहायक होता है। आकाशतत्त्व में भी सूक्ष्म बल कार्य करता है। लोकों वा कणों के निर्माण की प्रक्रिया में आकाश रश्मियों का सूक्ष्म बल भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सभी क्रियाएँ आकाशतत्त्व द्वारा एवं आकाश में ही होती हैं अर्थात् अन्य सभी महाभूत आकाश में ही रहते हैं। आकाशतत्त्व की विभिन्न क्रियाओं में प्राण, व्यान, मास व विभिन्न छन्दादि रश्मियों की भी भूमिका होती है। प्राण, व्यान एवं उदान रश्मियाँ किसी भी पदार्थ के संघनन में अपनी सूक्ष्म भूमिका निभाती हैं। प्रकाशाणुओं की उत्पत्ति के पूर्व वायु तत्त्व में भी कुछ मात्रा में ऊष्मा विद्यमान होती है और उस ऊष्मा का प्रकाशाणुओं की उत्पत्ति में अवश्य योगदान रहता है, क्योंकि नितान्त

शीतलता में किसी भी कण की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। कणों के निर्माण में मास रश्मियों की भी भूमिका होती है।

प्राण, व्यान, मास रश्मियों एवं विभिन्न छन्द रश्मियों के बिना किसी भी पदार्थ की रचना सम्भव नहीं है। ब्रह्माण्डस्थ सभी पदार्थों पर इन सूक्ष्म रश्मियों की निरन्तर वृष्टि भी होती रहती है। वायु तत्त्व व अग्नि तत्त्व विभिन्न पदार्थों का वहन भी करते हैं। जब दो कण परस्पर संयुक्त वा वियुक्त होते हैं, तब वे सूक्ष्म ध्वनि तरंगें उत्पन्न करते हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (देवानाम्, माने) दिव्य ज्ञानादि गुणों को उत्पन्न करने में (प्रथमा, अतिष्ठन्) आदिम ज्ञान अर्थात् वेद एवं उसका स्रोत ब्रह्म ही प्रधान कारण व साधन होता है। अन्य कारण वा साधन ब्रह्मवेत्ता आचार्य आदि उस वेदादि ज्ञान पर ही आश्रित होते हैं। (कृन्तत्रात्, एषाम्, उपराः, उदायन्) [यहाँ 'कृन्तत्रात्' पद 'कृती छेदने', जिसका अर्थ घेर लेना एवं वेष्टित करना भी है, से निष्पन्न होता है।] इन दिव्य गुणों से जब मन आवेष्टित हो उठता है, तब उपरा अर्थात् मनस्तत्त्व, जिसमें सभी प्राणरूपी आपः प्रतिष्ठित रहते हैं, [मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः (श.ब्रा.७.५.२.६)। यहाँ 'उपराः' में वचन-व्यत्यय से बहुवचन है।] से प्राणतत्त्व उत्कृष्टतया प्रवाहित होने लगता है अर्थात् साधक प्राणबल से सम्पन्न होने लगता है। (त्रयः, तपन्ति, अनूपाः, पृथिवीम्) [पृथिवी = अयं वै लोकः पुरुषस्यौकः (जै.ब्रा.२.३८५)] तीन प्रकार के कर्म अर्थात् शुक्ल = पुण्यरूप, कृष्ण = पापरूप एवं शुक्लकृष्ण = पुण्यपाप-मिश्रितरूप इस जीवात्मा के निवास रूप शरीर वा अन्तःकरण को सदैव तपाते रहते हैं अर्थात् अपना-२ फल प्रदान करते रहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने भी योगदर्शन में लिखा है— 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' (यो.द.४.७)।

इस पर टीका करते हुए राजर्षि भोजदेव ने कहा है—

"शुभफलदं कर्म यागादि शुक्लम्। अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम्। उभयसंकीर्णं शुक्लकृष्णम्। तत्र शुक्लकर्म विचक्षणानां दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम्। कृष्णं कर्म नारकाणाम्। शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम्।"

अर्थात् शुभ फल देने वाले यज्ञादि कर्म 'शुक्ल' हैं, अशुभ फल देने वाले ब्रह्महत्यादि कर्म 'कृष्ण' हैं और पुण्यपाप मिश्रित कर्म 'शुक्लकृष्ण' कहलाते हैं। इन तीन प्रकार के कर्मों से

तीन प्रकार की वासनाएँ प्रकट होती हैं, जिसको दर्शाते हुए पुनः महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है— ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् (यो.द.४.८) अर्थात् उन तीन प्रकार के कर्मों में से उनके फलानुकूल गुणों वाली वासनाओं की प्रकटता होती है।

यहाँ वासनाएँ ही अनूप कहलाती हैं, क्योंकि ये अप् संज्ञक कर्मों के अनुगत होती हैं। (द्वा) इनमें से दो प्रकार के कर्म अर्थात् कृष्णरूप = पापरूप एवं शुक्लकृष्ण = पापपुण्यरूप कर्मों की वासनाएँ (बृबूकम्, पुरीषम्, वहतः) [बृबूकम् = भ्रंशतेर्वा] मनुष्य को पतन की ओर ले जाती रहती हैं और वह मनुष्य उस पतन से ही स्वयं को तृप्त अनुभव करता है, क्योंकि वह अविवेकजन्य मूढ़ता को प्राप्त हो जाता है।

आधिभौतिक भाष्य— (देवानाम्, माने) माता-पिता अथवा राजा दिव्य गुणों से युक्त सन्तान वा प्रजा के निर्माण में (प्रथमा, अतिष्ठन्) प्रथम एवं मुख्य भूमिका के निर्वाहक होते हैं। (एषाम्, कृन्तत्रात्, उपराः, उदायन्) ऐसी दिव्य गुणों से युक्त सन्तान वा प्रजा से समृद्ध परिवार व राष्ट्र उपर-उपल अर्थात् मूल्यवान रत्नों वा शुभ कर्मों को उत्कृष्टता से प्राप्त होता है। (त्रयः, अनूपाः, पृथिवीम्, तपन्ति, द्वा, बृबूकम्, पुरीषम्, वहतः) शेष भाष्य आध्यात्मिक भाष्य की भाँति समझें। भेद केवल यह है कि वहाँ 'पृथिवी' पद से जीवात्मा रूपी पुरुष के निवास शरीर का ग्रहण किया है और यहाँ पृथिवी पद से पुरुष के निवास परिवार एवं राष्ट्र का ग्रहण करना चाहिए।

विशेष वक्तव्य— यहाँ निरुक्त में ग्रन्थकार के वचन 'पर्जन्यो वायुरादित्यः शीतोष्ण-वर्षैरोषधीः पाचयन्ति' की व्याख्या में सभी भाष्यकारों— स्कन्दस्वामी, आचार्य भगीरथ शास्त्री (हिन्दी टीका), स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, पण्डित मुकुन्द झा शर्मा आदि ने पर्जन्य का सम्बन्ध वर्षा, वायु का सम्बन्ध शीत और आदित्य का सम्बन्ध उष्ण से दर्शाया है, जो ग्रन्थकार के क्रम से भिन्न है। सामान्यतया ग्रन्थकार का क्रम अशुद्ध प्रतीत होता है, इस कारण कुछ भाष्यकारों ने इसे अशुद्ध माना भी है। अन्य भाष्यकार क्रमभेद होने पर भी ग्रन्थकार के क्रम पर मौन हैं, परन्तु पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"इस पर राजवाड़े लिखता है— Yaska most probably wrote वर्षशीतोष्णैः and not शीतोष्णवर्षैः; Durga has वर्षादिभिः which stands for वर्षशीतोष्णैः

(P.390)। परन्तु यह अनुमान सर्वथा हेय है। शौनककृत बृहद्देवता अ.७ का लेख भी निरुक्त-लेखवत् ही है। यथा- शीतोष्णवर्षदातारः पर्जन्यानिलभास्कराः।

इस पर कोई पाठान्तर भी नहीं है। अतः अनुक्रम न होने का कोई अन्य कारण है। वह अन्वेषणीय है।''

हम पण्डित भगवद्दत्त के मत से सहमत हैं कि ग्रन्थकार का क्रम पूर्णतः शुद्ध एवं वैज्ञानिक है। हम उसे न समझ पायें, यह हमारा दोष है। परन्तु पण्डित भगवद्दत्त ने इनका परस्पर सम्बन्ध दर्शाना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि 'पर्जन्य' आदि पदों का रूढ़ अथवा योगरूढ़ अर्थ ग्रहण करने से इस क्रम के औचित्य को सिद्ध करना दुष्कर है और इनकी माध्यमिक देवगणों से सङ्गति लगाना भी दुष्कर है। इसलिए हमने अपने आधिदैविक भाष्य में पर्जन्य आदि एवं शीतादि पदार्थों का यौगिक अर्थ ही ग्रहण किया है। इससे सम्पूर्ण प्रकरण सुसङ्गत हो जाता है।

* * * * *

= त्रयोविंशः खण्डः =

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक्कस्मात्। वचेः।
तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति।
तद्यद् देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतन्नदीवत्॥ २३॥

वाक् के अगले ५७ नाम निघण्टु में पढ़े हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

श्लोकः। धारा। इळा। गौः। गौरी। गान्धर्वी। गभीरा। गम्भीरा। मन्द्रा। मन्द्राजनी। वाशी। वाणी। वाणीची। वाणः। पविः। भारती। धमनिः। नाळीः। मेळिः। मेना। सूर्या। सरस्वती। निवित्। स्वाहा। वग्नुः। उपब्दिः। मायुः। काकुत्। जिह्वा। घोषः। स्वरः। शब्दः। स्वनः। ऋक्। होत्रा। गीः। गाथा। गणः। धेना। ग्नाः। विपा। नना। कशा। धिषणा। नौः। अक्षरम्। मही। अदितिः। शची। वाक्। अनुष्टुप्। धेनुः। वल्गुः। गल्दा। सरः। सुपर्णी। बेकुरा।

यहाँ 'वाक्' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वाक् कस्मात् वचेः' अर्थात् 'वच' धातु से 'क्विब् वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च'। (उ.को.२.५८) से 'क्विप्' प्रत्यय और वकार को दीर्घ होकर 'वाक्' पद व्युत्पन्न होता है। इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'वक्ति शब्दानुच्चारयति यया सा वाक्' अर्थात् जिससे शब्दों का उच्चारण किया जाता है, वह वाक् अर्थात् वाणी कहलाती है।

इस सृष्टि में 'वच्' धातु से उत्पन्न 'वाक्' का क्या स्वरूप है? प्राणियों द्वारा बोली जाने वाली वाणी के अतिरिक्त क्या पदार्थ है, यह अन्वेष्टव्य है। इसके लिए हमें ब्राह्मण ग्रन्थों व अन्य आर्ष ग्रन्थों पर विचार करना अनिवार्य है।

[वाक् = वागित्यन्तरिक्षम् (जै.उ.४.२२.११), वागिति द्यौः (जै.उ.४.२२.११), वागिति पृथिवी (जै.उ.४.२२.११), वाचा हीदं सर्वं कृतम् (श.ब्रा.८.१.२.९), वाग्वै भर्गः (श.ब्रा. १२.३.४.१०), वाग्वा इन्द्रः (कौ.ब्रा.२.७), वाग्वाऽअग्निः (श.ब्रा.६.१.२.२८), वाग्वै वायुः (तै.ब्रा.१.८.८.१), वाग्घि वज्रः (ऐ.ब्रा.४.१), त्रेधाविहिता हि वागृचो यजूंषि सामानि (श.ब्रा. ६.५.३.४), तस्याः (वाचः) उ प्राण एव रसः (जै.उ.१.१.७)]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि 'वाक्' केवल हम प्राणियों की बोलने की प्रक्रिया मात्र नहीं है, अपितु वाक् तत्त्व एक ऐसा पदार्थ है, जो ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, अग्नि, विद्युत् सभी कुछ वाक् तत्त्व से निर्मित हैं। यह वाक् तत्त्व शैली की दृष्टि से ऋक्, यजुः एवं साम तीन प्रकार का होता है। उधर 'उच्यतेऽनया सा वाक्' से वाक् मात्र ध्वनि का रूप ही सिद्ध होता है। ऐसी परिस्थिति में वाक् वस्तुतः क्या पदार्थ है? यह विवेचना करनी बहुत आवश्यक है।

वस्तुतः ध्वनि तरंगों की इस सृष्टि में सर्वप्रमुख भूमिका है और इस भूमिका को समझने के लिए मद्रचित 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' अवश्य पठनीय है। वहाँ वाणी के चार रूपों परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी की विस्तृत विवेचना की गयी है तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति व संचालन को दर्शाने हेतु वैदिक रश्मियों के विज्ञान को विस्तार से वर्णित किया गया है। यहाँ वैदिक रश्मियाँ वाक् की रश्मियाँ ही हैं, जो छन्द व प्राण रश्मि रूप होकर इस ब्रह्माण्ड को व्याप्त व उत्पन्न करती हैं। इन्हीं रश्मियों, विशेषकर वाक् के सूक्ष्मतम रूप अर्थात् परा रूप के द्वारा ही मूल प्रकृति में प्रारम्भिक विक्षोभ होता है और

मानो पूर्णतः शान्त वह मूल उपादान तत्त्व स्पन्दित होना प्रारम्भ करता है। इसे प्रकृति वा ईश्वर द्वारा सृष्टि प्रक्रिया की कहानी का प्रारम्भ मान सकते हैं। इस प्रकार 'उच्यते अनया सा वाक्' व्युत्पत्ति जड़ प्रकृति के लिए भी सार्थक सिद्ध हो जाती है। 'ओम्' इस प्रारम्भिक वाक् से लेकर सभी वैदिक छन्द ईश्वर द्वारा उत्पन्न ध्वनियाँ ही हैं, जो प्रकृति, मनस्तत्त्व एवं आकाश में उत्पन्न हुई हैं और इन वाक् रश्मिरूप स्पन्दनों से ही प्रकृत्यादि पदार्थ संघनित होकर शनैः-२ सृष्टि के सभी पदार्थ उत्पन्न हुए हैं।

वाक् तत्त्व के ५७ नामों में से 'सरस्वती' के नदी के समान और देवता के समान अर्थात् दोनों प्रकार के वर्णन करने वाले मन्त्र पाये जाते हैं। इनमें जो देवता के समान वर्णन करने वाले मन्त्र हैं, उनका वर्णन आगे ११.२७ में किया जायेगा। नदी के समान वर्णन करने वाला मन्त्र अगले खण्ड में दिया गया है।

* * * * *

चतुर्विंशः खण्डः

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥

[ऋ.६.६१.२]

इयं शुष्मैः शोषणैः। शुष्ममिति बलनाम। शोषयतीति सतः।
बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणः। वृद्धिकर्मणो वा। सानु समुच्छ्रितं भवति।
समुन्नुन्नमिति वा। महद्भिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीं पारावारघातिनीम्।
पारं परं भवति। अवारमवरम्।
अवनाय सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं नदीं कर्मभिः परिचरेम।

इसके पूर्व कि हम उपर्युक्त मन्त्र पर विचार करें, हम 'वाक्' के वाचक इन सत्तावन नामों पर क्रमशः विचार करेंगे। हमने अपने ग्रन्थ 'वेदविज्ञान-आलोकः' के माध्यम से वैदिक रश्मि विज्ञान संसार को दिया है, जो वैदिक भौतिकी का विस्तृत आधार

है। इस विज्ञान के बिना वैदिक भौतिकी के माध्यम से इस सृष्टि को समझना असम्भव है। इस कारण हमें यहाँ वाङ्नाम वाची सभी पदों पर विचार करना अत्यावश्यक प्रतीत हो रहा है। आइये, हम इन पर क्रमश: विचार करते हैं—

१. श्लोकः — यह पद 'श्लोकृ संघाते' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ है— रचना करना, संघात करना, अवाप्त करना। इसका आशय है कि वाक् (छन्द) रश्मियाँ परस्पर एक-दूसरे को अवाप्त करके और परस्पर संघात करके नाना स्थूल रश्मियों, पुनः अन्य स्थूलतर पदार्थों की रचना करती हैं। ये न केवल अन्य रश्मियों, अपितु अन्य स्थूल पदार्थों कण, तरंग आदि के संघात का कार्य करके सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करती हैं। इस कारण इन्हें 'श्लोक' कहते हैं।

२. धारा — इस विषय में एक तत्त्ववेत्ता ऋषि का कथन है— 'तद्यदब्रवीत् (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्मात् धारा अभवंस्तद् धाराणां धारात्वं यच्चासु ध्रियते' (गो.पू.१.२) अर्थात् जिन वाक् रश्मियों के द्वारा परब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि का धारण व पोषण सतत करता है, उन रश्मियों को 'धारा' कहते हैं। इस सृष्टि में सभी पदार्थों का धारण व पोषण करने वाला पदार्थ बल ही है, ऐसा सर्वविदित है। इससे सिद्ध है कि सभी प्रकार के पदार्थों का मूल कारण वाक् रश्मियाँ ही हैं।

३. इळा — वाक् का अगला नाम 'इळा' है। इसकी व्युत्पत्ति 'ईड्यते स्तूयतेऽनया सा वाणी' (वै.को.) एवं 'इल्+अच्, लस्य डत्वम्' (आ.को.) से होती है। यहाँ 'स्तु' धातु का अर्थ चमकना भी है। इसके प्रमाण स्वरूप हम कुछ ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, जहाँ ऋषि दयानन्द ने 'स्तु' धातु से निष्पन्न विभिन्न पदों का अर्थ ऐसा ही किया है। [स्तूपम् = किरणसमूहम् (म.द.ऋ.भा.१.२४.७), स्तोमेन = इन्धनसमूहेन (म.द.य.भा.२२.१५)] इस कारण वाक् के नामवाची इळा पद का अर्थ है कि ये रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में दीप्ति उत्पन्न करती हैं तथा ये ईंधन का भी कार्य करती हैं। इसका तात्पर्य है कि इस ब्रह्माण्ड में जहाँ भी प्रकाश व ऊष्मा है, वहाँ इसका कारण इळा अर्थात् वाक् रश्मियाँ ही हैं।

४. गौः — इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'गावो गमनात्' (निरु.१२.७)। ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष भाष्य में लिखा— गच्छति यो यत्र यया वा सा गौः वाणी वा (उ.को.२.६८)। इसका तात्पर्य है कि वाक् तत्त्व सदैव गतिशील रहता

है, विभिन्न छन्द रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों के अन्दर एवं किन्हीं अन्य रश्मियों के द्वारा प्रदत्त ऊर्जा के द्वारा गमन करती हैं। इसके साथ ही अन्य सभी तत्त्व वाक् तत्त्व में तथा वाक् तत्त्व के द्वारा ही गमन करते हैं।

५. गौरी — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः' (निरु.११.३९)। इसका अर्थ है कि गौरी रूप वाक् रश्मियाँ दीप्ति उत्पन्न करने वाली तथा ज्वलन क्रिया का हेतु होती हैं। इसका आशय यह है कि इस ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी जो भी दीप्ति तथा ज्वलन क्रिया विद्यमान है, उसका कारण ये वाक् रश्मियाँ ही हैं। 'गौरी' के विषय में महर्षि तित्तिर का कथन है—

"गौरीमिमाय सलिलानि तक्षती। एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी। सहस्राक्षरा परमे व्योमन्निति। वाचो विशेषणम्।" (तै.आ.१.९.४)

[मिमाय = मिमीते (म.द.ऋ.भा.२.१५.३), प्रक्षिपेयम् (म.द.ऋ.भा.२.२९.५)। सलिलम् = सलति गच्छतीति सलिलम् (उ.को.१.५४)]

यहाँ गौरी रूप वाक् तत्त्व के विषय में महत्त्वपूर्ण विज्ञान प्रकाशित होता है, यह इस प्रकार है—

गौरी रश्मियाँ सलिल रूपी आकाश तत्त्व को छीलती-काटती हुई नाना प्रकार के सलिल अर्थात् तन्मात्राओं को मापती अर्थात् उन्हें आकार प्रदान करती हैं। इसके साथ ही वे रश्मियाँ आकाश में गमन करते हुए अणुओं को छिन्न-भिन्न करती हुई प्रक्षिप्त भी करने में समर्थ होती हैं। वे ऐसी वाक् रश्मियाँ एकपदा से लेकर नवपदा एवं सहस्रवर्ण युक्त भी हो सकती हैं। इसका अर्थ हुआ कि छन्द शास्त्र में नाना छन्दों की जो विवेचना की गयी है, छन्द उनसे भी बहुत अधिक प्रकार के होते हैं, जिनकी विवेचना छन्द शास्त्र में नहीं है। ऐसे मन्त्र वेद संहिताओं में भी विद्यमान नहीं हैं, परन्तु सृष्टि में वे अवश्य विद्यमान हैं।

६. गान्धर्वी — इसका तात्पर्य है कि ये वाक् रश्मियाँ विभिन्न विकिरणों को धारण करती हैं। [गन्धर्वः = यज्ञो ह गन्धर्वः (श.ब्रा.९.४.१.११)] इसके साथ ही ये परस्पर सङ्गत होने के स्वभाव से युक्त होकर नाना यजन क्रियाओं को सम्पन्न करने वाली होती हैं।

७. गभीरा — [गभीरः = महन्नाम (निघं.३.३)] अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में वाक् रश्मियाँ

अत्यन्त व्यापक स्तर पर विद्यमान रहती हैं। उणादि-कोष के ऋषि दयानन्द भाष्य में कहा— 'गम्यते प्राप्यते ज्ञायते वा स गभीरः शान्तो वा' (उ.को.४.३६)। इससे यह भी संकेत मिलता है कि विभिन्न छन्द रश्मियाँ मानवीय ग्राह्य शक्ति की अपेक्षा सर्वथा शान्त अवस्था में सर्वत्र व्याप्त होती हैं।

८. गम्भीरा — उणादि-कोष के उपर्युक्त सूत्र की ही व्याख्या में 'गम्भीरा' का भी यही अर्थ प्राप्त होता है। 'गम्भीर' पद में 'म्' वर्ण अधिक होने से 'गभीर' पद के साथ इतना सा भेद है कि ये रश्मियाँ पदार्थों को मापने अर्थात् आकार प्रदान करने में विशेष भूमिका को दर्शाती हैं।

९. मन्द्रा — यह पद 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' धातु से निष्पन्न होता है। इसका तात्पर्य है कि वाक् रश्मियाँ दीप्ति, गति, उत्साह, शयन = शिथिलता एवं आकर्षणादि बल जैसे गुणों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। सृष्टि में ये गुण जहाँ भी हैं, वहाँ इन्हीं का योगदान है।

१०. मन्द्राजनी — यह पद भी 'मन्द्रा' पद के समान गुणों वाला है। हाँ, इसमें 'जनी' का योग होने से यह बतलाता है कि वाक् रश्मियाँ नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। इनके बिना सृष्टि के किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

११. वाशी — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है— 'वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा वाग्भिरिति वा' (निरु.४.१९) [अश्मा मेघनाम (निघं.१.१०), अशूङ् व्याप्तौ संघाते च (स्वा.) धातोर्बाहुलकान् मन् प्रत्ययः (वै.को.)] अर्थात् वाक् रश्मियाँ मेघ के समान अपनी वृष्टि करती हुई विभिन्न पदार्थों को खण्डित करके तीक्ष्ण करने में समर्थ होती हैं अर्थात् इनमें छेदन गुण विद्यमान होता है।

१२. वाणी — इसके विषय में ग्रन्थकार ने आगे खण्ड ६.२ में कहा है— 'प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः आपो वा वहनात् वाचो वा वदनात् धमतिर्गतिकर्मा'। इसका अर्थ यह है कि वाक् रश्मियाँ अपने रक्षण आदि गुणों से युक्त होकर अनेक पदार्थों द्वारा आकर्षित की जाती हुई निरन्तर प्रवाहरूप में गति करती रहती हैं।

१३. वाणीची — इस पद का अर्थ ऋषि दयानन्द ने भी अपने ऋग्वेद भाष्य ५.७५.४ में

वाणी ही ग्रहण किया है। यहाँ वाणी पद के साथ 'ची' का योग होने से वाक् रश्मियों की परस्पर निकटता से संयोजन करने की प्रवृत्ति का बोध होता है।

१४. वाणः — इसके विषय में एक ऋषि का मत है— वाणः शततन्तुर्भवति (तै.सं.७.५.९.२) इसी को अन्य ऋषि ने इस प्रकार कहा है— शततन्त्रीको भवति (तां.ब्रा. ५.६.१३)। यह पद 'वण शब्दार्थे' धातु से निष्पन्न होता है। इन सबका अभिप्राय यह है कि वाक् रश्मियाँ अनेक प्रकार के सूक्ष्म तन्तुओं के समान स्पन्दित होती हुई व ध्वनि उत्पन्न करती हुई गमन करती हैं।

१५. पविः — इस पद को ग्रन्थकार ने वाक् तत्त्व के साथ-२ वज्रनाम में भी पढ़ा है। इससे यह संकेत मिलता है कि वाक् रश्मियाँ विभिन्न संयोजन क्रियाओं में वज्र के समान अनिष्ट रश्मियों को चक्रवत् काटती हुई गमन करती हैं।

१६. भारती — इस विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— भरत आदित्यः (निरु.८.१३), 'तस्य भा इति भारती' अर्थात् सभी वाक् रश्मियाँ आदित्य रूप प्राण रश्मियों को दीप्ति प्रदान करती रहती हैं। इसके अतिरिक्त सूर्यादि तेजस्वी लोकों की दीप्ति का कारण भी वाक् रश्मियाँ ही होती हैं।

१७. धमनिः — यह पद 'धमति गतिकर्मा' (निघं.२.१४) से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि वाक् रश्मियाँ निरन्तर एक-दूसरे को प्राप्त करने का प्रयास करती हुई गमन करती हैं अर्थात् वे कभी स्थिरता को प्राप्त नहीं होती।

१८. नाळीः — इस पद से यह संकेत मिलता है कि वाक् रश्मियाँ नलिका के आकार में स्पन्दित होती हैं। इनके अन्दर स्थित रिक्तभाग में इनसे सूक्ष्म तत्त्व मन व्याप्त रहता है।

१९. मेळिः — इस पद की उत्पत्ति 'मिल श्लेषणे' एवं 'मिल संगमे' धातुओं से होती है। इस कारण ऋषि दयानन्द ने 'मेळिम्' पद का अर्थ अपने ऋग्वेद भाष्य ४.७.११ में 'संगमम्' किया है। इसका आशय यह है कि विभिन्न वाक् रश्मियाँ परस्पर संश्लिष्ट होकर गमन करती हैं। इनका पृथक्-२ बोध होना अति दुष्कर है।

२०. मेना — इस पद के विषय में ग्रन्थकार ने 'मेना स्त्रीणाम्' (निरु.३.२१) कहकर यह संकेत दिया है कि वाक् रश्मियाँ प्राण रश्मियों के सापेक्ष स्त्रीरूप व्यवहार करती हैं। ऋषि

दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य १.६२.७ में 'मेने' पद का भाष्य करते हुए लिखा है— 'प्रक्षेप्ये अत्र बाहुलकाड्डुमिञ् धातोर्नः प्रत्यय आत्वनिषेधश्च'। इसका आशय यह है कि ये रश्मियाँ अपनी सूक्ष्म तन्तु रश्मियों को सब ओर फैलाती हुई-सी गमन करती हैं।

२१. सूर्या — ये रश्मियाँ सूर्य की दीप्ति का कारण होने से सूर्या कहलाती हैं। इसके साथ ही ये प्रत्येक पदार्थ की प्रेरक एवं उत्पादिका होने के कारण भी 'सूर्या' कहलाती हैं।

२२. सरस्वती — ग्रन्थकार ने वाक् को सरस्वती कहने के साथ-२ 'सरः वाङ्नाम' (निघं.१.११) कहकर 'सरः' को वाक् कहा है। उधर अन्य ग्रन्थों में भी वाक् को सरस्वती कहा है— वाक् सरस्वती (श.ब्रा.७.५.१.३१), वाग्वै सरस्वती (ऐ.ब्रा.३.३७)।

इससे संकेत मिलता है कि वाक् रश्मियों का प्रत्येक अवयव स्वयं सूक्ष्म वाक् रश्मि रूप होता है, जिनसे युक्त होने से वाक् को 'सरस्वती' कहते हैं।

२३. निवित् — इस विषय में विभिन्न तत्त्वदर्शियों का कथन है— प्राणा वै निविदः (कौ.ब्रा.१५.३, ४), क्षत्रं वै निवित् (ऐ.ब्रा.२.३३, ३.१९), यदन्तरात्मस्तन्निवित् (कौ.ब्रा. १५.३, गो.उ.३.२१, २२)। इन सबका आशय है कि वाक् रश्मियाँ प्राणरूप होकर सृष्टि के सभी पदार्थों को गति व बल प्रदान करती हैं। ये रश्मियाँ पदार्थों के अन्दर विचरती हुई उन्हें छेदक-भेदक बलों से भी सम्पन्न करती हैं।

ध्यातव्य है कि 'निवित्' नाम की कुछ विशेष रश्मियाँ भी होती हैं, जिनका वर्णन हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में अनेकत्र, विशेषकर १०वें व ११वें अध्याय में किया है। इस पद की व्युत्पत्ति 'नि' पूर्वक 'विद् लाभे' धातु से होती है। इसका अर्थ है कि वाक् रश्मियाँ अन्य वाक् आदि रश्मियों से नितराम् संयोग करने के स्वभाव वाली होती हैं।

२४. स्वाहा — इसके विषय में ऋषियों ने कहा है— अनिरुक्तो वै स्वाहाकारः (श.ब्रा. २.२.१.३), यज्ञो वै स्वाहाकारः (श.ब्रा.३.१.३.२७)। इससे यह संकेत मिलता है कि वाक् रश्मियाँ अव्यक्त रूप से नाना प्रकार के संयोजन और विभाजन आदि कर्मों को सम्पादित करती हैं। इस सृष्टि में अनेक विक्षोभकारी क्रियाएँ भी होती हैं, परन्तु उनके पीछे मूल में वाक् रश्मियों की अव्यक्त भूमिका ही होती है।

२५. वग्नुः — यह पद 'वच परिभाषणे' धातु से 'वचेर्गश्च' (उ.को.३.३३) के द्वारा वच्

के चकार को गकार होकर एवं 'नु' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि इस ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी किसी प्रकार की ध्वनि विद्यमान है, वह सब वाक् रश्मियों के कारण ही है। जो अव्यक्त ध्वनियाँ इस ब्रह्माण्ड में पायी जाती हैं, उनमें नाना प्रकार की वाक् रश्मियों का विकारी रूप ही विद्यमान होता है।

२६. उपब्दिः — इस पद का अर्थ ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य १.७४.७ में 'महाशब्दकर्त्ता' किया है। इसका आशय यह है कि ब्रह्माण्ड में होने वाले महाविस्फोट आदि की तीव्र ध्वनियों का कारण भी वाक् रश्मियाँ ही होती हैं। इसके साथ ही उन ध्वनियों में भी विभिन्न वाक् रश्मियाँ ही नाना जटिल मिश्रण के रूप में विद्यमान होती हैं।

२७. मायुः — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष १.१ की व्याख्या में लिखा है— 'यो मिनोति प्रक्षिपति स मायुः अथवा मिनोति प्रक्षिपत्यूष्माणमिति मायुः' अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में जितने भी प्रक्षेपण कर्म हैं और जो-जो भी ऊष्मा विद्यमान हैं, उस सबका कारण वाक् रश्मियाँ ही हैं।

२८. काकुत् — यह पद 'कक लौल्ये' धातु से निष्पन्न होता है। इससे स्पष्ट होता है कि वाक् रश्मियाँ अति चञ्चलता के साथ एक-दूसरे की कामना करती हुई गमन करती हैं।

२९. जिह्वा — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए उणादि-कोष १.१५४ के भाष्य में ऋषि दयानन्द लिखते हैं— 'जयति यया सा जिह्वा'। उधर ग्रन्थकार इसका निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'जिह्वा जोहुवा' (निरु.५.२६)।

इसका आशय है कि वाक् रश्मियाँ एक-दूसरे को नियन्त्रित करने का प्रयास करती हुई परस्पर एक-दूसरे में आहूत होती हुई गमन करती हैं।

३०. घोषः — इस पद की व्युत्पत्ति 'घुषिर् अविशब्दने' धातु से होती है। इसका अर्थ है कि वाक् रश्मियाँ निःशब्द होकर अर्थात् अव्यक्त भाव से विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करती हैं।

३१. स्वरः — स्वर अर्थात् वाक् रश्मियाँ स्वयं प्रकाशवती होती हैं, उनको प्रकाशित करने के लिए किन्हीं अन्य रश्मियों की अपेक्षा नहीं होती।

३२. शब्दः — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए उणादि-कोष ४.९८ में ऋषि दयानन्द ने लिखा

है— 'शप्यत आहूयतेऽनेन स शब्दो नाद: पस्य ब:' अर्थात् यह पद यह दर्शाता है कि वाक् रश्मियाँ एक-दूसरे को आहूत करती हुई अर्थात् खोजती एवं आकृष्ट करती हुई गमन करती हैं।

३३. स्वनः — यह पद 'स्वन शब्दे' एवं 'स्वन अवतंसने' धातुओं से निष्पन्न होता है। इसका भाव यह है कि वाक् रश्मियाँ अव्यक्त ध्वनि उत्पन्न करती हुई एक-दूसरे को सँवारती हुई गमन करती हैं। सुधी पाठक 'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ में धाय्या संज्ञक आदि विभिन्न छन्द रश्मियों के विषय में अनेकत्र पढ़ सकते हैं, जहाँ ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को धारण करती अथवा तारती हुई गमन करती हैं।

३४. ऋक् — यह पद 'ऋच स्तुतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसके अर्थ हैं— चमकना, आच्छादित करना आदि। ग्रन्थकार ने भी इसका निर्वचन करते हुए लिखा है— 'ऋक् अर्चनी' (निरु.१.८)। यह सब यह दर्शाता है कि वाक् रश्मियाँ सभी सूक्ष्म कणों वा तरंगों को सर्वत: आच्छादित करती हुई दीप्तिमान् करती हैं। एक ऋषि का कथन है— 'अस्थि वा ऋक्' (श.ब्रा.७.५.२.२५)। इसका तात्पर्य है कि कुछ वाक् रश्मियाँ इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ढाँचागत आधार प्रदान करती हैं।

३५. होत्रा — इस सृष्टि में होने वाली नाना प्रकार की क्रियाओं में विभिन्न वाक् रश्मियों का हवन होता रहता है, इस कारण इन्हें 'होत्रा' कहते हैं। इन क्रियाओं में वाक् रश्मियों में वाक् रश्मियों का होम होता है।

३६. गीः — विभिन्न वाक् रश्मियाँ नाना प्रकार की क्रियाओं को करते समय अन्य रश्मियों को निगलती रहती हैं, इस कारण इन्हें 'गी:' कहते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है— 'विशो गिर:' (श.ब्रा.३.६.१.२४) अर्थात् कुछ वाक् रश्मियाँ अन्य वाक् रश्मियों के अन्दर प्रविष्ट होती रहती हैं।

३७. गाथा — इसका निर्वचन करते हुए उणादि-कोष २.४ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'गीयते या सा गाथा'। इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न वाक् रश्मियों का संगीत सर्वत्र और सर्वदा अव्यक्त भाव से गूँजता रहता है। इस कारण इन रश्मियों को 'गाथा' कहते हैं।

३८. गणः — ये रश्मियाँ समूहबद्ध होकर गमन करती हैं, इस कारण इन्हें 'गण:' कहते

हैं।

३९. धेना — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ३.११ के भाष्य में लिखा है— 'धयन्ति पिबन्ति यस्मात् स धेनः समुद्रः धेना नदी वा'। उधर ग्रन्थकार ने इसका निर्वचन करते हुए लिखा है— 'धेना दधातेः' (निरु.६.१७) तथा महर्षि तित्तिर का कथन है— 'धेना बृहस्पतेः पत्नी' (तै.आ.३.९.१)। इस सब का आशय यह है कि विभिन्न सूक्ष्म कण वा तरंग आदि पदार्थ वाक् रश्मियों का निरन्तर पान करते रहते हैं। इससे वे वाक् रश्मियाँ सूक्ष्म से लेकर विशाल से विशाल लोकों तक का पालन और रक्षण करने में समर्थ होती हैं।

४०. ग्नाः — इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— 'छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति' (श.ब्रा.६.५.४.७) अर्थात् सृष्टि के विभिन्न पदार्थ वाक् रश्मियों के द्वारा ही गमनागमन क्रियाएँ कर पाते हैं और सूर्यादि लोकों के अन्दर संलयनीय पदार्थ वाक् रश्मियों के द्वारा ही स्वर्ग लोक अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होता है। इस कारण वाक् रश्मियों को 'ग्नाः' कहते हैं।

४१. विपा — वाक् रश्मियाँ सृष्टि के नाना पदार्थों का विविध प्रकार से रक्षण और पालन करने के कारण 'विपा' कहलाती हैं।

४२. नना — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'नना नमतेर्माता वा दुहिता वा' (निरु.६.६)। इससे यह संकेत मिलता है कि वे ब्रह्माण्ड में विद्यमान जिन वाक् रश्मियों एवं अन्य पदार्थों को उत्पन्न करती हैं अथवा जिनसे वे उत्पन्न होती हैं, उन रश्मियों अथवा पदार्थों के प्रति उनका स्वाभाविक आकर्षण बना रहता है।

४३. कशा — इसका निर्वचन करते हुए निरुक्तकार ने लिखा है— 'अश्वाजनीं कशेत्याहुः कशा प्रकाशयति भयमश्वाय कृष्यतेर्वाणूभावात् वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्' (निरु.९.१९) अर्थात् वाक् रश्मियाँ बल और वेग से युक्त तरंगों को उत्पन्न करती हैं, उन उत्पन्न तरंगों को कम्पित करती हैं, सूक्ष्म होने के कारण उन्हें आकृष्ट करती हैं तथा ब्रह्माण्ड के विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित व उत्पन्न करती हैं, इस कारण इन्हें 'कशा' कहते हैं।

४४. धिषणा — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'धिषणा वाक् धिषेर्दधात्यर्थे

धीसादिनीति वा धीसानिनीति वा' (निरु.८.३)। इसका आशय यह है कि वाक् रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों का धारण और पोषण करने वाली होती हैं। ये रश्मियाँ महत् व मनस्तत्त्व के अन्दर स्पन्दित होती हैं। इसके साथ ही ये मनस्तत्त्व का निरन्तर सेवन करती रहती हैं अर्थात् ये मनस्तत्त्व एवं उसमें विद्यमान पश्यन्ती 'ओम्' रश्मियों से ही शक्ति प्राप्त करती हैं।

४५. नौः — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'नौः प्रणोत्तव्या भवति नमतेर्वा' (निरु.५.२३)। उधर ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष २.६५ की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'नुदति प्रेरयतीति नौः जलतरणसाधनं वा'। इसका तात्पर्य है कि वाक् रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों को प्रेरित करती हुई नाना प्रकार की क्रियाओं को करने में पार लगाती हैं। कुछ रश्मियाँ दुर्बल हुई अन्य रश्मियों, कणों वा तरंगों को बल प्रदान करती हैं।

४६. अक्षरम् — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने खण्ड १३.१२ में लिखा है— 'अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वा वाक् क्षयो भवति वाचोऽक्ष इति वा अक्षो यानस्याञ्जनात् तत्प्रकृतीतर-द्वर्तनसामान्यात् इति'। इसका अर्थ यह है कि वाक् रश्मियाँ सृष्टि काल में कभी नष्ट नहीं होती। ये एक-दूसरे में रूपान्तरित तो हो सकती हैं, परन्तु इनका सर्वथा नाश नहीं होता। इनके वर्ण (स्वर व व्यञ्जन) तो प्रलय अवस्था में भी अव्यक्त रूप से वर्तमान रहते हैं। इस ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण वाक् तत्त्व अक्षय रहता है अर्थात् उसमें कमी नहीं आती। वाक् तत्त्व सम्पूर्ण सृष्टि के अक्ष अर्थात् धुरी के समान है। विशेषकर 'ओम्' रश्मि सभी प्रकार के पदार्थों की धुरी के समान है, सभी सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थ इसी में सदैव आश्रित रहते हैं। जैसे रथ की धुरी रथ की गति का कारण है, उसी प्रकार सृष्टि के सभी पदार्थों की सभी प्रकार की गतियों का कारण वाक् रश्मियाँ ही हैं, जिनमें भी 'ओम्' रश्मि सबका मूल है।

४७. मही — वाक् रश्मियों की इस ब्रह्माण्ड में अत्यन्त व्याप्ति होने के कारण इन्हें 'मही' कहा गया है।

४८. अदितिः — सामान्यतया वाक् रश्मियों का खण्डन करना सम्भव नहीं है। 'ओम्' एवं स्वर-व्यञ्जन रूप रश्मियों का कभी भी खण्डन नहीं होने से इन्हें 'अदिति' कहा जाता है।

४९. शची — [शची = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.९)] वाक् रश्मियाँ

ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ की सभी प्रकार की क्रियाओं और दीप्तियों का कारण होती हैं। इसके साथ ही वे स्वयं कभी भी निष्क्रिय और दीप्तिरहित नहीं होती। असुर रश्मियाँ, जिनसे अप्रकाशित पदार्थ ही उत्पन्न होता है, भी सर्वथा दीप्तिरहित नहीं होती हैं। इस कारण इन्हें 'शची' कहते हैं।

५०. वाक् — इनसे सभी प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, इस कारण इनको 'वाक्' रश्मियाँ कहते हैं।

५१. अनुष्टुप् — वाक् रश्मियाँ सूक्ष्म तरंगों व कणों से लेकर विशाल लोक-लोकान्तरों तक सबको अनुकूलता से थामे रहती हैं, इस कारण इन्हें 'अनुष्टुप्' कहते हैं।

५२. धेनुः — इस पद का निर्वचन करते हुए उणादि-कोष ३.३४ में ऋषि दयानन्द लिखते हैं— 'धयन्ति पिबन्ति यस्याः सा धेनुः' अर्थात् सृष्टि के विभिन्न सूक्ष्म कण वा तरंग आदि पदार्थ के साथ-२ विशाल लोक-लोकान्तर भी आकाश एवं मनस्तत्त्व में विद्यमान विभिन्न वाक् रश्मियों का अवशोषण करते रहते हैं। पूर्वोक्त 'धेना' पद से भी यही अर्थ प्रकाशित होता है। इन दोनों में यह भेद अवश्य है कि 'धेना' पद किसी पदार्थ के सब ओर व्याप्त वाक् रश्मियों तथा 'धेनु' पद किसी पदार्थ के ऊपरी भाग में व्याप्त वाक् रश्मियों के लिए प्रयुक्त होता है।

५३. वल्गुः — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष १.१९ की व्याख्या में लिखा है— 'वलते संवृणोतीति वल्गुः'। यह पद 'वल संवरणे संचलने च' धातु से निष्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि वाक् रश्मियाँ प्रत्येक परमाणु आदि पदार्थों को आच्छादित करते हुए स्पन्दित होती रहती हैं और ऐसा करते हुए उन पदार्थों को भी सम्यक् गति प्रदान करती हैं।

५४. गल्दा — इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— गल्दा धमनयो भवन्ति गलनमासु धीयते (निरु.६.२४) अर्थात् वाक् रश्मियाँ ऐसी प्रवाहिकाओं के रूप में विद्यमान होती हैं, जिनमें मनस्तत्त्व एवं सूक्ष्म 'ओम्' रश्मि आदि पदार्थ व्याप्त रहते हैं। वे पदार्थ इनमें से निरन्तर रिसते रहते एवं इनमें प्रविष्ट होते रहते हैं। इस कारण इन्हें 'गल्दा' कहते हैं।

५५. सरः — ये रश्मियाँ सर्पिलाकार होकर सरकती हुई चलती हैं, इस कारण इन्हें 'सरः' कहते हैं। इनके प्रवाह का मार्ग अखण्ड होता है अर्थात् ये जल अथवा हवा की भाँति सतत प्रवाहित होती रहती हैं। इसके साथ ही इनके सभी अवयव पृथक्-२ रूप में स्पन्दित होते रहते हैं।

५६. सुपर्णी — [पर्णः = गायत्रो वै पर्णः (तै.ब्रा.३.२.१.१), ब्रह्म वै पर्णः (तै.ब्रा. १.७.१.९)। ब्रह्म = प्राणापानौ ब्रह्म (गो.पू.२.११)] अर्थात् वाक् रश्मियाँ दैवी गायत्री 'ओम्', 'भूः' आदि एवं प्राण व अपान रश्मियों रूप पंखों के द्वारा निरन्तर गमन करती रहती हैं। इस कारण इनको 'सुपर्णी' कहते हैं।

५७. बेकुरा — इस विषय में ताण्ड्य महाब्राह्मण ६.७.६ में लिखा है— 'तस्यै (वाचे) जुहुयाद् बेकुरा नामासि'। विविध वाक् रश्मियों का परस्पर एक-दूसरे में संगमन होता रहता है, ऐसी वाक् रश्मियों को 'बेकुरा' कहा गया है। हमारे मत में भेकुरि से भेकुरा और 'भेकुरा' के 'भ्' को ही 'ब्' होकर 'बेकुरा' पद व्युत्पन्न होता है।

'भेकुरि' के विषय में ऋषि दयानन्द अपने यजुर्वेद भाष्य १८.४० में लिखते हैं— 'या भां दीप्तिं कुर्वन्ति ताः'। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है— 'भेकुरयो नामेति भाकुरयो ह नामैते भाः हि नक्षत्राणि कुर्वन्ति' (श.ब्रा.९.४.१.९) अर्थात् सूर्यादि सभी तेजस्वी लोकों की दीप्ति का कारण ये वाक् रश्मियाँ ही होती हैं, इसलिए इन्हें भेकुरि वा भेकुरा कहते हैं और भेकुरा ही बेकुरा कहलाती हैं।

अब हम उपर्युक्त मन्त्र पर विचार करते हैं—

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥ (ऋ.६.६१.२)

इस मन्त्र का ऋषि बार्हस्पत्य है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण विशेष से होती है। इसका छन्द जगती एवं देवता सरस्वती है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सरस्वती अर्थात् ब्रह्माण्ड में स्थित विभिन्न वाक् रश्मियाँ (प्राण व छन्द रश्मियाँ) दूर-२ तक प्रभावित व सक्रिय होती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (इयम्) यह सरस्वती अर्थात् वाक् रश्मियाँ (शुष्मेभिः) 'शुष्मै

शौषणैः शुष्ममिति बलनाम शोषयतीति सतः' [शुष्मम् = शुष्यति निस्सारं करोतीति शुष्मम् (उ.को.१.१४४)] शुष्म एक विशेष प्रकार का ऐसा तीव्र बल है, जो अन्य पदार्थ के बल का शोषण करके उसे निर्बल बना देता है अर्थात् उसके बल को सोख लेता है। ऐसे शोषक बलों के द्वारा (बिसखा, इव) 'बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणः वृद्धिकर्मणो वा' [बिसखा = बिसं खनतीति बिसम्] विभिन्न भंगुर अर्थात् दुर्बल बन्धन बलों से युक्त पदार्थ अर्थात् पदार्थ की विरलावस्था को छिन्न-भिन्न करने वाली रश्मियों के समान (गिरीणाम्, सानु, अरुजत्) 'सानु समुच्छ्रितं भवति समुन्नुन्नमिति वा' बहुत ऊँचे और विशाल संघनित मेघों और सुदृढ़ चट्टानों वाले लोकों को भी वे वाक् रश्मियाँ विदीर्ण कर देती हैं। ब्रह्माण्ड में सुपरनोवा जैसे महाविस्फोटों, जिनकी चर्चा वैज्ञानिक करते हैं, के पीछे भी वाक् रश्मियाँ ही कारण हैं। पृथिवी आदि लोकों में भूकम्प और ज्वालामुखी विस्फोट, विशाल कॉस्मिक मेघों में विस्फोट से विभिन्न लोकों के निर्माण के पीछे भी वाक् रश्मियों की ही भूमिका होती है।

(तविषेभिः, ऊर्मिभिः) 'महद्भिः ऊर्मिभिः' [तविषी = तविषीति बलनाम तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः (निरु.९.२५)। ऊर्मिः = ऊर्मिरूर्णोतेः] वे वाक् रश्मियाँ बढ़ते हुए महान् बलों से युक्त उन लोकों वा मेघादि पदार्थों को आच्छादित करने वाली व्यापक तरंगों के प्रहार से तोड़ती हैं। (पारावतघ्नीम्) 'पारावतघ्नीं पारावारघातिनीम् पारं परं भवति अवारमवरम्' उन लोकों वा मेघों के पार और अवर अर्थात् सभी किनारों को छिन्न-भिन्न करने वाली (सरस्वतीम्) 'सरस्वतीं नदीम्' [सरस्वती = अथ यत्स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४)] ऐसी वाक् रश्मियों, जिनसे उत्पन्न अग्नि की ज्वालाएँ उच्च ध्वनि के साथ श्वेत रंग वाली होकर उठने लगती हैं, को (अवसे) 'अवनाय' कॉस्मिक मेघों के विखण्डन से उत्पन्न लोकों की रक्षा के लिये, उन्हें आवश्यक गति और बल प्रदान करने के लिए एवं उन्हें नियन्त्रित करने के लिए (सुवृक्तिभिः) 'सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः' सुन्दर क्रियाओं से युक्त नाना प्रकार के विकिरणों के द्वारा एवं (धीतिभिः) 'कर्मभिः' उन वाक् रश्मियों से उत्पन्न पूर्वोक्त ज्वालाओं एवं उनके विकिरणों के द्वारा (आ, विवासेम) 'परिचरेम' उन सरस्वती वाक् रश्मियों का उन लोकों वा मेघों के चारों ओर प्रवाह किया जाता है अर्थात् वे प्रवाहित होती वाक् रश्मियाँ उन लोकों को दग्ध और संतप्त करके अनुकूलतापूर्वक विखण्डन करती हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में कुछ ऐसी रश्मियाँ भी होती हैं, जो अपने बल से अन्य बल

रश्मियों को अवशोषित करके उनके बल को नष्ट कर देती हैं। विशाल कॉस्मिक मेघों, सुपरनोवा, भूकम्प तथा ज्वालामुखी के विस्फोटों में इन रश्मियों की भी भूमिका होती है। कॉस्मिक मेघों को तोड़ते समय ये वाक् रश्मियाँ श्वेत रंग वाली एवं उच्च गर्जना से युक्त ज्वालाओं को उत्पन्न करती हैं। ये रश्मियाँ उन मेघों को चारों ओर से घेरकर अनुकूलतापूर्वक विखण्डन करती हैं। उस विखण्डन से उत्पन्न लोकों को अनुकूल गति व रक्षा प्रदान करने में भी इनकी भूमिका होती है।

उदकनामान्युत्तराण्येकशतम्। उदकं कस्मात्। उनत्तीति सतः।
नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत्। नद्यः कस्मात्। नदना इमा भवन्ति।
शब्दवत्यः। बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम्। आश्चर्यमिव प्राधान्येन।
तत्रेतिहासमाचक्षते- विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव।
विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कल्याणदानः।
पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीय जवो वा।
अमिश्रीभावगतिर्वा। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ।
अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव। गाधा भवतेति।
अपि द्विवत्। अपि बहुवत्। तद्यद् द्विवदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः।
अथैतद् बहुवत्॥ २४॥

अगले १०१ नाम उदकवाची हैं। निघण्टु में ये नाम इस प्रकार हैं—

अर्णः। क्षोदः। क्षद्म। नभः। अम्भः। कबन्धम्। सलिलम्। वाः। वनम्। घृतम्। मधु। पुरीषम्। पिप्पलम्। क्षीरम्। विषम्। रेतः। कशः। जन्म। बृबूकम्। बुसम्। तुग्र्या। बर्बुरम्। सुक्षेम। धरुणम्। सिरा। अररिन्दानि। धस्मन्वत्। जामि। आयुधानि। क्षपः। अहिः। अक्षरम्। स्रोतः। तृप्तिः। रसः। उदकम्। प्रयः। सरः। भेषजम्। सहः। शवः। यहः। ओजः। सुखम्। क्षत्रम्। आवयाः। शुभम्। यादुः। भूतम्। भुवनम्। भविष्यत्। महत्। आपः। व्योम। यशः। महः। सर्णीकम्। स्वृतीकम्। सतीनम्। गहनम्। गभीरम्। गम्भरम्। ईम्। अन्नम्। हविः। सद्म। सदनम्। ऋतन्। योनिः। ऋतस्य योनिः। सत्यम्। नीरम्। रयिः। सत्। पूर्णम्। सर्वम्। अक्षितम्। बर्हिः। नाम। सर्पिः। अपः। पवित्रम्। अमृतम्। इन्दुः। हेम। स्वः। सर्गाः।

शम्बरम्। अभ्वम्। वपुः। अम्बु। तोयम्। तूयम्। कृपीटम्। शुक्रम्। तेजः। स्वधा। वारि। जलम्। जलाषम्। इदम्।

यहाँ 'उदक' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'उदकं कस्मात् उनत्तीति सत:' अर्थात् उदक उस पदार्थ का नाम है, जो अन्य पदार्थों को उसी प्रकार सिंचित करता है, जैसे जल विभिन्न पदार्थों को गीला करता है। वैदिक वाङ्मय में जहाँ भी उदक पद विद्यमान है, उसका ऐसा ही स्वरूप मानना चाहिए। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि उदक नामवाची जितने भी पदार्थ हैं, वे अतिसूक्ष्म रश्मि आदि अवयवों के मेल से निर्मित होते हैं, जो अन्य पदार्थों के सम्पर्क में आने पर अपनी उन रश्मियों से उन पदार्थों को सिंचित करने लगते हैं, जिसके कारण उन पदार्थों में भी उदक नामवाची पदार्थ के गुण आने लगते हैं। इसके साथ ही उदकवाची पदार्थों में से उनकी अवयवरूपी रश्मियों का उसी प्रकार स्राव होता है, जैसे सूक्ष्म छिद्रों से युक्त किसी पात्र से जल का रिसाव होता है। वह रिसाव युक्त जल जिस प्रकार बाहरी पदार्थ को अपने गुणों से युक्त करता है, उसी प्रकार उदक नामवाची पदार्थों से रिसी हुई रश्मियाँ निकटवर्ती पदार्थों को अपने गुणों से युक्त करती रहती हैं।

१. **अर्णः** — इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है— 'अर्तेरित्येव ऋच्छति गच्छतीति अर्ण:' (उ.को.४.१९८) अर्थात् उदक रश्मियाँ निरन्तर गमन करती हुई विभिन्न पदार्थों के अन्दर व्याप्त होती हैं वा हो जाती हैं। यह जल भी निरन्तर बहता रहता है।

२. **क्षोदः** — यह पद 'क्षोदति गतिकर्मा' (निघं.२.१४) एवं 'क्षुदिर् संपेषणे' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ निरन्तर गति करता हुआ निरन्तर पिसता रहता एवं रिसता रहता है। इसके साथ ही यह अन्य पदार्थों से भी निरन्तर टकराता हुआ उन्हें भी विकृत करता रहता है। यह जल भी निरन्तर रिसकर अन्य पदार्थों में मिलता व कहीं यह पदार्थों को तोड़ता-फोड़ता रहता है।

३. **क्षद्म** — यह पद 'क्षद भक्षणहिंसनयो:' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ अन्य पदार्थों को अपने अन्दर अवशोषित करता वा उन्हें तोड़ता वा नष्ट करता रहता है। इस लोकप्रसिद्ध जल में भी ये गुण देखे जाते हैं।

४. **नभः** — यह पद 'णह बन्धने' अथवा 'नभते वधकर्मा' (निघं.२.१९) धातुओं से

व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों को बन्धन बल प्रदान करने वाला, तो कहीं उन्हें नष्ट करने वाला होने से नभ कहलाता है। यह जल भी पदार्थों को मिलाने वा उन्हें घोलकर बिखेरने का काम करता है।

५. **अम्भः** — यह पद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ अन्य पदार्थों के अन्दर व्याप्त हो जाता है। यह जल भी भूमि आदि पर गिरकर उसमें समा जाता है।

६. **कबन्धम्** — इसके विषय में आगे खण्ड १०.४ में चर्चा करेंगे।

७. **सलिलम्** — यह पद 'सल गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ निरन्तर काँपता व थरथराता हुआ गति करता रहता है तथा सभी स्थूल पदार्थ विनाश के समय इसी में लीन हो जाते हैं किंवा इसी रूप को प्राप्त कर लेते हैं। इस जल में भी ये गुण देखे जाते हैं।

८. **वाः** — 'निघण्टु-निर्वचनम्' में डॉ. सुद्युम्नाचार्य ने इस पद को 'वृञ्' धातु से व्युत्पन्न माना है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ जिस किसी पदार्थ के निकट आता है, उसे सिंचित करके आच्छादित कर लेता है। जल के भी यही गुण सर्वविदित हैं।

९. **वनम्** — यह पद 'वन शब्दे' एवं 'वन सम्भक्तौ' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ ध्वनि उत्पन्न करता हुआ गमन करता है तथा विभिन्न पदार्थों के विभाजन के कार्य में विशेष भूमिका निभाता है। इस जल में भी ये गुण देखे जाते हैं।

१०. **घृतम्** — यह पद 'घृ क्षरणदीप्त्योः' एवं 'घृ प्रस्रवणे' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ आकाश में रिसता हुआ, विभिन्न पदार्थों को भिगोता हुआ तथा दीप्ति उत्पन्न करता हुआ गमन करता है। लोकविश्रुत जल में भी भिगोने का गुण विद्यमान होता है।

११. **मधु** — मन्यन्ते येन तत् मधु अर्थात् जिस पदार्थ से अन्य पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उसे मधु कहते हैं। इस जल को भी मधु इस कारण कहते हैं, क्योंकि इस जल के कारण ही पृथ्वी पर प्राणी व वनस्पति जगत् का जीवन दिखाई देता है।

१२. **पुरीषम्** — यह पद 'पृ पालनपूरणयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है

कि यह पदार्थ सृष्टि के विभिन्न पदार्थों के अन्दर व्याप्त होकर उनका पालन व रक्षण करता है। इस जल के बिना भी पृथिवी पर जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसके साथ ही सूक्ष्म संयोज्य कणों के बिना किसी लोक का अस्तित्व तक सम्भव नहीं है।

१३. पिप्पलम् — यह पद भी 'पॄ पालनपूरणयो:' धातु से ही व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह तत्त्व ही विभिन्न पदार्थों के अन्दर व्याप्त होकर उन्हें पूर्णता प्रदान करता है। लोक में जल भी हम सबके शरीरों व वनस्पतियों में व्याप्त होकर उन्हें जीवन्तता प्रदान करता है।

१४. क्षीरम् — इसकी व्याख्या पूर्व में खण्ड २.५ में कर चुके हैं।

१५. विषम् — इस पद की व्युत्पत्ति 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से होती है। इसकी व्याख्या आगे खण्ड १२.२६ में करेंगे। इस जल में भी व्याप्ति का गुण देखा जाता है, क्योंकि हमारे शरीरों, वनस्पतियों तथा भूमि में भी इसकी व्याप्ति देखी जाती है। वायुमण्डल में भी यह जलवाष्प के रूप में विद्यमान होता है।

१६. रेत: — यह पद 'रीङ् स्रवणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ अव्यक्त भाव से अर्थात् नि:शब्द भाव से शनै:-२ रिसता रहता है और इसी रीति से यह अन्य पदार्थों से क्रिया करता है।

१७. कश: — पूर्व में वाणी के एक नाम 'कशा' की व्याख्या कर चुके हैं। पाठक उसी भाँति इस पद की भी व्याख्या स्वयं कर लेवें।

१८. जन्म — इसका अर्थ यह है कि जिससे पृथिवी तत्त्व का जन्म होता है, उसे उदक कहते हैं। जैसा कि कहा गया है— 'अद्भ्य: पृथिवी'।

१९. बृबूकम् — इसकी व्याख्या खण्ड २.२२ में पठनीय है।

२०. बुसम् — यह पद 'बुस उत्सर्गे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से छोड़ा जाता है अथवा उससे सतत निकलता रहता है। जल को 'बुसम्' इस कारण कहते हैं, क्योंकि वह मेघों से छोड़ा जाता है।

२१. तुग्र्या — यह पद 'तुज हिंसायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि

नाना प्रकार की भेदन क्रियाओं में इस पदार्थ की भूमिका होती है। इधर यह जल भी तीव्र वेग से बहने पर अतीव हिंसक होते देखा जाता है।

२२. बर्बुरम् — 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इस पद की व्युत्पत्ति 'पॄ पालनपूरणयोः' धातु से मानी है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सृष्टि के सभी पदार्थों को व्याप्त करता हुआ उनका पालन व रक्षण करता है। यह जल सभी प्राणियों व वनस्पतियों में व्याप्त रहकर उनका पालन व रक्षण करता है।

२३. सुक्षेम — यह पद सु पूर्वक 'क्षि निवासगत्योः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के पदार्थ इसके द्वारा वा इसी में निवास व गति करते हैं अथवा यह पदार्थ ही सभी पदार्थों में निवास व गति करता रहता है। इधर जल भी प्राणियों व वनस्पतियों में वास व गति करता रहता है।

२४. धरुणम् — यह पद 'धृञ् धारणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यही पदार्थ सभी पदार्थों का धारक होता है। इधर जल भी हमारे शरीर व वनस्पतियों में प्राणों को धारण कराता है।

२५. सिरा — यह पद 'सृ गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सरकता हुआ निरन्तर गमन करता रहता है। इसी प्रकार यह जल भी नदियों, हमारी नस-नाड़ियों व वनस्पतियों में सरकता हुआ गति करता रहता है।

२६. अररिन्दानि — इसकी व्युत्पत्ति 'निघण्टु-निर्वचनम्' में निम्नानुसार दर्शायी है—

" 'रा दाने' (अदा.प.५०)। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (अष्टा.३.२.१७१) इति किप्रत्ययः। लिड्वद्भावात् द्विर्वचनादिः। ररिर्दाता। ररिर्यस्य न विद्यते तदररि, अन्यैरदत्तमित्यर्थः। तद्ददाति 'आतोऽनुपसर्गे कः' (अष्टा.३.२.३) अररिदम्। नकार उपजनः अररिन्दम्। अथवा 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अष्टा.३.३.११३) इति कर्मणि किर्भवति। ररि-दत्तम्, न ररि अररि-अदत्तम् पृथिव्यादिभिः, किन्तत्? सुखम्। अररि ददातीति पूर्ववत्। उदकेन यद्दीयते सुखादिकं तच्चान्यैः पृथिव्यादिभिः दातुमशक्यत्वाददत्तमित्युच्यते।"

यह पद बहुवचनान्त है। इसका आशय है कि यह उदक नामक पदार्थ अनेक प्रकार के कार्यों का सम्पादन करता है। पूर्वोक्त पद एक-एक गुण को दर्शा रहे थे, इस

कारण वे एकवचनान्त थे, जबकि यह एक ही पद अनेक गुणों को एक साथ दर्शा रहा है, इस कारण यह पद बहुवचनान्त दर्शाया गया है।

२७. ध्वस्मन्वत् — यह पद 'ध्वंसु गतौ च' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ नाना प्रकार की गतियों से युक्त होता है। इस जल में भी अनेक प्रकार की गतियाँ सर्वविदित हैं।

२८. जामि — इसकी व्युत्पत्ति 'जमति गतिकर्मा' (निघं.२.१४) अथवा 'जनी प्रादुर्भावे' धातुओं से होती है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ अनेक प्रकार की गतियों से युक्त होकर नाना पदार्थों की उत्पत्ति करता है।

२९. आयुधानि — यह पद 'युध सम्प्रहारे' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह पद भी बहुवचनान्त है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ सब ओर से प्रहार करके असुरादि पदार्थों को नष्ट करता है। इधर यह जल भी नदी आदि में बाधक बने पत्थर आदि की शिलाओं पर सब ओर से प्रहार करके उन्हें घिसता रहता है।

३०. क्षपः — यह पद 'क्षप प्रेरणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य है कि इसकी रश्मियाँ विभिन्न कण आदि पदार्थों को नाना कर्मों में प्रेरित करती हैं। इधर यह जल भी सभी पिपासु प्राणियों तथा वनस्पतियों को अपनी ओर आने के लिए प्रेरित करता है।

३१. अहिः — इसके विषय में खण्ड २.१७ पठनीय है।

३२. अक्षरम् — इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है— अश्नुते व्याप्नोतीति अक्षरम् (उ.को. ३.७०) अर्थात् यह पदार्थ जिस पदार्थ के साथ संयोग करता है, उसके अन्दर पूर्णतः व्याप्त हो जाने से अक्षर कहलाता है। इधर इस जल का भी यही गुण देखा जाता है।

३३. स्रोतः — यह पद 'स्रु गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य है कि यह विभिन्न पदार्थों से निरन्तर रिसता रहता है। इस जल के विषय में भी ऐसा देखा जाता है। बादलों से रिसना, जलाशयों वा सागरों से वाष्पीभूत होना जैसे इसके व्यवहार हम सदा देखते हैं।

३४. तृप्तिः — यह पद 'तृप तृप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ किसी पदार्थ के ऊपर रिसकर उसे नाना प्रकार की क्रियाएँ करने के लिए आवश्यक

रश्मियाँ प्रदान करके तृप्त करता है। इधर यह जल भी तृषातुर व्यक्ति वा वनस्पति की तृषा को शान्त करके तृप्त करता है।

३५. रसः — यह पद 'रस शब्दे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यही है कि यह पदार्थ रिसते वा बहते समय सूक्ष्म ध्वनि तरंगें उत्पन्न करता रहता है। इधर यह जल भी बरसते और बहते समय निरन्तर ध्वनि उत्पन्न करता रहता है। स्थिर प्रतीत होने वाले जल में भी सतत आणविक गति चलती रहती है। इसमें अणु परस्पर टकराते रहते हैं। इस टक्कर से सूक्ष्म अश्रव्य ध्वनि उत्पन्न होती रहती है।

३६. उदकम् — इस पद की व्याख्या की जा चुकी है।

३७. प्रयः — यह पद 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ जिन पदार्थों से मिश्रित होता है, उन्हें अपनी सूक्ष्म रश्मियों से तृप्त कर देता है, साथ ही उनमें आकर्षण बल भी उत्पन्न वा समृद्ध कर देता है। इसी प्रकार यह जल भी मिट्टी आदि से मिलकर उसे तृप्त करके उसमें परस्पर मिश्रित होने (आकर्षित होने) का गुण उत्पन्न कर देता है। कहीं-२ 'पयः' पद भी देखा जाता है।

३८. सरः — यह पद 'सृ गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ निरन्तर सरकता हुआ गति करता रहता है। इधर इस जल में भी ऐसी ही गति देखी जाती है, जो सरकता व लुढ़कता हुआ गति करता है।

३९. भेषजम् — ऋषि दयानन्द ने उ.को.१.१३८ में 'भिषक्' एवं 'भेषजम्' पदों को 'भी भये' धातु से व्युत्पन्न माना है। इससे यह अर्थ निकलता है कि यह पदार्थ कम्पन करता हुआ गमन करता है। इधर जल में भी इसकी धारा के वेग के अतिरिक्त जल के अणु परस्पर टक्कर मारते व काँपते हुए गति करते हैं।

४०. सहः — यह पद 'सह मर्षणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ अन्य पदार्थों के ऊपर प्रतिरोधक बल भी लगाता है। इधर इसी प्रकार जल भी उत्क्षेपण बल लगाता है।

४१. शवः — यह पद 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' धातु से व्युत्पन्न होता है। निघं.२.१४ में 'शवति गतिकर्मा' धातु भी विद्यमान है। इसके साथ ही निघं.३.५ में इसे परिचरणकर्मा भी

माना है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ सब ओर फैलता हुआ गति करता है। इधर यह जल भी भूमि आदि पर फैलता हुआ ही गति करता है।

४२. यहः — 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इस पद को 'या प्रापणे' एवं 'ह्वेञ् स्पर्धायाम्', इन दो धातुओं से व्युत्पन्न माना है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों के अन्दर व्याप्त होकर उन्हें स्पर्धनीय अर्थात् पारस्परिक आकर्षण आदि गुणों से युक्त बनाता है। निघं.२.९ में इस पद को बलवाची भी माना है। इससे भी संकेत मिलता है कि यह पदार्थ बलों को समृद्ध भी करता है। यह गुण जल में देखा जाता है, क्योंकि यह संयोग व वियोग की प्रक्रिया को समृद्ध करता है।

४३. ओजः — इसकी व्याख्या आगामी खण्ड ६.८ में की जायेगी, जहाँ इस पद का प्रयोग बल अर्थ में किया है। यह पदार्थ भी उन ओज संज्ञक बलों को उत्पन्न करने वाला होने के कारण ओज कहलाता है। यह गुण इस जल में भी देखा जाता है, जिसके मिश्रण से मिट्टी दब कर (सम्पीडित होकर) व्यवस्थित हो जाती है।

४४. सुखम् — इस पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'सुहितं खेभ्यः' अर्थात् जो आकाश तत्त्व को अच्छी प्रकार धारण करता है, वह सुख कहलाता है। वस्तुतः नाना प्रकार की बल रश्मियाँ किंवा बलोत्पादक रश्मियाँ आकाश तत्त्व को धारण करती हैं। ये सभी बल रश्मियाँ सुख कहाती हैं। ऋग्वेद ६.४७.४ में कहा—

'सोमो दाधारोर्वन्तरिक्षम्'

सोम रश्मियों की भाँति इस उदक नामक पदार्थ की सूक्ष्म रश्मियाँ भी आकाश तत्त्व को धारण करती हैं किंवा सोम रश्मियाँ ही यहाँ उदक रश्मियाँ कहलाती हैं। इधर यह जल प्राणियों को सुख प्रदान करता है, इसलिए यह स्वयं भी सुख कहलाता है। इसके साथ ही जल के अभाव में कोई भी 'ख' अर्थात् इन्द्रिय कार्य करना तो दूर, जीवित भी नहीं रह सकती।

४५. क्षत्रम् — यह पद 'क्षद भक्षणहिंसनयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ अन्य पदार्थों का भक्षण करता अर्थात् उन्हें अपने अन्दर अवशोषित वा मिश्रित कर लेता है अथवा उनमें तोड़-फोड़ करता है। यही गुण इस जल में भी देखा जाता है।

४६. आवयाः — यह पद आङ्पूर्वक 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ गति, व्याप्ति, आकर्षण, प्रक्षेपण, अन्य पदार्थों का उत्पादन, भक्षण आदि गुणों से युक्त होता है। इस जल में भी ये सभी गुण विद्यमान होते हैं।

४७. शुभम् — यह पद 'शुभ दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह सूक्ष्म दीप्ति से युक्त होता है। ध्यातव्य है कि इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म व्यक्त वा अव्यक्त दीप्ति से युक्त अवश्य होता है।

४८. यादुः — यह पद 'यती प्रयत्ने' धातु से 'भृमृशीङ् ...' (उ.को.१.७) से 'उ' प्रत्यय होकर बनता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सतत क्रियाशील रहता है। इसी प्रकार जल भी सतत क्रियाशील रहता है।

४९. भूतम् — यह पद 'भू सत्तायाम्' एवं 'भू प्राप्तौ' धातुओं से व्युत्पन्न होता है, अतः यह पदार्थ सूक्ष्म रश्मियों, आकाश, वायु, अग्नि के मेल से उत्पन्न होने के कारण भूत कहाता है। इसके साथ ही यह किसी पदार्थ के सम्पर्क में आने पर उसके अन्दर तुरन्त व्याप्त हो जाता है। जल भी मिट्टी के सम्पर्क में आते ही उसमें व्याप्त हो जाता है।

५०. भुवनम् — यह पद भी 'भू सत्तायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि इससे पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति होती है, साथ ही नाना सूक्ष्म कणों की उत्पत्ति होती है। जल के द्वारा अथवा जल के अन्दर भी नाना पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

५१. भविष्यत् — सभी लोक प्रलय प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर जल महाभूत में ही विलीन हो जायेंगे, इस कारण इसे 'भविष्यत्' कहा गया है।

५२. महत् — यह पदार्थ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला होने से महत् कहलाता है। प्रत्येक लोक व अन्तरिक्ष में यह व्याप्त है। यह जल भी सभी प्राणियों व वनस्पतियों के अतिरिक्त वायुमण्डल व सागरों, नदियों, भूमि आदि सबमें व्याप्त होने तथा सब जीवधारियों के लिए अति महत्त्वपूर्ण होने से महत् कहाता है।

५३. आपः — यह महत् की भाँति व्याप्त होने से 'आपः' भी कहाता है। यह व्याप्त होने के साथ-२ उन पदार्थों का रक्षक भी होता है। यह 'महत्' से विशेष गुण है।

५४. व्योम — यह पदार्थ सभी लोकों वा पिण्डों को सब ओर से आच्छादित करने के कारण व्योम कहलाता है। इसकी व्याख्या अन्तरिक्षनामों के अन्तर्गत भी देखें। उसके अनेक गुण यहाँ भी प्रासंगिक हैं।

५५. यशः — यह पद 'अशूङ् व्याप्तौ' एवं 'अश भोजने' धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सभी लोकों वा पिण्डों में व्याप्त होकर उनका भक्ष्य बनता रहता है अथवा उन्हें अपने अन्दर समाये रहता है।

५६. महः — यह महत् के समान अर्थ वाला है। 'महत्' का तकार इस पदार्थ को आच्छादित पदार्थों का आधार भी बताता है, यह विशेष है।

५७. सर्णीकम् — 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इस पद को 'सृ गतौ' धातु से व्युत्पन्न माना है। इसी धातु से व्युत्पन्न 'सरः' पद भी उदकवाची पदों में पढ़ा गया है। इस कारण दोनों का अर्थ व प्रभाव लगभग समान है। 'क' वर्ण के कारण उदक का यह रूप 'सरः' की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है।

५८. स्वृतीकम् — इस पद को 'निघण्टु-निर्वचनम्' में 'स्वृ शब्दोपतापयोः', 'स्वरति गतिकर्मा' (निघं.२.१४), 'अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४), 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' आदि धातुओं से निष्पन्न माना है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ ध्वनि व दीप्ति उत्पन्न करता हुआ एवं अनेक बाधक पदार्थों को शक्तिहीन वा नष्ट करता हुआ गमन करता है।

५९. सतीनम् — इसके गुण भी उपर्युक्त के समान हैं, परन्तु इसमें दीप्ति व ध्वनि अपेक्षाकृत न्यून होती है।

६०. गहनम् — यह पद 'गाहू विलोडने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ पदार्थों का विलोडन करता हुआ गमन करता है।

६१. गभीरम् — निघं.१.११ में 'गभीरा' पद वाङ्नामों में पढ़ा गया है तथा निघं.३.३० में इसे द्यावापृथिवी नामों में संगृहीत किया गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि यह पदार्थ वाक् रश्मियों के रूप में द्युलोक वा सूर्यलोक व पृथिवीलोकों में व्याप्त रहता है अथवा उनके ऊपर बरसता रहता है।

६२. गम्भरम् — इस पद को 'निघण्टु-निर्वचनम्' में 'गम्' धातु से निपातन से 'अरन्'

प्रत्यय एवं 'भर्' आगम करके व्युत्पन्न माना है। उन्होंने इसे 'ग्रह उपादाने' धातु से भी पूर्ववत् 'अरन्' प्रत्यय और रेफ का मकार करके भी व्युत्पन्न माना है। इससे संकेत मिलता है कि यह पदार्थ सतत गमनशील तथा अन्य पदार्थों के प्रति आकर्षणशील होता है।

६३. ईम् — [ईमहे याञ्चाकर्मा (निघं.३.१९)] यह पद 'ईङ् गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ नाना प्रकार के आकर्षण बलों को उत्पन्न करता हुआ सतत गमन करता रहता है।

६४. अन्नम् — यह पद 'अन प्राणने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ नाना पदार्थों को प्राणत्व अर्थात् बल प्रदान करता है।

६५. हविः — इसका तात्पर्य है कि यह पदार्थ हवि रूप होकर विभिन्न पदार्थों के बाहर व भीतर निरन्तर गमन करता है। इसके साथ ही नाना प्रकार के कण आदि पदार्थों के संयोग-वियोग की प्रक्रिया में उन संयोज्य पदार्थों से पदार्थ का आवागमन होता है।

६६. सद्म — यह पद 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह पद निघं.२.१७ में संग्राम, निघं.३.४ में गृह तथा निघं.३.३० में द्यावापृथिवी नामों में संगृहीत है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ नाना प्रकार की संघात-प्रक्रियाओं में गृह अर्थात् बल को उत्पन्न करने वाला होता है। ये संघात प्रक्रियाएँ प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के कणों वा लोकों के मध्य हो सकती हैं। इन संघात कर्मों के सम्पन्न हो जाने पर यह पदार्थ शक्तिहीन होकर अन्त में नष्ट हो जाता है।

६७. सदनम् — इस पद का आशय यह है कि सृष्टि के सभी लोक वा कण आदि पदार्थ इसी पदार्थ में रहते तथा अपनी सभी गतिविधियाँ इसी में व इसी के द्वारा संचालित करते हैं।

६८. ऋतम् — इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सभी पदार्थों में व्याप्त रहता है अथवा सर्वत्र गमन करता हुआ सभी पदार्थों को व्याप्त करता है।

६९. योनिः — यह पदार्थ सभी पदार्थों का उत्पत्ति व निवास स्थान है अथवा यह सभी पदार्थों में व्याप्त रहता है एवं प्रत्येक मिश्रण प्रक्रिया में इसका मिश्रित रहना अनिवार्य है।

७०. ऋतस्य योनिः — [ऋतम् = अग्निर्वा ऋतम् (तै.ब्रा.२.१.११.१), ऋतमित्येष

(सूर्य्यः) वै सत्यम् (ऐ.ब्रा.४.२०), ऋतस्य (निरु.६.२२)] यह पदार्थ अग्नि एवं सूर्य्यादि पदार्थों का निवास एवं उत्पत्ति का स्थान वा कारण है। इसके साथ ही यह सभी संयोगादि क्रियाओं का भी हेतु है।

७१. सत्यम् — [सत्यम् = तद्यत्तत्सत्यम् त्रयी सा विद्या (श.ब्रा.९.५.१.१८)] त्रयी विद्या अर्थात् विभिन्न वाक् रश्मियाँ एवं प्राण तत्त्व ही सत्यम् संज्ञक उदक हैं। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ प्राण एवं वाक् रश्मियों का ही रूप होता है।

७२. नीरम् — यह पद 'णीञ् प्रापणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सभी पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें वहन करने में सहायक होता है।

७३. रयिः — यह पद 'रीङ् स्रवणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सभी पदार्थों में भरा होने से उनमें से निरन्तर रिसता रहता है।

७४. सत् — यह पदार्थ प्राण व छन्द रश्मियों के रूप में सम्पूर्ण सृष्टि काल तक विद्यमान रहने के कारण सत् कहाता है।

७५. पूर्णम् — यह पद 'पॄ पालनपूरणयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि यह पदार्थ सभी पदार्थों को पूर्णता से भरता हुआ उनका पालन व रक्षण करता है।

७६. सर्वम् — यह पदार्थ सर्वत्र सरकता हुआ नाना पदार्थों का उत्पादक होकर सर्वरूप होता है अर्थात् सभी पदार्थ इसी का ही संघनित रूप हैं।

७७. अक्षितम् — यह एक ऐसा पदार्थ है, जिसका क्षय कभी नहीं होता, बल्कि यह अन्य पदार्थों में रूपान्तरित होता रहता है।

७८. बर्हिः — इस पदार्थ के अन्दर ही अथवा इसी पदार्थ के द्वारा सभी पदार्थ वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही यह पदार्थ स्वयं भी उत्पन्न होते ही वृद्धि को प्राप्त होने लगता है, इस कारण इसे बर्हि कहते हैं।

७९. नाम — यह पदार्थ सभी पदार्थों की ओर झुकता हुआ एवं सभी पदार्थों को अपनी ओर झुकाता हुआ गमन करता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सभी पदार्थों की ओर आकृष्ट होता हुआ एवं उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ गमन करता है।

८०. **सर्पिः** — यह पदार्थ सभी पदार्थों के साथ मिश्रित होकर उनमें रमण करता हुआ उनकी रक्षा करता है अर्थात् उनका अस्तित्व बनाए रखने में अपनी भूमिका निभाता है।

८१. **अपः** — यह पदार्थ सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त होकर उसकी रक्षा करने में सहायक होता है। इसी के कारण पदार्थ संघनित-संकुचित होकर नाना रूपों में प्रकट होता है।

८२. **पवित्रम्** — यह पदार्थ असुरादि पदार्थों से स्वयं सुरक्षित रहता तथा अन्य पदार्थों को भी सुरक्षित रखता है, इस कारण इसे पवित्र कहते हैं।

८३. **अमृतम्** — इस पदार्थ का सृष्टिपर्य्यन्त नाश नहीं होता, इस कारण इसे अमृत कहते हैं। इसके साथ ही इस पदार्थ में प्राण रश्मियाँ सदैव विद्यमान रहती हैं।

८४. **इन्दुः** — इस पद की व्युत्पत्ति 'ञिइन्धी दीप्तौ', 'उन्दी क्लेदने' एवं 'इदि परमैश्वर्ये' धातुओं से मानी गयी है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ सभी पदार्थों को सिंचित करता हुआ उन्हें दीप्तियुक्त करता और उन्हें नियन्त्रित भी करता है।

८५. **हेम** — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द उ.को.४.१४६ के भाष्य में लिखते हैं— 'हिनोति वर्धते येन तत् हेम' अर्थात् इस पदार्थ के द्वारा ही सभी पदार्थ गति व वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

८६. **स्वः** — जो व्यानरूप होकर सभी पदार्थों की नानाविध चेष्टा का कारण है, उसे 'स्वः' कहते हैं। ध्यातव्य है कि इस पदार्थ की रश्मियों के अभाव में कोई पदार्थ कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकता।

८७. **सर्गाः** — यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों को निरन्तर त्यागते व ग्रहण करते हुए नाना पदार्थों को रचता है।

८८. **शम्बरम्** — इस पद की व्याख्या मेघवाची पदों में कर चुके हैं। पाठक इसे प्रसंगानुकूल व्याख्यात कर सकते हैं।

८९. **अभ्वम्** — 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इसे आङ्पूर्वक 'भू सत्तायाम्' धातु से व्युत्पन्न माना है तथा आङ् को ह्रस्वादेश माना है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ हमारे सब ओर विद्यमान है अर्थात् यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान है।

९०. वपुः — यह पदार्थ सभी पदार्थों का बीजवपन करने वाला है।

९१. अम्बु — इसे अन्तरिक्ष नामों में व्याख्यात अम्बर शब्द की भाँति विज्ञ पाठक स्वयं समझ लेवें।

९२. तोयम् — 'निघण्टु-निर्वचनम्' में इस पद को 'तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः' (निरु.९.२५) धातु से व्युत्पन्न माना है। इसका तात्पर्य है कि यह पदार्थ स्वयं वर्धमान होता हुआ नाना क्रियाओं को समृद्ध करता है।

९३. तूयम् — इस पद की व्युत्पत्ति पूर्व धातु से ही निपातित मानी गयी है। यह तोयम् की अपेक्षा कुछ निर्बल होता है।

९४. कृपीटम् — इस पद का निर्वचन करते हुए ऋषि दयानन्द उणादि-कोष भाष्य में लिखते हैं— 'कल्पतेऽसौ कृपीटम्' (उ.को.४.१८६)। सृष्टि के नाना पदार्थों को रचने में समर्थ होने के कारण इसे 'कृपीटम्' कहते हैं। इसके साथ सृष्टि के पदार्थ इस पदार्थ के द्वारा ही अपनी-२ क्रियाएँ सम्पादित करने में समर्थ होते हैं।

९५. शुक्रम् — यह पद 'शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघं.१.१६) धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों में तेज की उत्पत्ति करता है। तेजस्वी पदार्थों में इस पदार्थ की मात्रा अधिक होती है।

९६. तेजः — यह पद 'तिज निशाने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों पर तीक्ष्णता से प्रहार करने वाला भी होता है। इससे प्रतीत होता है कि वज्रादि रश्मियाँ इसी उदक का रूप होती हैं।

९७. स्वधा — यह पदार्थ ही सभी तेजस्वी लोकों का धारक व पोषक होने के कारण स्वधा कहलाता है। विभिन्न वैद्युत बलों का भी यही पदार्थ धारक व पोषक है। इस कारण इसे स्वधा कहते हैं।

९८. वारि — इस पद का निर्वचन करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष ४.१२६ के भाष्य में लिखा है— 'वारयति निवारयतीति वारिः' अर्थात् यह पदार्थ किसी भी संयोज्य व संघनन प्रक्रिया में असुरादि बाधक पदार्थों की बाधा को दूर करता है, इस कारण वारि कहलाता है। इसके साथ ही यह विभिन्न पदार्थों को आच्छादित करता है।

९९. जलम् — यह पद 'जल घातने' अथवा 'जल अपवारणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों को आच्छादित करता तथा उन्हें तीक्ष्ण भी करता है।

१००. जलाषम् — इस पद को निघं.३.६ में सुख नामों में भी संगृहीत किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इस पदार्थ की रश्मियाँ आकाश तत्त्व को अच्छी प्रकार धारण करके दो संयोज्य पदार्थों के मध्य संयोग प्रक्रिया को सहज बनाने में सहायक होती हैं किंवा ये रश्मियाँ ही उस प्रक्रिया को सम्पादित करती हैं।

१०१. इदम् — इसकी व्युत्पत्ति करते हुए उणादि-कोष ४.१५८ के भाष्य में ऋषि दयानन्द लिखते हैं— 'इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति'। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ अपनी विशेष बलवती रश्मियों के द्वारा सभी पदार्थों को नियन्त्रित करता है।

उदक पद के पश्चात् नदी पद की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि निघण्टु में अगले ३७ नाम नदी नामवाची हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

अवनयः। यव्याः। खाः। सीराः। स्रोत्याः। एन्यः। धुनयः। रुजानाः। वक्षणाः। खादोअर्णाः। रोधचक्राः। हरितः। सरितः। अग्रुवः। नभन्वः। वध्वः। हिरण्यवर्णाः। रोहितः। सस्रुतः। अर्णाः। सिन्धवः। कुल्याः। वर्यः। उर्व्यः। इरावत्यः। पार्वत्यः। स्रवन्त्यः। ऊर्जस्वत्यः। पयस्वत्यः। सरस्वत्यः। तरस्वत्यः। हरस्वत्यः। रोधस्वत्यः। भास्वत्यः। अजिराः। मातरः। नद्यः।

यहाँ ग्रन्थकार 'नदी' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः' अर्थात् नदीवाची पदार्थ निरन्तर अव्यक्त शब्द उत्पन्न करते रहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने नदी को शब्दवती कहा है। इस कारण यह 'नदी' पद 'नद अव्यक्ते शब्दे' धातु से निष्पन्न होता है। अब 'शब्द' पद पर भी विचार कर लेते हैं। यह पद 'शब्द आविष्कारे भाषणे च' धातु से निष्पन्न होता है। इससे यह संकेत मिलता है कि नदीवाची पदार्थ न केवल अव्यक्त शब्द उत्पन्न करने वाले होते हैं, अपितु वे नाना प्रकार की संयोज्य क्रियाओं को करते हुए नाना पदार्थों को उत्पन्न करने वाले भी होते हैं। वे जिस पदार्थ के सम्पर्क में आते हैं, उस पदार्थ में कुछ विकार उत्पन्न करके नवीन पदार्थों को जन्म देते हैं। लोकप्रसिद्ध नदियाँ भी यह कार्य करती हैं, ऐसा सर्वविदित है। इसी प्रकार आकाश में

बहने वाली नदियाँ अर्थात् सूक्ष्म पदार्थ की धाराएँ भी ऐसे ही गुणों से युक्त होती हैं। इसके आगे ग्रन्थकार लिखते हैं कि इन नदियों का वेदों में नैघण्टुक अर्थात् गौण वर्णन बहुलता से पाया जाता है अर्थात् उन वेदमन्त्रों में देवता कोई और होता है और नदीनाम गौण रूप से विद्यमान होता है। ऐसे मन्त्रों की संख्या ही अधिक होती है, जबकि जिन मन्त्रों में नदी प्रधान रूप से देवता के रूप में विद्यमान है, ऐसे मन्त्र वेदों में आश्चर्य के रूप में ही विद्यमान होते हैं अर्थात् ऐसे मन्त्र बहुत कम होते हैं।

इस विषय में एक नित्य इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव विश्वामित्रः सर्वमित्रः सर्वं संसृतम् सुदाः कल्याणदानः पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः पिजवनः पुनः स्पर्धनीय जवो वा अमिश्रीभावगतिर्वा'। यहाँ विश्वामित्र उस पदार्थ का नाम है, जो सबको आकृष्ट करने वाला और सर्वत्र व्याप्त है। इस सृष्टि पर विचार करें, तो ऐसा जड़ पदार्थ केवल 'ओम्' रश्मि ही है। ये रश्मियाँ ब्रह्माण्ड के सभी सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों के आकर्षण बल का ईश्वर के पश्चात् सबसे मूल कारण हैं, इस कारण इन्हें यहाँ 'सर्वमित्र' कहा गया है। सर्वमित्र होने के साथ-२ ये रश्मियाँ 'सर्वं संसृतम्' भी कही जाती हैं, जिसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में पूरी तरह व्याप्त रहती हैं। हमारे इस मत की पुष्टि करते हुए एक तत्त्वदर्शी ने लिखा है— 'वाग्वै विश्वामित्रः' (कौ.ब्रा.१०.५)। यहाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाली 'ओम्' रूपी वाक् रश्मि ही 'विश्वामित्र' है। इसी वाक् रश्मि के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास ने कहा है— 'वाचा वै वेदाः संधीयन्ते वाचा छन्दांसि वाचा मित्राणि संदधति वाचा सर्वाणि भूतान्यथो वागेवेदं सर्वमिति' (ऐ.आ.३.१.६) अर्थात् ये विश्वामित्र संज्ञक 'ओम्' रश्मियाँ सभी वेदों को धारण करती हैं। वे न केवल छन्द रश्मियों, अपितु सभी प्रकार के उत्पन्न पदार्थों को धारण करती हैं। इसलिए भी इन्हें विश्वामित्र कहते हैं। इस रश्मि को ऋषि इस कारण कहते हैं, [ऋषिः = प्राणा ऋषयः (श.ब्रा.७.२.३.५)] क्योंकि 'ओम्' रश्मियाँ प्राण रूप होकर सबको बल और गति प्रदान करती हैं।

अब 'पैजवन' के विषय में यहाँ कहा गया है कि पिजवन नामक पदार्थ से उत्पन्न पदार्थ पैजवन कहलाता है और पिजवन उस पदार्थ का नाम है, जो प्रशस्त एवं क्षुद्र गति से युक्त होते हैं अर्थात् इनकी गति किसी अन्य पदार्थ की गति के साथ मिश्रित होकर न्यून वा अधिक नहीं होती अर्थात् इनकी गति किसी के साथ मिश्रित ही नहीं हो सकती। ऐतरेय

ब्राह्मण के ३९वें अध्याय में पिजवन नामक क्षत्रिय पदार्थ की चर्चा है और यह भी चर्चा है कि भेदक शक्तिसम्पन्न तरंग वा कण क्षत्रिय कहलाते हैं। इस प्रकार पिजवन ऐसे कण वा तरंग हैं, जिनकी गति सदैव अपरिवर्तित रहती है। वर्तमान भौतिकी पर विचार करें, तो विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति एक ही माध्यम में सदैव समान रहती है। सघन माध्यम में वास्तव में गति परिवर्तित नहीं होती, बल्कि विभिन्न कणों के द्वारा बार-२ अवशोषण एवं उत्सर्जन के कारण उसकी गति परिवर्तित होती हुई प्रतीत होती है। इस कारण सामान्य रूप से गामा किरणों को पिजवन कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त न्यूट्रिनो आदि कण भी इसी श्रेणी में आ सकते हैं।

इसके अनन्तर 'सुदासः' पद पर विचार करते हैं— यह पद 'सुदाः' पद का षष्ठी विभक्ति एकवचन है और 'सुदाः' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'कल्याणदानयुक्त पदार्थ'। कल्याण पद के विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'कल्याणं कमनीयं भवति' (निरु.२.३)। इसका अर्थ यह है कि पिजवन नामक पदार्थ कणों वा विकिरणों से उत्पन्न होता है अथवा यहाँ स्वार्थ में तद्धित का प्रयोग मानकर उन पिजवन नामक पदार्थों में कमनीय अर्थात् आकर्षण एवं प्रकाश आदि गुण विद्यमान होते हैं। ऐसे कण और विकिरण रूप क्षत्रिय पदार्थों का पुरोहित विश्वामित्र नामक वाक् रश्मियों को कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ये कण वा विकिरण अपने अग्रभाग में 'ओम्' रश्मियों को धारण करते हुए गमन करते हैं। अब क्योंकि 'ओम्' रश्मियाँ अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वव्यापक होती हैं, इस कारण वाक् एवं विश्वामित्र का अर्थ अनुष्टुप् छन्द रश्मि एवं प्राणापान युग्म मानना इस प्रसङ्ग में अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। इसके साथ ही प्राण और अपान के युग्म का भी वाक् के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ आर्ष वचनों को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं— वाग्वा अनुष्टुप् (ऐ.ब्रा.१.२८; गो.उ.६.१६; तै.ब्रा.१.८.८.२), वागनुष्टुप् (कौ.ब्रा.५.६; श.ब्रा.१०.३.१.१; तां.ब्रा.५.७.१), वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः (गो.उ.३.६, ऐ.ब्रा. ३.८)।

यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि 'ओम्' रश्मि तो सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु प्राणापान एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मि को विश्वामित्र कैसे कहा जा सकता है? इस विषय में हमारा मत यह है कि वर्तमान भौतिकी के द्वारा अब तक उपलब्ध किये साधनों अथवा निकट भविष्य में विकसित की जा सकने वाली तकनीक की दृष्टि से अनुष्टुप् एवं

प्राणापान रश्मियाँ सर्वत्र ही विद्यमान प्रतीत होंगी। इस कारण इस प्रकरण में इन्हें विश्वामित्र कहना भी सर्वथा तर्कसङ्गत है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ अनुययुरितरे'। हम सर्वप्रथम यहाँ विपाट् नदी पर विचार करते हैं। इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'आर्जीकीयां विपाडित्याहुः ऋजीकप्रभवा वा ऋजुगामिनी वा विपाड् विपाटनाद्वा विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा' (निरु.९.२६) [ऋजीकः = अर्जति गच्छतीति ऋजीकः (उ.को.५.५१)। विपाट् = या विविधं पटति गच्छति विपाटयति वा सा (म.द.ऋ.भा. ३.३३.१)। विपाशम् = विगता पाट् बन्धनं यस्यां ताम् (म.द.ऋ.भा.३.३३.३)। वसिष्ठः = अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐ.ब्रा.१.२८)]

इसका तात्पर्य यह है कि विपाट् नदी उन सूक्ष्म पदार्थों की धाराओं का नाम है, जो उत्पन्न होते समय सरल गति वाली होती हैं, किन्तु उसके कुछ समय पश्चात् वे विविध प्रकार की विक्षोभकारी अथवा भेदनकारी गतियों से युक्त होने लगती हैं, इसलिए इनको 'विपाट्' कहते हैं। इन्हीं धाराओं को विपाशा भी इस कारण कहते हैं, क्योंकि ब्रह्माण्ड के जिन क्षेत्रों में, वे क्षेत्र किसी कॉस्मिक मेघ के अन्तर्गत भी हो सकते हैं अथवा अन्य किसी स्थान पर भी, जहाँ अग्नि मन्द होने लगता है, वहाँ ये धाराएँ पाशमुक्त होकर उस अग्नि को पुनः प्राणवान् बनाती अथवा सक्रिय करती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि वे कौन से पाश अर्थात् बन्धन हैं, जो इन विपाशा संज्ञक धाराओं को गमन करते समय जकड़े रहते हैं और मन्द अग्नि वाले क्षेत्रों में प्रवेश करते ही वे बन्धन छूट जाते हैं? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि यह पाश वरुण पाश हो सकता है, जो प्राण, अपान और व्यान के विशेष संयोग से उत्पन्न होता है। इसके विषय में अधिक जानकारी के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ७.१६.५ पढ़ें। वहाँ इस प्रकरण में तारों के अन्दर नाभिकीय संलयन प्रक्रिया के प्रारम्भ होने का क्रिया-विज्ञान दर्शाया गया है। उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण ३३ वाँ अध्याय इसी विज्ञान से सम्बन्धित है।

अब हम 'शुतुद्री' नदी पर विचार करते हैं। इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविणी आशु तुन्नेव द्रवतीति वा' अर्थात् सूक्ष्म पदार्थों की ऐसी

धाराएँ, जो अति तीव्र गति से गमन करती हैं तथा उनका स्वरूप ऐसा होता है, जैसे वे किसी पदार्थ विशेष से बँधी हुई हों। हमारे मत में इन धाराओं के बाहरी भाग में सूत्रात्मा वायु और बृहती छन्द रश्मियों की बहुलता अपेक्षाकृत अधिक होती है। ये दोनों प्रकार की धाराएँ किसी तारे वा कॉस्मिक मेघ अथवा किसी क्षेत्र विशेष में पारस्परिक संगम करती हैं। यहाँ ग्रन्थकार लिखते हैं कि वे विश्वामित्र नामक अनुष्टुप् वा प्राणापान रश्मियाँ उन पैजवन सुदा नामक तरंगों को लेकर इन उपर्युक्त दोनों धाराओं के संगम स्थान पर पहुँचती हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि हमने 'वित्तम्' पद का अर्थ पैजवन सुदा क्यों ग्रहण किया? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि यह पद 'विद् लाभे' धातु से व्युत्पन्न होता है और वे अनुष्टुप् और प्राणापान रश्मियाँ पैजवन सुदा नामक तरंगों को ही धारण किये हुए होती हैं, इस कारण वे ही इन विश्वामित्र संज्ञक रश्मियों का 'वित्त' हैं। विश्वामित्र संज्ञक अनुष्टुप् आदि रश्मियों के साथ कुछ अन्य प्राण व छन्दादि रश्मियाँ भी उनका अनुगमन करती हैं, इस कारण वे भी इनके साथ इन संगम स्थानों पर आ पहुँचती हैं।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव गाधा भवत इति' अर्थात् उस संगम स्थान पर वे अनुष्टुप् वा प्राणापान रश्मियाँ सङ्गत हुई दोनों धाराओं को प्रदीप्त करने लगती हैं। इस समय उन प्राणापान रश्मियों से 'गाधा भवत' लघु छन्द रश्मि उत्पन्न हो जाती है। इसका छन्द निचृत् याजुषी गायत्री है। 'गाधा' पद 'गाहू विलोडने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस लघु छन्द रश्मि के प्रभाव से उस संगम स्थान अर्थात् तारों के केन्द्र अथवा कॉस्मिक मेघों के क्षेत्र विशेषों में भारी विक्षोभ और विलोडन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

वेद में ये नदीवाची शब्द द्विवचन और बहुवचन दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हैं, जिनकी व्याख्या आगे की जायेगी।

* * * * *

= पञ्चविंशः खण्डः =

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।

प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥ [ऋ.३.३३.५]
उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिने। ऋतावरीर्ऋतवत्यः।
ऋतमित्युदकनाम। प्रत्यृतं भवति। मुहुर्तमेवैरयनैरवनैर्वा। मुहूर्तो मुहुर्ऋतुः।
ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः। मुहुर्मूढ इव कालः। यावदभीक्ष्णं चेति।
अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति। क्षणः क्षणोतेः। प्रक्ष्णुतः कालः।
कालः कालयतेर्गतिकर्मणः। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वावनाय। कुशिकस्य सूनुः।
कुशिको राजा बभूव। क्रोशतेः शब्दकर्मणः।
क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाशयतिकर्मणः। साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा।
नद्यः प्रत्यूचुः ॥ २५ ॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। इसका अर्थ यह है कि इसकी उत्पत्ति किन्हीं अनुष्टुप् रश्मियों अथवा प्राणापान के युग्म से होती है। इसका देवता नद्यः तथा छन्द स्वराड् पंक्ति है। इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से तारों अथवा कॉस्मिक मेघों के अन्दर सूक्ष्म पदार्थों की धाराएँ दीप्ति और विस्तार प्राप्त करती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (ऋतावरीः) 'ऋतावरीर्ऋतवत्यः ऋतमित्युदकनाम प्रत्यृतं भवति' अर्थात् तारों वा कॉस्मिक मेघों में प्रवाहित होने वाली सूक्ष्म पदार्थों की धारायें, पूर्व खण्ड में वर्णित 'उदक' नामक सूक्ष्म पदार्थों से युक्त होती हैं। वे उदक नामक पदार्थ उन धाराओं में सर्वत्र व्याप्त होते हैं तथा वे विभिन्न पदार्थों को सिंचित करके उनके अन्दर व्याप्त हो जाते हैं। उन उदक संज्ञक पदार्थों से युक्त विभिन्न धाराएँ (मे, वचसे, सोम्याय) 'सोमसम्पादिने' इन छन्द रश्मि की उत्पादिका प्राणापान रश्मियों वा अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से उत्पन्न अन्य वचन अर्थात् छन्द रश्मियों [सोम्याः = सोमसम्पादिनः (निरु.११.१८), सोम्यम् = सोममयम् (निरु.१०.३७)] जो सोम सम्पादन में समर्थ होती हैं अर्थात् जिनसे सोमप्रधान कणों की धाराएँ आकृष्ट होने लगती हैं, को उत्पन्न करने के लिए (मुहूर्तम्) 'मुहूर्तो मुहुर्ऋतुः ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः मुहुर्मूढ इव कालः यावदभीक्ष्णं चेति अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति क्षणः क्षणोतेः प्रक्ष्णुतः कालः कालः कालयतेर्गतिकर्मणः' 'मुहुः' पद की व्युत्पत्ति

करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष २.१२२ में लिखा है— 'मुह्यति भ्रान्तो भवतीति मुहुः पौनःपुन्येऽर्थेऽव्ययं वा' अर्थात् मुहूर्त भर अर्थात् कुछ समय के लिए [यहाँ 'मुहूर्त' उस समयावधि के लिए कहा गया है, जो अति अल्प होने के कारण अर्थात् क्षण मात्र होने के कारण आता-जाता प्रतीत भी नहीं होता, परन्तु ऐसा समय भी प्रत्येक पदार्थ को क्षीण करता हुआ चला जाता है। यहाँ 'काल' शब्द के निर्वचन से यह दर्शाया गया है कि यह प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त होकर उसे गति व प्रेरणा प्रदान करता है, साथ ही उसकी आयु को हरता चला जाता है।] (एवैः) 'अयनैरवनैर्वा' ऋषिरूप वा अनुष्टुप् रश्मियों की रक्षण एवं गमन आदि क्रियाओं वा गुणों के द्वारा (उप, रमध्वम्) रुक जाती हैं अर्थात् उन सभी धाराओं का वहाँ संगम होता है। यहाँ 'लट्' अर्थ में 'लोट्' का प्रयोग है। (प्र, अच्छा, अह्वे) 'प्राभिह्वयामि' अर्थात् वे ऋषिरूप प्राणापान वा अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ सम्यक् प्रकार से सूक्ष्म पदार्थों की उन धाराओं को अपनी रक्षण शक्तियों एवं गतिशीलता के द्वारा आकृष्ट करती हैं। ध्यातव्य है कि प्राणापान का युग्म विद्युत् का अति सूक्ष्म रूप है और अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अन्य रश्मियों, तरंगों वा कणों को अनुकूलतापूर्वक थामने वाली होती हैं।

(सिन्धुम्, बृहती, मनीषा) 'सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा' [सिन्धुः स्रवणात् (निरु.५.२७), सिन्धूनां स्यन्दमानानाम् (निरु.१०.५), तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.२९.९)] अर्थात् वे प्राणापान अथवा विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उन तारों वा कॉस्मिक मेघादि पदार्थों में मनस्तत्त्व द्वारा प्रेरित व प्रकाशित होकर सिन्धुरूपी ऐसी धाराओं, जो सम्पूर्ण क्षेत्र में विद्यमान संलयनीय कणों को बाँधने वाली होती हैं, को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होती हैं। (अवस्युः) 'अवनाय' अर्थात् विभिन्न कणों के संलयन वा संयोजन आदि की प्रक्रियाओं को समर्थ और संरक्षित बनाने के लिए ही ऋषि संज्ञक प्राणापान व अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा ही ये सारी क्रियाएँ होती हैं।

अब मन्त्र के अन्त में इसके ऋषि के विषय में कहा है— (कुशिकस्य, सूनुः) इसका निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'कुशिकस्य सूनुः कुशिको राजा बभूव क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा'।

'कुशिक' के विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य में

लिखा है—

"कुशिक क्या है, इस विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण प्रकाश डालता है— अथ यत् सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत् सऽस्य [आदित्यस्य] कौशिकता (तै.ब्रा. १.५.१०.२) कुशी रूपी अत्यन्त सूक्ष्म चक्र सूर्य के पास है। उसी से सम्बन्ध रखने वाला कोई कुशिक है। उसी के पुत्र का = उसी से उत्पन्न हुए का इस मन्त्र में कथन है।"

हमारे मत में यह चक्र सूर्य के बाहर नहीं, बल्कि उसके केन्द्रीय भाग (नाभिक) के चारों ओर विद्यमान है अर्थात् यह उस नाभिक की बाहरी परिधि के ऊपर स्थित सन्धि भाग के रूप में विद्यमान है। इसकी जानकारी हेतु 'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ पठनीय है। यह सन्धिभाग सम्पूर्ण सूर्य को सुवर्ण एवं रजत वर्ण की तरंगों के द्वारा थामे रखता है। ऐसा ही आशय हमें तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस उद्धरण का प्रतीत होता है। यह सन्धि भाग ही कुशिक और इससे आकृष्ट सूर्य भी कुशिक वा कौशिक कहलाता है।

इस कुशिक नामक चक्र वा परिधि की शक्तियों से ही सूर्यलोक उत्पन्न, प्रकाशित वा धारण किया हुआ होता है। यहाँ उत्पन्न होने का तात्पर्य यही है कि इसके द्वारा आकृष्ट होकर पदार्थ संघनित होता है। प्रकाशित होने से ही सूर्य को राजा कहा है। इस क्षेत्र में भारी नाद होता रहता है और प्रकाश भी उत्पन्न होता रहता है। इसके साथ ही यह विभिन्न पदार्थों अर्थात् आने वाले पदार्थों की धाराओं को प्रकाशित करता है। इस क्षेत्र को कुशिक का पुत्र कहने का तात्पर्य यह है कि विश्वामित्र संज्ञक प्राणापान रश्मियाँ एवं विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ यहीं पर विशेष सक्रिय रहतीं एवं उत्पन्न होती रहती हैं। यद्यपि ऐसा सम्पूर्ण तारे में होता है अर्थात् ये रश्मियाँ सर्वत्र होती हैं, परन्तु इस क्षेत्र में विशेष रूप से विद्यमान व सक्रिय रहती हैं।

भावार्थ— कॉस्मिक मेघों वा तारों में प्रवाहित होने वाली सूक्ष्म पदार्थों की धाराएँ उदक नामक सूक्ष्म पदार्थों से युक्त होती हैं। वे धाराएँ अन्य उन धाराओं, जो सोम प्रधान पदार्थ को आकृष्ट करती रहती हैं, को उत्पन्न करने के लिए परस्पर मिश्रित होती रहती हैं। प्राणापान का युग्म सूक्ष्म विद्युत् का रूप है। छन्द रश्मियाँ उन धाराओं को परस्पर अनुकूलतापूर्वक बाँधे रहती हैं। इन धाराओं में संलयनीय कण विद्यमान होते हैं। सूर्य के केन्द्रीय भाग के बाहर एक सन्धि क्षेत्र होता है। यह क्षेत्र सुनहरे एवं चाँदी जैसे रंग की

तरंगों के द्वारा सम्पूर्ण सूर्य को थामे रखता है। यही भाग संलयनीय पदार्थ को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट करता रहता है। इस क्षेत्र में अत्यन्त उच्च ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं।

यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने ग्रन्थकार द्वारा ऐतिहासिक कुशिक के पुत्र विश्वामित्र के राजा बनने की बात को भी स्वीकार किया है अर्थात् उनके मत में ग्रन्थकार ने सृष्टि के कुशिक व विश्वामित्र की चर्चा करते हुए यह ऐतिहासिक चर्चा भी कर दी। हमें इससे कोई विशेष आपत्ति नहीं है, परन्तु फिर भी वैदिक विज्ञान की चर्चा करते-करते मानवीय इतिहास की चर्चा करना उचित प्रतीत नहीं होता, विशेषकर एक महान् वेदद्रष्टा ऋषि द्वारा। यदि ऐसा मानें, तो अन्यत्र भी ऐसा करना मानना होगा, जो उचित नहीं होगा।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (रमध्वम्) क्रीडध्वम् (मे) मम (वचसे) वचनाय (सोम्याय) सोम इव शान्तिगुणयुक्ताय (ऋतावरीः) ऋतं पुष्कलमुदकं विद्यते यासु ताः (उप) (मुहूर्त्तम्) कालावयवम् (एवैः) प्रापकैर्गुणैः (प्र) (सिन्धुम्) समुद्रम् (अच्छ) सम्यक्। अत्र निपातस्य चेति दीर्घः। (बृहती) महती (मनीषा) प्रज्ञा (अवस्युः) आत्मनोऽव इच्छुः (अह्वे) प्रशंसामि (कुशिकस्य) विद्यानिष्कर्षप्राप्तस्य। अत्र वर्णव्यत्ययेन मूर्द्धन्यस्य तालव्यः। (सूनुः) अपत्यमिव वर्त्तमानः।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा नद्यः समुद्राऽभिमुखं गच्छन्ति तथैव मनुष्या विद्याधर्म्यव्यवहारं प्रत्यभिगच्छन्तु येन सुखेन समयो गच्छेत्।

पदार्थ— हे मनुष्यो! आप लोग जैसे (ऋतावरीः) बहुत जलों से युक्त नदी (सिन्धुम्) समुद्र को (उप) प्राप्त और स्थिर होती हैं वैसे ही (एवैः) प्राप्त कराने वाले गुणों से (मुहूर्त्तम्) दो-दो घड़ी (मे) मेरे (सोम्याय) चन्द्रमा के तुल्य शान्ति गुणयुक्त (वचसे) वचन के लिये (रमध्वम्) क्रीड़ा करो वैसे ही (कुशिकस्य) विद्या के निचोड़ को प्राप्त हुए सज्जन के (सूनुः) पुत्र के सदृश वर्त्तमान (अवस्युः) अपने को रक्षा चाहने वाला मैं जो (बृहती) बड़ी (मनीषाः) बुद्धि उस की (अच्छ) उत्तम प्रकार (प्र) (अह्वे) प्रशंसा करता हूँ।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे नदियाँ समुद्र के सम्मुख जाती हैं, वैसे ही मनुष्य लोग विद्या और धर्मसम्बन्धी व्यवहार को प्राप्त हों, जिससे सुखपूर्वक समय व्यतीत होवे।''

यहाँ पूर्वोक्त आख्यान को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि जब प्राणापान एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मियों रूपी विश्वामित्र ऋषि रश्मियाँ नदी संज्ञक पदार्थ की विभिन्न धाराओं को प्रकाशित कर रही थीं, उस समय वे धाराएँ उन विश्वामित्र रश्मियों का प्रतिरोध कर रही थीं। तब उन नदी संज्ञक धाराओं में एक छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जो अगले खण्ड में वर्णित है।

* * * * *

= षड्विंशः खण्डः =

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ [ऋ.३.३३.६]
इन्द्रो अस्मानरदद्वज्रबाहुः। रदतिः खनतिकर्मा।
अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम्। देवोऽनयत्सविता।
सुपाणिः कल्याणपाणिः। पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः।
प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति। तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। उर्व्य ऊर्णोतेः।
वृणोतेरित्यौर्णवाभः। प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवुः ॥ २६ ॥

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ (ऋ.३.३३.६)

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र एवं देवता नद्यः होने का अर्थ पूर्ववत् समझें। इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से तीव्र तेज और बलों की विशेष वृद्धि होती है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऊपर नदी संज्ञक धाराओं में इस छन्द रश्मि के उत्पन्न होने की चर्चा की गई है, जबकि यहाँ विश्वामित्र ऋषि रश्मियों के द्वारा इसकी उत्पत्ति की

बात की गई है, यह परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है। हमारे मत में इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति नदी संज्ञक धाराओं के अन्दर भी विश्वामित्र ऋषि रश्मियों से होती है और यह उत्पत्ति उस समय होती है, जब नदी संज्ञक धाराओं एवं विश्वामित्र ऋषि संज्ञक रश्मियों में परस्पर संघर्षण होता है।

आधिदैविक भाष्य— (इन्द्रः, वज्रबाहुः) [प्राणापानौ वा अस्य (इन्द्रस्य) हरी तौ हीदं सर्वं हर्तारौ हरतः (जै.ब्रा.२.७९)] प्राणापान संज्ञक वज्र रश्मियों के बाहुओं वाला इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् (अस्मान्) [यहाँ 'अस्माभिः' के स्थान पर व्यत्यय से 'अस्मान्' का प्रयोग है।] अर्थात् प्राणापान वा अनुष्टुप् छन्द रश्मि रूप विश्वामित्र रश्मियों के द्वारा (अरदत्) 'रदतिः खनतिकर्मा' उन नदी संज्ञक विभिन्न धाराओं को खोदती है अर्थात् उस क्षेत्र में भारी उथल-पुथल होने लगती है। ध्यातव्य है कि उपरिवर्णित जैमिनीय वचनानुसार प्राणापान रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व के हाथ के समान हैं। इस प्रकार 'अस्मान्' के स्थान पर 'अस्माभिः' का हमारा प्रयोग पूर्णतः तर्कसङ्गत सिद्ध होता है। यहाँ 'खन्' धातु का प्रयोग अथवा 'रद विलेखने' का प्रयोग यह दर्शाता है कि तारों के केन्द्रीय भाग के बाहरी सन्धि क्षेत्र में बाहर से आने वाले पदार्थ की धाराएँ अत्यन्त विक्षुब्ध होकर नाना विकारों को प्राप्त करने लगती हैं।

(अपाहन्, वृत्रम्, परिधिम्, नदीनाम्) वहाँ इन्द्रतत्त्व नदी संज्ञक उन धाराओं के चारों ओर विद्यमान वृत्र अर्थात् आच्छादक असुर पदार्थ को नष्ट करता है। [वृत्रः = वृत्रो वै सोम आसीत् (श.ब्रा.३.४.३.१३)] इसके साथ ही वह इन्द्र तत्त्व उन नदी संज्ञक धाराओं में विद्यमान सोम्य कणों अर्थात् विद्युत् ऋणावेशित पदार्थ को अपने अन्दर व्याप्त कर लेता है। इससे उन धाराओं में विद्यमान समस्त पदार्थ आग्नेय एवं सोम्य अर्थात् धनात्मक एवं ऋणात्मक दो भागों में विभाजित होने लगता है।

(देवः, सविता, अनयत्, सुपाणिः) 'देवोऽनयत्सविता सुपाणिः कल्याणपाणिः पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति' [सविता = सविता वै देवानां प्रसविता (जै.ब्रा.२.३७१; श.ब्रा.१.१.२.१७)। 'पूज्' धातु का प्रयोग उपहार देने और स्वागत करने में भी होता है— आ.को.] तदुपरान्त नाना प्रकार के देव पदार्थों को उत्पन्न करने वाला तारों का केन्द्रीय भाग अपनी कमनीय वा आकर्षण बल युक्त रश्मियों के द्वारा उपर्युक्त नदी

संज्ञक धाराओं को अपनी ओर आकृष्ट करके अपने साथ संयुक्त करने लगता है। ध्यातव्य है कि यह आकृष्ट हुआ पदार्थ वही होता है, जो संलयित होकर देव कणों का निर्माण करने में सक्षम होता है।

(तस्य, वयम्, प्रसवे, यामः, उर्वीः) 'तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः उर्व्य ऊर्णोतेः वृणोतेरित्यौर्णवाभः' उस आदित्य लोक के प्रसव क्षेत्र अर्थात् केन्द्रीय भाग में विश्वामित्र संज्ञक अनुष्टुप् वा प्राणापान रश्मियाँ सम्पूर्ण क्षेत्र को आच्छादित करती हुई व्याप्त होने लगती हैं, जिसके साथ-२ संलयनीय पदार्थ की धाराएँ भी वहाँ फैलने लगती हैं। यहाँ 'उर्वी' धातु को वरण करने अर्थ में महर्षि और्णवाभ ने ग्रहण किया है। उसी अर्थ का हमने यहाँ प्रयोग किया है।

भावार्थ— तारों में नदियों के समान पदार्थ की विशाल धाराएँ बहती रहती हैं। इन धाराओं में विद्यमान पदार्थ में भारी उथल-पुथल होती रहती है। यह उथल-पुथल तीव्र विद्युत् के कारण होती है। ये विक्षुब्ध धाराएँ तारों के अन्दर विद्यमान केन्द्रीय भाग की ओर गमन करती हैं। इनमें नाना प्रकार के विकार भी उत्पन्न होते रहते हैं। इन धाराओं में बहने वाला पदार्थ तीक्ष्ण विद्युत् के कारण धनात्मक व ऋणात्मक विद्युत् आवेश युक्त दो भागों में विभाजित हो जाता है। इनमें से धनावेशित पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ता जाता है, जो वहाँ संलयित होने लगता है। तारों के केन्द्रीय भाग में व्याप्त अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उस पदार्थ को वहाँ फैलाती हैं।

अब हम ऋषि दयानन्द का आधिभौतिक भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

''**पदार्थः** — (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् राजा (अस्मान्) (अरदत्) विलिखेत् (वज्रबाहुः) शस्त्रभुजः (अप) (अहन्) हन्ति (वृत्रम्) आवरकं मेघम् (परिधिम्) सर्वतो धीयन्ते नद्यो यस्मिँस्तम् (नदीनाम्) (देवः) दिव्यगुणकर्मस्वभावः (अनयत्) नयति (सविता) सूर्यः (सुपाणिः) शोभनहस्तः (तस्य) (वयम्) (प्रसवे) ऐश्वर्य्ये (यामः) प्राप्नुयामः (उर्वीः) बहुसुखप्रदाः प्रजाः।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सूर्यो भूम्यादीनाकर्षणेन व्यवस्थाप्य वर्षाः कृत्वैश्वर्य्यं जनयति तथैव वयं सद्गुणानाकृष्याऽरीन् विजित्य राज्यश्रियं जनयेम।

पदार्थ— हे राजन् (इन्द्रः) अत्यन्त ऐश्वर्य्यवान्! आप जैसे (सविता) सूर्य (देवः) उत्तम गुण कर्म और स्वभावयुक्त (नदीनाम्) नदियों के (परिधिम्) चारों ओर वर्त्तमान (वृत्रम्) ढांपने वाले मेघ को (अप) (अहन्) नाश करता है। उसके अवयवों को (अरदत्) खोदें और जल, भूमि को (अनयत्) प्राप्त करता वैसे (वज्रबाहुः) शस्त्रधारी हो (अस्मान्) हम लोगों की रक्षा करके सेवकों के सहित शत्रुओं का नाश करें, जो (सुपाणिः) उत्तम हाथों से और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त आप (उर्वीः) बहुत सुख की देने वाली प्रजाओं की रक्षा करें (तस्य) उस के (प्रसवे) ऐश्वर्य्य में (वयम्) हम लोग आनन्द को (यामः) प्राप्त होवें।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे सूर्य भूमि आदि पदार्थों को आकर्षण से यथास्थान ठहरा और वृष्टि करके ऐश्वर्य को उत्पन्न करता है, वैसे ही हम लोग उत्तम गुणों का आकर्षण और शत्रुओं को जीत करके राज्य की शोभा को प्राप्त करें।''

विश्वामित्र ऋषि रश्मियों एवं नदी संज्ञक रश्मियों के पारस्परिक संघर्षण के पश्चात् अन्ततः नदी संज्ञक धाराएँ सब ओर बहने लग जाती हैं अर्थात् उन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के अनुकूल गमन करने लगती हैं। उस समय एक ऋचा की उत्पत्ति होती है, जो आगे दी जायेगी।

* * * * *

सप्तविंशः खण्डः

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥ [ऋ.३.३३.१०]
आशृणवाम ते कारो वचनानि। याहि दूरादनसा च रथेन च।
निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रम्। मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय।
निनमा इति वा।

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥ (ऋ.३.३३.१०)

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र और देवता नद्यः होने के विषय में पूर्ववत् समझें। इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से पूर्वोक्त क्षेत्र में विविध प्रकार का तीव्र और तीक्ष्ण प्रकाश उत्पन्न होने लगता है।

आधिदैविक भाष्य— (आ, ते, कारो, शृणवामा, वचांसि) 'आशृणवाम ते कारो वचनानि' [कारुः = स्तोतृनाम (निघं.३.१६), कारुमहमस्मि कर्ता स्तोमानाम् (निरु.६.६)]

[ध्यातव्य— प्रायः मन्त्रों में जो कर्त्ता कारक का प्रयोग होता है, वह मन्त्र के ऋषिरूप पदार्थ के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ इसका प्रयोग नदी संज्ञक धाराओं के लिए हुआ है तथा कर्म कारक का प्रयोग विश्वामित्र ऋषिरूप पदार्थ के लिए हुआ है। इसका कारण हमें यह प्रतीत होता है कि इस ऋचा की उत्पत्ति के समय नदी रूप धाराएँ और विश्वामित्र संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ परस्पर मिश्रित जैसी हो जाती हैं।]

वे नदी संज्ञक पदार्थ की धाराएँ उनको प्रकाशित व सक्रिय करने वाली विश्वामित्र संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा उत्पन्न विभिन्न छन्द रश्मियों को सब ओर से ग्रहण करने लगती हैं अर्थात् उस क्षेत्र में सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर अन्योन्य क्रिया करता हुआ मिश्रित होने लगता है। (ययाथ, दूरात्, अनसा, रथेन) 'याहि दूरादनसा च रथेन च' [अनः = यज्ञो वाऽअनः (श.ब्रा.१.१.२.७), अन्तरिक्षरूपमिव वा एतद्यदनः (का.श.ब्रा.४.३.४.१)। रथः = रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा (निरु.९.११), वज्रो वै रथः (तै.सं.५.४.११.२; काठ.सं.२१.१२)] विश्वामित्र संज्ञक वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अपने वज्र रूप एवं संयोज्य रूप के साथ आकाश तत्त्व में गमन करती हुई दूर-दूर तक व्याप्त होने लगती हैं। वे संयोजनीय कणों के संयोजन में बाधा रूप में आने वाली सभी रश्मियों को नियन्त्रित करके संयोजन क्रिया को प्राणापान की सहायता से सफल और समर्थ बनाती हैं। (नि, ते, नंसै) 'निनमाम ते' अर्थात् वे नदी संज्ञक धाराएँ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के पूर्णतः अधीन होने लगती हैं अर्थात् उन्हीं की ओर आकृष्ट हो जाती हैं। (पीप्यानेव, योषा) 'पाययमानेव योषा पुत्रम्' इसको उपमा द्वारा समझाते हुए कहते हैं कि जैसे योषा रूप रश्मियाँ वा तरंगें अपने से उत्पन्न सूक्ष्म रश्मियों को निरन्तर पोषण देने के लिए उनकी ओर आकृष्ट रहती हैं।

(मर्यायेव, कन्या, शश्वचै, ते) 'मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वा' [मर्यः = मर्या इति मनुष्यनाम मर्यादाभिधानं वा स्यात् (निरु.४.२), मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा (निरु.३.१५), मरणधर्मको वायुः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६४.२)। कन्या = कमनीया (म.द.ऋ.भा.६.४९.७), कन्या कमनीया भवति क्वेयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत इति वा कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः (निरु.४.१५)] दूसरी उपमा देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कमनीय अर्थात् आकर्षण बल एवं दीप्ति से युक्त सुन्दर तरंगें अल्पायु वाली एवं कम दीप्ति तथा अनियमित गति युक्त कणों को आकृष्ट करने के लिए उनकी ओर झुक जाती हैं, वैसे ही नदी संज्ञक धाराएँ अनष्टुप् छन्द रश्मियों से पूरी तरह संश्लिष्ट हो जाती हैं। यहाँ ग्रन्थकार का आशय लौकिक उदाहरण द्वारा भी इस क्रिया को समझाना है और वे लौकिक उदाहरण हैं— माता और उसका दुग्धपान करने वाला शिशु एवं पति और पत्नी।

भावार्थ— तारों के अन्दर बह रही नदी रूप विशाल धाराएँ जब केन्द्रीय भाग के निकट पहुँचती हैं, तब वहाँ विद्यमान अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ वहाँ विद्यमान बाधक असुर पदार्थ को नियन्त्रित करके संलयन प्रक्रिया में सहयोग करती हैं। नदी रूप धाराएँ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। इनका परस्पर आकर्षण उन धाराओं को अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ पूर्ण रूप से मिश्रित कर देता है।

अब हम ऋषि दयानन्द का आधिभौतिक भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

''**पदार्थः** — (आ) समन्तात् (ते) तव (कारो) शिल्पविद्यासु कुशल (शृणवाम)। अत्र संहितायामिति दीर्घः। (वचांसि) विद्याप्रज्ञापकानि वचनानि (ययाथ) प्राप्नुयाः (दूरात्) (अनसा) (रथेन) (नि) (ते) तव (नंसैः) नमेः (पीप्यानेव) विद्यावृद्धाविव (योषा) (मर्यायेव) यथा पुरुषाय (कन्या) (शश्वचै) परिष्वङ्गाय (ते) तुभ्यम्।

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। ये दूरादागत्य विदुषां सकाशाद्विविधा विद्याः प्राप्य नम्रा भवन्ति ते विद्यावृद्धाः सन्तः पतिव्रता स्त्री पतिमिव कन्याऽभीष्टं वरमिव विद्यां प्राप्याऽऽनन्दन्ति।

पदार्थ— हे (कारो) शिल्पविद्याओं में चतुर! (ते) आप के (वचांसि) विद्या के प्राप्त कराने वाले वचनों को (अनसा) शकट और (रथेन) रथ से (दूरात्) दूर से आय के हम लोग (आ) सब प्रकार (शृणवाम) सुनें और जैसे आप हम लोगों को (ययाथ) प्राप्त होवें

वैसे हम लोग आप को प्राप्त होवें जो आप (पीप्यानेव) विद्या के वृद्ध दो पुरुषों के सदृश (नि, नंसै) नमस्कार करें (ते) आप के लिये हम लोग भी नम्र होवें (योषा) स्त्री (मर्यायेव) जैसे पुरुष के लिये और (कन्या) कन्या (शश्वचै) प्रीति से मिलने के लिये वैसे (ते) आप के लिये हम लोग अभिलाषा करें।

भावार्थ— इस मन्त्र में [उपमा और] वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं। जो लोग दूर से आय के विद्वानों के समीप से अनेक प्रकार की विद्याओं को प्राप्त करके नम्र होते हैं, वे विद्यावृद्ध होकर जैसे पतिव्रता स्त्री पति और कन्या अभीष्ट वर को वैसे विद्या को प्राप्त होके आनन्दित होते हैं।''

अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत्।
अश्वः कस्मात्। अश्नुतेऽध्वानम्। महाशनो भवतीति वा।
तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत्क्रामतीति वा। दधत्क्रन्दतीति वा।
दधदाकारी भवतीति वा। तस्याश्ववत् देवतावच्च निगमा भवन्ति।
तद्यद् देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतदश्ववत्॥ २७॥

आगामी छब्बीस नाम निघण्टु में अश्व के पढ़े गये हैं। ये छब्बीस नाम इस प्रकार हैं—

अत्यः। हयः। अर्वा। वाजी। सप्तिः। वह्निः। दधिक्राः। दधिक्रावा। एतग्वः। एतशः। पैद्वः। दौर्गहः। औच्चैश्रवसः। ताक्ष्र्यः। आशुः। ब्रध्नः। अरुषः। मांश्चत्वः। अव्यथयः। श्येनासः। सुपर्णाः। पतङ्गाः। नरः। ह्वार्याणाम्। हंसासः। अश्वाः।

यद्यपि विस्तारभय से हम निघण्टु में पठित सभी पदों की व्याख्या नहीं कर रहे हैं, पुनरपि वैदिक वाङ्मय में 'अश्व' पद अति महत्त्वपूर्ण एवं बहुलता के साथ प्रयुक्त हुआ है। इस कारण हम इसके नामवाची सभी पदों पर संक्षिप्त प्रकाश डालना उपयोगी समझ रहे हैं। इन पदों की क्रमशः व्याख्या इस प्रकार है—

१. अत्यः — इसके विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'अत्या अतनाः' (निरु.४.१३)। ऋषि दयानन्द के अनुसार अत्यम् = व्याप्तिशीलम् (म.द.ऋ.भा.१.१२९.२), अतितुं शीलः

(तु.म.द.ऋ.१.१६३.१०)। इसका आशय यह है कि 'अत्यः' उन तरंगों का नाम है, जो सदैव गमन करने के स्वभाव से युक्त होती हैं तथा गमन करते समय वे मार्ग को व्याप्त करती हुई अर्थात् फैली हुई सी चलती हैं। आकाश में ये कभी नहीं रुकती।

२. हयः — आचार्य राजवीर शास्त्री ने 'वैदिक कोष' में यह पद 'हि गतिवृद्ध्योः' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय करके व्युत्पन्न माना है। इस कारण 'हयः' तरंगें जिस पदार्थ वा कण से सम्पर्क करती हैं, उसकी गति व ऊर्जा को बढ़ा देती हैं। इसके साथ ही ये तरंगें किसी भी कण के साथ संयुक्त होकर उसे गतिशील होने के लिए प्रेरित करती हैं।

३. अर्वा — [अर्वा = ईरणवान् (निरु.१०.३१)] इसका तात्पर्य यह है कि ये तरंगें जिन भी सूक्ष्म कणों से टकराती हैं, उन कणों को धक्के के साथ गति प्रदान करती हैं। इससे उन कणों की स्थिति और गति दोनों ही परिवर्तित हो जाती हैं।

४. वाजी — [वाजी = प्राप्तैश्वर्य (म.द.य.भा.११.२१), वाजिनम् = वाजी वेजनवान् (निरु.२.२८), अन्नवन्तम् (निरु.१०.२८)] ये तरंगें सूक्ष्म कणों के द्वारा सदैव अवशोषित होने के स्वभाव वाली होती हैं, इस कारण इन्हें वाजी कहा गया है। इसके साथ ही ये कम्पन करते हुए गमन करती हैं तथा जिस किसी कण से टकराती हैं, उसे भी कम्पायमान कर देती हैं तथा ये उन कणों के साथ मिलकर नाना प्रकार की क्रियाओं के द्वारा नाना पदार्थों को उत्पन्न करने वाली होती हैं, इसलिए इन्हें 'वाजी' कहते हैं।

५. सप्तिः — [सप्तिः = सप्तेः सरणस्य (निरु.९.३), वायुः सप्तिः (तै.ब्रा.१.३.६.४), आशुः सप्तिरित्याह अश्व एव जवं दधाति तस्मात्पुराऽऽशुरश्वोऽजायत (तै.ब्रा.३.८.१३.२)] ये तरंगें वायु की भाँति बहती वा सरकती हुई चलती हैं। इन तरंगों की उत्पत्ति के अर्थात् अश्ववाची विभिन्न तरंगों की उत्पत्ति के प्रारम्भिक काल में उत्पन्न होने वाली तरंगें वा रश्मियाँ अधिक तीव्र गति से गमन करती हैं। इसका अर्थ यह है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति के पूर्व कुछ रश्मियाँ प्रकाश वेग से भी अधिक गति से गमन करती हैं, उन्हें 'सप्तिः' कहते हैं।

६. वह्निः — [वह्निः = वह्नि वोढा (निरु.३.४), वह्निर्वा अनड्वान् (तै.ब्रा.१.१.६.१०), वह्निरसि हव्यवाहनः (मै.सं.१.२.१२, काठ.सं.२.१३), वह्निर्होता (तै.सं.२.२.१०.५)] ये तरंगें जिन कणों से टकराती हैं, तब उनके द्वारा अवशोषित होकर उन कणों को उठाकर ले

जाने में सक्षम होती हैं। इसके साथ ही ये तरंगें नाना प्रकार की संयोग-वियोग प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के कारण 'वह्निः' कहलाती हैं।

७. दधिक्राः — इसके विषय में स्वयं ग्रन्थकार का कथन है— 'तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत्क्रामतीति वा दधत्क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा'। [दधिक्राः = अन्नं वै दधिक्राः (गो.उ.६.१६)। दधि = अन्नं दधि (मै.सं.३.२.६), अपामेष रसो यद्दधि (काठ.सं.२९.५), एतद्रूपा वै पशवो यद्दधि (काठ.सं.११.२)] ये तरंगें विभिन्न प्रकार की छन्द एवं मरुद् रश्मियों को धारण करते हुए गमन करती हैं। ये विभिन्न संयोज्य कणों को धारण करके गमन करती हैं और ऐसा करते हुए ये सूक्ष्म ध्वनियों को उत्पन्न करती रहती हैं। जब ये तरंगें किसी कण को धारण करके गमन करती हैं, उस समय उनके आकार में परिवर्तन हो जाता है। इस बात की चर्चा हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में की है। जब कोई विद्युत् चुम्बकीय तरंग आकाश में गमन कर रही होती है, तब वह फैली हुई सी चलती है और जैसे ही वह किसी सोम्य कण अर्थात् इलेक्ट्रॉन से टकराने वाली होती है, तब वह संघनित होकर प्रकाशाणु (फोटोन) जैसे कण का रूप धारण कर लेती है और वह जैसे ही प्रकाशाणु के द्वारा अवशोषित कर ली जाती है, वह सम्पूर्ण सोम्य कण में व्याप्त होकर उसी के आकार और गति को प्राप्त कर लेती है।
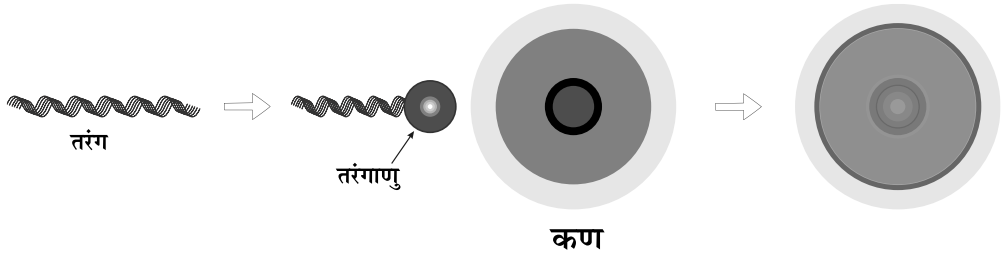
८. दधिक्रावा — इन तरंगों को जो भी कण धारण करता है, उसे ये तरंगें धारण करके गमन करने लगती हैं, इस कारण इन्हें 'दधिक्रावा' कहते हैं।

९. एतग्वः — [एतग्वाः = एतान् प्रत्यक्षान् पदार्थान् गच्छन्तीति (म.द.ऋ.भा.१.११५.३)। अश्वाः = किरणाः (म.द.ऋ.भा.१.११५.३)] ये तरंगें अपने सम्मुख विद्यमान किसी भी सूक्ष्म कण को अवश्य ही प्राप्त करती हैं अर्थात् उनसे अवश्य टकराती हैं, इस कारण 'एतग्वः' कहलाती हैं।

१०. एतशः — इस पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द उणादि-कोष ३.१४९ की व्याख्या में लिखते हैं— 'एति प्राप्नोतीति एतशः'। उधर कुछ अन्य तत्त्वदर्शियों ने कहा है— एतशेन त्वा सूर्यो देवतां गमयतु (तै.सं.१.६.४.३, काठ.सं.५.३)। इन सबका तात्पर्य यह है कि कुछ तरंगें वा रश्मियाँ, जो व्यापक मार्गों पर गमन करती हुई सूक्ष्म कणों से टकराकर उन्हें उठाकर सूर्यादि लोकों की ओर ले जाती हैं, वे 'एतशः' कहलाती हैं।

११. पैद्वः — [पैद्वः = यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति (ऋ.भा.भू. नौविमानप्रकरण), सुखेन प्रापकः (म.द.ऋ.भा.१.११६.६)] ये तरंगें सूक्ष्म कणों के प्रति सहज संयोज्य स्वभाव की होती हैं और उनसे संयोग करके तीव्र गति से उन्हें उठाकर ले जाती हैं, इस कारण उन्हें 'पैद्वः' कहते हैं।

१२. दौर्गहः — [दुर्गहा = यो दुर्गान् दुःखेन गन्तुं योग्यान् हन्ति (म.द.ऋ.भा.४.१८.२), दुर्गाणि = दुर्गमानि स्थानानि (निरु.७.२०)] ये तरंगें दुर्गम स्थानों में विद्यमान बाधक कणों वा तरंगों को प्राप्त व नष्ट करने में सक्षम होती हैं, इस कारण इन्हें दुर्गहः कहा जाता है और दुर्गहा ही दौर्गहाः कही जाती हैं। हमारे मत में इन तरंगों के दो भेद सम्भव हैं। उनमें से एक वे तरंगें हैं, जिनकी हमने यहाँ चर्चा की है और दूसरी तरंगें वे हो सकती हैं, जो दुर्गम स्थानों में विद्यमान सूक्ष्म कणों को खोज-२ कर सृष्टि प्रक्रिया में भाग लेने के लिए प्रेरित करती हैं। यहाँ 'दौर्गहः' में स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय मानकर हमने यह व्याख्या की है। इसका दूसरा विकल्प यह भी सम्भव है कि दुर्गह नाम की तरंगों व रश्मियों से उत्पन्न तरंगें 'दौर्गहः' कहलाती हैं।

१३. औच्चैश्रवसः — [श्रवः = अन्ननाम (निघं.२.७), धननाम (निघं.२.१०), श्रवः प्रशंसाम् (निरु.४.२४)] वे तरंगें जो तीक्ष्ण संयोज्य गुणों से युक्त होती हैं, 'औच्चैश्रवः' कहाती हैं। ये तरंगें तीव्र ऊर्जा युक्त होती हैं।

१४. तार्क्ष्यः — [तार्क्ष्यः = त्वष्ट्रा व्याख्यातः तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षति अश्नोतेर्वा (निरु.१०.२७)। त्वष्टा = तूर्णमश्नुत इति नैरुक्ताः त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः त्वक्षतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः (निरु.८.१३)] ये तरंगें विशाल अन्तरिक्ष में दूर-२ तक निवास करती हैं तथा पदार्थों में व्याप्त होकर उनका शीघ्र रक्षण व दीपन करती हैं। ये पदार्थों का भेदन-छेदन करने में भी विशेष समर्थ होती हैं। ये उन पदार्थों को तीक्ष्ण बनाने

में भी सहायक होती हैं।

१५. आशुः — फैली हुई सी गमन करने और शीघ्रतापूर्वक गमन करने के कारण इन्हें 'आशुः' कहते हैं।

१६. ब्रध्नः — [ब्रध्नातीति ब्रध्नः (उ.को.३.५), अदो वै ब्रध्नस्य विष्टपं यत्रासौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.१७.३)] इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि सूर्यादि लोकों में कुछ ऐसी तरंगें भी व्याप्त होती हैं, जो सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान समस्त पदार्थ को सब ओर से बाँधे रखती हैं, ऐसी तरंगों को 'ब्रध्न' कहा गया है। वैदिक रश्मि विज्ञान के अनुसार अनेक प्रकार की छन्द व प्राण रश्मियाँ इसका कारण होती हैं, जिनके कारण इन लोकों में नाना प्रकार के बन्धन बल उत्पन्न होकर इन लोकों को आकार प्रदान करते हैं। इन बलों में अन्य रश्मियों के साथ-२ बृहती छन्द रश्मियों से निर्मित विशेष तरंगें भी विद्यमान होती हैं, जो गुरुत्वीय तरंगों से अतिरिक्त होती हैं।

१७. अरुषः — [अरुषः = ऋच्छति गच्छतीति अरुषः (उ.को.४.७४), अग्निर्वा अरुषः (तै.ब्रा.३.९.४.१), आरक्तगुणः (म.द.ऋ.भा.६.४८.६)] रक्तवर्णीय प्रकाश तरंगें 'अरुषः' कहलाती हैं।

१८. मांश्चत्वः — [मंश्चतुः = मन ज्ञाने (दिवा.) धातोः क्विपि मन्। तदुपपदे चते याचने (भ्वा.) धातोर्बाहु. औणा. उः (वै.को.), मन्यते कान्तिकर्मा (निघं.२.६), मन्यते अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)] ये तरंगें आकर्षण एवं दीप्ति से युक्त कणों के प्रति विशेष आकर्षण युक्त होती हैं, इस कारण इन्हें 'मांश्चत्वः' कहते हैं।

१९. अव्यथयः — जो तरंगें अधिक संतप्त और क्षुब्ध न होती हुई अपेक्षाकृत शान्ति के साथ गमन करती हैं अर्थात् जिनकी ऊर्जा बहुत कम होती है, उन्हें 'अव्यथयः' कहते हैं।

२०. श्येनासः — [श्येनासः = श्येन इव गन्तारः (म.द.ऋ.भा.१.११८.४)। श्येनः = श्येनो वै वयसां क्षेपिष्ठः (ष.ब्रा.४.१), एतद्वै वयसामोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्येनः (श.ब्रा. ३.३.४.१५)] जो तरंगें सबसे अधिक ऊर्जा वाली होती हैं, उन्हें 'श्येनासः' कहते हैं।

२१. सुपर्णाः — [सुपर्णाः = सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः (निरु.३.१२)। 'सु' का प्रयोग ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य १.३८.६ में 'सर्वथा' अर्थ में भी किया है।] ये

तरंगें सभी प्रकार से गमनशील एवं किसी भी सूक्ष्म कण पर पतनशील होती हैं। इसका आशय है कि कोई भी प्रकाशाणु न केवल सरल रेखा में निरन्तर गमन करता है, अपितु उसकी सभी अवयवभूत रश्मियाँ भी निरन्तर गमन वा कम्पन करती रहती हैं। इसके साथ ही फैली हुई गमन करती हुई चुम्बकीय तरंगें वा अन्य तरंगें सरल रेखा में गमन करते हुए घूर्णनादि गतियों से भी युक्त होती हैं तथा किसी भी कण के सम्मुख आने पर अवश्य ही उस पर गिरती हैं, इस कारण 'सुपर्ण' कहलाती हैं। यह सुपर्ण शब्द यह भी बता रहा है कि प्रकाशाणु किसी कण पर इस प्रकार नहीं गिरता, जिस प्रकार पृथिवी पर कोई पिण्ड गिरता है, बल्कि वह गिरकर पूर्णतः उस कण में व्याप्त हो जाता है।

२२. पतङ्गाः — [पतङ्गाः = यः प्रतिपातं गच्छति सः (म.द.ऋ.भा.१.१६३.६), प्राणो वै पतङ्गः पतन्निव ह्येष्वङ्गेष्वति रथमुदीक्षते पतङ्ग इत्याचक्षते (जै.उ.३.३५.२), ईक्षे ईशिषे (निरु.६.६)। अङ्गम् = अङ्गानि वै विश्वानि धामानि (श.ब्रा.३.३.४.१४)] ये तरंगें प्रत्येक पदार्थ के ऊपर गिरती हुई गमन करती हैं तथा उन कणों को नियन्त्रित करती हैं।

२३. नरः — [नरः = कार्याणि नयतीति ना, नरौ, नरः (उ.को.२.१०२), नरो वै देवानां ग्रामः (तां.ब्रा.६.९.२)] ये तरंगें विभिन्न देव पदार्थों अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियों के रूप में होती हैं तथा ये स्वयं अथवा कणों के साथ मिलकर नाना प्रकार के कार्यों को सम्पादित करती हैं, इस कारण इन्हें 'नरः' कहते हैं। इस सृष्टि में यदि प्रकाशाणु अथवा प्राण रश्मियाँ न हों, तो कोई भी कार्य सम्पन्न न हो सके।

२४. ह्वार्याणाम् — [ह्वार्यः = कुटिलं मार्गं गन्तुं योग्यः (वै.को.)] ये तरंगें कुटिल मार्गगामी सूक्ष्म रश्मियों से मिलकर बनी होती हैं, इस कारण इन्हें 'ह्वार्याणाम्' कहते हैं। ये तरंगें विभिन्न पदार्थों को क्षतिग्रस्त करने के स्वभाव वाली भी होती हैं।

२५. हंसासः — [हंसासः = हंसा इव गमनकर्तारः (म.द.ऋ.भा.७.५९.७)। हंसाः = हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम् (निरु.४.१३)] ये तरंगें अपने मार्ग में आने वाली सभी बाधक रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करते हुए तीव्र गति से गमन करती हैं, इस कारण इन्हें 'हंसासः' कहते हैं।

२६. अश्वाः — [अश्वः = यजमानो वा अश्वः (तै.ब्रा.३.९.१७.५), अन्तो वा अश्वः पशूनाम् (तां.ब्रा.२१.४.६), वज्रो वाऽअश्वः (श.ब्रा.४.३.४.२७)] ये तरंगें विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म

कणों के संयोग-वियोग की प्रक्रिया में आवश्यक भूमिका निभाती हैं और इस प्रक्रिया में नाना प्रकार के बाधक पदार्थों को दूर करने में सहायक होती हैं। ये तरंगें पशु संज्ञक विभिन्न प्राण और छन्दादि रश्मियों के उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न होती हैं तथा आकाश में गमन करते समय अनेक सूक्ष्म रश्मियों को उत्सर्जित करती हुई अनेक हानिकारक रश्मियों को मार्ग से हटाती हुई गमन करती हैं।

इस प्रकार ये २६ नाम अश्ववाची हैं। इनमें प्रारम्भिक १८ नाम एकवचनान्त और शेष ८ नाम बहुवचनान्त पढ़े गए हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि एकवचनान्त पद वाली तरंगें एकल रूप में गमन करती हैं और बहुवचनान्त पद वाली तरंगें समूह रूप में गमन करती हैं। यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि बहुवचनान्त पदों में से ७ पद प्रथमा विभक्ति में हैं, जबकि एक पद 'ह्वार्याणाम्' षष्ठी विभक्ति में है, ऐसा क्यों?

इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि 'ह्वार्याणाम्' पद तद्वाची तरंगों के अवयवों के गुणों का वर्णन करता है, जबकि अन्य बहुवचनान्त पद उन तरंगों के स्वभाव का ही वर्णन करते हैं, यह किञ्चित् भेद है।

अब हम ग्रन्थकार के कथन पर आगे विचार करते हैं— 'तस्याश्ववद् देवतावच्च निगमा भवन्ति तद्यद् देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः अथैतदश्ववत्' अर्थात् प्रसङ्गानुकूल 'दधिक्रा' पद के अश्व अर्थ में तथा देवता अर्थ में निगम अर्थात् मन्त्र होते हैं। इनमें देवता अर्थ का वर्णन आगे किया जायेगा और अश्व अर्थ में प्रयुक्त मन्त्र को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

अष्टाविंशः खण्डः

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत्पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्।

[ऋ.४.४०.४]

अपि स वाजी वेजनवान्। क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम्।

ग्रीवायां बद्धः ग्रीवा गिरतेर्वा। गृणातेर्वा। गृह्णातेर्वा।
अपि कक्ष आसनीति व्याख्यातम्। क्रतुं दधिक्राः कर्म वा प्रज्ञां वा।
अनुसन्तवीत्वत् तनोतेः। पूर्वया प्रकृत्या निगमः।
पथामङ्क्षांसि पथां कुटिलानि। पन्थाः पततेर्वा। पद्यतेर्वा। पन्थतेर्वा।
अङ्कोऽञ्चतेः। आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम्।
दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय।
ज्वलतिकर्माण उत्तरे धातव एकादश।
तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि॥ २८॥

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत्पथामङ्क्षांस्यन्वापनीफणत्॥ (ऋ.४.४०.४)

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है। [वामम् = वननीयम् (निरु.४.२६), वामः प्रशस्यनाम (निघं.३.८)] इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि प्राण रश्मियों में श्रेष्ठ प्राण नामक प्राथमिक प्राण अथवा सूत्रात्मा वायु मिश्रित प्राण से उत्पन्न होती है। इसका देवता दधिक्रावा एवं छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् है, इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से दधिक्रावा संज्ञक पूर्वोक्त तरंगें अति तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होती हैं।

आधिदैविक भाष्य— (उत) 'अपि' [उत अपि (निरु.१.६)] और (स्यः) 'सः' [स्यः = असौ अत्र स्यश्छन्दसि बहुलम् (अष्टा.६.१.१२९)। इति सोर्लोपः (म.द.य.भा.९.१४)] वे (वाजी) 'वेजनवान्' संयोज्य स्वभाव वाली तथा संयुक्त होने वाले कणों को कँपाने वाली तरंगें (क्षिपणिम्, तुरण्यति) 'क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम्' अर्थात् किन्हीं कणों के द्वारा प्रक्षिप्त होते ही अर्थात् किसी सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) आदि के द्वारा उत्सर्जित होते ही अति तीव्र गति से आकाश मार्ग में व्याप्त होकर गमन करने लगती हैं। इसका अर्थ यह है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्सर्जन, परावर्तन आदि क्रियाओं में किसी कण से पृथक् होते ही पूर्ण वेग को प्राप्त कर लेती हैं अर्थात् उनका वेग धीरे-धीरे नहीं बढ़ता है, बल्कि वे चरम वेग से ही अपनी यात्रा प्रारम्भ करती हैं।

(ग्रीवायाम्, बद्धः) 'ग्रीवायां बद्धः ग्रीवा गिरतेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा' [ग्रीवा = ग्रीवा

उष्णिहः (श.ब्रा.८.६.२.११)] अर्थात् वे तरंगें जब किसी कण से पृथक् वा उत्सर्जित होती हैं, उस समय उन कणों एवं इन तरंगों के प्रकाशाणु में ग्रीवा की आकृति बन जाती है और उस स्थान से वह तरंग सूक्ष्म रश्मियों को अवशोषित करती, सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न करती और उसी से किसी अन्य कण का ग्रहण करती है। इसके साथ ही उसी भाग से वह अवशोषक कणों के साथ बँध जाती अर्थात् उनके साथ मिश्रित हो जाती है।
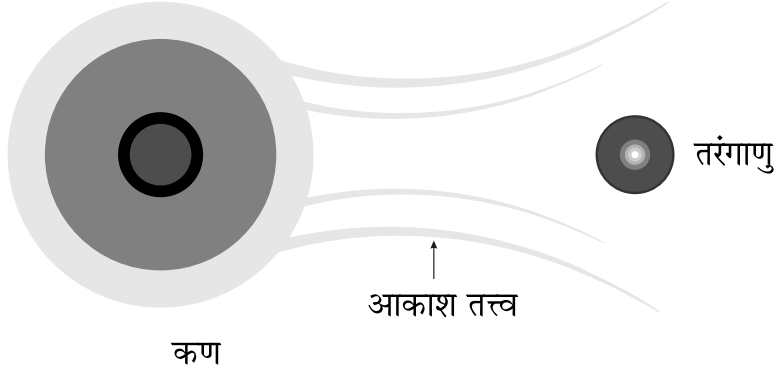
(अपि, कक्ष, आसनि) 'अपि कक्ष आसनीति व्याख्यातम्' [कक्ष = कक्षो गाहतेः (निरु. २.२)] इसके साथ ही ये तरंगें अपने कक्ष एवं आस्य नामक भागों के द्वारा भी बँधी रहती हैं। यहाँ कक्ष उस भाग का नाम है, जिनमें सूक्ष्म रश्मियाँ उन तरंगों का विलोडन करती रहती हैं तथा आस्य उस भाग का नाम है, जिसके द्वारा वे तरंगें आकाश से विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों का पान करके ग्रीवा रूपी भाग में पहुँचाती रहती हैं। इस प्रकार कोई भी तरंग वा प्रकाशाणु इन तीनों ही भागों के द्वारा न केवल किसी कण के साथ बँधा रहता है, अपितु स्वयं को भी एक तरंग वा प्रकाशाणु के रूप में बाँधे रखने में समर्थ होता है। (क्रतुम्, दधिक्रा) 'क्रतुं दधिक्राः कर्म वा प्रज्ञां वा' अर्थात् पूर्वोक्त दधिक्रा संज्ञक तरंगें संगमनीय कणों वा तरंगों को खोजने की क्रियाओं को (अनु, सन्तवीत्वत्) 'अनुसन्तवीत्वत् तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः' अनुकूलतापूर्वक विस्तृत वा पूर्ण करती हैं। इसका भाष्य करते हुए आचार्य विश्वेश्वर का कथन है—

''अनुसन्तवीत्वत्' यह 'तनु विस्तारे' धातु की प्रथम प्रकृति अर्थात् शुद्ध धातु से बने हुए रूप का निगम अर्थात् मन्त्र में प्रयोग है। प्रकृत्यन्तः सन्नन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च। ण्यन्तो ण्यन्तसन्नन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते॥ इस वचन के अनुसार ६ प्रकार के धातु हैं।

उनमें 'अनुसन्तवीत्वत्' यह रूप धातु की प्रथम प्रकृति का रूप है, यह अभिप्राय है।''

(पथाम्, अङ्कांसि) 'पथामङ्कांसि पथां कुटिलानि पन्था: पततेर्वा पद्यतेर्वा पन्थतेर्वा अङ्कोऽ-ञ्चते:' अर्थात् वे तरंगें आकाश में विद्यमान मार्गों की कुटिलताओं को [यहाँ 'पन्था:' पद पत्लृ गतौ, पथि गतौ एवं पद गतौ इन तीन धातुओं से निष्पन्न माना है। इससे प्रतीत होता है कि ये तरंगें नीचे की ओर गिरते हुए अर्थात् किसी बल की ओर झुकते हुए एवं घूमते हुए आगे बढ़ती जाती हैं। इस प्रकार ये मार्ग साधारणत: सरल रेखा में माने जाते हुए भी टेढ़े-मेढ़े मार्ग के रूप में होते हैं। इन मार्गों पर चलते हुए सूक्ष्म ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं।] (आपनीफणत्) 'आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम्' [यहाँ सभी भाष्यकारों ने इस प्रयोग को 'फण गतौ' धातु का यङ्लुगन्त प्रयोग माना है] फाँदती हुई गमन करती हैं अर्थात् ये उन मार्गों में अवरुद्ध नहीं होकर निर्बाध गति से चलती रहती हैं।

भावार्थ— किसी कण से जब कोई प्रकाशाणु उत्सर्जित अथवा परावर्तित होता है, तब वह तुरन्त ही चरम गति को प्राप्त कर लेता है। जब ये प्रकाशाणु उत्सर्जित होते हैं, तब उनमें ग्रीवा जैसी आकृति बन जाती है और उस समय सूक्ष्म ध्वनि भी उत्पन्न होती है। सभी प्रकाशाणु तीन प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों द्वारा न केवल स्वयं बँधे रहते हैं, अपितु किसी कण के साथ संयुक्त होने पर उससे भी बँधे रहते हैं। ये प्रकाश तरंगें सर्वथा सरल रेखा में गमन न करके टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर गमन करती हैं, पुनरपि इनकी गति निर्बाध होती है।

इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—

''**पदार्थः** — (उत) (स्य:) स: (वाजी) वेगवान् (क्षिपणिम्) शीघ्रकारिणम् (तुरण्यति) सद्यो गमयति (ग्रीवायाम्) कण्ठे (बद्धः) (अपिकक्षे) पार्श्वे (आसनि) मुखे (क्रतुम्) प्रज्ञां कर्म वा (दधिक्रा:) धर्त्तव्यानां धारक: (अनु) (सन्तवीत्वत्) बहुबल: सन् (पथाम्) मार्गाणाम् (अङ्कांसि) लक्षणानि चिह्नानि (अनु) (आपनीफणत्) अत्यन्तं गच्छति।

भावार्थः — हे मनुष्या! यथा सर्वतोऽलङ्कृतो बन्धनेन सज्जोऽश्व: सद्यो गच्छति तथैवाग्न्या-दिभिश्चालितेन यानेन सद्यो गच्छत।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (वाजी) वेगयुक्त (ग्रीवायाम्) कण्ठ में (अपिकक्षे) कांख में (आसनि) मुख में (बद्धः) बँधा और (दधिक्रा:) धारण करने योग्यों का धारण करने

वाला हुआ (क्षिपणिम्) शीघ्र करने वाले को (अनु, तुरण्यति) शीघ्र चलाता है (उत) और (सन्तवीत्वत्) बहुत बलवान् होता हुआ (पथाम्) मार्गों के (अङ्कांसि) चिह्नों को (क्रतुम्) बुद्धि वा कर्म के (अनु) पीछे (आपनीफणत्) अत्यन्त प्राप्त होता है (स्यः) वह आप लोगों से कार्य्यों में नियुक्त करने योग्य है।

भावार्थ— हे मनुष्यो! जैसे सब प्रकार शोभित बन्धन से सन्नद्ध किया घोड़ा शीघ्र चलता है, वैसे ही अग्नि आदि से चलाये गये वाहन से शीघ्र जाओ।''

निघण्टु में ये १० नाम ग्रन्थ में दर्शाये गये विशेष देवताओं के साथ उपयोग में आने वाले वाहन वा पदार्थ के रूप में पढ़े गये हैं। ये पद देवतावाची पदों के साथ साहचर्य वाले होने के कारण इनमें से एक पदार्थ के ज्ञान से उसके सहचररूप दूसरे पदार्थ का भी ज्ञान हो जाता है।

हरी इन्द्रस्य। रोहितोऽग्नेः। हरित आदित्यस्य। रासभावश्विनोः। अजाः पूष्णः। पृषत्यो मरुताम्। अरुण्यो गाव उषसाम्। श्यावाः सवितुः। विश्वरूपा बृहस्पतेः। नियुतो वायोः।

अब हम इन सभी दश युग्मों पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. हरी इन्द्रस्य — यहाँ 'इन्द्र' नामक पदार्थ का 'हरी' इस द्विवचनान्त पद से सम्बन्ध दर्शाया है। इस विषय में एक मन्त्र यहाँ उद्धृत करते हैं—

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर॥ (ऋ.१.१०.३)

यहाँ इस मन्त्र में हरी नामक दो पदार्थों को इन्द्र के वाहन के रूप में दर्शाया है। इसके साथ ही यहाँ इन्द्र पद सूर्य अथवा उसकी किरण के लिए प्रयुक्त है और हरी सूर्य के दो वाहन हैं।

[हरी = हरी (इन्द्रस्य) ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी ताभ्यां हीदं सर्वं हरति (ष.ब्रा.१.१), प्राणापानौ वा अस्य (इन्द्रस्य) हरी तौ हीदं सर्वं हर्तारौ हरतः (जै.ब्रा.२.७९), हरिभ्यां त्वेन्द्रो देवतां गमयतु (तै.सं.१.६.४.३; काठ.सं.५.३), ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (ऐ.ब्रा. २.२४)]

इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि जब कोई विद्युत् चुम्बकीय तरंग अथवा सूक्ष्म कण रूपी इन्द्र आकाश में गमन करता है, उस समय प्राण और अपान रूपी सूक्ष्म रश्मियाँ अपने आकर्षण आदि बलों के साथ उन कणों वा तरंगों के अग्रभाग में गमन करती हैं और ऐसा करते हुए वे मार्ग में आने वाली बाधक असुरादि रश्मियों को हटाकर मार्ग को निर्बाध बनाती हैं। इस प्रकार ये प्राणापान रश्मियाँ उनके वाहन का कार्य करती हैं। इस विषय में 'वेदविज्ञान-आलोक:' १.१३.७, २.६.२ एवं ५.१८.२ पठनीय हैं। उधर सूर्यादि लोकों के विषय में ज्ञातव्य है कि उनकी कक्षाओं में भी दो प्रकार की छन्द रश्मियाँ वाहन का कार्य करती हैं। उन रश्मियों को ऋक् एवं साम कहते हैं, जिनके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोक:' ३.२३ पठनीय है।

२. रोहितोऽग्ने: — इसके लिए हम यहाँ एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—

यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ (ऋग्वेद १.९४.१०)

यहाँ रोहित को अग्नि के रथ का वाहन कहा गया है। अब हम रोहित नामक पदार्थ पर विचार करते हैं—

[रोहित: = रोहितेन त्वाऽग्निर्देवतां गमयतु (तै.सं.१.६.४.३; काठ.सं.५.३), एतद्वै पशूनां प्रियं रूपं यद् रोहितम् (जै.ब्रा.२.१८२; तां.ब्रा.१६.६.२)। रोहिता = दृढबलादिगुणोपेतौ, अत्रोभयत्र द्विवचनस्याकारादेश: (म.द.ऋ.भा.१.९४.१०)]

यहाँ रोहित रश्मियों के द्वारा अग्नि के विभिन्न देव पदार्थों के प्राप्त होने का संकेत किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के ३३वें अध्याय में पारुछेपी संज्ञक छन्द रश्मि समूहों के द्वारा सूर्यादि लोकों के अन्दर संलयनीय पदार्थ के ले जाने की विस्तार से चर्चा की गई है। पारुछेपी संज्ञक छन्द रश्मियाँ अष्टि, अत्यष्टि एवं शक्वरी आदि तीव्र बलयुक्त रश्मियों का रूप होती हैं। इस विषय में पाठक 'वेदविज्ञान-आलोक:' का ३३ वाँ अध्याय पढ़ सकते हैं, क्योंकि ये छन्द रश्मियाँ सूक्ष्म विद्युत् आवेशित कणों को केन्द्रीय भाग की ओर ले जाती हैं, इस कारण ये अग्नि का अश्व कही जाती हैं और इसके साथ ही दृढ़ बल युक्त होने के कारण ये रोहित भी कही जाती हैं।

३. हरित आदित्यस्य — इसके लिए हम यह मन्त्र प्रस्तुत कर रहे हैं—

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।
शोचिष्केशं विचक्षण॥ (ऋग्वेद १.५०.८)

[हरितः = हरितः दिङ्नाम (निघं.१.६), अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), हर्यति कान्तिकर्मा (निघं.२.६), दिशो वै हरितः (श.ब्रा.२.५.१.५)]

अर्थात् विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों के हरण व आकर्षण करने के कारण इस मन्त्र में 'हरितः' को आदित्य का वाहन कहा है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' में वर्णित दिशावाची रश्मियाँ आदित्य आदि लोकों एवं सूक्ष्म कणों के अपने अक्ष पर घूर्णन में विशेष सहयोगी होती हैं।

४. रासभावश्विनोः — इसके लिए हम एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—

युञ्जाथां रासभं रथे वीड्वङ्गे वृषण्वसू।
मध्वः सोमस्य पीतये। (ऋ.८.८५.७)

इस मन्त्र का देवता अश्विनौ है, जिसका वाहन रासभ कहा है। [रासभः = यदरसदिव स रासभोऽभवत् (श.ब्रा.६.१.१.११), रासति दानकर्मा (निघं.३.२०), रासति शब्दयतीति रासभः (उ.को.३.१२५)]

द्युलोक एवं पृथिवीलोक अर्थात् प्रकाशित एवं अप्रकाशित लोक रूपी अश्विनौ को जो तरंगें वहन करती हैं, वे रासभ कहलाती हैं। ये तरंगें उत्पन्न होते ही आकर्षण आदि गुणों के साथ-२ वैखरी वाणी से भी युक्त होती हैं। ये तरंगें इन्हीं लोकों से निरन्तर उत्पन्न होती रहती हैं।

५. अजाः पूष्णः — इसके लिए एक मन्त्र प्रस्तुत है—

आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः।
विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥ (ऋ.१०.२६.८)

यहाँ पूषा का वाहन अजा बताया है। [पूषा = इयं (पृथिवी) वै पूषा (मै.सं. २.५.५), असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.५.२), प्रजननं वै पूषा (श.ब्रा. ५.२.५.८)। अजा = वैरूपं (साम) (जै.ब्रा.१.३३३, जै.ब्रा.२.३४), गायत्री छन्दस्तदजा

(मै.सं.२.१३.१४)]

पृथिवी व सूर्य्यादि लोकों अथवा अप्रकाशित व प्रकाशक-प्रकाशित कणों को पूषा कहते हैं। इनके गमनागमन आदि कर्मों में वैरूप साम तथा गायत्री छन्द रश्मियाँ भी वाहन का कार्य करती हैं। वैरूप साम एक विराड् बृहती छन्द रश्मि है, जिसके बारे में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१३ पठनीय है। विभिन्न लोकों वा कणों एवं उनके गमनागमन की परिस्थितियों के अनुसार ही गायत्री रश्मि का निर्धारण होता है और यह ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार ही होता है। उधर एक अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि का कथन है— 'दिशां वा एतत् साम यद् वैरूपम्' (तां.ब्रा.१२.४.७) अर्थात् दिग्वाची रश्मियाँ भी वैरूप कहलाती हैं, इस कारण विभिन्न कणों वा लोकों को वहन करने में इनकी भूमिका असंदिग्ध है।

६. पृषत्यो मरुताम् — इस हेतु एक मन्त्र है—

उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः।
आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः॥ (ऋ.१.३९.६)

इस मन्त्र का देवता 'मरुतः' है, जिनका वाहक 'पृषती' कहा गया है। यहाँ 'पृषती' का भाष्य करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'पर्षन्ति सिञ्चन्ति याभिस्ताः शीघ्रगतीः मरुतां धारणवेगादयोऽश्वाः'। अन्यत्र कहा गया है— वैश्वदेवी हि पृषती (काठ.सं.१२.२), पृषती गौर्धेनुर्दक्षिणा, सा हि वैश्वदेवी (मै.सं.२.३.२)।

['गौर्वै वाग्, गौर्विराड्, गौरिडा, गौ खल्वेव गौः, गौरिदꣳ सर्वम्' (मै.सं.४.२.३), 'गौर्वाव सर्वस्य मित्रम्' (तै.सं.२.५.२.६)। दक्षिणः = दक्षते वर्धते शीघ्रकारी भवति वा स दक्षिणः (उ.को.२.५१)। यहाँ 'दक्ष वृद्धौ' वा 'दक्ष गतिशासनयोः' धातुओं का प्रयोग है।]

इस सबका आशय यह है कि ऐसी वाक् रश्मियाँ, जो सर्वत्र व्याप्त होती हैं, जो सबको आकर्षित करने वाली, सबको तृप्त करने वाली एवं सदैव गमनशील होती हैं, वे ही पृषती कहलाती हैं। ये अपने सिंचन के द्वारा मरुद् रश्मियों को धारण करती व उनके गमन में सहायक होती हैं। हमारी दृष्टि में 'भूः' आदि व्याहृति रश्मियाँ पृषती कही जा सकती हैं, जो मरुद् रश्मियों के वाहन का कार्य करती हैं। ध्यातव्य है कि 'ओम्' रश्मि सबकी अन्तिम वाहिका रश्मि है।

७. अरुण्यो गाव उषसाम् — इसके लिए एक मन्त्र है—

उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत।
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः॥ (ऋ.१.९२.२)

इस मन्त्र का भाष्य करते हुए ऋषि दयानन्द ने 'अरुणाः' का अर्थ 'आरक्ताः' किया है। यहाँ 'अरुणा गौः' को उषा का वाहन कहा है। [अरुणः = आरोचनः (निरु. ५.२१)। उषा = योषाः सा राका सा एव त्रिष्टुप् (ऐ.ब्रा.३.४८), उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः उच्छतेरितरा माध्यमिका (निरु.१२.५)। त्रिष्टुप् = अन्तरिक्षं त्रिष्टुप् (जै.ब्रा.१.३३९), अन्तरिक्षमु वै त्रिष्टुप् (श.ब्रा.१.८.२.१२)]

इन सब वचनों से संकेत मिलता है कि जो सूक्ष्म रश्मियाँ लाल वर्ण को उत्पन्न करने वाली होती हैं अर्थात् रक्तवर्ण की उत्पत्ति में मूलरूप से जो रश्मियाँ उत्तरदायी होती हैं, उन्हें अरुण्या गौ कहते हैं। ये रश्मियाँ ही उषा के वाहन का रूप होती हैं। इसका आशय यह है कि ये रश्मियाँ आकाश में रक्तिम वर्ण का प्रकाश उत्पन्न करने वाली होती हैं। आचार्य पिङ्गल ने त्रिष्टुप् छन्द रश्मि का वर्ण लाल कहा है और याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ आकाश तत्त्व का आधार भी होती हैं। ये ही उषा को उत्पन्न करने वाली होती हैं, जिनका आधार दैवी त्रिष्टुप् रश्मियाँ होने से ही अरुण्या गौ को उषा का वाहन कहा है।

८. श्यावाः सवितुः — इस विषय में एक मन्त्र इस प्रकार है—

वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन्रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः।
शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः॥ (ऋ.१.३५.५)

यहाँ 'श्यावा' को सविता के वाहन के रूप में दर्शाने का संकेत है। [श्यावाः = कृष्णाः (तु.म.द.ऋ.भा.६.४८.६), सवितुर्वेगवन्तः किरणाः (म.द.ऋ.भा.६.४८.६), श्यायन्ते प्राप्नुवन्ति ते (म.द.ऋ.भा.१.३५.५)]

इसका अर्थ यह है कि सविता अर्थात् सूर्य का वाहन श्यावा इस कारण कहा गया है, क्योंकि अति वेगवती आकर्षणशील सूक्ष्म तरंगें इस लोक का वहन करती हैं। इस मन्त्र में श्यावा को शितिपाद कहा गया है अर्थात् उन तरंगों की वाहक आधार रूप रश्मियाँ श्वेत रंग वाली होती हैं। आचार्य पिङ्गल ने अपने छन्द शास्त्र में गायत्री रश्मियों का रंग श्वेत

बताया है। उधर 'वेदविज्ञान-आलोक:' में संघनित त्रिष्टुप् छन्द को ही गुरुत्वाणु (ग्रेवीटॉन) कहा है। गायत्री रश्मियाँ ही त्रिष्टुप् रश्मियों के वाहन का कार्य करती हैं, इस कारण श्यावा को शितिपाद कहा है। सूर्यादि लोक अपने तथा आकाशगंगा के गुरुत्व बल के कारण अपनी कक्षा में गमन करते हैं, इस कारण सविता का वाहन श्यावा को बताया गया है अर्थात् गायत्री और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ सूर्य की गति में वाहन का कार्य करती हैं।

९. विश्वरूपा बृहस्पतेः — इस विषय में हम एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—

इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथं बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत।
ऋभुर्विभ्वा वाजो देवाँ अगच्छत स्वपसो यज्ञियं भागमैतन॥ (ऋग्वेद १.१६१.६)

यहाँ इस मन्त्र में बृहस्पति का सम्बन्ध विश्वरूपा से दर्शाया गया है। उधर तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है— 'बृहस्पतिश्च सविता विश्वरूपैरिहागतां रथेनोदकवर्त्मना अप्सुषा इति तद् द्वयो:' (तै.आ.१.१२.५)।

इस कथन से स्पष्टत: बृहस्पतिरूप सूर्यलोक का सम्बन्ध विविध रूपों वाली अनेक प्रकार की रश्मियों व तरंगों एवं विविध रूपों वाले पृथिवी आदि लोकों से सिद्ध होता है। यहाँ विविध रूपों वाली रश्मियाँ वा तरंगें सूर्यादि लोकों के वाहन का कार्य करती हैं और विविध रूपों वाले पृथिवी आदि लोकों के लिए सूर्यलोक वाहन का कार्य करता है। इसके साथ ही सूर्यलोक के परिक्रमण पथ की ऋजुता को कुटिलता में परिवर्तित करने के लिए विविध रूपों वाले पृथिवी आदि लोक वाहन का कार्य करते हैं अर्थात् किसी भी सौरमण्डल के ग्रहों और उपग्रहों के आकर्षण के कारण सूर्यलोक अपनी कक्षा में नृत्य करता हुआ सा गमन करता है। इस गति की दृष्टि से ये सभी लोक सूर्य के वाहन का कार्य करते हैं।

१०. नियुतो वायोः — इस सम्बन्ध में एक मन्त्र इस प्रकार है—

तुभ्यायं सोमः परिपूतो अद्रिभिः स्पार्हा वसानः परि कोशमर्षति शुक्रा वसानो अर्षति।
तवायं भाग आयुषु सोमो देवेषु हूयते।
वह वायो नियुतो याह्यस्मयुर्जुषाणो याह्यस्मयुः। (ऋग्वेद १.१३५.२)

इस मन्त्र में नियुत को वायु का वाहन कहा गया है। उधर ग्रन्थकार ने निरु.५.२८

में ऋग्वेद ७.३९.२ का भाष्य करते हुए लिखा है—

'वायुश्च नियुत्वान् ... नियुत्वान्नियुतोऽस्याश्वाः नियुतो नियमनाद्वा नियोजनाद्वा।'

[नियुतः = पशवो वै नियुतः (श.ब्रा.४.४.१.१७; तां.ब्रा.४.६.११), उदानो वै नियुतः (श.ब्रा.६.२.२.६)] अर्थात् वायु तत्त्व, जो विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियों का मिश्रण होता है, के लिए विभिन्न रश्मियों को रोकने और संयुक्त करने में समर्थ कुछ विशेष मरुत् रश्मियाँ उदान वायु के साथ संयुक्त होकर वाहन का कार्य करती हैं अर्थात् वर्तमान भौतिकी की कथित वैक्यूम एनर्जी इन मरुत् रश्मियों के नियन्त्रण में गमनागमन आदि कार्य करती है।

इस प्रकार ये दस पदार्थ अपने सहचर पूर्वोक्त पदार्थों के वाहन का कार्य करते हैं।

इसके पश्चात् ज्वलन क्रिया अर्थात् चमकने के अर्थ में अगले ११ नाम निघण्टु में पढ़े गये हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—

भ्राजते। भ्राशते। भ्राश्यति। दीदयति। शोचति। मन्दते। भन्दते। रोचते। द्योतते। ज्योतते। द्युमत्।

इसके पश्चात् ज्वलन अर्थात् दीप्ति नामवाची भी ११ नाम निघण्टु में पढ़े गये हैं। वे नाम इस प्रकार हैं—

जमत्। कल्मलीकिनम्। जञ्जणाभवन्। मल्मलाभवन्। अर्चिः। शोचिः। तपः। तेजः। हरः। घृणिः। शृङ्गाणि।

यहाँ 'नामधेयानि' का दो बार पाठ अध्याय की परिसमाप्ति का सूचक है।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)

द्वितीयोऽध्यायः समाप्यते।

वेदार्थ-विज्ञानम्

(महर्षि यास्क विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या)

/vaidicphysics

वेद परमपिता परमात्मा का रहस्यमय व गम्भीरतम सृष्टि विज्ञान है। वेद की ऋचाओं वा स्पन्दनों के द्वारा ही मूल प्रकृति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं प्राणियों के शरीरों की रचना होती है। इसकी न केवल एक-एक ऋचा, अपितु एक-एक पद रहस्यमय विज्ञान को प्रकट करता है। इसी विज्ञान को उद्घाटित करने हेतु हमारे महान् ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों तथा निरुक्त आदि ग्रन्थों की रचना की। इन महान् ग्रन्थों को समझे बिना कोई वैदिक ज्ञान-विज्ञान को समझने में समर्थ नहीं हो सकता। ये ग्रन्थ उन महान् ऋषियों की अद्भुत एवं महती प्रज्ञा का दिग्दर्शन कराते हुए वेदविज्ञान के रहस्यों को उद्घाटित करते हैं। वेद के महद्द्रष्टा महर्षि यास्क विरचित यह निरुक्त स्वयं एक रहस्यमय ग्रन्थ है।

'वेदार्थ-विज्ञानम्' नामक मेरा यह व्याख्यात्मक ग्रन्थ उन्हीं रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' के पश्चात् वेद को जानने के लिए यह दूसरा आधारभूत ग्रन्थ है। मुझे आशा है कि इसे पढ़कर प्रौढ़ वैदिक विद्वानों व विदुषियों, गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों व ब्रह्मचारिणियों और विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण युवा पीढ़ी को भी वेद का वास्तविक मर्म समझ आ सकेगा।

– आचार्य अग्निव्रत

www.thevedscience.com

ISBN 978-81-950133-9-5

द वेद साइंस पब्लिकेशन